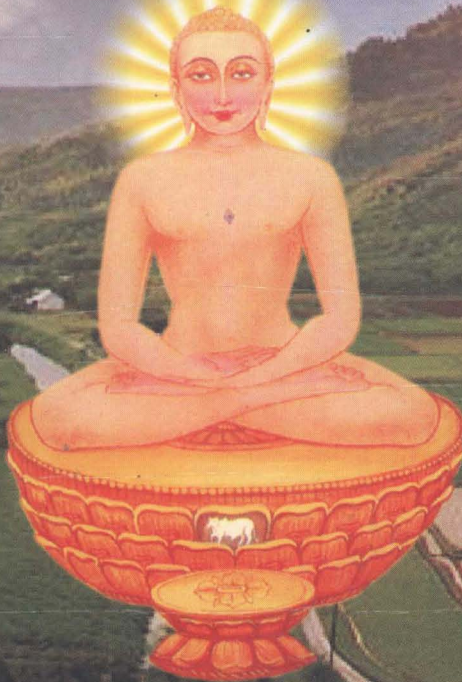


वर्धमान सूरिकृत आचारदिनकर में प्रतिपादित

जैन संस्कार एवं विधि-विधान (एक तुलनात्मक अध्ययन)



प्रेरक

साध्वी हर्षयशा श्री जी

लेखिका

साध्वी मोक्षरत्ना श्री

सम्पादक एवं मार्गदर्शक

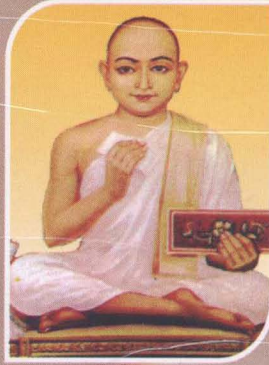
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक—प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

प्रत्यक्ष प्रभावी दादा गुरुदेव



दादा श्री जिनदत्तसूरिजी



दादा श्री जिनकुशलसूरिजी

सादर समर्पण



प.पू. समतामूर्ति प्रव.
श्री विचक्षणश्रीजी म.सा.



प.पू. प्रव. श्री तिलकश्रीजी म.सा.



प.पू. महत्तरा
श्री विनीताश्रीजी म.सा.

मोक्षपथानुगामिनी, आत्मदृष्टा, समतामूर्ति, समन्वयसाधिका परम पूज्या प्रवर्तिनी महोदया स्व. श्री विचक्षण श्री जी म.सा., आगम रश्मि परम पूज्या प्रवर्तिनी महोदया स्व. श्री तिलक श्री जी म.सा. एवं परम पूज्या महत्तरा श्री विनीता श्रीजी म.सा. आपके अनन्त उपकारों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए आचारदिनकर की अनुवादित यह कृति आपके पावन पाद प्रसूनों में समर्पित करते हुए अत्यंत आत्मिक उल्लास की अनुभूति हो रही है। आपकी दिव्यकृपा जिनवाणी की सेवा एवं शासन प्रभावना हेतु सम्बल प्रदान करें- यही अभिलाषा है।

-साध्वी मोक्षरत्ना

वर्धमानसूरिकृत 'आचारदिनकर' में प्रतिपादित
जैन संस्कार एवं विधि-विधान
(एक तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन)

सम्प्रेरक
साध्वी हर्षयशाश्रीजी

लेखिका
साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी

सम्पादक/मार्गदर्शक
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक
प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

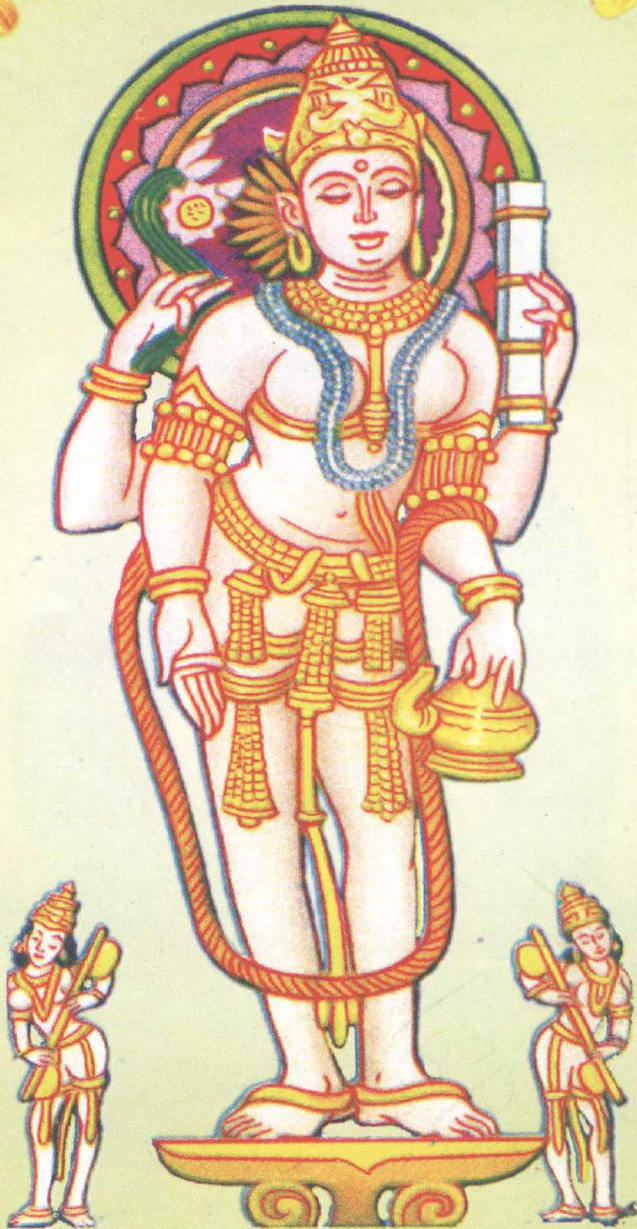
- ग्रन्थ नाम - वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में प्रतिपादित
जैन संस्कार एवं विधि विधान
(एक तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन)
जैन विश्व भारती संस्थान द्वारा पी-एच.डी हेतु स्वीकृत
शोध प्रबन्ध
- लेखिका - पूज्या समतामूर्ति श्री विचक्षणश्रीजी म.सा. की प्रशिष्या
एवं साध्वीवर्या हर्षयशाश्रीजी की शिष्या
साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी
- सम्पादक/मार्गदर्शक - डॉ. सागरमल जैन
- प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़, शाजापुर (म.प्र.)
- प्राप्तिस्थल - (१) डॉ. सागरमल जैन,
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़, शाजापुर (म.प्र.)
(२) श्रीमाल सभा, मोतीडूंगरी रोड, जयपुर-३०२००४
- प्रकाशन वर्ष - प्रथम संस्करण, जुलाई २००७
- मुद्रक - आकृति आफसेट,
५, नईपैठ, उज्जैन (म.प्र.)
फोन : ०७३४-२५६१७२०
मोबा. ९८२७६-७७७८०, ९८२७२-४२४८९
- मूल्य - २५०/-

श्री पार्वनाथ परमात्मा



“श्री पार्वमणि जैन तीर्थ”

पेदुदतुम्बलम, आदोनी



॥ सम्यग्ज्ञानप्रदा भूयात् भव्यानाम् भक्तिशालिनी ॥

प्रकाशन सहयोगी

प.पू.श्री मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की प्रेरणा से
पूज्या प्रवृत्तिनी श्री चन्द्रप्रभा श्रीजी म.सा. के चातुर्मास के
उपलक्ष्य में खरतरगच्छ श्री संघ कोलकाता



श्रीमती मेमबाई सा. विमलचन्दजी सुराना, जयपुर



स्व. पिताश्री टेकचन्दजी एवं माताश्री टीमादेवी छाजेड़ की
पुण्य स्मृति में छगनलालजी हालाला वाले
(हाल मुकाम अहमदाबाद) परिवार की तरफ से

भूमिका

संस्कार शब्द का अर्थ:-

संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'कृञ्' धातु में 'सम्' उपसर्ग एवं 'घञ्' प्रत्यय के योग से हुई है, अर्थात् सम् + कृ+घञ् = संस्कार। इस शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। मीमांसक यज्ञांगभूत पुरोडाश, आदि की विधिवत् शुद्धि से इसका आशय समझते हैं। अद्वैत वेदान्ती शारीरिक-क्रियाओं के जीव पर मिथ्या-आरोपण को संस्कार मानते हैं। नैयायिक-भावों को व्यक्त करने की आत्म-व्यञ्जक-शक्ति को संस्कार कहते हैं, जिसका परिगणन वैशेषिक-दर्शन में चौबीस गुणों के अन्तर्गत किया गया है। बौद्धदर्शन में संस्कार अविद्याजन्य चैतसिक अवस्थाएँ हैं।

संस्कृत-साहित्य में इस शब्द का प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि, धार्मिक-कृत्य, संस्करण या परिष्करण की क्रिया, प्रभावशीलता, प्रत्यास्मरण का कारण, स्मरणशक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव, अभिमंत्रण, आदि अनेक अर्थों में हुआ है।

संस्कार शब्द का सबसे उपयुक्त अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द "सेक्रामेन्ट" है, जिसका अर्थ है- वे धार्मिक विधि-विधान या क्रियाएँ, जो आन्तरिक तथा आत्मिक-विशुद्धि की प्रतीक मानी जाती हैं। किसी वचन की प्रामाणिकता की पुष्टि, रहस्यपूर्ण महत्व की क्रिया, पवित्र प्रभाव तथा धार्मिक प्रतीक भी "सेक्रामेन्ट" शब्द के अर्थ हैं।

सामान्यतः, संस्कार वह है, जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है; अर्थात् संस्कार वे क्रियाएँ एवं विधियाँ हैं, जो व्यक्ति को किसी कार्य को करने की आधिकारिक-योग्यता प्रदान करती है। शुचिता का सन्निवेश, मन का परिष्कार, धर्मार्थ-सदाचरण, शुद्धि-सन्निधान, आदि ऐसी योग्यताएँ हैं, जो शास्त्रविहित क्रियाओं के करने से प्राप्त होती हैं। संस्कार शब्द

उन अनेक धार्मिक क्रिया-कलापों को भी व्याप्त कर लेता है, जो शुद्धि, प्रायश्चित्त, व्रत, आदि के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार संस्कार शब्द के साथ अनेक अर्थों का योग हो गया है। व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्ण शुभ और अशुभ प्रवृत्तियाँ उसके संस्कारों के अधीन हैं, जिनमें से कुछ को वह पूर्वभव से अपने साथ लाता है और कुछ को इसी भव में संगति एवं शिक्षा, आदि के प्रभाव से अर्जित करता है। इस प्रकार संस्कार शब्द का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक-क्रियाओं से तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक एवं बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से है, जिनसे वह सभ्य समाज का सदस्य हो सके। साधारणतः, यह समझा जाता था कि सविधि किए गए संस्कारों के अनुष्ठान से सुसंस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

दिगम्बर-परम्परा के पुराणों में संस्कार के लिए 'क्रिया' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह सत्य है कि संस्कार शब्द सामान्यतया धार्मिक विधि-विधान या क्रिया का सूचक रहा है।

संस्कार की जीवन में उपादेयता एवं महत्व-

संस्कारों की जीवन में उपादेयता एवं महत्व की चर्चा करने से पूर्व हमें यह जानना होगा कि प्राचीन समय में संस्कारों का क्या प्रयोजन था? जब हम प्राचीन इतिहास के गर्भ में झांकते हैं, तो वे परिस्थितियाँ, जिनमें इन संस्कारों का प्रादुर्भाव हुआ था, आज अतीत के गर्भ में विलीन हो चुकी हैं और उनके चारों ओर लोक-प्रचलित अंधविश्वासों का जाल-सा बिछ गया है, अतः उन सुदूर अतीत की समस्याओं पर दृष्टिपात करने के लिए तात्कालिक-तथ्यों का गंभीर ज्ञान अपेक्षित है।

संसार के अन्य देशों की भाँति हिन्दुओं का भी विश्वास था कि वे चारों ओर से ऐसे दैविक-प्रभावों से घिरे हुए हैं, जो बुरा और भला करने की शक्ति रखते हैं। उनकी धारणा थी कि उक्त प्रभाव जीवन के किसी महत्वपूर्ण अवसर पर व्यक्ति को प्रभावित कर सकते हैं; अतः वे अमंगलजनक प्रभावों के निराकरण तथा हितकर प्रभावों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया करते थे, जिससे मनुष्य बिना विघ्न-बाधा के अपना विकास कर सके और दिव्य-शक्तियों की सहायता प्राप्त कर सके। यही प्रयत्न संस्कार कहे जाते हैं।

मानव-जन्म से असंस्कृत होता है, किन्तु संस्कारों से संस्कृत होकर उसके व्यक्तित्व के भौतिक एवं आध्यात्मिक-पक्ष निखर उठते हैं, साथ ही उसका

सामाजिक एवं धार्मिक-जीवन भी उन्नत होता है। संस्कारों से संस्कारित होने पर व्यक्ति किसी कार्य या साधना के योग्य हो जाता है। इस प्रकार संस्कार वे क्रियाएँ एवं विधियाँ हैं, जो व्यक्ति को किसी कार्य को करने की योग्यता या अधिकार प्रदान करती हैं।

संस्कारों को सम्पन्न किए बिना मानव-जीवन अपवित्र, अपूर्ण और अव्यवस्थित माना जाता है। अप्रत्यक्ष रूप से सम्भावित बाधाओं को दूर करना तथा आगे के लिए जीवन को निर्विघ्न बनाना संस्कारों का प्रयोजन है और इसी कारण वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी इनका महत्व है।

संक्षेप में, व्यक्ति को जीवन जीने के योग्य गुणाढ्य, परिष्कृत और व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने में संस्कारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा हुआ है। लौकिक-समृद्धि तथा वांछित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भी संस्कारों को सम्पन्न किया जाता है। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक-प्रतिमानों, मूल्यों, आदर्शों, आदि का ज्ञान प्राप्त करता है, जिससे नैतिक-उत्थान होता है और वह जागरूक होकर दायित्वों के लिए प्रेरित होता है। वह सच्चरित्र बनकर सामाजिक-दायित्वों का निर्वाह करता है तथा धार्मिक-दृष्टि से उनके निर्विघ्न सम्पन्न होने के लिए इष्ट देवों का पूजन, स्तुति, प्रार्थना, आदि करता है।

संस्कार व्यक्ति को अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाते हैं और उसे एक विशिष्ट योग्यता प्रदान करते हैं। संक्षेप में, संस्कार हमारे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की क्रियाओं को धार्मिक एवं आध्यात्मिक-स्वरूप प्रदान करते हैं।

संस्कारों का जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, जिसे हम निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं :

१. अशुभ प्रभावों का प्रतिकार : देवी और देवताओं के अशुभ प्रभावों का निराकरण करने हेतु संस्कार आवश्यक हैं। इनसे व्यक्ति का भय समाप्त होता है और साहस आता है।

२. अभीष्ट प्रभावों का आकर्षण : जिस प्रकार इनके माध्यम से अशुभ प्रभावों का प्रतिकार किया जाता है, उसी प्रकार इनके द्वारा व्यक्ति के हित के लिए अभीष्ट प्रभावों को आकृष्ट भी किया जाता है।

३. संस्कारों का भौतिक प्रयोजन : संसार की भौतिक सामग्रियों की प्राप्ति हेतु भी संस्कार किए जाते हैं।

४. संस्कार आत्माभिव्यक्ति के माध्यम : संस्कार को आत्माभिव्यक्ति का माध्यम भी माना गया है, क्योंकि गृहस्थ के जीवन में विभिन्न घटनाएँ घटित होती हैं, जो हर्ष एवं प्रमाद का कारण बनती हैं। उन घटनाओं से सम्बन्धित संस्कारों को करने से व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है, इसलिए भी संस्कारों की उपादेयता है।

५. सांस्कृतिक-प्रयोजन : संस्कृति को जीवन्त रखने के लिए भी इन संस्कारों की आवश्यकता है, जैसे- प्राचीनकाल में यह मान्यता थी कि उत्पन्न होते समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है, किन्तु संस्कारों से ही वह ब्राह्मण हो जाता है, अतः व्यक्ति के विकास के लिए उसको संस्कारित किया जाना आवश्यक है।

६. व्यक्तित्व का निर्माण एवं विकास : संस्कार व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाते हैं। व्यक्तित्व का निर्माण एवं विकास संस्कारों द्वारा होता है, अतः संस्कारों का उद्भव हमारे व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास के लिए ही हुआ है- ऐसा मानना अनुचित नहीं होगा। अंगिराऋषि के शब्दों में “जिस प्रकार चित्रकर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए विविध रंग अपेक्षित होते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मणत्व या चरित्र-निर्माण के लिए विभिन्न संस्कार अपेक्षित होते हैं।”

७. आध्यात्मिक-महत्व: संस्कारों के माध्यम से क्रियाशील सांसारिक-जीवन का समन्वय आध्यात्मिक-साधना के साथ किया जा सकता है। इसी क्रम में स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति तथा पद एवं अधिकारों की प्राप्ति भी संस्कारों से ही सम्भव होती है।

८. संस्कारों के माध्यम से ही समाज में व्यक्ति का स्थान क्या है, उसके दायित्व एवं अधिकार क्या हैं? इसकी सार्वजनिक घोषणा होती है, अतः सामाजिक-व्यवस्था में संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है।

संस्कारों की संख्या -

संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थ “आचारदिनकर” में संस्कारों की चर्चा करते हुए उनकी संख्या ४० बताई गई है, जिनमें से १६ संस्कार गृहस्थों के, १६ संस्कार यतियों के एवं ८ सामान्य संस्कार हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में ४० संस्कारों का उल्लेख मिलता है।

दिगम्बर-परम्परा में संस्कारों की संख्या अधिक बताई गई है। दिगम्बर-परम्परा के “आदिपुराण” नामक ग्रन्थ में इन विविध संस्कारों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। आदिपुराण में संस्कारों को तीन भागों में विभाजित कर इनके

प्रकारों का विवेचन किया गया है। उसके अनुसार गर्भान्वय-क्रियाएँ-५३, दीक्षान्वय-क्रियाएँ-४८, कर्त्रन्वय-क्रियाएँ-७ हैं। इस प्रकार उसमें कुल मिलाकर १०८ संस्कारों की चर्चा है।

वैदिक-परम्परा में संस्कारों के सम्बन्ध में बहुत भिन्नता है। कोई इन संस्कारों की संख्या ४० (चालीस) बताता है, तो कोई १८ (अठारह)। वैदिक-परम्परा में इन संस्कारों की चर्चा गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, स्मृतियों और पुराणों, आदि में मिलती है, किन्तु संख्या को लेकर कहीं कोई मतैक्य नहीं है। गृह्यसूत्रों में विवाह से लेकर समावर्तन तक के संस्कारों का उल्लेख है। उसमें आश्वलायन-गृह्यसूत्र में ११ संस्कारों का उल्लेख है, पारस्कर गृह्यसूत्र में १३, बोधायन और वाराह-गृह्यसूत्रों में भी तेरह-तेरह संस्कारों का उल्लेख है। धर्मसूत्रों में, गौतमधर्मसूत्र में चालीस संस्कारों का उल्लेख है। स्मृतियों में, मनुस्मृति में १३, याज्ञवल्क्यस्मृति में १२ और गौतमस्मृति में ४० संस्कारों का उल्लेख है, किन्तु परवर्ती-साहित्य में सोलह संस्कारों का उल्लेख ही विशेष रूप से मिलता है। दयानन्द सरस्वती की कृति 'संस्कारविधि' एवं पं. भीमसेन शर्मा की षोडशसंस्कार-विधि में केवल सोलह संस्कारों का ही उल्लेख है।

संस्कार से सम्बन्धित जैन-साहित्य :-

संस्कार का प्रचलन आदिकाल से ही रहा होगा- ऐसा हम मान सकते हैं, क्योंकि कल्पसूत्र में आदिनाथ भगवान् के चरित्र में विवाह-संस्कार, प्रव्रज्या, आदि कुछ संस्कारों का उल्लेख मिलता है, पर इनकी विधि का उसमें कोई उल्लेख नहीं किया गया है। संस्कारों से सम्बन्धित पूर्ववर्ती साहित्य वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। १५ वीं शताब्दी में वर्धमानसूरिकृत "आचारदिनकर" नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम सम्पूर्णतः ४० संस्कारों की चर्चा की गई इससे पूर्व हरिभद्रसूरिकृत "पंचाशक-प्रकरण" एवं पादलिप्ताचार्यकृत "निर्वाणकलिका" में भी संस्कारों की चर्चा मिलती है, लेकिन उनमें प्रायः यति के संस्कारों का ही उल्लेख है, गृहस्थ के संस्कारों की प्रायः उसमें कोई चर्चा नहीं मिलती है। इसी प्रकार मध्यकाल के संस्कारों से सम्बन्धित जिनप्रभसूरिकृत "विधिमागप्रपा", तिलकाचार्य विरचित "सामाचारी", श्रीमद् श्रीचन्द्राचार्य संकलित "सुबोधा-सामाचारी" आदि ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इनमें भी प्रायः यतियों के संस्कार एवं सामान्य संस्कारों का ही वर्णन मिलता है; गृहस्थ के मात्र व्रतारोपण-संस्कारों की चर्चा इन ग्रन्थों में मिलती है, शेष संस्कारों की कोई चर्चा नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर-परम्परा की अपेक्षा दिगम्बर-परम्परा में संस्कार से सम्बन्धित साहित्य की रचना पहले हुई होगी। सर्वप्रथम संस्कारों से

सम्बन्धित साहित्य जिनसेनाचार्यकृत “आदिपुराण” है, जिसमें उन्होंने संस्कारों की चर्चा की है। इसी प्रकार “हरिवंशपुराण” आदि में भी संस्कार सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। फिर भी इन ग्रन्थों में संस्कार सम्बन्धी विधि-विधान का विस्तृत उल्लेख नहीं है। विशेष रूप से गृहस्थ-जीवन से सम्बन्धित और हिन्दू-परम्परा में स्वीकृत सोलह संस्कारों का जैन-परम्परा में अपने विधि-विधान सहित विस्तृत उल्लेख तो आचारदिनकर में ही मिलता है। यद्यपि उनके विवेचन से ऐसा तो लगता है कि उनके समक्ष पूर्वाचार्यों की कृतियाँ तो रही होंगी, फिर भी वे कौनसी थीं? यह हमें ज्ञात नहीं है। वर्तमान में तो हमारे समक्ष आचारदिनकर ही एकमात्र ऐसी कृति है।

श्वेताम्बर-परम्परा के संस्कार सम्बन्धी साहित्य में वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर का स्थान :-

इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा के संस्कार सम्बन्धी साहित्य में वर्धमानसूरिकृत “आचारदिनकर” का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें परम्परा से चले आ रहे संस्कारों के विधि-विधान का स्पष्ट विवेचन किया गया है। संस्कारों का उद्भव प्राचीनकाल में ही हुआ होगा- ऐसा हम मान सकते हैं, क्योंकि कल्पसूत्र में आदिनाथ के चरित्र में इनमें से कुछ संस्कारों के मात्र नामोल्लेख मिलते हैं, फिर भी उनकी स्पष्ट विधि का विवेचन आगमसाहित्य में नहीं मिलता है। निवृत्तिप्रधान दृष्टि के कारण जैन-परम्परा में संस्कारों से सम्बन्धित साहित्य का सम्यक् विकास नहीं हो पाया। हमारी दृष्टि में जैनधर्म का निवृत्तिमार्गी होना ही उसमें संस्कार सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना में बाधक था, फिर भी हरिभद्रसूरि और आचार्य पादलिप्तसूरि ने पूजा-प्रतिष्ठा, आदि संस्कारों से सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना की। “पंचाशकप्रकरण”, “निर्वाणकलिका” आदि में कुछ संस्कारों का विवेचन हुआ है, किन्तु आचारदिनकर में जिस प्रकार गृहस्थ के, यति के एवं सामान्य संस्कारों की विस्तृत चर्चा हुई है, उतना स्पष्ट विवेचन शायद आज तक किसी भी श्वेताम्बर-जैनाचार्य ने नहीं किया है।

“आचारदिनकर” नामक ग्रन्थ में गर्भ में आने से लेकर जीवन के अन्त तक के सभी संस्कारों का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। इन संस्कारों को कब, किस समय एवं किस प्रकार किया जाना चाहिए, संस्कार-विधि करते समय क्या-क्या किया जाना चाहिए? इसका भी इसमें स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जिसे सामान्य व्यक्ति भी सरलता से हृदयंगम कर सकता है।

संस्कारों के विवेचन तो अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं, पर उन संस्कारों में कौनसे संस्कार किसके द्वारा करवाना चाहिए? इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया

गया है। वर्धमानसूरि ने इसका भी स्पष्ट विवेचन किया है कि कौनसा संस्कार गृहस्थगुरु (विधिकारक) या जैन-ब्राह्मण द्वारा होगा और कौनसा संस्कार यति या मुनि द्वारा होगा। साथ ही उनकी योग्यताओं के बारे में भी बताया गया है। इस प्रसंग में उन्होंने आगमों के संदर्भ भी प्रस्तुत किए हैं।

इस प्रकार वर्धमानसूरिकृत “आचारदिनकर” का संस्कार-साहित्य में अनुपम स्थान है। इस विषय में इसके समकक्ष ऐसा दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है- यह कहना भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा। १२५०० श्लोक-परिमाण, २ खण्डों में विभाजित यह ग्रन्थ अपने-आप में अद्वितीय है। यही कारण है कि हमने इसे अपने शोधकार्य का विषय बनाया है।

आचारदिनकर का सामान्य परिचय -

श्वेताम्बर जैन-परम्परा में वर्धमानसूरिकृत “आचारदिनकर” मुख्यतः संस्कारप्रधान कृति है। इस कृति में लेखक ने व्यक्ति के गर्भ में आने से लेकर मृत्युपर्यन्त के संस्कारों का वर्णन किया है। प्रस्तुत कृति में गृहस्थजीवन एवं साधुजीवन के १६-१६ संस्कारों एवं गृहस्थ और मुनि के सामान्य आठ संस्कारों का- इस प्रकार कुल चालीस संस्कारों का विवेचन किया गया है। यह सम्पूर्ण कृति दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में गृहस्थ एवं मुनि-जीवन के १६-१६ संस्कारों की चर्चा है एवं दूसरे खण्ड में गृहस्थ तथा मुनि के सामान्य आठ संस्कारों की चर्चा की गई है।

वर्धमानसूरि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व -

“आचारदिनकर” के रचनाकार वर्धमानसूरि हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में वर्धमानसूरि नाम के अनेक आचार्य हुए हैं, अतः संशय होना स्वाभाविक है कि इस कृति के रचनाकार वर्धमानसूरि कौन हैं? परन्तु रचनाकार वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर की अन्तिम प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर दिया है। ग्रन्थ-प्रशस्ति के अनुसार आचारदिनकर के रचनाकार वर्धमानसूरि ने स्वयं को रुद्रपल्ली गच्छ के अभयदेवसूरि (तृतीय) का शिष्य एवं जयानंदसूरि का लघु गुरुभ्राता बताया है।

वर्धमानसूरि के व्यक्तित्व का वास्तविक परिचय तो उनकी कृति आचारदिनकर के अध्ययन से ही हो जाता है। संस्कारों को इस प्रकार निरूपित वही व्यक्ति कर सकता है, जो इनके महत्व एवं गूढ़ता को समझता हो। जब हम उनकी रचना, उनकी गुरु-परम्परा और उनके धर्मपरिवार के आधार पर उनके व्यक्तित्व का आंकलन करते हैं, तो यह पाते हैं कि वे एक प्रभावक जैनाचार्य थे।

वर्धमानसूरि संस्कृत एवं प्राकृत-भाषा तथा उनके साहित्य के विशिष्ट जानकार थे। उन्होंने अपनी इस कृति में जगह-जगह अनेक आगमों के संदर्भ भी प्रस्तुत किए हैं, जो उनके आगमज्ञान को प्रकट करते हैं। लगभग १२५०० ग्रन्थाग्र वाली संस्कृत एवं प्राकृत-भाषा से निबद्ध यह कृति उनके गंभीर अध्ययन का ही परिणाम है।

वर्धमानसूरि का सम्पूर्ण सत्ताकाल कितना था, इसका निर्णय करना तो कठिन है, क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसका अनुमान मात्र उनकी इसी कृति के आधार पर किया जा सकता है। यह कृति विक्रम संवत् १४६८ में पूर्ण हुई इस आधार पर उनका सत्ताकाल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी है।

इनके गृहस्थ एवं संयमी-जीवन के सन्दर्भ में हमें विशेष कोई जानकारी नहीं मिलती है।

प्रस्तुत कृति के कर्ता वर्धमानसूरिजी के कृतित्व के सम्बन्ध में हमें जिनरत्नकोश एवं जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास से कुछ सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। जिनरत्नकोश एवं जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-५ के अनुसार “स्वप्नप्रदोष” अपर नाम “स्वप्नविचार” नामक कृति भी रुद्रपल्लीगच्छ के वर्धमानसूरि की है। इसके अतिरिक्त जिनरत्न कोश में “कथाकोश” (शकुनरत्नावली) एवं “प्रतिष्ठाविधि” के कर्ता भी वर्धमानसूरि को बताया है। संभवतः, यह भी इन्हीं वर्धमानसूरि की कृति हो सकती है। सम्भव है कि आचारदिनकर में वर्णित “प्रतिष्ठाविधि” प्रकरण को ही एक स्वतंत्र कृति के रूप में माना गया हो।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। इन अध्यायों में वर्णित विषयों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

प्रथम अध्याय में विभिन्न परम्पराओं में ‘संस्कार’ को किस रूप में माना गया है, इसका उल्लेख करते हुए संस्कार शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। तदनन्तर आचारदिनकर में वर्णित संस्कारों का क्या प्रयोजन है, उनका क्या महत्व है, इसका उल्लेख करते हुए संस्कारों की संख्या का अन्य परम्पराओं के साथ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे अध्याय में संस्कारों से सम्बन्धित साहित्य का प्रस्तुतिकरण किया गया है। इस अध्याय को तीन भागों में विभाजित करके मुख्यतः उन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है, जो आचारदिनकर में वर्णित विषयों से

सम्बन्धित है, अर्थात् जिनमें हमें इन ४० संस्कारों से सम्बन्धित विषय-सामग्री उपलब्ध होती है। इस अध्याय में सर्वप्रथम संस्कारों से सम्बन्धित हिन्दू-परम्परा के साहित्य का विवेचन किया गया है और तदनन्तर दिगम्बर एवं श्वेताम्बर-परम्परा के साहित्य का उल्लेख हुआ है।

तीसरे अध्याय में वर्धमानसूरि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में विचार किया गया है तथा प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के आधारभूत ग्रन्थ “आचारदिनकर” की विषयवस्तु को प्रस्तुत करके उसकी अन्य परम्पराओं से तुलना करते हुए उसका समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

चौथे अध्याय में आचारदिनकर में वर्णित गृहस्थजीवन के षोडश संस्कारों यथा-

१. गर्भाधान-संस्कार २. पुंसवन-संस्कार ३. जन्म-संस्कार
४. सूर्य-चन्द्रदर्शन-संस्कार ५. क्षीराशन-संस्कार ६. षष्ठी-संस्कार
७. शुचिकर्म-संस्कार ८. नामकरण-संस्कार ९. अन्नप्राशन-संस्कार
१०. कर्णवेध-संस्कार ११. चूड़ाकरण-संस्कार १२. उपनयन-संस्कार
१३. विद्यारम्भ-संस्कार १४. विवाह-संस्कार १५. व्रतारोपण-संस्कार

१६. अन्त्य-संस्कार की विधियों का उल्लेख करते हुए अन्य परम्पराओं के साथ उनकी तुलना एवं समीक्षा करने का प्रयत्न किया गया है।

पाँचवें अध्याय में आचारदिनकर में वर्णित मुनि-जीवन के षोडश-संस्कारों यथा -

१. ब्रह्मचर्यव्रतग्रहण-विधि २. क्षुल्लक-विधि ३. प्रव्रज्या-विधि
४. उपस्थापना-विधि ५. योगोद्धहन-विधि ६. वाचनानुज्ञा-विधि
७. वाचनानुज्ञा-विधि ८. उपाध्याय-पदस्थापना-विधि ९. आचार्य-पदस्थापना-विधि
१०. भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं की उद्धहन-विधि ११. साध्वी की दीक्षा-विधि
१२. प्रवर्तिनीपदस्थापना-विधि १३. महत्तरा-पदस्थापना-विधि १४. अहोरात्रि विधि
१५. ऋतुचर्या-विधि एवं १६. अंतिम संलेखना की विधि को संक्षेप में उद्धृत कर उन विधियों की अन्य परम्पराओं के साथ तुलना करने का प्रयास किया गया है।

छठवें अध्याय में आचारदिनकर में गृहस्थ एवं मुनि-दोनों के लिए सामान्य रूप से निर्दिष्ट १. प्रतिष्ठा-विधि २. शान्तिक-कर्म ३. पौष्टिक-कर्म ४. बलिबिधान-विधि ५. प्रायश्चित्त-विधि ६. आवश्यक-विधि ७. तप-विधि एवं ८.

पदारोपण -विधि का उल्लेख करते हुए अन्य परम्पराओं के साथ उन विधियों की तुलना कर समीक्षा करने का प्रयत्न किया गया है।

सातवें अध्याय में उपसंहार के रूप में आचारदिनकर में वर्णित विविध संस्कारों की मूल्यवत्ता का आंकलन करते हुए वर्तमान समय में उनकी क्या प्रांसंगिकता है- इसका उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार सात अध्यायों से युक्त इस शोधप्रबन्ध की प्रस्तुति की वेला में निश्चित ही मैं आन्तरिक-आनंद और आह्लाद का अनुभव कर रही हूँ। इस शोधप्रबन्ध में तुलनात्मक विवेचन हेतु यथासंभव जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हो सके, उनका अवलोकन किया है, किन्तु फिर भी ग्रन्थों की अनुपलब्धता के कारण, हो सकता है कि बहुत कुछ अपूर्ण रहा हो, उसके लिए मैं विद्वत्-वर्ग से क्षमाप्रार्थी हूँ और उनके सुझावों के अनुसार भविष्य में इसे पुनः परिमार्जित करने की मेरी भावना है।

प्रस्तुत शोधकार्य :-

यद्यपि जैनधर्म, दर्शनसाहित्य, इतिहास और संस्कृति को लेकर अभी तक अनेक शोधकार्य हुए, किन्तु दुर्भाग्य से संस्कार सम्बन्धी शोध उपेक्षा का ही विषय रहा है। संस्कारों के सम्बन्ध में अभी तक कोई भी शोधकार्य नहीं हुआ है। हमारी जानकारी में आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में प्रस्तुत-संस्कारों से सम्बन्धित विधि-विधानों पर भी कोई शोधकार्य नहीं हुआ है। डॉ. सौम्यगुणाश्रीजी ने “विधिमार्गप्रपा” पर अपना शोध प्रबन्ध लिखा है, किन्तु जहाँ तक “विधिमार्गप्रपा” का प्रश्न है, वह यतिजीवन के ही कुछ संस्कारों का उल्लेख करती है, गृहस्थजीवन के सोलह संस्कारों का उसमें कोई उल्लेख नहीं है, जबकि “आचारदिनकर” गृहस्थजीवन के सोलह संस्कारों पर अधिक बल प्रदान करता है और यही मात्र एक ऐसा ग्रन्थ है, जो न केवल सोलह संस्कारों का उल्लेख करता है, अपितु इनके सम्बन्ध में विधि-विधान की विस्तृत विवेचना भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार प्रस्तुत शोधकार्य जैन- विद्या के क्षेत्र में शोध की दृष्टि से एक नए आयाम को प्रस्तुत करता है- ऐसा हमारा विश्वास है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में एक उपेक्षित विषय पर प्रकाश डाला गया है और इस प्रकार यह शोधकार्य एक मौलिक शोधकार्य की श्रेणी में आता है। इस शोधकार्य के निमित्त जो महत्वपूर्ण कार्य हुआ है, वह यह है कि इस संस्कृत-प्राकृत मिश्रित मूलग्रन्थ का सम्पूर्ण अनुवाद।

कृतज्ञता-ज्ञापन :-

सर्वप्रथम मैं अहिंसा एवं वैराग्य-मार्ग के उपदेष्टा परम पावन तीर्थंकर परमात्मा के चरणों में हृदय की अनन्य आस्था के साथ वन्दना अर्पित करती हूँ। तदनन्तर उनके जिनशासन को जीवन्त बनाए रखने वाले गौतमस्वामी, सुधर्मा स्वामी एवं युगप्रभावक चारों दादा गुरुदेवों के प्रति सर्वतोभावेन नतमस्तक हूँ।

मेरी इस अध्ययनयात्रा में प्रातःस्मरणीय खरतरगच्छ नभोमणि गणनायक प. पू. सुखसागरजी म. सा. का दिव्य आशीर्वाद एवं मंगल-कृपा सदैव रही है। शोधग्रन्थ-प्रस्तुति की वेला में उन्हें मैं असीम आस्था के साथ अभिवन्दन करती हूँ।

इस शोधग्रन्थ की निर्विघ्न सम्पन्नता में कहीं-न-कहीं, छत्तीसगढ़-शिरोमणि खरतरगच्छाधिपति प.पू. स्व. जिनमहोदयसागरसूरिश्वरजी म.सा., आत्मसाधिका, समतामूर्ति, जैनकोकिला प. पू. प्र. महोदया स्व. श्री विचक्षणश्रीजी म. सा. एवं आगमरश्मि, गुर्जरज्योति प. पू. प्र. महोदया स्व. श्री तिलकश्रीजी म. सा. का दिव्याशीष भी रहा है। इस ग्रन्थ की पूर्णाहुति की पावन वेला में उनके चरणों में भी सादर सविनय नतमस्तक हूँ।

मधुरभाषी परमपूज्य श्री पीयूषसागरजी म. सा. के पावन चरणों में मेरा श्रद्धाभिसिक्त वन्दना। यह शोधग्रन्थ उन्हीं की प्रेरणा की फलश्रुति है। मैं जब भी आपश्री से मिली, तब-तब मुझे ज्ञानार्जन हेतु आपकी प्रेरणा का संबल मिला। हमेशा आपश्री का यही आग्रह रहा कि जीवन में हमेशा ज्ञानार्जन करते रहना, कभी भी इसमें प्रमाद मत करना। आपश्री की प्रबल प्रेरणा से ही मुझमें उत्साह जाग्रत हुआ और उसी के फलस्वरूप मैंने यह शोधकार्य करने का निश्चय किया।

ग्रन्थ की पूर्णाहुति के इन क्षणों में विचक्षणमण्डल की सभी गुरुभगिनियों के प्रति भी सहृदय आभार प्रदर्शित करती हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुझे ज्ञानार्जन करने हेतु प्रेरित किया।

मेरे इस संयमी-जीवन की प्रणेता परम सम्माननीया गुरुवर्या प. पू. श्री हर्षयशाश्रीजी म. सा. के शुभाशीर्वाद और विद्वज्जनों की शुभकामनाओं का ही सुपरिणाम मानती हूँ कि मेरा यह शोधकार्य निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हुआ। परमश्रद्धेय गुरुवर्या तो मेरे जीवन में सर्वस्व हैं, उन्हें मैं क्या साधुवाद दूँ? उनके प्रति मैं क्या कृतज्ञता ज्ञापित करूँ? मुझमें जो कुछ भी है, उन्हीं की तो देन है, अगर वे मुझे अध्ययन से जुड़े रहने की निरन्तर प्रेरणा नहीं देती, तो सम्भवतः यह यात्रा अधूरी ही रह जाती। वे मेरे लिए दीपक के समान हैं, जिन्होंने स्वयं

जलकर भी मुझे हमेशा प्रकाश से सराबोर किया है। मैं उनके पावन पाद-प्रसूनो में अपनी श्रद्धा ज्ञापित करती हूँ।

इस शोधकार्य को प्रारम्भ से लेकर अन्तिम पड़ाव तक कुशलतापूर्वक पहुँचाने वाले, प्रज्ञामनीषी, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के जैन-विद्वान् माननीय डॉ. सागरमलजी जैन के प्रति भी हृदय से कृतज्ञ हूँ। मैं अपने-आप को भाग्यशाली मानती हूँ कि आपश्री का पावन सात्रिध्य मुझे मिला। आपने न केवल इस शोधप्रबन्ध का सफल निर्देशन ही किया, वरन् मुझे मूलग्रन्थ के अनुवाद-कार्य में भी प्रतिसमय सहयोग प्रदान किया है। उदार व्यक्तित्व के धनी डॉ. सागरमलजी जैन ने इस ग्रन्थ को सम्पूर्ण करने हेतु “प्राच्यविद्यापीठ” शाजापुर में जो सुविधाएँ प्रदान की, उसके लिए भी मैं उनकी आभारी हूँ। इस शोधप्रबन्ध को मूर्तरूप देने में उनका अमूल्य योगदान रहा है। निःसन्देह, इस शोधग्रन्थ के निर्माण का श्रेय उन्हीं को जाता है। मैं विनम्रभाव से उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। वस्तुतः, डॉ. सागरमलजी जैन की प्रेरणा, प्राच्यविद्यापीठ का विशाल पुस्तकालय और वहाँ का शान्त वातावरण इस लक्ष्य की प्राप्ति में सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुए हैं।

प्राणीमित्र, कर्मठ समाजसेवी कुमारपाल भाई वी. शाह के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मुझे ज्ञानार्जन हेतु हमेशा प्रेरित किया।

बड़ौदा निवासी श्री नरेशजी पारख एवं श्री लक्ष्मीचंदजी झाबक के अगाध ज्ञान-प्रेम एवं गुरु-भक्ति को भी विस्मृत नहीं कर सकती हूँ। आपने न केवल ज्ञानार्जन में अर्थ-सहयोग ही प्रदान किया, वरन् इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत भी रहे। इसके साथ ही बड़ौदा श्रीसंघ का जो सहयोग रहा, वह भी अविस्मरणीय है, एतदर्थ मैं उनकी भी हृदय से आभारी हूँ।

इस शोध-सामग्री को कम्प्यूटराइज्ड करने में श्री संजयजी सक्सेना एवं श्री अमितजी परमार का एवं पुफ-संशोधन में श्री चैतन्यकुमारजी सोनी, शाजापुर का सहयोग रहा है, एतदर्थ उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

इनके अतिरिक्त प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस शोधप्रबन्ध के प्रणयन में जो भी सहयोगी बने हैं, उन सबके प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

- साध्वी मोक्षरत्नाश्री

विषय सूची

| अध्याय | पृ.सं. |
|--|--------|
| १. विषय प्रवेश : | |
| १. संस्कार का अर्थ | १७ |
| २. संस्कार का प्रयोजन | ३१ |
| ३. संस्कार का महत्त्व | ३२ |
| ४. संस्कारों की संख्या का तुलनात्मक विवेचन | ३२ |
| २. संस्कारों से सम्बन्धित साहित्य : | |
| १. संस्कार सम्बन्धी हिन्दू परम्परा का साहित्य | ५० |
| २. संस्कार सम्बन्धी दिगम्बर परम्परा का साहित्य | ५२ |
| ३. संस्कार सम्बन्धी श्वेताम्बर परम्परा का साहित्य | |
| (अ) वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के पूर्व का साहित्य | ५६ |
| (ब) वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर | ७६ |
| (स) वर्धमानसूरिकृत से परवर्ती संस्कारों से सम्बन्धित श्वेताम्बर साहित्य | ७७ |
| ३. वर्धमानसूरि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व : | |
| १. वर्धमानसूरि का व्यक्तित्व परिचय | ८१ |
| २. वर्धमानसूरि का कृतित्व | ८५ |
| ३. आचारदिनकर में वर्णित विभिन्न संस्कार | ८८ |
| ४. गृहस्थ के सोलह संस्कार | ८६ |
| ५. मुनि के सोलह संस्कार | ९० |
| ६. सामान्य आठ संस्कार | ९२ |
| ७. तुलना एवं समीक्षा | ९५ |
| ४. आचारदिनकर में वर्णित गृहस्थ जीवन के संस्कार : | |
| १. गृहस्थ जीवन के सोलह संस्कारों का विवेचन और उनकी तुलना एवं समीक्षा | १०७ |
| ५. आचारदिनकर में वर्णित मुनि जीवन के संस्कार : | |
| २. मुनि जीवन के सोलह संस्कारों का विवेचन और उनकी तुलना एवं समीक्षा | २१८ |
| ६. आचारदिनकर में वर्णित सामान्य संस्कार : | |
| १. गृहस्थ और मुनि दोनों से सम्बन्धित आठ संस्कारों का प्रतिपादन और उनकी तुलना एवं समीक्षा | ३१६ |
| ७. उपसंहार : | |
| १. विविध संस्कारों की मूल्यवत्ता और वर्तमान समय में उनकी प्रासंगिकता | ३८६ |

अध्याय-9 विषय-प्रवेश

‘संस्कार’ शब्द का अर्थ -

संस्कार शब्द का अर्थ जानने से पहले इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में जानना आवश्यक है। संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की ‘कृञ्’ धातु में ‘सम्’ उपसर्ग एवं ‘घञ्’ प्रत्यय के योग से हुई है, अर्थात् सम्+कृ+घञ्=संस्कार। संस्कार शब्द का प्रयोग भारतीय-इतिहास, धर्म और साहित्य में अनेक अर्थों में हुआ है। डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार¹ मीमांसक यज्ञांगभूत पुरोडाश आदि की विधिवत् शुद्धि से इसका आशय समझते हैं। अद्वैत वेदान्ती आत्मा पर शारीरिक-क्रियाओं के मिथ्या आरोप को संस्कार मानते हैं एवं नैयायिक-भावों को अभिव्यक्त करने की आत्मव्यंजक-शक्ति को संस्कार मानते हैं, जिसका परिगणन वैशेषिक-दर्शन में चौबीस गुणों के अन्तर्गत किया गया है।

वैदिक-साहित्य में संस्कार शब्द की परिभाषा देते हुए कहा गया है:-

‘संस्कारो नाम स भवति यस्मिन्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य’²

अर्थात् संस्कार वह है, जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है।

तन्त्रवार्तिक के अनुसार³ “योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते,” अर्थात् संस्कार वह क्रिया है, जो योग्यता प्रदान करती है।

¹ हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-एक, पृ.-१८, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

² देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१७६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

³ देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१७६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

वीरमित्रोदय^४ ने संस्कार शब्द को परिभाषित करते हुए कुछ इस ढंग से कहा है- “संस्कार एक विलक्षण योग्यता है, जो शास्त्रविहित क्रियाओं के करने से उत्पन्न होती है।”

इसी प्रकार हिन्दूधर्मकोश^५ में भी संस्कार की परिभाषा देते हुए कहा गया है- “शरीर एवं वस्तुओं की शुद्धि के लिए, उनके विकास के साथ समय-समय पर जो कर्म किए जाते हैं, उन्हें संस्कार कहते हैं।”

संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में संस्कार का प्रयोग मात्र इन्हीं अर्थों में नहीं हुआ है, वरन् इसका अन्य अर्थों में भी प्रयोग हुआ है, यथा : पूर्ण करना, संस्कृत करना, पालिश करना, व्याकरणजन्य शुद्धि, संस्क्रिया, प्रशिक्षण, आसज्ज करना, खाना बनाना, श्रृंगार करना, अभिमन्त्रण करना, अन्तशुद्धि करना, विचारभाव, प्रत्यास्मरण-शक्ति, संस्मरण, शुद्धि-संस्कार, धार्मिककृत्य या अनुष्ठान, अभिषेक, विशिष्ट क्रिया, आदि।^६

इस प्रकार भाषा-जगत् में संस्कार शब्द के साथ अनेक अर्थों का योग हुआ है, जो इसके दीर्घकालिक-इतिहास के क्रम में इसके साथ संयुक्त होते गए हैं।

जैन-परम्परा में संस्कार शब्द का तात्पर्य मात्र बाह्य-आडम्बर, आदि से ही नहीं लिया गया है। मानव जन्म से असंस्कृत होता है, किन्तु संस्कारों की अनुपालना से उसका भौतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक-जीवन निखर उठता है और धार्मिक-जीवन उन्नत होता है। शुचिता-सन्निवेश, मनोवृत्ति का परिष्कार, धर्मार्थ-सदाचरण, क्रियाशुद्धि, देव-सन्निधान एवं विधि-विधान संस्कार के ही प्रमुख लक्षण हैं।^७

पवनकुमार शास्त्री के अनुसार-^८ “वे विशेष क्रियाएँ जो मनुष्य के अन्तः को स्वतः या परतः परिष्कृत करती हैं, उसके भावों की विशुद्धि करती हैं, उन्हें संस्कार कहते हैं।

^४ देखे: धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१७६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^५ हिन्दू धर्म कोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ.-६४५, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७८.

^६ संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आर्पे, पृ.-१०५१, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६.

^७ श्रमण (पत्रिका), लेखक : डॉ. विजय कुमार झा, पृ.-११, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, वर्ष ५४, अंक १-३, २००३.

^८ आदिपुराण परिशीलन, सं:- फूलचंद जैन, पृ.-३३३, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज.) प्रथम संस्करण २००१.

संक्षेप में “संस्कार का अभिप्राय बाह्य धार्मिक-क्रियाकाण्ड, धार्मिक-अनुष्ठान, आडम्बर पूर्ण कर्मकाण्ड, राज्य द्वारा निर्दिष्ट औपचारिकताओं एवं अनुशासित व्यवहारों से भिन्न आन्तरिक-विशुद्धि और आत्मिक-परिशुद्धि से है। संस्कार शब्द व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक-परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से सम्बन्धित है।”^६ दिग्म्बर-परम्परा के जैन-पुराणों में संस्कार हेतु क्रिया शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ भी आचरण, शिक्षण, शुद्धि-संस्कार, धार्मिक-संस्कार से ही लिया जाता है,^{१०} जो एक सीमा तक संस्कार शब्द का ही पर्यायवाची है। इस प्रकार संस्कार शब्द का एक अर्थ विशिष्ट क्रिया भी है।

आचारदिनकर में यह शब्द व्यक्ति के विकास हेतु किए जाने वाले उन विधि-विधानों हेतु व्यवहृत हुआ है, जिनके माध्यम से व्यक्ति का विकास होता है। संस्कार का अर्थ वहाँ मात्र विधि-विधानों से ही नहीं लिया गया है, क्योंकि मात्र विधि-विधान से व्यक्ति के अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती है। आत्मा का परिमार्जन करने हेतु विधि-विधान एक माध्यम है। उसका मूल उद्देश्य तो अन्तःकरण की शुद्धि करना है। वह एक प्रकार से चारित्रिक-विकास की प्रक्रिया है।

इस प्रकार जैन-परम्परा में संस्कार का सम्यक् अर्थ ऐसी सम्यक् क्रियाओं से है, जो व्यक्ति का पवित्रीकरण कर उसे आध्यात्मिक-साधना, धार्मिक-क्रियाकलाप और सामाजिक-दायित्व के निर्वाह के योग्य बनाता है।

संस्कार का महत्व:-

संस्कार की अवधारणा-समाज सापेक्ष है, अतः संस्कारों का मूल्य एवं महत्व का आंकलन भी सामाजिक-परिवेश में ही करना होगा। यद्यपि परम्परागत रूप से इन संस्कारों को एक धार्मिक-स्वरूप प्रदान किया गया है, किन्तु भारत में धर्म और समाज एक-दूसरों से पृथक् नहीं माने गए हैं, अतः धार्मिक-संस्कारों का भी एक सामाजिक-परिप्रेक्ष्य होता है। वस्तुतः, ये संस्कार इसलिए आवश्यक हैं कि इनके माध्यम से व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी के रूप में विकास का अवसर मिलता है। सही अर्थ में संस्कार की महत्ता एवं उपयोगिता एक ओर व्यक्ति को समाज से जोड़ने में है, तो दूसरी ओर समाज द्वारा उसकी अस्मिता को स्वीकार करने में भी है। संस्कार व्यक्ति का सामाजिक-महत्व स्वीकार करने के भी माध्यम

^६ आदिपुराण में भारत, नेमीचंद्र शास्त्री, पृ.-१६४, गणेशवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६८.

^{१०} संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आपटे, पृ.-३११, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६.

हैं। दूसरे शब्दों में संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति को एक सामाजिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है और उसे समाज के अवियोज्य अंग के रूप में भी स्वीकार किया जाता है।

संस्कारों का दूसरा महत्व इस बात में है कि वे व्यक्ति को संस्कारित या शिक्षित करते हैं। उपनयन और विद्यारम्भ के संस्कार व्यक्ति को शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश देने के लिए ही किए जाते हैं। शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है, जिसके आधार पर व्यक्ति का समाजीकरण होता है, अतः शिक्षा सम्बन्धी संस्कारों का भी व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक-जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा वस्तुतः व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य स्पष्ट करती है और उसकी जीवन-शैली को परिमार्जित करती है।

व्यक्ति को एक समाज के सदस्य के रूप में कार्य करने हेतु पारस्परिक-सहयोग की आवश्यकता होती है, किन्तु व्यक्ति दूसरे के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे और दूसरा उसके प्रति किस प्रकार का व्यवहार करे- यह बात कहीं-न-कहीं नैतिक-व्यवस्था से जुड़ी हुई है। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में नैतिक मूल्यों का विकास किया जाता है। एक-दूसरे के प्रति सामाजिक दायित्व का बोध कराया जाता है और परिवार तथा समाज में समर्पित भाव से कैसे जीवन व्यतीत किया जाए? यह बात भी व्यक्ति को संस्कार के माध्यम से ही प्राप्त होती है। सामाजिक दायित्वों एवं कर्तव्यों के बोध का मूलाधार संस्कार ही हैं।

इस प्रकार संक्षेप में संस्कार की एक सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक-मूल्यवत्ता रही हुई है। उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। संस्कारों की यह परम्परा न केवल हिन्दू-धर्म या जैन-धर्म में है, अपितु ईसाई, इस्लाम और पारसी, आदि विश्व के सभी धर्मों में किसी-न-किसी रूप में संस्कारों की परम्परा पाई जाती है। संस्कार मात्र कर्मकाण्ड नहीं हैं, बल्कि वे व्यक्ति के जीवन-निर्माण के सूत्र भी हैं। उनके पीछे सामाजिक, नैतिक और वैज्ञानिक-आधार रहे हुए हैं। यह आधार ही उनकी मूल्यवत्ता को स्पष्ट करते हैं।

संस्कारों की संख्या का तुलनात्मक विवेचन-

श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में संस्कारों की संख्या कितनी-कितनी बताई गई है- यह जानना आवश्यक है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में वर्णित संस्कारों के स्वरूप आदि में विशेष अन्तर नहीं है, यद्यपि अपनी-अपनी परम्परागत मान्यता के कारण कुछ अंतर अवश्य है।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में क्रमशः 'आचारदिनकर' एवं 'आदिपुराण' ही ऐसे ग्रन्थ हैं, जिसमें हमें सम्पूर्ण संस्कारों का वर्णन मिल जाता है। अन्य ग्रन्थों में भी कुछ संस्कारों के किए जाने हेतु नामोल्लेख तो अवश्य मिलते हैं, किन्तु वहाँ इनकी निश्चित संख्या के बारे में कोई उल्लेख नहीं है। आचारदिनकर ४० संस्कारों का उल्लेख करता है, तो आदिपुराण में इनकी संख्या १०० से भी अधिक हो जाती है। वैदिक-परम्परा में संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में आपस में मतभेद रहा है, जैसे- कोई संस्कारों की संख्या सोलह मानते हैं, कोई अठारह, तो कोई चालीस। यह तो संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में सामान्य जानकारी है। अब प्रत्येक परम्परा में वर्णित संस्कारों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है।

श्वेताम्बर-परम्परा में वर्णित संस्कारों की संख्या-

श्वेताम्बर-परम्परा के आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम चालीस संस्कारों का उल्लेख मिलता है। इससे पूर्ववर्ती ग्रन्थों में इनमें से कुछ संस्कारों के विधि-विधान सहित उल्लेख मिलते हैं, यथा- प्रतिष्ठाविधि, आवश्यकविधि, प्रायश्चित्तविधि, इत्यादि, किन्तु वहाँ इन्हें संस्कार के नाम से अभिहित नहीं किया गया है, वहाँ इन्हें विधि-विधान के रूप में ही माना गया है। इसी प्रकार गर्भाधान (स्वप्न-दर्शन) जातकर्म, सूर्य-चन्द्रदर्शन, नामकरण, आदि संस्कारों के नामोल्लेख तो आगमों में भी मिलते हैं, किन्तु वहाँ इनसे सम्बन्धित विधि-विधानों के उल्लेख नहीं मिलते हैं। आगमकालीन युग से लेकर १५वीं शती तक और उसके बाद भी हमें किसी ऐसे ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता, जो इन सभी चालीस संस्कारों का उनके विधि-विधानों सहित निरूपण करता हो। इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा में संस्कारों का विधि-विधान सहित निरूपण करने वाला एकमात्र ग्रन्थ आचारदिनकर ही है। इसमें वर्णित चालीस संस्कारों को निम्नांकित तीन भागों में विभक्त किया गया है-

- | | | |
|-------------------------------|-------------------------------|------------------------------|
| (अ) गृहस्थ सम्बन्धी | (२) मुनि सम्बन्धी | (३) मुनि एवं गृहस्थ सम्बन्धी |
| (१) गर्भाधान-संस्कार | (१) ब्रह्मचर्य-व्रतग्रहण-विधि | (१) प्रतिष्ठा-विधि |
| (२) पुंसवन-संस्कार | (२) कुल्लक-विधि | (२) शान्तिक-कर्म |
| (३) जातकर्म-संस्कार | (३) प्रव्रज्या-विधि | (३) पौष्टिक-कर्म |
| (४) सूर्य-चन्द्रदर्शन-संस्कार | (४) उपस्थापना-विधि | (४) बलि-विधान |
| (५) क्षीराशन-संस्कार | (५) योगोद्धहन-विधि | (५) प्रायश्चित्त-विधि |
| (६) षष्ठी-संस्कार | (६) वाचनाग्रहण-विधि | (६) आवश्यक-विधि |

- | | | |
|-------------------------|------------------------------|------------------|
| (७) शुचि-संस्कार | (७) वाचनानुज्ञा-विधि | (७) तप-विधि |
| (८) नामकरण-संस्कार | (८) आचार्य-पदस्थापन-विधि | (८) पदारोपण-विधि |
| (९) अन्नप्राशन-संस्कार | (९) उपाध्याय-पदस्थापन-विधि | |
| (१०) कर्णवेध-संस्कार | (१०) प्रतिमा-उद्वहन-विधि | |
| (११) चूड़ाकरण-संस्कार | (११) साध्वी की दीक्षा-विधि | |
| (१२) उपनयन-संस्कार | (१२) प्रवर्तिनीपदस्थापन-विधि | |
| (१३) विद्यारम्भ-संस्कार | (१३) महत्तरापदस्थापन-विधि | |
| (१४) विवाह-संस्कार | (१४) अहोरात्रिचर्या-विधि | |
| (१५) व्रतारोपण-संस्कार | (१५) ऋतुचर्या-विधि | |
| (१६) अन्त्य-संस्कार | (१६) अन्तसंलेखना-विधि | |
- (२) दिगम्बर-परम्परा में संस्कारों की संख्या-

श्वेताम्बर-परम्परा की भाँति ही दिगम्बर-परम्परा के पुराण ग्रन्थों में भी हमें संस्कारों के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होते हैं। आदिपुराण में संस्कार शब्द क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसे वहाँ भी संस्कार के रूप में ही लिया गया है। आदिपुराण में तीन प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख मिलता है, यथा- (१) गर्भान्वय-क्रियाएँ (२) दीक्षान्वय-क्रियाएँ (३) कर्त्रन्वय क्रियाएँ। इन तीनों क्रियाओं की संख्या क्रमशः ५३, ४८ एवं ७ है। इन क्रियाओं के नामोल्लेख इस प्रकार हैं-

| गर्भान्वय-क्रियाएँ | दीक्षान्वय-क्रियाएँ | कर्त्रन्वय-क्रियाएँ |
|-----------------------|-----------------------|----------------------|
| (१) आधान-क्रिया | (१) अवतार-क्रिया | (१) सज्जाति-क्रिया |
| (२) प्रीति-क्रिया | (२) वृत्तलाभ-क्रिया | (२) सद्गृहित्वक्रिया |
| (३) सुप्रीति-क्रिया | (३) स्थानलाभ-क्रिया | (३) पारिव्राज्य |
| (४) धृति-क्रिया | (४) गणग्रह-क्रिया | (४) सुरेन्द्रता |
| (५) मोद-क्रिया | (५) पूजाराध्य-क्रिया | (५) साम्राज्य |
| (६) प्रियोद्भव-क्रिया | (६) पुण्ययज्ञ-क्रिया | (६) परमार्हन्त्य |
| (७) नामकर्म-क्रिया | (७) दृढचर्या-क्रिया | (७) परमनिर्वाण |
| (८) बहिर्यान-क्रिया | (८) उपयोगिता-क्रिया | |
| (९) निषद्या-क्रिया | (९) उपनीति-क्रिया | |
| (१०) प्राशन-क्रिया | (१०) व्रतचर्या-क्रिया | |

| | |
|------------------------------------|------------------------------------|
| (११) व्युष्टि-क्रिया | (११) व्रतावरण-क्रिया |
| (१२) केशवाप-क्रिया | (१२) विवाह-क्रिया |
| (१३) लिपिसंख्यान संग्रह-क्रिया | (१३) वर्णलाभ-क्रिया |
| (१४) उपनीति-क्रिया | (१४) कुलचर्या-क्रिया |
| (१५) व्रतचर्या-क्रिया | (१५) गृहीशिता-क्रिया |
| (१६) व्रतावतरण-क्रिया | (१६) प्रशान्ति-क्रिया |
| (१७) विवाह-क्रिया | (१७) गृहत्याग-क्रिया |
| (१८) वर्णलाभ-क्रिया | (१८) दीक्षाद्य-क्रिया |
| (१९) कुलचर्या-क्रिया | (१९) जिनरूपता-क्रिया |
| (२०) गृहीशिता-क्रिया | (२०) मौनाध्ययनवृत्तत्व-क्रिया |
| (२१) प्रशान्ति-क्रिया | (२१) तीर्थकृतभावना-क्रिया |
| (२२) गृहत्याग-क्रिया | (२२) गुरुस्थानाभ्युपगम-क्रिया |
| (२३) दीक्षाद्य-क्रिया | (२३) गणोपग्रहण-क्रिया |
| (२४) जिनरूपता-क्रिया | (२४) स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति-क्रिया |
| (२५) मौनाध्ययनवृत्तत्व-क्रिया | (२५) निःसंगत्वात्मभावना-क्रिया |
| (२६) तीर्थकृतभावना-क्रिया | (२६) योगनिर्वाणसंप्राप्ति-क्रिया |
| (२७) गुरुस्थानाभ्युपगम-क्रिया | (२७) योगनिर्वाणसाधन-क्रिया |
| (२८) गणोपग्रहण-क्रिया | (२८) इन्द्रोपपाद-क्रिया |
| (२९) स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति-क्रिया | (२९) अभिषेक-क्रिया |
| (३०) निःसंगत्वात्मभावना-क्रिया | (३०) विधिदान-क्रिया |
| (३१) योगनिर्वाणसंप्राप्ति-क्रिया | (३१) सुखोदय-क्रिया |
| (३२) योगनिर्वाणसाधन-क्रिया | (३२) इन्द्रत्याग-क्रिया |
| (३३) इन्द्रोपपाद-क्रिया | (३३) अवतार-क्रिया |
| (३४) अभिषेक-क्रिया | (३४) हिरण्योत्कृष्टजन्मता-क्रिया |
| (३५) विधिदान-क्रिया | (३५) मन्दरेन्द्राभिषेक-क्रिया |
| (३६) सुखोदय-क्रिया | (३६) गुरुपूजोपलम्भन-क्रिया |
| (३७) इन्द्रत्याग-क्रिया | (३७) यौवराज्य-क्रिया |
| (३८) अवतार-क्रिया | (३८) स्वराज्य-क्रिया |

- | | |
|----------------------------------|----------------------------|
| (३६) हिरण्योत्कृष्टजन्मता-क्रिया | (३६) चक्रलाभ-क्रिया |
| (४०) मन्दरेन्द्राभिषेक-क्रिया | (४०) दिग्विजय-क्रिया |
| (४१) गुरुपूजोपलम्बन-क्रिया | (४१) चक्राभिषेक-क्रिया |
| (४२) यौवराज्य-क्रिया | (४२) साम्राज्य-क्रिया |
| (४३) स्वराज्य-क्रिया | (४३) निष्क्रान्ति-क्रिया |
| (४४) चक्रलाभ-क्रिया | (४४) योगसन्मह-क्रिया |
| (४५) दिग्विजय-क्रिया | (४५) आर्हन्त्य-क्रिया |
| (४६) चक्राभिषेक-क्रिया | (४६) तद्विहार-क्रिया |
| (४७) साम्राज्य-क्रिया | (४७) योगत्याग-क्रिया |
| (४८) निष्क्रान्ति-क्रिया | (४८) अग्रनिर्वृत्ति-क्रिया |
| (४९) योगसन्मह-क्रिया | |
| (५०) आर्हन्त्य-क्रिया | |
| (५१) तद्विहार-क्रिया | |
| (५२) योगत्याग-क्रिया | |
| (५३) अग्रनिर्वृत्ति-क्रिया | |

आदिपुराण में गर्भान्वय नामक जिन ५३ क्रियाओं का उल्लेख हुआ है, वे सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा से कही गई हैं। ४८ दीक्षान्वय क्रियाओं का उल्लेख व्रतों का ग्रहण करने हेतु उत्सुक पुरुष के लिए निर्दिष्ट है^{११} तथा अन्तिम ८ कर्त्रन्वय क्रियाओं का उल्लेख अल्पसंसारी मनुष्य के लिए किया गया है।^{१२}

वैदिक-परम्परा में संस्कारों की संख्या-

वैदिक-परम्परा में संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में काफी मतभेद रहा है,^{१३} जिनका अध्ययन निम्न बिन्दुओं के आधार पर किया जा रहा है-

^{११} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.- डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व- उनवालीसवाँ, पृ.-२६६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{१२} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.- डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व- उनवालीसवाँ, पृ.-२७७, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{१३} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१७७, उत्तरप्रदेश हिन्दीसंस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

(9) गृह्यसूत्र-

वैदिक-परम्परा में सर्वप्रथम संस्कार शब्द का उल्लेख गृह्यसूत्रों में हुआ है, किन्तु वहाँ संस्कार शब्द का प्रयोग उसके वास्तविक अर्थ में न होकर मीमांसकों की भाँति पंच-भू-संस्कार एवं पाक संस्कार के रूप में हुआ है। प्राचीनकाल में लोगों के मनःपटल पर यज्ञों का गहरा प्रभाव था, “अतः वे समस्त गृह्य विधि-विधानों का वर्गीकरण विविध यज्ञों के नामों के अन्तर्गत करते थे। दैहिक-संस्कारों का भी अन्तर्भाव उन्होंने पाकयज्ञों में ही कर लिया था।”⁹⁸ पारस्कर गृह्यसूत्र में पाकयज्ञों को चार भागों में बाँटा गया है- (१) हुत (२) आहुत (३) प्रहुत एवं (४) प्राशित, किन्तु बौधायन-गृह्यसूत्र में इन यज्ञों को सात भागों में वर्गीकृत किया गया है। वे सात प्रकार हैं- (१) हुत (२) आहुत (३) प्रहुत (४) शूलगव (५) बलिहरण (६) प्रत्यवरोहण एवं (७) अष्टाहोम। गृह्यसूत्र में प्रथम तीन की व्याख्या इस प्रकार दी गई है-

“जब यज्ञ में आहुति दे दी जाती है, तो उसे हुत कहते हैं। उन्होंने इसके अन्तर्गत विवाह से सीमन्तोन्नयनपर्यन्त संस्कारों को समाविष्ट माना है। अग्नि में आहुति देने के पश्चात् जब ब्राह्मणों तथा अन्य व्यक्तियों को दान वगैरह दिया जाता है, तो उसे प्रहुत कहा जाता है। इसमें उन्होंने जातकर्म से लेकर चौल-कर्म तक के सम्पूर्ण संस्कारों का समावेश माना है। हुत एवं प्रहुत के बाद जब कोई स्वयं अन्य व्यक्तियों से उपहार प्राप्त करता है, तो उसे आहुत कहते हैं। इसके अन्तर्गत उपनयन एवं समावर्तन संस्कार का समावेश किया गया है।”⁹⁹ इस प्रकार हम देखते हैं कि गृह्यसूत्रों में जिन्हें गृह्ययज्ञों के रूप में उल्लेखित किया गया था, कालान्तर में उन्हीं को संस्कार के नाम से जाना जाने लगा।

वैखानस से पूर्व प्रायः सभी गृह्यसूत्रों में दैहिक-संस्कारों एवं देवाराधन हेतु किए जाने वाले यज्ञों को एक ही माना जाता था, वे उनमें कोई अन्तर नहीं मानते थे। सर्वप्रथम वैखानस-स्मार्तसूत्रों में ही दैहिक-संस्कारों तथा विभिन्न अवसरों पर देवाराधन हेतु किए जाने वाले यज्ञों में स्पष्ट विभेद किया गया है।¹⁰⁰ इन सूत्रों में न केवल ऋतुसंगमन अथवा गर्भाधान से विवाह तक के अठारह संस्कारों का उल्लेख हुआ है, वरन् इनमें स्वतंत्र रूप से बाईस यज्ञों यथा

⁹⁸ हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दो (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-२०, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

⁹⁹ हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दो (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-२०, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

¹⁰⁰ हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दो (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-२१, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

पंचआह्विक-यज्ञ, सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ एवं सात सोमयज्ञ (यहाँ पंचआह्विक यज्ञों को एक ही माना गया है, अतः कुल मिलाकर बाईस यज्ञ हुए) का भी उल्लेख है।

सामान्यतः, गृह्यसूत्रों में दैहिक-संस्कारों की चर्चा विवाह से आरम्भ की गई है तथा उसका समापन समावर्तन-संस्कार से किया गया है, किन्तु गृह्यसूत्रों में एक बात विशेष रूप से देखने को मिलती है, वह यह कि अधिकांश सूत्रों में अन्त्येष्टि-संस्कार का उल्लेख ही नहीं मिलता है। सम्भवतः, यह एक अशुभ कार्य है, अतः सूत्रकारों द्वारा इस अशुभ कार्य का उल्लेख शुभ कार्यों के साथ करना उचित नहीं समझा गया होगा। कुछ ही गृह्यसूत्र हैं, जिनमें हमें इस संस्कार का उल्लेख मिलता है, यथा : पाराशर-गृह्यसूत्र, आश्वलायन-गृह्यसूत्र, बौधायन-गृह्यसूत्र, आदि। विभिन्न गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों की संख्या ग्यारह मिलती है तथा सर्वाधिक संस्कारों की संख्या अठारह मिलती है। विविध सूचियों में संस्कारों के नामों में भी थोड़ा-बहुत अन्तर देखने को मिलता है, जो निम्नानुसार स्पष्ट है-

| आश्वलायनगृह्यसूत्र | पारस्करगृह्यसूत्र | बौधायनगृह्यसूत्र |
|--------------------------|--------------------------|-------------------------|
| (१) विवाह-संस्कार | (१) विवाह-संस्कार | (१) विवाह-संस्कार |
| (२) गर्भाधान-संस्कार | (२) गर्भाधान-संस्कार | (२) गर्भाधान-संस्कार |
| (३) पुंसवन-संस्कार | (३) पुंसवन-संस्कार | (३) पुंसवन-संस्कार |
| (४) सीमन्तोन्नयन-संस्कार | (४) सीमन्तोन्नयन-संस्कार | (४) सीमन्तोन्नयनसंस्कार |
| (५) जातकर्म-संस्कार | (५) जातकर्म-संस्कार | (५) जातकर्म-संस्कार |
| (६) नामकरण-संस्कार | (६) नामकर्म-संस्कार | (६) नामकरण-संस्कार |
| (७) चूड़ाकर्म-संस्कार | (७) निष्क्रमण-संस्कार | (७) पनिष्क्रमण-संस्कार |
| (८) अन्नप्राशन-संस्कार | (८) अन्नप्राशन-संस्कार | (८) अन्नप्राशन-संस्कार |
| (९) उपनयन-संस्कार | (९) चूड़ाकर्म-संस्कार | (९) चूड़ाकर्म-संस्कार |
| (१०) समावर्तन-संस्कार | (१०) उपनयन-संस्कार | (१०) कर्णवेध-संस्कार |
| (११) अन्त्येष्टि-संस्कार | (११) केशान्त-संस्कार | (११) उपनयन-संस्कार |
| (१२) समावर्तन-संस्कार | (१२) समावर्तन-संस्कार | |
| (१३) अन्त्येष्टि-संस्कार | (१३) पितृमेध-संस्कार | |
| वाराहगृह्यसूत्र | वैखानसगृह्यसूत्र | |
| (१) जातकर्म-संस्कार | (१) ऋतुसंगमन-संस्कार | |

- | | |
|------------------------------|---------------------------|
| (२) नामकरण-संस्कार | (२) गर्भाधान-संस्कार |
| (३) दन्तोद्गमन-संस्कार | (३) सीमन्त-संस्कार |
| (४) अन्नप्राशन-संस्कार | (४) विष्णुबलि-संस्कार |
| (५) चूडाकर्म-संस्कार | (५) जातकर्म-संस्कार |
| (६) उपनयन-संस्कार | (६) उत्थान-संस्कार |
| (७) चार वेद व्रत-संस्कार | (७) नामकरण-संस्कार |
| (८) गोदान-संस्कार | (८) अन्नप्राशन-संस्कार |
| (९) समावर्तन-संस्कार | (९) प्रवसागमन-संस्कार |
| (१०) विवाह-संस्कार | (१०) पिण्डवर्द्धन-संस्कार |
| (११) गर्भाधान-संस्कार | (११) चौलक-संस्कार |
| (१२) पुंसवन-संस्कार | (१२) उपनयन-संस्कार |
| (१३) सीमन्तोन्नयन-संस्कार | (१३) पारायण-संस्कार |
| (१४) व्रतबन्ध-विसर्ग-संस्कार | |
| (१५) उपाकर्म-संस्कार | |
| (१६) उत्सर्जन-संस्कार | |
| (१७) समावर्तन-संस्कार | |
| (१८) पाणिग्रहण-संस्कार | |

धर्मसूत्र-

सर्वप्रथम संस्कारों का उल्लेख गृह्यसूत्रों में हुआ और उसके बाद धर्मसूत्रों में, किन्तु गृह्यसूत्रों में जिस प्रकार का उनका स्वरूप प्रकट हुआ था, उससे कुछ हटकर ही उनका उल्लेख हमें धर्मसूत्रों में मिलता है। चूँकि उनका अधिकांश भाग परम्परागत विधि के विवरण ने ही घेर लिया है, अतः सभी धर्मसूत्रों में संस्कारों का वर्णन नहीं मिलता है और न ही उनमें उनका परिसंख्यन ही किया गया है, फिर भी हमें वहाँ कुछ संस्कारों के, यथा-उपनयन, विवाह, उपाकर्म, उत्सर्जन, आदि के सम्बन्ध में नियमों का उल्लेख मिलता है। गौतमधर्मसूत्र में हमें आठ आत्मगुणों के साथ निम्न चालीस संस्कारों का उल्लेख मिलता है^{१७} -

- | | |
|----------------------|-----------------------------------|
| (१) गर्भाधान-संस्कार | (१४) सहचारिणी-संयोग विवाह-संस्कार |
|----------------------|-----------------------------------|

^{१७} देखें: धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१७७, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

- | | |
|---------------------------------------|--|
| (२) पुंसवन-संस्कार | (१५) देवयज्ञ |
| (३) सीमन्तोन्नयन-संस्कार | (१६) पितृयज्ञ |
| (४) जातकर्म-संस्कार | (१७) मनुष्ययज्ञ |
| (५) नामकरण-संस्कार | (१८) भूतयज्ञ |
| (६) अन्नप्राशन-संस्कार | (१९) ब्रह्मयज्ञ |
| (७) चौलकर्म-संस्कार | (२०) अष्टकयज्ञ |
| (८) उपनयन-संस्कार | (२१) पार्वणयज्ञ (१५ से १९ तक पंचमहायज्ञ) |
| (९-१२) चारवेदव्रत-संस्कार | (२२) श्राद्धयज्ञ |
| (१३) स्नान-संस्कार | (२३) श्रावणीयज्ञ |
| (२४) आग्रहायणीयज्ञ | (३३) सौत्रामणी (२७-३३ तक सप्त हविर्यज्ञ) |
| (२५) वैत्रीयज्ञ | (३४) अग्निष्ट होम |
| (२६) आश्वयुजी (२०-२६ तक सप्त पाकयज्ञ) | (३५) अत्यग्निष्टोम |
| (२७) अग्न्याधेय | (३६) उक्थ्य |
| (२८) अग्निहोत्र | (३७) षोडशी |
| (२९) दर्श पौर्णमास | (३८) वाजपेय |
| (३०) चातुर्मास्य | (३९) अतिरात्र |
| (३१) आग्रहायणेष्टि | (४०) आप्तौर्यामि (३४-४० तक सप्त सोमयज्ञ) |
| (३२) निरूढ पशुधन | |

धर्मसूत्रों में भी संस्कारों एवं यज्ञों का उल्लेख हमें एक साथ ही मिलता है। स्पष्ट है कि वहाँ भी संस्कारों और यज्ञों में कोई विभेद नहीं किया गया है। संस्कार शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से धार्मिक कृत्यों के अर्थ में किया गया है।^{१८} हारीत के अनुसार^{१९} संस्कारों की दो कोटियाँ हैं- (१) ब्रह्म एवं (२) दैव। गर्भाधान आदि मनुष्य-जीवन के विभिन्न अवसरों पर किए जाने वाले संस्कारों को ब्रह्म कहते हैं तथा विभिन्न यज्ञों को दैव-संस्कार कहते हैं। वास्तव में देखा जाए, तो ब्रह्म-संस्कारों को ही यथार्थ में संस्कार की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। इस

^{१८} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दो (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-२३, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

^{१९} देखें: धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१७७, उत्तरप्रदेश हिन्दीसंस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

मान्यता का प्रभाव यह हुआ कि स्मृतिकाल में उन्हीं कृत्यों का समावेश संस्कारों में किया गया, जिसका प्रयोजन व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं शरीर को संस्कृत करना था।

स्मृतियों-

स्मृतियों में मूलतः उन्हीं कृत्यों का समावेश संस्कारों में किया गया, जिनका अनुष्ठान व्यक्ति की शुद्धि के लिए किया जाता था। कुछ स्मृतियों में हमें संस्कारों के साथ पाकयज्ञों का भी उल्लेख मिलता है, यथा-गौतमस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, आदि। मनु के अनुसार²⁰ निम्न तेरह स्मार्त या यथार्थ संस्कार हैं-

- | | |
|--------------------------|-----------------------|
| (१) गर्भाधान-संस्कार | (८) चूड़ाकर्म-संस्कार |
| (२) पुंसवन-संस्कार | (९) उपनयन-संस्कार |
| (३) सीमन्तोन्नयन-संस्कार | (१०) केशान्त-संस्कार |
| (४) जातकर्म-संस्कार | (११) समावर्तन-संस्कार |
| (५) नामधेय-संस्कार | (१२) विवाह-संस्कार |
| (६) निष्क्रमण-संस्कार | (१३) श्मशान-संस्कार |
| (७) अन्नप्राशन-संस्कार | |

याज्ञवल्क्यस्मृति में भी केशान्त को छोड़कर हमें इन्हीं संस्कारों का उल्लेख मिलता है। गौतमस्मृति में ४० संस्कारों का उल्लेख किया गया है। मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में वर्णित दैहिक-संस्कारों के साथ ही इनमें पाकयज्ञों की भी गणना की गई है। पूर्ववर्ती स्मृतियों में तो हमें संस्कारों की कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती, किन्तु परवर्ती स्मृतियों में हमें प्रायः सोलह संस्कारों का ही उल्लेख मिलता है; जैसे व्यासस्मृति में हमें निम्न सोलह संस्कारों का उल्लेख मिलता है²¹ -

- | | |
|-----------------------|-----------------------|
| (१) गर्भाधान-संस्कार | (६) कर्णवेद-संस्कार |
| (२) पुंसवन-संस्कार | (१०) व्रतादेश-संस्कार |
| (३) सीमन्त-संस्कार | (११) वेदारम्भ-संस्कार |
| (४) जातकर्म-संस्कार | (१२) केशान्त-संस्कार |
| (५) नामक्रिया-संस्कार | (१३) स्नान-संस्कार |

²⁰ देखे: हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दो (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-२४, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

²¹ देखे: हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दो (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-२४, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

- | | |
|------------------------|--------------------------------|
| (६) निष्क्रमण-संस्कार | (१४) उद्वाह-संस्कार |
| (७) अन्नप्राशन-संस्कार | (१५) विवाहाग्निपरिग्रह-संस्कार |
| (८) वपनक्रिया-संस्कार | (१६) त्रेताग्निसंग्रह-संस्कार |

इसी प्रकार स्मृतिचन्द्रिका द्वारा उद्धृत जातूकर्ण्य में भी निम्न सोलह-संस्कारों की ही सूची मिलती है^{२२}-

- | | |
|------------------------|---------------------------|
| (१) गर्भाधान-संस्कार | (६-१२) चारवेदव्रत-संस्कार |
| (२) पुंसवन-संस्कार | (१३) गोदान-संस्कार |
| (३) सीमन्त-संस्कार | (१४) समावर्तन-संस्कार |
| (४) जातकर्म-संस्कार | (१५) विवाह-संस्कार |
| (५) नामकरण-संस्कार | (१६) अंत्येष्टि-संस्कार |
| (६) अन्नप्राशन-संस्कार | |
| (७) चौल-संस्कार | |
| (८) उपनयन-संस्कार | |

व्यास द्वारा दी गई तालिका से इसमें कुछ अन्तर है, जैसे- व्यास द्वारा दी गई सूची में वेदारम्भ-संस्कार का उल्लेख किया गया है, जबकि जातूकर्ण्य में उसके स्थान पर चारवेदव्रतों का उल्लेख किया गया है, इत्यादि।

इसी प्रकार मध्यकालीन लेखन में हमें गौतम, अंगिरा, व्यास, जातूकर्ण्य, आदि की संस्कार-सूची का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उसमें प्रायः गर्भाधान से आरम्भ कर विवाह तक के संस्कारों का ही वर्णन मिलता है। उसमें हमें दैव-संस्कारों, अर्थात् यज्ञों का वर्णन नहीं मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वे केवल संस्कार का परम्परागत रुढ़ अर्थ ही स्वीकार करते हैं। इनमें भी हमें अधिकांशतः, स्मृतियों की भाँति ही, अंत्येष्टि-संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

इस प्रकार वैदिक-परम्परा में समय के प्रवाह के साथ-साथ संस्कारों की संख्या आदि में भी परिवर्तन हुआ है, जो वैदिक-विद्वानों के लिए चर्चा का विषय रहा है। अन्ततः, वैदिक-परम्परा में षोडश संस्कारों की मान्यता स्थिर हो गई, जो आज तक प्रचलित है। जैन-परम्परा में आचारदिनकर में गृहस्थ के जिन षोडश

^{२२} देखें: धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१७७, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

संस्कारों का निर्धारण हुआ है, उनकी सोलह की संख्या का निर्धारण भी वस्तुतः वैदिक-परम्परा से प्रभावित है। यहाँ वर्धमानसूरि ने दिगम्बर-पुराण-साहित्य का अनुसरण न करके हिन्दू-परम्परा का ही अनुसरण किया है।

संस्कारों का प्रयोजन-

सुसंस्कृत जीवन ही मनुष्य-जन्म की सार्थकता है। संस्कारों से रहित व्यक्ति धरती के लिए भाररूप और समाज के लिए अभिशाप होता है^{२३} तथा उसका अपना जीवन भी निरर्थक होता है। यदि जनसामान्य के विचार और कार्य सुसंस्कृत ढाँचों में ढल जाएं, तो व्यक्ति और समाज का विविध-पक्षीय विकास हो सकता है और समाज में सुखशान्ति रह सकती है। यह तो संस्कार के प्रयोजन के सम्बन्ध में एक सामान्य अवधारणा है, किन्तु संस्कारों जैसी प्राचीन संस्थाओं के मूल प्रयोजन की जब हम गवेषणा करते हैं, तो मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, क्योंकि जिन परिस्थितियों में उन संस्कारों का प्रादुर्भाव हुआ था, वे तो युगों के गर्भ में छिपी हुई हैं और उनके चारों तरफ लोकप्रचलित अन्धविश्वासों, आडम्बरो एवं कोरे क्रियाकाण्डों का जाल-सा बिछ गया है।^{२४} उनके मूल प्रयोजन उनसे कहीं दूर हो गए हैं, जिनके कारण व्यक्ति उनसे समुचित लाभ ही प्राप्त नहीं कर पाता है और ऐसी स्थिति में व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि क्रियायोग से मनुष्य को कोई विशेष प्रतिभा, कीर्ति, तेजस्विता, आदि की प्राप्ति नहीं होती है, तो फिर इन क्रियाओं को करने का क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार अग्नि जलाने तथा पचन-पाचन में सक्षम है, उसी प्रकार मंत्रों के संस्कार के बिना भी मनुष्य कार्य करने में समर्थ होता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार ईंधन, आदि से पुष्ट अग्नि जलाने में सक्षम है, उसी प्रकार आहारादि से पुष्ट व्यक्ति की देह भी कार्य करने में सक्षम होती है। इस प्रकार यदि संस्कार करने का कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है, तो फिर संस्कार सम्बन्धी विधि-विधान हेतु व्यर्थ में वित्त का व्यय करने से क्या लाभ? क्या पुराणों में विहित ये क्रियाएँ व्यर्थ हैं? उत्तमता से अनुष्ठित ये संस्कार सम्बन्धी क्रियाएँ किस प्रकार हमें संसार-समुद्र से पार उतार सकती हैं?^{२५} इसके प्रत्युत्तर में वर्धमानसूरि कहते हैं- इहलौकिक एवं पारलौकिक-कर्मों की फलश्रुति के सम्बन्ध में विद्वज्जनों एवं केवलियों के वचन ही सम्यक् रूप से ग्राह्य एवं प्रमाण्य हैं। स्याद्वाद-प्रधान अर्हत् मत को उत्तम कहा गया है। उसके अनेकान्त शब्द से विविध सम्भावनाओं

^{२३} षोडश संस्कार विवेचन, पं. श्रीराम शर्मा, पृ.-२२५, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, प्रथम संस्करण १९६५.

^{२४} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दो (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-२७, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

^{२५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

का ग्रहण होता है। केवली द्वारा निर्दिष्ट आचार ही परमार्थ है तथा सज्जनों द्वारा मान्य वेश एवं आचरण व्यवहारमार्ग कहा जा सकता है। यह सर्वसम्मत है कि पापकर्मों का क्षय होने से एवं पुण्यकर्म का उदय होने से व्यक्ति के दान, तप, ब्रह्मचर्य एवं करुणा की शुभभावना उत्पन्न होती है। आचार और वेश- ये दोनों कल्याणकारी हैं, अतः इनसे सम्बन्धित जो क्रियाएँ हैं, वे सभी कल्याणकारी हैं।”^{२६} इस प्रकार इन संस्कारों का प्रयोजन स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

पं. श्रीराम शर्मा के अनुसार “सामान्यतः, तत्त्वदर्शी ऋषियों-मुनियों ने धर्म एवं अध्यात्म का विशालकाय ढाँचा एक ही उद्देश्य से लेकर खड़ा किया है कि मानव के ऊपर जन्म-जन्मान्तरों से चढ़े हुए कुसंस्कार दूर हों और उनके स्थान पर सुसंस्कृत आदर्शों, मान्यताओं, भावनाओं एवं प्रवृत्तियों का विकास हो सके। पूजा, उपासना, जप-तप, स्वाध्याय, विधि-निषेध एवं कर्मकाण्डों का विस्तृत विधि-विधान केवल इसी प्रयोजन के लिए है कि इस अवलम्बन को स्वीकार कर व्यक्ति निरन्तर सुविकसित एवं सुसंस्कृत बनता चला जाए, सतत् कषाय-कल्मषों का परिशोधन करता जाए, जिससे वह आत्मिक-सुख को प्राप्त कर सके।”^{२७}

आचारदिनकर में वर्णित चालीस संस्कारों का क्या उद्देश्य है, अर्थात् वे किन प्रयोजनों से अभिभूत होकर किए जाते हैं- इसका वर्णन ग्रन्थकार ने व्यवहार-परमार्थ (व्यवहारमार्ग और परमार्थमार्ग) में किया है, जिन्हें निम्न बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है-

१. गर्भाधान-संस्कार-

गर्भाधान-संस्कार “गर्भ की प्रसिद्धि हेतु तथा स्वकुल के लोगों को आनंद प्रदान करने के उद्देश्य से किया जाता है। इस संस्कार के मध्य जो शान्तिकर्म किया जाता है, वह गर्भ के रक्षण हेतु तथा मंत्र का प्रयोग भ्रूण के विकास में आने वाले विघ्नों का नाश करने हेतु किया जाता है।”^{२८} संक्षेप में इस संस्कार का प्रयोजन गर्भ की प्रसिद्धि करना एवं गर्भ की रक्षा करना है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस संस्कार का प्रयोजन सन्तान की प्राप्ति करना माना गया है।

२. पुंसवन-संस्कार-

वर्धमानसूरि के अनुसार “इस संस्कार का प्रयोजन गर्भ के दोषों को दूर करना, गर्भ की वृद्धि एवं गर्भ रहने हेतु उत्साह प्रकट करना, अर्थात् वर्धापन

^{२६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{२७} षोडश संस्कार विवेचन, पं. श्रीराम शर्मा, पृ.-२.२५, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, प्रथम संस्करण १९६५

^{२८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८९, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

करना है,"^{२६} क्योंकि बालक यदि दुर्गुणों से युक्त, अर्थात् रोगी, क्रोधी, आलसी या विकलांग, आदि होगा, तो उससे माता-पिता तो दुःखी होंगे ही, उसके साथ ही उसका भविष्य भी अन्धकारमय लगने लगेगा, क्योंकि वह स्वयं का कार्य स्वयं ही नहीं कर सकेगा, उसे अपने प्रत्येक कार्य हेतु पराश्रित रहना पड़ेगा, अतः बालक दोषों से रहित एवं परिपूर्ण अंग वाला हो- इस अपेक्षा से यह संस्कार किया जाता है। हिन्दू-परम्परा में इस संस्कार को करने का मुख्य प्रयोजन गर्भस्थ शिशु को पुत्ररूप प्रदान करना है, किन्तु पं. श्रीराम शर्मा के अनुसार -यह संस्कार गर्भस्थ-शिशु के समुचित विकास के लिए गर्भिणी स्त्री का किया जाता है, क्योंकि बालक को सुसंस्कारी बनाने के लिए सर्वप्रथम उसके जन्मदाता माता को सुसंस्कृत होना चाहिए।^{३०} दिगम्बर-परम्परा में आचारदिनकर के अनुरूप ही यह संस्कार "गर्भ की पुष्टि तथा उत्तम संतान की प्राप्ति हेतु किया जाता है।"^{३१}

३. जातकर्म-संस्कार-

वर्धमानसुरि के अनुसार "यह संस्कार जन्म-महोत्सव करने के उद्देश्य से किया जाता है।"^{३२} बालक या बालिका का जन्म होते ही जन्मदाता माता-पिता एवं परिजनों के हृदय में हर्ष व्याप्त हो जाता है और वे इस खुशी को सबके समक्ष प्रकट करने हेतु महोत्सव करते हैं, सर्वत्र वित्त का व्यय करते हैं। इस प्रकार जातकर्म-संस्कार का मुख्य प्रयोजन आनन्द की अभिव्यक्ति करना है। हिन्दू-परम्परा में यह संस्कार पुत्र का प्रसव होने पर तथा उसके लिए शुभकामनाओं की अभिव्यक्ति करने हेतु किया जाता है।^{३३} प्रत्येक माता-पिता अपने नवजात शिशु के लिए यह कामना करते हैं कि उसका जीवन सुखी एवं निरापद बने और उसे किसी प्रकार की कोई परेशानी न हो। इस आशय से प्रेरित होकर ही यह संस्कार किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार शिशु के जन्म होने पर विधिपूर्वक माता को स्नान और सन्तान को आशीर्वाद प्रदान करने के उद्देश्य से किया जाता है।^{३४}

^{२६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{३०} षोडश संस्कार विवेचन, पं. श्रीराम शर्मा, पृ.-४.१२, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, प्रथम संस्करण १९६५.

^{३१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{३२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{३३} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१९२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{३४} आदिपुराण, जिनसेनाचार्य कृत, अनु.- डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-उनचालीसवाँ, पृ.-२६६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

४. सूर्य-चन्द्रदर्शन संस्कार-

वर्धमानसूरि के अनुसार “इस संस्कार का उद्देश्य शिशु को प्रत्यक्षतः सृष्टि के दर्शन कराना है।”^{३५} इस संस्कार के माध्यम से ही बालक को सर्वप्रथम विश्व को प्रकाशित करने वाले सूर्यदेव एवं चन्द्रदेव के दर्शन करवाए जाते हैं। सूर्य तेजस्विता का प्रतीक है, तो चन्द्रमा शीतलता का। शिशु में इन दोनों गुणों का आविर्भाव हो, इस उद्देश्य को लेकर भी यह संस्कार किया जाता होगा- ऐसा हम मान सकते हैं। हिन्दू-परम्परा में यह संस्कार शिशु को प्रथम बार शुद्ध वायु का सेवन कराने के उद्देश्य से किया जाता है। इस संस्कार में शिशु को सूर्य-चन्द्रदर्शन भी करवाया जाता है।^{३६} यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार में शिशु को सूर्य-चन्द्रदर्शन करवाने का उल्लेख तो नहीं मिलता है, किन्तु प्रियोद्भव-संस्कार के अन्तर्गत ही शिशु को तारों से सुशोभित आकाश के दर्शन करवाए जाते हैं।^{३७} इस प्रकार इस संस्कार का उद्देश्य शिशु को शुद्ध वायु के सेवन एवं परिवेश से परिचित कराना माना जा सकता है।

५. क्षीराशन-संस्कार-

आचारदिनकर के अनुसार इस संस्कार का मूल प्रयोजन “शिशु को जन्म के बाद प्रथम बार माता के दुग्ध का पान कराना है।”^{३८} बालक के लिए सबसे सात्विक एवं सुपथ्य आहार दूध ही है। दूध का आहार ही शिशु के स्वास्थ्य हेतु लाभकारी होता है, क्योंकि नवजात शिशु की आंते, आमाशय, आदि इतने कमजोर होते हैं कि वह भारी, मिर्च-मसाले वाले, चटपटे पकवान तथा मिष्ठान्न को पचा ही नहीं पाता है। इनका सेवन करवाने पर शिशु का कोमल शरीर प्रतिक्रियास्वरूप अनेक प्रकार के रोगों से आक्रांत हो सकता है, अतः इस समस्या के समाधान हेतु शिशु को विधि-विधानपूर्वक माता के दुग्ध का पान करवाया जाता है, जिससे शिशु की देह निरोग रहे। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस संस्कार का पृथक् से कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इस संस्कार को उन्होंने जातकर्म के अन्तर्गत ही मान लिया है।

^{३५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{३६} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-छः (तृतीय परिच्छेद), पृ.-१११, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

^{३७} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.- डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-उनघालीसवाँ, पृ.-३०६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{३८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

६. षष्ठी-संस्कार-

आचारदिनकर के अनुसार यह संस्कार शिशु के मंगल हेतु किया जाता है। इस संस्कार के माध्यम से उसके शरीर की अधिष्टिता माता की पूजा की जाती है, साथ ही जो मातृका-देवियाँ लोक में प्राणियों की रक्षा के लिए परिभ्रमण करती हैं, उनकी पूजा शिशु की रक्षा के लिए की जाती है।^{३६} दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार नहीं किया जाता है। हिन्दू-परम्परा में यद्यपि मातृका-पूजन का तो उल्लेख मिलता है, किन्तु हिन्दू-परम्परा में इसे पृथक् संस्कार के रूप में नहीं माना गया है।

७. शुचिकर्म-संस्कार-

शुचिकर्म-संस्कार का मूल प्रयोजन शुद्धिकरण करना है। प्रसव होने के बाद भी स्त्री कुछ समय तक दूषित रक्त के प्रवाह से ग्रसित रहती है, जिससे अनेक दोषों एवं संक्रामक रोगों की सम्भावना बनी रहती है। उन दोषों को दूर करने हेतु शुचिकर्म-संस्कार किया जाता है। जैसा कि आचारदिनकर में भी कहा गया है- “शुचिकर्म-संस्कार के माध्यम से स्नानादि कर्म द्वारा प्रसूति होने के पश्चात् बहने वाले दूषित रक्त से उत्पन्न दोषों का उन्मूलन किया जाता है।”^{४०} इसके साथ ही विप्रादि चारों वर्ण के शौच के लिए अधिकाधिक दिन की जो संख्या बताई गई है, उसका उद्देश्य मात्र उच्च एवं निम्न जाति के कर्म को अभिव्यक्त करना ही नहीं है, अपितु जिन वर्णों में सफाई का विशेष ध्यान रखा जाता है, उनमें कम-से-कम दिनों के पश्चात् और दूसरे वर्णों में कुछ अधिक दिनों के पश्चात् यह शुचिकर्म-संस्कार किया जाता है, इस विषय को स्पष्ट करना भी है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस संस्कार का पृथक् से कोई उल्लेख नहीं मिलता है, वहाँ इसे जातकर्म-संस्कार में ही निहित मान लिया गया है।

८. नामकरण-संस्कार-

“नामकरण-संस्कार का प्रयोजन बालक को समाज से एवं समाज को इस अवतारित आगन्तुक से परिचित कराना है। किस नाम से उसे समाज जाने या किस नाम से उसे सम्बोधित किया जाए? इस समस्या के समाधान हेतु यह संस्कार किया जाता है। नाम केवल शब्दों का समूह ही नहीं है, उन शब्दों के पीछे भावना भी संलग्न है। अच्छे या बुरे शब्द मन पर अच्छा या बुरा असर डालते हैं। जिसने कहा है, जिसने सुना है या जिसके प्रति कहा गया है, उन सभी

^{३६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

पर उन शब्दों का प्रभाव पड़ता है, इसलिए हर व्यक्ति अपने लिए अच्छे विशेषणयुक्त शब्दों को सुनना पसन्द करता है, क्योंकि इन्हीं शब्द-विशेषणों के आधार पर उसका समाज के साथ परिचय होता है, उसका स्वरूप प्रकट होता है।^{४१} इस प्रकार नाम सामाजिक-व्यवहार हेतु आवश्यक है, क्योंकि समाज के सारे ही व्यवहार इसी आधार पर चलते हैं। जैसा कि वर्धमानसूरि ने स्वयं भी आचारदिनकर में कहा है- “नामकरण-संस्कार आह्वान एवं प्रेषण का हेतु है”^{४२}, इसलिए शिशु को इस संस्कार से संस्कृत किया जाता है।

इसके अतिरिक्त शिशु के भविष्य को जानने के लिए भी नामकरण-संस्कार किया जाना आवश्यक है, क्योंकि नामाक्षरों के बिना उसके भविष्य को जानने का और कोई उपाय नहीं है, इसलिए भी यह संस्कार किया जाता है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी यह संस्कार इसी प्रयोजन से किया जाता है।

६. अन्नप्राशन-संस्कार-

बालक जब लगभग छः महीने का हो जाता है, तब उसे दूध के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ खाने को दी जाती हैं। यह क्रम धीरे-धीरे आरम्भ किया जाता है, क्योंकि यदि उसे जन्म के साथ ही एकसाथ अधिक मात्रा में या भारी आहार दिया जाए, तो उसका पेट खराब हो सकता है। पाचन-तन्त्र बिगड़ जाने पर शिशु मात्र अनेक रोगों से ग्रसित ही नहीं हो जाता है, वरन् कभी-कभी तो उसकी इहलीला भी समाप्त हो जाती है, किन्तु आयु बढ़ने के साथ-साथ उसका शरीर धीमे-धीमे इतना सुदृढ़ होने लगता है कि वह हल्के आहार को पचा सकता है, इसलिए उसकी शरीर की आवश्यकता को देखते हुए, उसे इस संस्कार के माध्यम से सर्वप्रथम अन्न का आहार करवाया जाता है। आचारदिनकर के अनुसार “इस संस्कार का प्रयोजन देह को आरोग्यता प्रदान करना है, क्योंकि शुभ मुहूर्त में किया गया आहार देह को आरोग्यता प्रदान करता है”^{४३} तथा देह को पुष्ट बनाता है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी यह संस्कार इसी प्रयोजन से किया जाता है।

^{४१} षोडश संस्कार विवेचन, पं.श्रीराम शर्मा, पृ.-५.१०, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, प्रथम संस्करण १९६५

^{४२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

१०. कर्णवेध-संस्कार-

आचारदिनकर व्यवहारपरमार्थ नामक प्रकरण में इस संस्कार के प्रयोजन से सम्बन्धित गाथा का उल्लेख नहीं मिलता है। वहाँ हमें इससे सम्बन्धित मात्र अर्द्ध श्लोक ही उपलब्ध है, किन्तु निश्चित रूप से इस संस्कार को किए जाने के पीछे कोई उद्देश्य रहा होगा। सामान्यतया, यह माना जाता है कि कर्ण-छेदन करवाने से व्यक्ति अनेक रोगों से बच जाता है। वर्तमान में एक्यूपेशर, एक्यूपंचर, आदि चिकित्सा-प्रणाली भी इस बात को स्वीकार करती हैं कि कान के अमुक भाग में छेद करवाने से “अण्डकोश की वृद्धि तथा आन्त्रवृद्धि का निरोध होता है।”^{४४} यद्यपि प्रारम्भ में इस संस्कार का प्रचलन अलंकरण पहनाने हेतु हुआ होगा, किन्तु अब इस संस्कार के किए जाने से होने वाले लाभों को प्रत्यक्ष में अनुभूत किया जा रहा है। सुश्रुत का भी कथन है- “रोग, आदि से रक्षा तथा भूषण या अलंकरण के निमित्त बालक के कानों का छेदन करना चाहिए।”^{४५} इस प्रकार इस संस्कार का प्रयोजन रोग, आदि से रक्षा करना तथा भूषण के निमित्त कानों का छेदन करवाना था। दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में भी यह संस्कार इसी प्रयोजन से किया जाता है।

११. चूड़ाकरण-संस्कार-

आचारदिनकर के अनुसार- “केश का अपनयन किए बिना व्रत-बन्धादि कर्म नहीं होते हैं”^{४६}, इसलिए यह संस्कार किया जाना आवश्यक है। दूसरे, इस संस्कार को किए जाने का आध्यात्मिक-उद्देश्य व्यक्ति के संसार-परिभ्रमण का उन्मूलन करना है, क्योंकि केश दैहिक-सौन्दर्य के प्रतीक हैं। केशों के उच्छेद से ही परमात्मा के समक्ष देहार्पण सम्भव होता है। जब तक संसाररूपी राग का उच्छेद नहीं होता है, तब तक परमात्मा के समक्ष अपना पूर्ण समर्पण भी सम्भव नहीं होता है, इसीलिए गृहस्थ-जीवन के व्रतों को स्वीकार करने तथा प्रव्रज्या धारण करने, आदि में मुण्डनकर्म आवश्यक है। इस संस्कार से देह के प्रति आसक्ति के भाव का निरास होता है, इसलिए जन्म-मरण के उच्छेदरूप देहासक्ति का क्षय करने हेतु यह संस्कार किया जाता है। गीता में कहा गया है कि संसाररूपी वृक्ष का मूल ऊपर एवं शाखाएँ नीचे हैं। मानव-शरीर में केश मूल (जड़ों) के रूप में

^{४४} देखे: हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-छ: (षष्ठ परिच्छेद), पृ.-१२८, चौखम्मा विद्यामवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

^{४५} देखे: हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-छ: (षष्ठ परिच्छेद), पृ.-१२८, चौखम्मा विद्यामवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

^{४६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

हैं- मूल के उच्छेद से ही संसार का उच्छेद सम्भव है। दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार जन्म के बाद प्रथम बार केशों का अपनयन करने के उद्देश्य से किया जाता है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार शिशु के सिर के बाल पहली बार उतारने के उद्देश्य से किया जाता है। इसके अतिरिक्त पं. श्रीराम शर्मा के अनुसार^{१७} पूर्वजन्म के मस्तिष्क में बैठे कुसंस्कारों के कृपभावों को समाप्त करना भी इस संस्कार का उद्देश्य है।

१२. उपनयन-संस्कार-

उपनयन-संस्कार किए जाने का मुख्य प्रयोजन वर्णत्व की प्राप्ति करना है, क्योंकि उपनयन-संस्कार से ही व्यक्ति वर्णत्व को प्राप्त करता है। जैसा कि आचारदिनकर में भी कहा गया है- “उपनयन-संस्कार द्वारा व्यक्ति वर्णत्व को प्राप्त करता है।”^{१८} इस संस्कार के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनका भी कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य है, जैसे- पुरुषों को जो सूत्र धारण करने का निर्देश दिया गया है, उसका प्रयोजन ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र-रूपी मोक्षमार्ग को सूत्ररूप में धारण करना है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार विद्याध्ययन एवं द्विजत्व की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता है।^{१९} दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार को किए जाने का प्रयोजन विद्याध्ययन-काल में बालक को ब्रह्मचर्य का पालन करवाना है। पं० आशाधरजी के अनुसार^{२०} जिसका उपनयन-संस्कार हुआ है, वह द्विज, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य सम्यक्त्व से युक्त होकर जीवनपर्यन्त के लिए मद्यपान आदि महापापों का त्याग करता है तथा वीतराग सर्वज्ञ देव द्वारा उपदिष्ट उपासकाध्ययन, आदि के श्रवण करने का अधिकारी होता है। इस प्रकार इस संस्कार का प्रयोजन बालक को शास्त्र-श्रवण एवं अध्ययन का अधिकारी बनाना भी है।

१३. विद्यारम्भ-संस्कार-

‘विद्यारम्भ’, जैसा कि इस संस्कार के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, इस संस्कार के माध्यम से बालक को प्रथम बार अध्ययन करने हेतु बैठाया जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति का शरीर-सामर्थ्य आहार के आधार पर बढ़ता रहता है, उसी प्रकार मन का सामर्थ्य विद्या के माध्यम से विकसित होता है, अतः बालक को

^{१७} षोडश संस्कार विवेचन, पं. श्रीराम शर्मा, पृ.-७.१०, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, प्रथम संस्करण १९६५

^{१८} आचारदिनकर, वर्धमानसूत्रिकृत, पृ.-३८६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१९} षोडश संस्कार विवेचन, पं. श्रीराम शर्मा, पृ.-६.२, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, प्रथम संस्करण १९६५

^{२०} सागारधर्माभूत, अनु.- सुपाश्वर्मतिजी, अध्याय-२, पृ.-७२-७३, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, तृतीय संस्करण १९२२.

विद्यारम्भ-संस्कार से संस्कारित किया जाना आवश्यक है। इस प्रकार इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य बालक को विद्याध्ययन करवाना है। वैदिक-परम्परा एवं दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार शास्त्राध्ययन करवाने के उद्देश्य से किया जाता है।

१४. विवाह-संस्कार-

इस संस्कार का प्रयोजन जनसमुदाय के समक्ष स्त्री एवं पुरुष को वैवाहिक-सम्बन्ध से जोड़ना है, क्योंकि जनसामान्य के समक्ष किए जाने वाले वैवाहिक-सम्बन्ध से व्यक्ति निन्दा का पात्र नहीं बनता है तथा वह सम्बन्ध सबको मान्य भी होता है। आचारदिनकर में भी कहा गया है- “यह वैवाहिक-कर्म व्यक्तियों के समक्ष इसलिए किया जाता है कि निन्दा, आदि से बचा जा सके, साथ ही वह यौनसम्बन्ध विहित माना जा सके”^{४१}, क्योंकि विवाह के अभाव में स्थापित यौनसम्बन्ध लोक में पापाचार माने जाते हैं तथा उनके इस सम्बन्ध से प्राप्त सन्तान को मान्यता प्राप्त नहीं होती है, अतः उनके मध्य यौनसम्बन्ध की पुष्टि करने के उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी इस संस्कार का उद्देश्य स्त्री एवं पुरुष के मध्य यौनसम्बन्ध स्थापित करना ही है।

१५. व्रतारोपण-संस्कार-

इस संस्कार का प्रयोजन बालक के जीवन को धर्ममय बनाना है। व्यक्ति चाहे कितना ही यश, वैभव, विद्या, आदि प्राप्त कर ले, किन्तु जब तक वह धर्म-आचरण नहीं करता है, कुछ त्याग-तप नहीं करता है, तब तक उसका जीवन व्यर्थ है, क्योंकि उसकी ये सारी उपलब्धियाँ उसे मात्र भौतिक-सुख प्रदान कर सकती हैं, वे उसे मोक्षसुख प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं। जैसा कि आचारदिनकर में भी कहा गया है- “जिसने सब कला सीखी हो, किन्तु धर्मकला न सीखी हो, तो उसके लिए सब कलाएँ व्यर्थ हैं।”^{४२} अतः इस संस्कार का प्रयोजन व्यक्ति को धर्मकला का ज्ञान प्रदान करना है। दिगम्बर-परम्परा में व्रतावतरण-संस्कार का प्रयोजन व्यक्ति को जिनेन्द्रदेव एवं गुरु की साक्षी में मधु, मांस, मद्य तथा हिंसादि

^{४१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-पन्द्रहवां, पृ.-४२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

के पाँच स्थूल पापों के आजीवन त्याग का संकल्प करवाना है।^{५३} वैदिक-परम्परा में हमें व्रतारोपण-संस्कार की भाँति किसी संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

१६. अन्त्य-संस्कार-

आचारदिनकर के अनुसार “अन्त्य-संस्कार, अर्थात् सल्लेखना का ग्रहण आत्मशान्ति एवं अन्तिम समय में शुभध्यान के लिए किया जाता है, क्योंकि अन्तिम समय में जीव की जैसी मति होती है, उसकी गति (परभव) वैसी ही होती है।”^{५४} शव की दहनक्रिया देह-संस्कार के प्रयोजन से की जाती है। शव की देह पर जो वस्त्रादि डाले जाते हैं, वे उसे संस्कार के योग्य बनाने के लिए हैं। इस प्रकार की अन्त्यक्रियाएँ तथा तत्निमित्त की जाने वाली स्नात्रपूजाएँ आदि मृतात्मा के शुभयोनि की प्राप्ति, उसकी सनाथता के आख्यापन एवं पुण्य का संचय करने के उद्देश्य से की जाती है।” दिगम्बर-परम्परा में श्रावक के लिए तो इस संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है। हाँ, उसे अन्तिम समय में मुनि-दीक्षा प्रदान करके संलेखना-विधि अवश्य करवाई जाती है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार मृतदेह की अन्तिम क्रिया करने के उद्देश्य से किया जाता है।

१७. ब्रह्मचर्यव्रत-संस्कार-

आचारदिनकर के अनुसार “ब्रह्मचर्यव्रत का ग्रहण काम-भोगों से विरक्ति के अभ्यास हेतु एवं आत्मसंयम के परीक्षणार्थ किया जाता है। ब्रह्मचर्यव्रत सभी व्रतों का मूल है। ब्रह्मचर्यव्रत के भग्न होने से अन्य सभी व्रतों का पालन भी निरर्थक हो जाता है, क्योंकि कर्मों के आस्रव का निरोध नहीं होता है। व्यक्ति ऐन्द्रिक-विषयों में गृह्य बना रहता है तथा संभोग की क्रिया में स्त्री की आवश्यकता होती है। स्त्री परिग्रहरूप होती है। पुनः, स्त्री के साथ मैथुनक्रिया भी आरम्भ का हेतु है। आरम्भ जीवों की हिंसा का सूचक है। पुनः, संभोगक्रिया में अनेक मानव-जीवों, अर्थात् समूर्धिम मनुष्यों का घात होता है, अतः मैथुन सभी पापकर्मों का मूल-मार्ग है, इसीलिए उससे विरत होना आवश्यक है।”^{५५} इस प्रकार इस संस्कार का मूल उद्देश्य व्यक्ति को ऐन्द्रिक-विषयों से विरक्त करना है। वैदिक-परम्परा एवं दिगम्बर-परम्परा में यद्यपि इसे संस्कार के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु वहाँ भी ब्रह्मचर्यव्रत का प्रयोजन काम-भोगों से विरक्ति ही है।

^{५३} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.- डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तालीसवाँ, पृ.-२५०, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{५४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{५५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

१८. क्षुल्लक-विधि-

आचारदिनकर के अनुसार “इस संस्कार का प्रयोजन प्रव्रज्या से पूर्व व्यक्ति की योग्यता का परीक्षण करना है।”^{५६} किसी भी नियम को आजीवन हेतु ग्रहण करते समय उसका पूर्व परीक्षण किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि जब हम मटकी खरीदने जाते हैं, तो उसे दस बार टोक कर, टकोरा देकर लेते हैं। इस तरह यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि यह मटकी जल रखने के योग्य है या नहीं, या कहीं से फूटी हुई तो नहीं है। इसी प्रकार पंचमहाव्रतों एवं छठवें रात्रिभोजन-विरमण-व्रत का आरोपण करने से पूर्व उसका इस संस्कार के माध्यम से परीक्षण किया जाता है कि वह गृहीत व्रतों का पालन सम्यक् प्रकार से कर पाएगा या नहीं। दिगम्बर-परम्परा में दीक्षाद्य-क्रिया के रूप में यह संस्कार किया जाता है।^{५७} वहाँ इस संस्कार का प्रयोजन प्रव्रज्या से पूर्व गृहत्याग करना है। वैदिक-परम्परा में यद्यपि इस संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु वहाँ वानप्रस्थ नामक जो संस्कार किया जाता है, उसकी तुलना हम इस संस्कार से कर सकते हैं।

१९. प्रव्रज्या-विधि-

आचारदिनकर के अनुसार “इस संस्कार का प्रयोजन सामायिक चारित्र का ग्रहण करना है।”^{५८} सामायिक का अर्थ है- समभाव की साधना। इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति समभाव की साधना करता है तथा इन्द्रिय एवं मन को बाह्यजगत् से हटाकर अन्तरजगत् में लगाता है, वह अपनी कषाय-वृत्तियों या रागद्वेष का दृष्टा बनकर उनके निराकरण की साधना करता है। इस संस्कार का प्रयोजन मुनिदीक्षा के योग्य व्यक्तियों का परीक्षण करना भी है, ताकि वे महाव्रतों का निर्वाह सम्यक् प्रकार से कर सकें। इसके साथ ही इस संस्कार का उद्देश्य व्यक्ति को सब प्रकार के सांसारिक-दायित्वों से मुक्त करना भी है। वैदिक-परम्परा में सन्यासाश्रम का ग्रहण भी कुछ इन्हीं प्रयोजन से अभिभूत होकर किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी इस संस्कार का प्रयोजन दिगम्बर-मुनिव्रत की दीक्षा ग्रहण करना है।

^{५६} आचारदिनकर, वर्षमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{५७} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.- डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५३, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{५८} आचारदिनकर, वर्षमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

२०. उपस्थापन-विधि-

इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन दीक्षित मुनि को महाव्रतों का आरोपण करना तथा साधुओं की मंडली में प्रवेश देना है।^{५६} इससे पूर्व मुनि मात्र सामायिक-चारित्रधारी ही होता है तथा उसे साधुओं की मंडली में प्रवेश भी नहीं दिया जाता है। वह काल भी एक प्रकार का परीक्षणकाल होता है। इस संस्कार से युक्त होकर ही वह पंचमहाव्रतधारी होकर साधुओं की सप्त मंडलियों में प्रवेश की अनुमति को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, मुनिसंघ का स्थायी सदस्य बनता है। इसके अतिरिक्त इस संस्कार का प्रयोजन “सांसारिक-व्यवहार का पूर्णतः परित्याग कर सांसारिक-जीवन के विकल्पों का वर्जन करना भी है।”^{६०} वैदिक एवं दिगम्बर-परम्परा में हमें इस संस्कार का पृथक् से उल्लेख नहीं मिलता है। वहाँ प्रव्रज्या एवं उपस्थापना में अंतर नहीं किया जाता है।

२१. योगोद्धहन-विधि-

योगोद्धहन-संस्कार का मुख्य प्रयोजन मन, वचन एवं काया रूप त्रिविध योगों का ऊर्ध्वीकरण करना है, क्योंकि इसके बिना व्यक्ति न तो सम्यक् रूप से चारित्र का पालन ही कर सकता है और न ही सम्यक् प्रकार से आगम के वचनों को ग्रहण कर सकता है। इन दोनों ही गुणों के अभाव में वह आगमों के अध्ययन के अयोग्य हो जाता है। जो इन गुणों से युक्त होता है, वह आगम-वाचन का अधिकारी होता है। आचारदिनकर में भी कहा गया है- “शुक्ल चारित्र वाले मुनिजन ही वाचना के योग्य होते हैं।”^{६१}

इस संस्कार के माध्यम से मुनि मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का निग्रह करके आगमों के अध्ययन करने के योग्य बनता है। वैदिक एवं दिगम्बर-परम्परा में हमें इस प्रकार के संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में शास्त्रों के अध्ययन हेतु मौनाध्ययनवृत्तित्व-क्रिया का उल्लेख मिलता है,^{६२} किन्तु वहाँ हमें इस प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख नहीं मिलता है।

^{५६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६२} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.- डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५४, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

२२. वाचनाग्रहण-विधि-

इस संस्कार का प्रयोजन विधिपूर्वक गुरु से वाचना ग्रहण करना, अर्थात् आगम का अध्ययन करना है,^{६३} क्योंकि अविधिपूर्वक प्राप्त किया गया ज्ञान कभी लाभदायक नहीं होता है। विधिपूर्वक ग्रहण किया गया ज्ञान ही सदा फलदायी होता है। इस संस्कार के माध्यम से गुरु के समक्ष विनयावनत होकर ज्ञान प्राप्त किया जाता है। दूसरे, शाब्दिक-ज्ञान की अपेक्षा गुरुमुख से प्राप्त किया गया अनुभवमूलक ज्ञान ही व्यक्ति के विकास में सहायक बनता है। इस प्रकार इस संस्कार का प्रयोजन विधिपूर्वक गुरुमुख से ज्ञान प्राप्त करना है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में हमें प्रायः इस प्रकार के संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

२३. वाचनानुज्ञा-विधि-

आचारदिनकर के अनुसार “इस संस्कार का प्रयोजन योग्य मुनि को आचार्यपद प्रदान किए बिना वाचनादान, अर्थात् शिष्यों को अध्ययन कराने की अनुमति प्रदान करना है।”^{६४} इस संस्कार के माध्यम से मुनि को अपने आश्रित शिष्यों को शास्त्राध्ययन करवाने का दायित्व सौंपा जाता है, चूँकि व्यक्ति को जब तक किसी कार्य का दायित्व नहीं सौंपा जाता है, तब तक वह उस कार्य को भली प्रकार से नहीं कर पाता है, अतः व्यक्ति को दायित्व प्रदान करने तथा उससे सम्बन्धित अधिकार प्रदान करने के उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी वाचनाचार्य की नियुक्ति इसी प्रयोजन से की जाती है।

२४. उपाध्याय-पदस्थापन-विधि-

जैन-परम्परा में मुनियों के लिए शास्त्राध्ययन के साथ ही द्वादशांगी का अध्ययन करना भी एक आवश्यक क्रिया है, लेकिन द्वादशांगी का अध्ययन किसके पास किया जाए? यह एक महत्वपूर्ण विषय है। क्योंकि जिनवचन के सारभूत द्वादशांगी का सम्यक् ज्ञान वगैर योग्यता प्राप्त किए कोई व्यक्ति नहीं करवा सकता, इसलिए द्वादशांगी का अध्ययन करवाने के लिए किसी योग्य मुनि की नियुक्ति की जाना आवश्यक है, जो अपने आश्रित शिष्यों को अनुशासित करके द्वादशांगी का अध्ययन करवा सके। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु यह संस्कार किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी उपाध्याय की नियुक्ति शास्त्राध्ययन के प्रयोजन से की जाती है। वैदिक-परम्परा के संन्यासाश्रम में हमें इस प्रकार की व्यवस्था देखने को नहीं मिलती, वैसे उनके यहाँ भी उपाध्याय का पद होता है।

^{६३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

वैदिक-परम्परा में उपाध्याय का कार्य भी शिष्यों को अध्ययन कराना है, किन्तु उसका मुनि या संन्यासी होना आवश्यक नहीं है।

२५. आचार्य-पदस्थापन-विधि-

इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन किसी योग्य मुनि को आचार्य-पद पर नियुक्त करना है। ज्ञातव्य है कि वाचनाचार्य एवं उपाध्याय पर मुख्यतः शिष्यों के अध्यापन का दायित्व होता है, जबकि आचार्य समग्र संघ का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी होता है। संघ का संचालन वही व्यक्ति कर सकता है, जो प्रभावशाली तथा गुणवान् हो, क्योंकि जो व्यक्ति प्रभावशाली एवं गुणवान् होता है, उसी का प्रभाव संघ या समाज पर पड़ता है। जैसा कि आचारदिनकर में भी कहा गया है- “आचार्य पद को धारण करने वाला मुनि प्रभुत्वशाली, ज्ञानी, तपस्वी, सज्जन, गुणवान्, प्रतिबोध देने में समर्थ, विशेषलब्धि को प्राप्त, क्षमावान्, आदि गुणों को धारण करने वाला तथा प्रभावशाली होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के गुणों से युक्त मुनि का समाज पर प्रभाव पड़ता है।”^{६५} इस प्रकार इस संस्कार का प्रयोजन योग्य मुनि को संघ के प्रशासन की बागडोर सौंपना है। दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार इसी प्रयोजन से किया जाता है।

२६. प्रतिमोद्धहन-विधि-

आचारदिनकर के अनुसार “इस संस्कार का प्रयोजन पूर्णरूप से योगसिद्धि; अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का अनुशासन, निरागता, एवं विषयों का परित्याग करना है।”^{६६} इस संस्कार के माध्यम से मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों को क्रमशः निरुद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। फलतः, एक समय ऐसा आता है कि व्यक्ति योग की सिद्धि, अर्थात् अपनी चेष्टाओं एवं वृत्तियों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। इस संसार में आत्मलक्ष्यी जीव का मुख्य लक्ष्य आत्मस्वभाव को ही प्राप्त करना है और उस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही साधु-साध्वियों द्वारा इन द्वादश प्रतिमाओं का वहन किया जाता है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में हमें इस संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है, यद्यपि प्राचीनकाल में दिगम्बर-परम्परा में प्रतिमावहन किया जाता था।

^{६५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

२७. साध्वी (व्रतिनी) की दीक्षा-विधि-

यद्यपि साध्वी की दीक्षा भी साधु के समान ही होती है, किन्तु उसमें कुछ विधियाँ ऐसी होती हैं, जो दीक्षाप्रदाता आचार्य नहीं कर सकते हैं, यथा- वेशदान करना, चोटी लेना, इत्यादि। यह सब कार्य वरिष्ठ साध्वी द्वारा ही करणीय है। इसी उद्देश्य से इस संस्कार-विधि का पृथक् से उल्लेख किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में हमें इस संस्कार का पृथक् से कोई उल्लेख नहीं मिलता है, क्योंकि वे स्त्रियों में महाव्रतों का आरोपण उपचार से ही मानते हैं, परमार्थतः नहीं। फिर भी दिगम्बर-परम्परा में स्त्रियों की आर्यिका-दीक्षा होती है। वैदिक-परम्परा में सामान्यतया स्त्री के लिए संन्यास का वर्जन किया गया है, फिर भी कुछ परम्पराओं में वहाँ भी स्त्रियों को संन्यास दिया जाता है।

२८. प्रवर्तिनी-पदस्थापन-विधि-

साध्वी-संघ का सम्यक् प्रवर्तन करने के उद्देश्य से प्रवर्तिनी-पदस्थापन की विधि की जाती है। इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन साध्वी-समुदाय को वाचना प्रदान करने तथा उनका प्रवर्तन करने हेतु योग्य साध्वी को इस पद पर स्थापित करना है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में हमें इस प्रकार के किसी संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

२९. महत्तरा-पदस्थापन-विधि-

इस संस्कार का प्रयोजन आचार्य-पद की भाँति ही साध्वियों में किसी योग्य साध्वी को महत्तरा-पद पर नियुक्त करना है। यद्यपि महत्तरा-पद पर विराजित साध्वी को श्रमणी संघ (साध्वी-समुदाय) के प्रशासन का पूर्ण अधिकार होता है, किन्तु महत्तरा होने के बावजूद भी कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो उनके लिए निषिद्ध होते हैं, यथा- साध्वियों को उपस्थापनारूप बड़ी दीक्षा देना, प्रवर्तिनीपद प्रदान करना, इत्यादि। इन कार्यों को छोड़कर साध्वी-संघ के शेष प्रशासनिक अधिकार देने के उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी महत्तरा-पद की नियुक्ति प्रायः इसी उद्देश्य से की जाती है।^{६७} वैदिक-परम्परा में इस पद का कोई उल्लेख नहीं है, क्योंकि उस परम्परा में संन्यासिनियों का कोई संघ नहीं होता है।

^{६७} मूलाचार का समीक्षात्मक, अध्ययन, डॉ. फूलचंद्र जैन, अध्याय-५, पृ.-४३३, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९८७.

३०. साधु-साध्वी की अहोरात्रि की चर्या-विधि-

इस विधि का मुख्य प्रयोजन साधु-साध्वी की दिन एवं रात्रि-चर्या का उल्लेख करना है, “जिससे दुराग्रह न रहे।”^{६८} जीव में अनादिकाल के जो संस्कार रहे हुए हैं, उनके फलस्वरूप उसे जो अच्छा लगता है, उस कार्य को तो वह करता है, किन्तु उसे जो अच्छा नहीं लगता है, उस कार्य की वह उपेक्षा करता है। साधुजीवन ग्रहण करने के पश्चात् भी ऐसा दुराग्रह न रहे तथा साधु अपनी दिनचर्या के प्रति सजग रहे- इस उद्देश्य से यहाँ साधु-साध्वी की अहोरात्रिचर्या का वर्णन किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में भी इन क्रियाओं का मूल प्रयोजन संयम-भाव को पुष्ट करना ही है। इस प्रकार इस विधि का प्रयोजन साधु-साध्वी की दिनचर्या को नियन्त्रित करना है।

३१. साधु-साध्वी की ऋतुचर्या-विधि-

आचारदिनकर के अनुसार “इस विधि का प्रयोजन सर्व करणीय एवं अकरणीय कार्यों का सम्यक् ज्ञान प्रदान करना है।”^{६९} राग, द्वेष, आदि का हरण करने वाली विहार-विधि तथा विशिष्ट तप, स्थिरवास, लोच, मलमूत्रादि के उत्सर्ग (त्याग) की विधि को जानने तथा भाषा-समिति के निर्वाह के लिए ये विधि-विधान आवश्यक हैं।” दिगम्बर-परम्परा में एवं वैदिक-परम्परा में यद्यपि इस प्रकार के विधि-विधान का पृथक् से कोई उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु इन परम्पराओं के ग्रन्थों में यत्र-तत्र इनसे सम्बन्धित कुछ उल्लेख अवश्य मिलते हैं, उनका भी प्रयोजन कषाय तथा इन्द्रियों का निग्रह करने वाले अकरणीय कार्यों का वर्जन करना एवं प्रत्येक क्रिया का सम्यक् रूपेण सम्पादन करना है।

३२. अन्तिम संलेखना-विधि-

इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन मुनि को जीवन के अन्तिम क्षणों में आराधना करवाना है। इसमें “साधु-साध्वियों को क्षमायाचना, आलोचना, आदि का जो विधि-विधान बताया गया है- उसका प्रयोजन कर्म, कषाय, आदि क्षय करना तथा अन्तिम समय में शुभ ध्यान, आदि की प्राप्ति करवाना है। साधु एवं श्रावकों द्वारा मुनि के शव की जो क्रिया की जाती है, वह उनकी सनायता के आख्यापन हेतु तथा उनका पुनः जन्म न हो- इस उद्देश्य से की जाती है।”^{७०}

^{६८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{७०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

दिगम्बर-परम्परा में भी यह संलेखना-विधि अन्तिम समय की आराधना हेतु ही की जाती है। वैदिक-परम्परा में इस विधि का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

३३. प्रतिष्ठा-विधि-

आचारदिनकर के अनुसार- “इस संस्कार का प्रयोजन पाषाण, काष्ठ एवं रत्नादि से निर्मित देवप्रतिमा आदि में मंत्रादि द्वारा देवत्व का प्रवेश करवाना है।”^{११} दिव्यशक्ति के संचरण के अभाव में प्रतिमा लोगों को अपनी तरफ आकर्षित नहीं करती है, अतः उसमें आकर्षण-शक्ति पैदा करने तथा उसके प्रभाव में वृद्धि करने के उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है। “प्रतिष्ठा-विधि में स्नात्र-विधि से परमात्मा की जो पूजा की जाती है, वह शुभध्यान तथा जन्मकल्याणक की प्राचीन परम्परा के निर्वाह हेतु की जाती है।”^{१२} इस प्रकार प्रतिष्ठा-विधि से सम्बन्धित क्रियाओं का भी कुछ-न-कुछ प्रयोजन है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी प्रतिष्ठा की विधि पाषाण की प्रतिमा में देवत्व के प्रवेश के उद्देश्य से ही की जाती है।

३४. शान्तिक-कर्म-

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, इस संस्कार का प्रयोजन शान्ति सम्बन्धी विधि-विधान करना है। व्यक्ति कोई भी शुभ कार्य प्रारम्भ करता है, तो उस कार्य में अनेक विघ्न आते हैं, जो उस कार्य की सिद्धि में बाधक होते हैं। उन विघ्नों का निवारण करने हेतु शान्तिककर्म-विधान किया जाता है। सामान्यतः, दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी यह संस्कार इसी उद्देश्य से किया जाता है।

३५. पौष्टिक-कर्म-

इस संस्कार का भी मुख्य प्रयोजन कार्य की सिद्धि करवाना है। किसी भी कार्य के आरम्भ में पौष्टिक-कर्म किया जाना आवश्यक है, जिससे कार्य पुष्टता को प्राप्त करे। यह क्रियाविधि पुष्टि-कर्म (पौष्टिक-कर्म) कहलाती है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी यह विधि-विधान इसी प्रयोजन से किया जाता है।

^{११} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

३६. बलि-कर्म-

संस्कार का प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि उसे हमेशा सुख की ही प्राप्ति हो, कभी दुःख की प्राप्ति न हो। इसके लिए वह अनेक देवी-देवताओं की पूजा करता है, उन्हें फल, नैवेद्य आदि चढ़ाकर प्रसन्न करता है, जिससे की हमेशा उसका मंगल ही हो^{१३} तथा उसे किसी प्रकार का कोई कष्ट न हो- इस प्रकार बलिकर्म-संस्कार का प्रयोजन देवी-देवताओं को संतुष्ट करके मंगल की प्राप्ति करना है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी यह विधान इसी उद्देश्य से किया जाता है।

३७. प्रायश्चित्त-विधि-

इस संस्कार का प्रयोजन अन्तःकरण की शुद्धि करना है। इस संसार में आने के बाद जीव जाने या अनजाने में अनेक ऐसे कार्य कर जाता है, जो कर्म-बन्ध के हेतु बन जाते हैं, इस संस्कार के माध्यम से उन कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न किया जाता है। कर्मों का क्षय किए बिना जीव उनके दारुण परिणाम से नहीं बच सकता है, अतः कर्मों का क्षय करने के उद्देश्य से तथा अपने अन्तःकरण की शुद्धि हेतु यह विधि की जाती है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी यह क्रिया आन्तरिक-शुद्धि हेतु की जाती है।

३८. आवश्यक-विधि-

आवश्यक-विधि का प्रयोजन साधु एवं श्रावकों द्वारा अवश्य करणीय कृत्यों का वर्णन करना है। प्रत्येक साधु एवं व्रतधारी श्रावक के लिए प्रतिदिन षडावश्यक की क्रिया करना आवश्यक है, वे षडावश्यक ये हैं-(१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वंदन (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग एवं (६) प्रत्याख्यान। आगम-सूत्रों में इन षडावश्यकों का उल्लेख मिलता है। ये षडावश्यक किस विधि से किए जाएं- उसकी विधि का प्रतिपादन इस प्रकरण में किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में भी आवश्यक-विधि का यही प्रयोजन है। वैदिक-परम्परा में हमें इस प्रकार की विधि का उल्लेख नहीं मिलता है।

३९. तप-विधि-

इस विधि का प्रयोजन कर्मों की निर्जरा करने में सहायभूत छः प्रकार के बाह्य-तपों का निरूपण करना है। कर्मों की निर्जरा करने हेतु तप एक माध्यम

^{१३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा गया है- “तपसा निर्जरा च”^{७४}, अर्थात् तप करने से कर्मों की निर्जरा होती है। आचारदिनकर में भी कहा गया है- “छः प्रकार के बाह्य-तपों के करने से कर्मों की निर्जरा होती है,^{७५} किन्तु समझपूर्वक की गई तपस्या ही मोक्ष का कारण बनती है। अज्ञानता में एवं अविधि से किया गया तप कर्मबंध का हेतु बन जाता है, अतः कौन-सा तप किस प्रकार किया जाना चाहिए, तथा कौन-से तप का क्या प्रभाव है, इस विषय का विवेचन इस प्रकरण में किया गया है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्पराओं में भी तप का विधान कर्मों की निर्जरा करने हेतु बताया गया है।

४०. पदारोपण-विधि -

इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन योग्य व्यक्तियों को उनसे सम्बन्धित योग्य पदों पर स्थापित करना है।^{७६} योग्य व्यक्ति ही अपने आश्रितों को सही निर्देश दे सकता है तथा उनका पालन-पोषण कर सकता है, स्वामी या प्रशासक अगर अच्छा होगा, तो उसके अधीनस्थ भी सामान्यतः अच्छे होंगे जैसा कि कहा गया है- “यथा राजा, तथा प्रजा”, अर्थात् जैसा राजा होता है, वैसी ही उसकी प्रजा होती है, अतः किसी समाज की सुव्यवस्था हेतु योग्य पदों पर योग्य व्यक्तियों का चयन किया जाना आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचारदिनकर में वर्णित चालीस संस्कारों या विधि-विधानों का एक प्रयोजन है और उन्हीं प्रयोजनों से ये संस्कार किए जाते हैं।



^{७४} तत्त्वार्थसूत्र, अनु.: पं. खूबचन्द्रजी, सूत्र-६/३, पृ.-३८१, शेट मणीलालरेवाशंकर जगजीवन जवेरी, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{७५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{७६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

अध्याय-२

संस्कारों से सम्बन्धित साहित्य

हिन्दू-परम्परा का साहित्य -

हिन्दू-परम्परा के गृह्यसूत्रों में सर्वप्रथम संस्कारों का उल्लेख हुआ है, यद्यपि इन गृह्यसूत्रों में इस शब्द का प्रयोग मूल अर्थ में नहीं हुआ है। इस शब्द का अपने मूल अर्थ में प्रयोग वास्तव में स्मृतिकाल में ही हुआ है, किन्तु गृह्यसूत्रों में भी इन संस्कारों से सम्बन्धित उल्लेखों को नकारा नहीं जा सकता है कि हिन्दू-परम्परा में संस्कारों की प्राचीनकाल से ही परम्परा चली आ रही है और इस सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ भी देखने को मिलते हैं। यह बात भिन्न है कि प्राचीन ग्रन्थों में इन संस्कारों के विधि-विधानों का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता, किन्तु इन ग्रन्थों के उल्लेखों से ऐसा तो प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में संस्कारों को किए जाने का विधान था। जहाँ तक संस्कारों की संख्या के विस्तार एवं नियमों का सम्बन्ध है, यह स्वीकार करना पड़ता है कि ऋग्वेद, आदि के सूक्तों में इनके विधि-विधान का निर्देश नहीं है,^{७७} किन्तु उनमें प्रासंगिक-रूप में समाविष्ट अनेक सन्दर्भों में संस्कारों का उल्लेख मिलता है, जैसे- ऋग्वेद में विवाह के प्रकारों की ओर संकेत किया गया है, विद्यार्थी-जीवन की प्रशंसा की गई है। सामवेद में हमें इन संस्कारों के स्वरूप में कोई जानकारी नहीं मिलती है। यजुर्वेद में मुण्डन-संस्कार का ही उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद, आदि अन्य संहिताओं की अपेक्षा लौकिक-धर्म तथा धार्मिक विधि-विधान सम्बन्धी जानकारियों की दृष्टि से अथर्ववेद में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। इसमें मानव-जीवन के प्रत्येक भाग से सम्बद्ध मन्त्र मिलते हैं। इसमें विवाह और अन्त्येष्टि-विषयक सूक्त ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक विस्तृत हैं।^{७८} “संक्षेप में अथर्ववेद में इन तीनों वेदों की अपेक्षा

^{७७} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-एक, पृ.-२, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

^{७८} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-एक, पृ.-४, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

संस्कार सम्बन्धी उल्लेख विस्तृत रूप में मिलते हैं। वेदों के पश्चात् संस्कारों का उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों में भी मिलता है, जैसे- गोपथब्राह्मण⁹⁶ में उपनयन का कुछ वर्णन मिलता है। शतपथब्राह्मण⁹⁷ में उपनयन, गोदान, संस्करण, अन्त्येष्टि, आदि का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार ऐतरेय एवं ताण्ड्य-ब्राह्मण में भी हमें उपनयन-संस्कार सम्बन्धी कुछ उल्लेख मिलते हैं।

इसी प्रकार तैत्तिरीय आरण्यक, छान्दोग्य-उपनिषद् में भी हमें विवाह आदि संस्कारों की आंशिक चर्चा मिलती है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्राचीन ग्रन्थों में कुछ संस्कारों की आंशिक चर्चा ही मिलती है। इनकी विस्तृत चर्चा गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में मिलती है। जैसे- आश्वलायन-गृह्यसूत्र में विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, अन्नप्राशन, उपनयन, अन्त्येष्टि संस्कारों का उल्लेख मिलता है। पारस्कर एवं बौधायन-गृह्यसूत्र में उपर्युक्त संस्कारों के अतिरिक्त निष्क्रमण (सूर्य-चन्द्र-दर्शन-संस्कार) का भी उल्लेख मिलता है। वाराह-गृह्यसूत्र एवं वैखानस-गृह्यसूत्रों में भी जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, आदि संस्कारों की चर्चा मिलती है।

गौतम-धर्मसूत्र में गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, उपनयन एवं विवाह-संस्कार का ही वर्णन मिलता है। स्मृतियों में संस्कारों का उल्लेख है। मनुस्मृति में गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, नामधेय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह एवं श्मशान का उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में भी इन्हीं संस्कारों का उल्लेख है। इसी प्रकार व्यास, गौतमस्मृति, आदि में भी संस्कारों का उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त मध्यकालीन ग्रन्थों, यथा-वीरमित्रोदय, स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारमयूख, धर्मशास्त्र का इतिहास, आदि में भी षोडश संस्कारों का उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों में इन संस्कारों के अतिरिक्त अन्य संस्कारों की भी चर्चा मिलती है, किन्तु यहाँ उन्हीं संस्कारों का उल्लेख किया गया है, जिनकी चर्चा आचारदिनकर के गृहस्थ सम्बन्धी षोडश संस्कारों में मिलती

⁹⁶ हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-एक, पृ.-५, चौखम्भा विद्यामवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

⁹⁷ हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-एक, पृ.-५, चौखम्भा विद्यामवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

है। यद्यपि मुनि-जीवन के षोडश संस्कारों में वर्णित क्षुल्लक एवं प्रव्रज्या-विधि के समतुल्य वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रम का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु कुछ वैदिक-विद्वानों ने ही इन्हें संस्कार के रूप में स्वीकार किया है।

इसी प्रकार वैदिक-परम्परा के प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों, यथा-अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, नृसिंहपुराण, निर्णयसिंधु, प्रतिष्ठा-महोदधि, प्रतिष्ठा-मयूख, सर्वदेव-प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठार्णव आदि में प्रतिष्ठा-विधि आदि का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकारकृत्यकल्पतरू, शान्तिमयूख, विष्णुधर्मोत्तर, बृहद्योगयात्रा, आदि में शान्तिक, पौष्टिक-कर्म का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि प्रायश्चित्त एवं तप-विधि का भी वैदिक-परम्पराओं के ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है, किन्तु जहाँ तक ज्ञात होता है, प्रतिष्ठा एवं शान्तिक-पौष्टिक-कर्म की भाँति इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन नहीं हुआ है।

इस प्रकार वैदिक-साहित्य में संस्कार सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है, जो हमारे इस शोध-प्रबन्ध में वैदिक-परम्परा से तुलना करने में सहायभूत रहेगी।

दिगम्बर-परम्परा का संस्कारों से सम्बन्धित साहित्य-

मूलाचार-

इस कृति^१ की रचना दिगम्बराचार्य वट्टकेर ने की है। इस कृति को कर्ता ने बारह अध्यायों में विभक्त किया है। यह एक संग्रहात्मक कृति है। इस ग्रन्थ में सामायिक, आदि षडावश्यकों का निरूपण है। इस कृति का काल लगभग पाँचवीं-छठवीं शताब्दी है। आचारदिनकर में वर्णित षडावश्यक, आदि विषयों के दिगम्बर-परम्परा से तुलनात्मक अध्ययन में यह ग्रन्थ भी उपयोगी रहा है।

२. भगवती-आराधना-

इस कृति^२ के रचयिता शिवार्य हैं। यह ग्रन्थ प्राकृत-भाषा में लिखा गया है, इसमें कुल गाथाओं की संख्या २१६४ है। यह ग्रन्थ आठ परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप- इन चार आराधनाओं का निरूपण है। इस ग्रन्थ में सामान्यतया मुनिधर्म का तथा विशेष रूप में समाधिमरण का

^१ मूलाचार, सम्पादकद्वय : डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद, प्रथम संस्करण: १९६६.

^२ भगवती आराधना, अनु.: पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, बाल ब्र. श्री हीरालाल खुशालचंद दोशी, फलटण वाखरीकर, प्रथम संस्करण १९६०

विवेचन है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम की पाँचवी-छठवीं शती है। इस ग्रन्थ की समाधिमरण की विधि की कुछ समरूपता आचारदिनकर से है।

३. आदिपुराण-

इस ग्रन्थ^३ के रचनाकार पंचस्तुपान्वय वीरसेन के शिष्य जिनसेनाचार्य हैं। यह कृति संस्कृत भाषा में गुम्फित है। इस कृति का रचनाकाल विक्रम की नौवीं शती है। यह ग्रन्थ ४७ पर्वों में विभाजित है, जिनमें से प्रारम्भ के ४२ पर्व और तैतालिसवें पर्व के तीन श्लोक जिनसेनाचार्य द्वारा विरचित हैं, शेष पर्वों के १६२० श्लोक उनके शिष्य गुणसेन द्वारा रचित हैं। इस ग्रन्थ के ४७ पर्वों में विभिन्न विषयों का निरूपण हुआ है, किन्तु इसके ३८, ३९ एवं ४०वें पर्व में विशेष रूप से संस्कारों का वर्णन किया गया है। आचारदिनकर में वर्णित संस्कारों का दिग्म्बर-परम्परा से तुलनात्मक अध्ययन हेतु यह ग्रन्थ अत्यन्त सहायभूत रहा है। दिग्म्बर-परम्परा में सम्भवतः यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें हमें विस्तृत रूप से संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख मिलता है।

४. हरिवंशपुराण-

इस कृति^४ के रचनाकार पुन्नाटसंघ के आचार्य जिनसेन हैं। यह महाकाव्य की शैली पर रचा गया है और यह ब्राह्मण-पुराणों के अनुसरण पर लिखा गया है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ६६ सर्गों में विभाजित है, जिनका ग्रन्थ-परिमाण १२ हजार श्लोक है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल शक सं. ७०५ तदनुसार विक्रम सं. ८४०, अर्थात् विक्रम की ९वीं शती है। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय हरिवंश में उत्पन्न हुए २२वें तीर्थंकर नेमीनाथ के साथ-साथ वासुदेव कृष्ण के चरित्र का वर्णन करना है। इसके कुछ सर्गों में हमें कुछ संस्कारों, यथा-गर्भाधान, जातकर्म, नामकरण, कर्णछेदन, विद्यारम्भ, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि, आदि का भी वर्णन मिलता है।

५. रत्नकरण्ड-श्रावकाचार-

कुछ विद्वानों के अनुसार यह कृति^५ आप्तमीमांसा आदि के रचयिता समन्तभद्र की है, किन्तु अधिकांश विद्वानों का इस सम्बन्ध में मतभेद भी है। इसे

^३ आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.: डॉ. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, १८ इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, दिल्ली, सातवां संस्करण २०००

^४ हरिवंशपुराण, अनु.: डॉ. पन्नालाल जैन, भारतीय विद्यापीठ प्रकाशन, पंचम संस्करण १९६६

^५ रत्नकरण्ड-श्रावकाचार : अनु.: पं. सदासुखदासजी कासलीवाल, पं. सदासुख ग्रन्थमाला, अजमेर, द्वितीय संस्करण १९६७

उपासकाध्ययन भी कहते हैं। यह ग्रन्थ सात परिच्छेदों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में सम्यक्त्वदर्शन के स्वरूप एवं लक्षण की चर्चा करते हुए श्रावक के बारह व्रत, संलेखना-विधि एवं श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया गया है। इस कृति का रचनाकाल लगभग विक्रम की छठवीं से नवीं शती के मध्य माना जाता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाँति ही अन्य ग्रन्थकारों द्वारा रचित श्रावकाचारों के भी उल्लेख मिलते हैं, यथा- वसुनंदीकृत श्रावकाचार, अमितगतिकृत श्रावकाचार, अमृतचन्द्रकृत श्रावकाचार (पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय), धर्मसंग्रह-श्रावकाचार, गुणभूषणकृत श्रावकाचार, आदि। इन सभी श्रावकाचारों का उल्लेख श्रावकाचार-संग्रह, भाग-9 से 8 तक में मिलता है।

६. आराधनासार-

इस कृति^{६६} की रचना देवसेन ने लगभग वि.सं. ६६० में की थी। इस ग्रन्थ में ११५ पद्य हैं तथा इस ग्रन्थ की भाषा शौरसेनी-प्राकृत है। देवसेन विमलसेन के शिष्य थे- ऐसा उल्लेख इनकी रत्नकीर्ति की टीका में मिलता है। इस ग्रन्थ में भी समाधि के स्वरूप की चर्चा मिलती है।

७. आराधना-

इस कृति के रचनाकार माधवसेन के शिष्य अमितगति हैं। यह शिवार्यकृत “आराहणा” का प्रायः संस्कृत पद्यात्मक अनुवाद ही है। इसमें भी हमें समाधिमरण सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है। इस कृति का रचनाकाल लगभग विक्रम की ग्यारहवीं शती है। इस कृति का उल्लेख हमें जैन साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-४) में मिलता है।

८. प्रतिष्ठासार संग्रह-

इस कृति के कर्ता वसुनन्दि हैं। ७०० श्लोक-परिमाण वाला यह ग्रन्थ छः भागों में विभक्त है। इस कृति का रचनाकाल विक्रम की बारहवीं शती है। इस ग्रन्थ में दिगम्बर-परम्परा के अनुसार प्रतिष्ठा-विधि का प्रतिपादन किया गया है। इस कृति का उल्लेख हमें जैन-साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-४) में मिलता है।

९. प्रतिष्ठाकल्प-

इस कृति के कर्ता माघनंदी हैं। नाम के अनुरूप इस ग्रन्थ में भी प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख किया गया है। इस कृति का रचनाकाल विक्रम

^{६६} आराधनासार, अनु.: आर्यिका सुपाश्र्वमतिजी, श्री दिगम्बर जैन मध्यलोक शोध संस्थान, सम्मत् शिखरजी, प्रथम संस्करण २००२

की १२वीं शती है। इस कृति का उल्लेख भी हमें जैन-साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-४) में मिलता है।

१०. प्रतिष्ठा-सारोद्धार-

प्रतिष्ठा-सारोद्धार^{९७} नामक इस ग्रन्थ की रचना पण्डित आशाधरजी ने संस्कृत-भाषा में (पद्यात्मक शैली में) की है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में यह उल्लेख है कि वसुनंदि आचार्यकृत “प्रतिष्ठा सार संग्रह” के विषय का उद्धार करने के लिए विस्तार के साथ प्रतिष्ठासारोद्धार नामक यह ग्रन्थ रचा गया है। इस कृति का अपर नाम “जिनयज्ञकल्प” है। इस ग्रन्थ में दिगम्बर-परम्परा के अनुसार ही प्रतिष्ठा-विधि का विवेचन हुआ है। इस कृति का रचनाकाल विक्रम की १३वीं शती है। आचारदिनकर में वर्णित प्रतिष्ठा-विधि से तुलना करने में यह ग्रन्थ भी अत्यन्त उपयोगी रहा है।

११. प्रतिष्ठा-पाठ-

इस कृति^{९८} के रचनाकार जयसेनाचार्य हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इस ग्रन्थ में दिगम्बर-परम्परा के अनुसार जिनबिम्ब, आदि की प्रतिष्ठा-विधि का उल्लेख किया गया है। यद्यपि अन्तिम प्रशस्ति में लेखक ने अपने को कुन्दकुन्द का अग्रशिष्य उल्लेखित किया है, किन्तु ये कुन्दकुन्द के साक्षात् शिष्य न होकर परम्परा-शिष्य ही हो सकते हैं। कुन्दकुन्द के समयसार की तात्पर्यवृत्ति के टीकाकार भी जयसेन हैं। उनका काल तेरहवीं शती के लगभग है। सम्भावना यही है कि प्रतिष्ठापाठ के रचनाकार जयसेन भी लगभग इसी काल के प्रतीत होते हैं।

१२. सागार एवं अनगार धर्मामृत-

इस कृति के कर्ता पं. आशाधरजी हैं। यह ग्रन्थ दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग का नाम अनगार-धर्मामृत है^{९९} और दूसरे भाग का नाम सागार-धर्मामृत है^{१००}। इन दोनों विभागों में दिगम्बर-परम्परा के अनुसार क्रमशः साधु एवं श्रावकों के आचारधर्म का निरूपण किया गया है। इस कृति का रचनाकाल विक्रम की तेरहवीं शती है।

^{९७} प्रतिष्ठासारोद्धार, पं. आशाधरजी, पं. मनोहरलाल शास्त्री, श्री जैन ग्रंथ उद्धारक कार्यालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९७३

^{९८} प्रतिष्ठापाठ, जयसेनाचार्य विरचित, सेठ हीरालाल नेमचंद डोशी, मंगलवार पेठ, शोलापुर वी.स. २४५०

^{९९} धर्मामृतअनगार, अनु.- पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९७७

^{१००} सागारधर्मामृत, अनु.- आर्थिका सुपाश्र्वमती, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद, तृतीय संस्करण १९६५

93. क्रियाकोश-

इस कृति^{६१} के रचनाकार कविवर किशनसिंह हैं। यह श्रावकाचार का अद्वितीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में प्रायः श्रावक हेतु आचरणीय विषयों का उल्लेख किया गया है, जिनमें से कुछ विषयों का उल्लेख इस शोधग्रन्थ हेतु भी उपयोगी रहा है, जैसे- श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ, समाधिमरण की विधि, श्रावक के बारह व्रत, कनकावली, रत्नावली, सिंह-निष्क्रीडित, आदि विविध तर्पों के उल्लेख। इस कृति का रचनाकाल वि.स.-१७८४ है।

श्वेताम्बर-परम्परा का संस्कार एवं विधिविधान सम्बन्धी साहित्य-

(i) वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के पूर्व का साहित्य

१. उत्तराध्ययनसूत्र -

उत्तराध्ययनसूत्र^{६२} जैन आगमों का प्रथम मूलसूत्र माना जाता है। इसका नाम उत्तराध्ययन क्यों पड़ा? यह विवादास्पद है। इस ग्रन्थ में ३६ अध्याय हैं। इस ग्रन्थ के २६वें सामाचारी नामक अध्ययन में हमें मुनि की दिन एवं रात्रि की चर्या का उल्लेख मिलता है तथा अन्तिम ३६वें अध्याय में संलेखना-विधि-विधान की चर्चा मुख्य रूप से मिलती है। आचारदिनकर में मुनि की दिन-रात की चर्या का जो उल्लेख मिलता है, उस हेतु यह आधारभूत आगम ग्रन्थ है।

२. दशाश्रुतस्कन्ध -

दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र^{६३} का दूसरा नाम आचारदशा भी है। स्थानांग-सूत्र के दसवें स्थान में इसका आचारदशा के नाम से उल्लेख करते हुए इसमें प्रतिपादित दस अध्ययनों-उद्देश्यों का नाम उल्लेख किया गया है। इस सूत्र में वर्णित कुछ विषयों, यथा-बीस असमाधि-स्थानों, इक्कीस शबलदोष, तैंतीस आशातनाएँ, उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं, भिक्षु की बारह प्रतिमाओं, मोहनीय-कर्मबन्ध-स्थानों की चर्चा प्रसंगानुसार आचारदिनकर में भी मिलती है। इस रूप में यह इन विषयों का आधारभूत आगमग्रन्थ माना जा सकता है।

^{६१} क्रियाकोश, अनु.: पं. पन्नालाल जैन, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम स्टेशन, बोरीया, प्रथम संस्करण १९८५

^{६२} उत्तराध्ययनसूत्र, मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वितीय संस्करण १९९१.

^{६३} दशाश्रुतस्कन्ध, मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९६२.

३. आवश्यकसूत्र -

आवश्यकसूत्र^{६४} आगमों में दूसरा मूलसूत्र माना जाता है। इस ग्रन्थ में नित्यकर्म के प्रतिपादक आवश्यक क्रियानुष्ठानरूप कर्तव्यों का उल्लेख है, इसलिए इसे आवश्यक कहा गया है। इस सूत्र में छः अध्याय हैं- (१)सामायिक (२)चतुर्विंशतिस्तव (३)वंदन (४)प्रतिक्रमण (५)कायोत्सर्ग एवं (६)प्रत्याख्यान। आचारदिनकर में वर्णित आवश्यकविधि का प्रकरण प्रायः इसी ग्रन्थ पर आधारित है।

४. दशवैकालिकसूत्र -

दशवैकालिकसूत्र^{६५} जैन-आगमों का तीसरा मूलसूत्र है। इस कृति के रचयिता शय्यंभवसूरि हैं। यह ग्रन्थ दस अध्यायों में विभाजित है। इसके अन्त में दो चूलिकाएँ हैं, जो शय्यंभवसूरि द्वारा रचित नहीं है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में मुनि-आचार का उल्लेख किया गया है। आचारदिनकर में मुनि-आचार सम्बन्धी विधि-विधान के लिए यह ग्रन्थ आधारभूत रहा है।

५. ओघनिर्युक्ति-

ओघनिर्युक्ति^{६६} नामक यह ग्रन्थ चतुर्थ मूलसूत्र के रूप में माना गया है। इसमें साधुचर्या सम्बन्धी नियम तथा आचार-विचार-विषयक कई प्रकार के विधि-विधान प्रतिपादित किए गए हैं।

इसके कर्ता आचार्य भद्रबाहुस्वामी हैं, इस निर्युक्ति पर द्रोणाचार्य ने वृत्ति लिखी है, इसमें ८११ प्राकृत गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ में प्रतिलेखनाद्वार, पिण्डद्वार, उपधि-निरूपण, अनायतन-वर्जन, प्रतिसेवनाद्वार, आलोचनाद्वार और विशुद्धिद्वार, इत्यादि विषयों का निरूपण हुआ है। यह कृति वि.स. तीसरी से छठवीं शती के मध्य कभी निर्मित हुई होगी। यद्यपि परम्परागत अवधारणा यह है कि निर्युक्तियाँ आचार्य भद्रबाहु प्रथम की रचना है, किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह अवधारणा समुचित नहीं है। डॉ. सागरमल जैन का मानना है कि निर्युक्तियाँ भद्रबाहु (प्रथम) की रचना न होकर तीसरी-चौथी शती में हुए आर्यभद्र की कृतियाँ हैं। अन्य कुछ विद्वान् निर्युक्तियों के रचनाकार के रूप में भद्रबाहु (द्वितीय), जो वराहमिहिर के भाई थे, को मानते हैं। वास्तविकता केवलिंग्य है। इसमें साध्विचार के अतिरिक्त अन्य कोई विधि-विधान नहीं है।

^{६४} आवश्यकसूत्र मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वितीय संस्करण १९६४.

^{६५} दशवैकालिकसूत्र, नथमलमुनि, जैन विश्व भारती, लाडनू, द्वितीय संस्करण १९७४.

^{६६} ओघनिर्युक्ति, सं.: विजयजिनेन्द्र सूरीश्वर, श्री हर्षपुष्पाभूत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावल शांतिपुरी (सौराष्ट्र).

६. जीतकल्पभाष्य-

जीतकल्प^{६०} के प्रणेता प्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि.सं. ६५० के आसपास) हैं। इस ग्रन्थ में साधु-साध्वियों के भिन्न-भिन्न अपराध-स्थान-विषयक प्रायश्चित्त का जीतव्यवहार के आधार पर निरूपण किया गया है। इसमें कुल १०३ गाथाएँ हैं, इस ग्रन्थ में दस प्रकार के प्रायश्चित्तों, यथा- (१) प्रतिक्रमण (२) आलोचना (३) उभय (४) विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तप (७) छेद (८) मूल (९) अनवस्थाप्य एवं (१०) पारांचिक का उल्लेख है। आचारदिनकर के प्रायश्चित्त-विधि में भी हमें प्रायश्चित्त के इन्हीं दस प्रकारों का उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त आगम-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य आगम-ग्रन्थों में भी आचारदिनकर में वर्णित विषयों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु वे मात्र सूचनारूप हैं, उनके विशिष्ट विधि-विधान उन आगम-ग्रन्थों में नहीं हैं, जैसे- आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन में हमें समाधिमरण के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख मिलते हैं। अन्तकृतदशांग में हमें कनकावली, रत्नावली, आदि प्रमुख तप की विधि का उल्लेख मिलता है। औपपातिकसूत्र एवं राजप्रश्नीयसूत्र में जातकर्म-संस्कार, चन्द्र-सूर्य-दर्शन, धर्मजागरण (षष्ठीजागरण), नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, चूलोपनयन, गर्भाधान, आदि संस्कारों के नामोल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार कल्पसूत्र में जातकर्म, सूर्य-चन्द्र-दर्शन, षष्ठी-संस्कार, शुचिकर्म-संस्कार, नामकरण, आदि संस्कारों के नामोल्लेख मिलते हैं। ज्ञाताधर्मकथा में जातकर्म, सूर्य-चन्द्र-दर्शन, षष्ठी-जागरण, नामकरण, आदि संस्कारों के नामोल्लेख एवं प्रव्रज्या- विधि-सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। बृहत्कल्पसूत्र में साधु-साध्वी के आचारधर्म से सम्बन्धित विधि-निषेधों का वर्णन किया गया है। व्यवहारसूत्र में मुनि-आचार सम्बन्धी विधिनिषेधों के साथ ही आचार्य, उपाध्याय, आदि पदस्थापन सम्बन्धी उल्लेख भी मिलते हैं। साथ ही निशीथ, आदि छेदसूत्रों में मुनि-आचार में लगने वाले विभिन्न दोषों और उनके प्रायश्चित्तों का भी उल्लेख पाया जाता है। महानिशीथसूत्र में उपधान, जिनपूजा, आदि का उल्लेख मिलता है।

इनके अतिरिक्त प्रकीर्णक-साहित्यों, आराधनाकुलक, आलोचनाकुलक, मिथ्यादुष्कृतकुलक (प्रथम एवं द्वितीय), आत्मविशोधीकुलक, चतुःशरणप्रकीर्णक, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, आराधनाप्रकरण, मरणविभक्ति, संस्तारकप्रकीर्णक, भक्तपरिज्ञा, आदि में भी समाधिमरण सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं।

^{६०} जीतकल्पसूत्र, भाई श्री बबलचंद्र केशवलाल मोद, हाजापटेल की पोल, अहमदाबाद.

७. आराधनापताका-

इस कृति के रचनाकार वीरभद्र हैं। यह ग्रन्थ जैन-महाराष्ट्री में ६६० पद्यों में निबद्ध है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि.सं.-१०७८ है। इस कृति का उल्लेख हमें जैन-साहित्य के बृहत् इतिहास (भाग-४) में मिलता है।

८. पंचसूत्रक-

इस कृति के रचनाकार कौन हैं ?- यह जानकारी तो हमें उपलब्ध नहीं है, किन्तु यह सूत्र पाँच भागों में विभक्त है। इन पाँच सूत्रों में एक सूत्र प्रव्रज्या ग्रहण करने की विधि से सम्बन्धित है।

हरिभद्रसूरि ने इस पर ८८० श्लोक-परिमाण की एक टीका लिखी है। इन्होंने मूल कृति का नाम पंचसूत्रक लिखा है, जबकि न्यायाचार्य यशोविजयजी ने इसे पंचसूत्री कहा है। इस पर मुनिचन्द्रसूरि तथा किसी अज्ञात लेखक ने भी एक-एक अवचूरि लिखी है। इस कृति का उल्लेख हमें जैन-साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-४) में मिलता है।

९. प्रतिष्ठाकल्प-

भद्रबाहु द्वारा विरचित प्रतिष्ठाकल्प नाम के इस ग्रन्थ का उल्लेख हमें सकलचन्द्रगणीकृत प्रतिष्ठाकल्प के अन्त में मिलता है। नाम के अनुरूप इस कृति में कर्ता ने जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा-विधि, आदि का उल्लेख किया होगा, ऐसा हम मान सकते हैं। वर्तमान में यह कृति उपलब्ध नहीं है। सम्भावना यह है कि यह कृति वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु की हो सकती है, जिनका काल सातवीं शती है।

इसी नाम से सम्बन्धित अन्य कृतियाँ भी हमें मिलती हैं, यथा- रुद्रपल्लीगच्छीय हरिभद्रसूरिविरचित प्रतिष्ठाकल्प (वि.सं.-१५१०) कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिविरचित प्रतिष्ठाकल्प, गुणरत्नाकरसूरि विरचित प्रतिष्ठाकल्प (वि.स. की पन्द्रहवीं शती), किन्तु हमें ये सभी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हो पाईं, अतः इनके सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना सम्भव नहीं है। इन सब कृतियों का उल्लेख हमें जैन-साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-४) में मिलता है।

१०. पंचाशक-प्रकरण-

आचार्य हरिभद्रसूरि की यह कृति^{६६} महाराष्ट्री-प्राकृत में निबद्ध है। इस कृति में उन्नीस पंचाशक संगृहीत हैं, जिसमें दूसरे में ४४ और सत्रहवें में ५२

^{६६} पंचाशक प्रकरण, अनु. डॉ. दीनानाथ शर्मा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६७

तथा शेष में ५०-५० पद्य हैं। यह विधि-विधान संबंधी विषयों का मौलिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में गृहस्थ द्वारा, साधु द्वारा एवं गृहस्थ तथा साधु-दोनों द्वारा आचरणीय विधि-विधान उल्लेखित हैं।

इस ग्रन्थ का रचनाकाल आठवीं शताब्दी है। जैन-आचार एवं कर्मकाण्ड के सन्दर्भ में यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण कृति है। प्रस्तुत कृति में वर्णित उन्नीस पंचाशकों के नाम इस प्रकार हैं-

पहले पंचाशक में श्रावकधर्म को ग्रहण करने की विधि का उल्लेख है।

दूसरे पंचाशक में जिनदीक्षा ग्रहण करने की विधि प्रज्ञप्त है।

तीसरे पंचाशक में चैत्यवंदन करने की विधि का निरूपण है।

चौथे पंचाशक में पूजा करने की विधि दर्शित की गई है।

पाँचवें पंचाशक में प्रत्याख्यान की विधि बताई गई है।

छठवें पंचाशक में स्तवन की विधि निर्दिष्ट की गई है।

सातवें पंचाशक में जिनभवन-निर्माण-विधि का प्रतिपादन किया गया है।

आठवें पंचाशक में जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा की विधि प्रस्तुत की गई है।

नौवें पंचाशक में यात्रा करने की विधि कही गई है।

दसवें पंचाशक में उपासक-प्रतिमा-विधि का निरूपण है।

ग्यारहवें पंचाशक में साधुधर्म-विधि का उल्लेख है।

बारहवें पंचाशक में साधु-सामाचारी की विधि निरूपित है।

तेरहवें पंचाशक में पिण्डविधान-विधि निर्दिष्ट है।

चौदहवें पंचाशक में शीलांगविधान-विधि का प्रतिपादन है।

पन्द्रहवें पंचाशक में आलोचना-विधि का प्रस्तुतिकरण है।

सोलहवें पंचाशक में प्रायश्चित्त-विधि का वर्णन है।

सत्रहवें पंचाशक में कल्पविधि का उल्लेख है।

अठारहवें पंचाशक में भिक्षुप्रतिमा-कल्प-विधि का वर्णन है।

उन्नीसवें पंचाशक में तप-विधि का निरूपण है।

टीकाएँ-

अभयदेवसूरि ने वि.सं.-११२४ में एक वृत्ति लिखी है। हरिभद्रसूरि ने इस पर टीका लिखी है- ऐसा जिनरत्नकोश (पृ.-२३१) में उल्लेख है। इस पर एक अज्ञात टीका भी है।

वीरगणि के शिष्य श्री चन्द्रसूरि के शिष्य यशोदेव ने भी पहले पंचाशक पर जैन-महाराष्ट्री में वि.सं.-११७२ में एक चूर्ण लिखी थी, जिसमें प्रारम्भ में तीन पद्य और अन्त में प्रशस्ति के चार पद्य हैं, शेष ग्रन्थ गद्य में है। इस चूर्ण में सामाचारी के विषयों का अनेक बार उल्लेख हुआ है। मण्डनात्मक शैली में रचित होने के कारण इसमें “तुलादण्ड न्याय” का उल्लेख भी है।

पंचवस्तुक ग्रन्थ

पंचवस्तुक नामक यह कृति^{६६} आचार्य हरिभद्रसूरि की है। यह कृति जैन-महाराष्ट्री प्राकृत-भाषा में गुम्फित है। इसमें कुल १७१४ पद्य हैं। इस कृति का रचनाकाल परम्परागत धारणा के अनुसार छठवीं शती का उत्तरार्द्ध है, किन्तु विद्वज्जन इस कृति का रचनाकाल आठवीं शती का उत्तरार्द्ध मानते हैं।

जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ में पाँच वस्तुओं, अर्थात् मुनि-जीवन से सम्बन्धित पाँच क्रियाओं का विवेचन है। इस ग्रन्थ में श्रमण जीवन के जन्म (दीक्षा) से लेकर कालधर्म (संलेखना) तक की समग्र चर्चा का पाँच अधिकारों में विवेचन किया गया है।

यह ग्रन्थ विशेष रूप से जैनमुनि-आचार से सम्बन्धित है। ग्रन्थकार ने इसे निम्न पाँच अधिकारों में विभाजित किया है-

(प्रथम) प्रव्रज्या-अधिकार-

इस अधिकार के अन्तर्गत २२८ पद्य हैं। इस अधिकार में दीक्षा सम्बन्धी विधि-विधान दिए गए हैं।

(द्वितीय) दैनिकचर्या-अधिकार-

इस नित्यक्रिया सम्बन्धी अधिकार में ३८१ पद्य हैं। यह अधिकार मुनिजीवन के दैनिक क्रियाकलापों सम्बन्धी विधि-विधान की चर्चा करता है।

^{६६} पंचवस्तुक ग्रंथ : अनु.: राजशेखर सूरिश्वरजी, अरिहंत आराधक ट्रस्ट, हिन्दुस्तान मिल्स स्टोर्स ४८१, गनी अपार्टमेंट, मुंबई, -आगरा रोड, भिवंडी, द्वितीय आवृत्ति.

(तृतीय) उपस्थापना-विधि-अधिकार-

प्रस्तुत महाव्रतारोपण-विधि में ३२१ पद्य हैं। इस अधिकार में बड़ी दीक्षा, अर्थात् महाव्रतारोपण-विधि, आदि का विवेचन हुआ है।

(चतुर्थ) अनुयोग-गणानुज्ञा-विधि-अधिकार-

इस अधिकार में ४३४ गाथाएँ हैं, जिनमें मुख्यतः आचार्य-पदस्थापना, गण-अनुज्ञा, शिष्यों के अध्ययन, आदि सम्बन्धी विधि-विधानों की चर्चा है।

(पंचम) संलेखना-विधि-अधिकार-

इस अधिकार में संलेखना सम्बन्धी विधि-विधान दिए गए हैं। इसमें ३५० गाथाएँ हैं। संलेखना के अतिरिक्त इस अधिकार में मुनि-आचार सम्बन्धी अन्य विषयों की चर्चा की गई है।

अन्त में ग्रन्थ-रचना का हेतु एवं गाथाओं का परिमाण बताते हुए ग्रन्थ की पूर्णाहुति की गई है।

पंचवस्तुक-टीका-

इस कृति की ५०५० श्लोक-परिमाण 'शिष्यहिता' नामक स्वोपज्ञटीका भी मिलती है। न्यायाचार्य यशोविजयजी ने मार्गविशुद्धि नाम की कृति पंचवस्तुक के आधार पर लिखी है। उन्होंने प्रतिमाशतक के श्लोक ६७ की स्वोपज्ञटीका में धयपरिण्णा को उद्धृत करके उसका स्पष्टीकरण किया है।

श्रावक-प्रज्ञप्ति-

यह कृति जैन-महाराष्ट्री में रचित है। ४०५ कारिका की यह कृति प्रशमरति आदि के रचयिता उमास्वाती की है- ऐसा कई हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में उल्लेख आता है, किन्तु विद्वानों के अनुसार यह हरिभद्रसूरि की कृति मानी जाती है। यह बात पंचाशक की अभयदेवसूरिकृत वृत्ति, लावण्यसूरिकृत द्रव्यसप्तति, आदि के उल्लेखों से ज्ञात होती है। इस कृति का रचनाकाल विक्रम की आठवीं शती होगा- ऐसा हम मान सकते हैं। इसमें श्रावक के बारह व्रत तथा श्रावक की सामाचारी का उल्लेख है। आचारदिनकर में वर्णित व्रतारोपण-संस्कार सम्बन्धी कुछ विषयों की चर्चा हमें इस ग्रन्थ में मिलती है। इस कृति का उल्लेख हमें जैन-साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-४) में मिलता है।

यतिदिनकृत्य-

यह हरिभद्रसूरि की कृति मानी जाती है। इसमें श्रमणों की दैनन्दि क प्रवृत्तियों के विषयों का निरूपण है। इस कृति का रचनाकाल विक्रम की आठवीं शती है। आचारदिनकर में भी साधु-दिनचर्या सम्बन्धी एक प्रकरण है, जिसकी विषयवस्तु का आधार यह ग्रन्थ माना जा सकता है। इस कृति का भी उल्लेख हमें जैन-साहित्य का बृहत् इतिहास में मिलता है।

निर्वाणकलिका-

इस ग्रन्थ^{१००} के कर्ता श्रीपादलिप्तसूरि हैं। डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार ये पादलिप्तसूरि आर्यरक्षित (द्वितीय शती) के समकालीन एवं उनके मामा पादलिप्तसूरि से भिन्न हैं। ये सम्भवतः दसवीं, ग्यारहवीं शती के आचार्य हैं।

यह कृति संस्कृत-गद्य में है और इक्कीस प्रकरणों में विभक्त है। इसमें मुख्य रूप से प्रतिष्ठा-विधि का विवेचन किया गया है। हरिभद्र के षोडशक, पंचाशक, आदि ग्रन्थों के बाद में विधि-विधान से सम्बन्धित सामग्री हमें इसी ग्रन्थ में मिलती है।

निर्वाणकलिका की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण, विषय-निरूपण एवं ग्रन्थ-प्रयोजन हेतु दो श्लोक दिए गए हैं। तत्पश्चात् प्रथम प्रकरण में नित्यकर्म की विधि सम्बन्धी चर्चा की है। उसमें देहशुद्धि, द्वारपूजा, पूजागृह में प्रवेश करने की विधि, करन्यास, भूतशुद्धि, मान्त्रिक-स्नान, जिनपूजा, गुरुपूजा, चतुर्मुख सिंहासन-पूजा, अर्हत् एवं सिद्ध परमात्मा की मूर्ति के न्यास की विधि, आह्वानादि की विधि, देवस्नानादि की विधि, पंचपरमेष्ठी-यंत्र की पूजा-विधि, आरती, मंगल दीपक, तीन प्रकार के जाप, गृहदेवता की पूजा, बलिप्रदान, आदि के विधान निर्दिष्ट हैं।

दूसरे प्रकरण में “दीक्षाविधि” का प्रतिपादन है। इसमें गृहस्थ की मांत्रिक दीक्षा का, सर्वतोभद्रमण्डल का और अष्टसमयादि धारण का विधान बताया गया है।

तीसरे प्रकरण में आचार्यपदाभिषेक की विधि कही गई है। इस प्रकरण में मण्डपस्वरूप का, वैदिकास्वरूप का, आठ प्रकार के कुम्भ का, आठ प्रकार के शंख

^{१००} निर्वाणकलिका, पादलिप्तसूरिकृत, मोहनलाल भगवानदास जवेरी, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण

का, अनुयोग की अनुज्ञा हेतु नन्दीपाठ का श्रवण, आचार्यपदस्थापना के समय राजा के चिह्न-विशेष, शिविका, आदि का वर्णन हुआ है।

चौथे प्रकरण में जिनचैत्य का निर्माण करने के लिए भूमि की परीक्षा-विधि का उल्लेख है।

पांचवें प्रकरण में शिलान्यास की विधि बताई गई है।

छठवें प्रकरण में प्रतिष्ठा-विधि का उल्लेख है। इसमें शिल्पी, इन्द्र एवं आचार्य के गुणों का वर्णन भी है, साथ ही अधिवासनामण्डप, स्नानमण्डप, तोरण-पताकादिमण्डप की अलंकरण-सामग्री का वर्णन है।

सातवें प्रकरण में पादपीठ की प्रतिष्ठा-विधि है।

आठवें प्रकरण में जिनचैत्य के मुख्य द्वार की प्रतिष्ठा-विधि का वर्णन है।

नौवें प्रकरण में जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा-विधि का उल्लेख है। इसमें क्षेत्रशुद्धि, आत्मरक्षा, भूतबलि, अभिमंत्रण, सकलीकरण, दिग्बन्धन, बिम्बस्नपन, नन्द्यावर्त्तमण्डल आलेखन एवं पूजन, सहज गुण-स्थापन, अधिवासना, अंजनशलाका, जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठादेवता का कायोत्सर्ग, आदि विविध विधि-विधान निरूपित हुए हैं। इसके अतिरिक्त इसमें लेप्यमय प्रतिमा की प्रतिष्ठा-विधि एवं अम्बिकादि देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा-विधि भी अलग से बताई गई है।

दसवें प्रकरण में हृत्प्रतिष्ठा की विधि निरूपित है।

ग्यारहवें प्रकरण में चूलिका की प्रतिष्ठा-विधि का प्रतिपादन किया गया है।

बारहवें प्रकरण में कलश, ध्वजा और धर्मचक्र की प्रतिष्ठाविधि उल्लेखित है।

तेरहवें प्रकरण में जीर्णोद्धार की विधि का वर्णन है।

चौदहवाँ प्रकरण प्रतिष्ठा-उपयोगी मुद्राविधि से सम्बन्धित है।

पन्द्रहवें प्रकरण में प्रायश्चित्त-विधि बताई गई है।

सोलह से उन्नीस प्रकरणों में अर्हदादि का वर्णादि-क्रम कहा गया है। इसके साथ ही इन प्रकरणों में तीर्थकरों की जन्मराशि, जन्मनक्षत्र, आदि का वर्णन

तथा यक्ष-यक्षिणी, श्रुतदेवता, सोलह विद्यादेवियों, दस दिक्पाल, नवग्रह एवं ब्रह्मशान्ति-यक्ष, आदि के स्वरूप एवं आयुधादि का वर्णन है। श्वेताम्बर-परम्परा में केवल मन्दिर, मूर्तिपूजा, आदि विधि-विधान को लक्ष्य में रखकर लिखा जाने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है।

सवेगरंगशाला -

इस कृति^{१०१} के रचनाकार बुद्धिसागरसूरि के शिष्य जिनचन्द्रसूरि हैं। इस ग्रन्थ का श्लोक-परिमाण १००५४ है। इस कृति का रचनाकाल बारहवीं शती का प्रारम्भ (वि.स.-११२५) है। इस ग्रन्थ में समाधिमरण का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, साथ ही समाधिमरण सम्बन्धी स्थानक भी दिए गए हैं। समाधिमरण सम्बन्धी तुलनात्मक अध्ययन में यह ग्रन्थ भी उपयोगी है।

यतिजीतकल्प-

इस कृति के रचनाकार धर्मघोषसूरि के शिष्य और २८ यमकस्तुति के प्रणेता सोमप्रभसूरि हैं। इसमें ३०६ गाथाएँ हैं। इसमें श्रमणों के आचार का निरूपण है। इस कृति का रचनाकाल सम्भवतः १३वीं शती से पूर्व रहा होगा, क्योंकि देवसुन्दरसूरि के शिष्य साधुरत्न ने वि.स.-१३५६ में इस पर वृत्ति लिखी थी, जो कि ५७०० श्लोक परिमाण है। इस कृति का उल्लेख हमें जैन साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-४) में मिलता है।

प्रवचन-सारोद्धार -

इस कृति^{१०२} के रचनाकार देवभद्र के शिष्य सिद्धसेनसूरि हैं। यह ग्रन्थ महाराष्ट्री-प्राकृत-भाषा में लिखा गया है। इस कृति का काल विक्रम की १३वीं शती है। इस ग्रन्थ में १५६६ पद्य हैं तथा इसके २७६ द्वारों में विभिन्न विषयों के साथ-साथ आचारदिनकर में वर्णित कुछ विधि-विधानों एवं विषयों का भी विवेचन हुआ है; यथा- चैत्यवन्दन, वन्दनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, साधु-साध्वियों के उपकरणों की संख्या, दस प्रकार के प्रायश्चित्त, दीक्षा के अयोग्य पुरुषों, स्त्रियों एवं नपुंसकों की संख्या, श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाएँ, आर्य-अनार्य देशों के नामोल्लेख, आदि। इस प्रकार आचारदिनकर में वर्णित कुछ विधियों की आंशिक चर्चा हमें इस ग्रन्थ में भी मिलती है।

^{१०१} सवेगरंगशाला, जिनचन्द्रसूरिकृत, सं.: मुनि हेमचन्द्रविजय, पण्डित बाबूभाई सवचंद ६५५/अ, मनसुखभाई पोल, कालुपुर, अहमदाबाद.

^{१०२} प्रवचन सारोद्धार, अनु.- हेमप्रभाश्रीजी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण १९६६.

सुबोधा-सामाचारी -

सुबोधा-सामाचारी^{१०३} नामक यह कृति जैन-महाराष्ट्री प्राकृत-भाषा में निबद्ध है। यह कृति मुख्यतया गद्य में है। इस ग्रन्थ के रचनाकार श्रीचन्द्रसूरि शीलप्रभसूरि के प्रशिष्य धनेश्वरसूरि के शिष्य हैं। इनके द्वारा रचित मुनिसुव्रतस्वामी-चरित्र, आदि कृतियों के भी उल्लेख मिलते हैं।

प्रस्तुत कृति का ग्रन्थ-परिमाण १३८६ श्लोक है। इस कृति का रचनाकाल लगभग १३वीं शती का पूर्वार्द्ध है। इस ग्रन्थ को रचनाकार ने निम्न बीस द्वारों में विभाजित किया है-

पहले द्वार में सम्यक्त्वव्रत ग्रहण करने की विधि वर्णित है।

दूसरे द्वार में परिग्रह-परिमाण-विधि एवं षण्मासिक-सामायिक ग्रहण करने की विधि का निर्देश किया गया है।

तीसरे द्वार में दर्शनादि चार प्रतिमाओं को स्वीकार करने की विधि निर्दिष्ट की गई है।

चौथे द्वार में उपधान-तप की विधि एवं उपधान-प्रकरण का उल्लेख किया गया है।

पांचवें द्वार में मालारोपण (उपधान-तपवाही द्वारा माला पहनने एवं पहनाने) की विधि वर्णित है।

छठवें द्वार में इन्द्रियजयादि विविध प्रकार की तप-विधि का निरूपण किया गया है।

सातवें द्वार में साधु द्वारा करने योग्य अंतिम आराधना-विधि प्रस्तुत की गई है।

आठवें द्वार में श्रावक द्वारा की जाने योग्य अन्तिम आराधना-विधि का वर्णन है।

नौवें द्वार में प्रव्रज्या ग्रहण करने की विधि निर्दिष्ट है।

दसवें द्वार में उपस्थापना की विधि प्रज्ञप्त है।

ग्यारहवें द्वार में लूंचन करने की विधि निरूपित है।

^{१०३} सुबोधा सामाचारी, चन्द्रसूरिकृत, श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई, जैन पुस्तकोद्धार, बॉम्बे, वि.स.- १८८०.

बारहवें द्वार में प्रतिक्रमण करने की विधि अंकित है।

तेरहवें द्वार में आचार्य-पदस्थापन की विधि उल्लेखित है।

चौदहवें द्वार में उपाध्याय-पदस्थापन की विधि वर्णित है।

पन्द्रहवें द्वार में महत्तरापद पर स्थापित करने की विधि बताई गई है।

सोलहवें द्वार में गणानुज्ञा की विधि दी गई है।

सत्रहवें द्वार में योग की विधि का वर्णन है।

अठारहवें द्वार में अचित्तसंयत (मृतदेह) परिष्ठापना-विधि का उल्लेख है।

उन्नीसवें द्वार में पौषधव्रत ग्रहण करने की विधि एवं सम्यक्त्वादि की महिमा का प्रतिपादन किया गया है।

बीसवें द्वार में जिनबिंब की प्रतिष्ठा-विधि, ध्वजारोपण की विधि एवं कलशारोपण की विधि निरूपित है।

सामाचारी-प्रकरण -

सामाचारी-प्रकरण नामक यह कृति प्राकृत एवं संस्कृत मिश्रित गद्य में गुम्फित है। यह रचना किसी अज्ञात प्राचीन आचार्य द्वारा निर्मित है। यह ग्रन्थ ११६७ श्लोक-परिमाण है।

इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण विषय को २१ द्वारों में विभाजित किया गया है। प्रस्तुत कृति के २१ द्वारों का विषयानुक्रम यह है-

पहला द्वार- सम्यक्त्व-व्रत की आरोपण-विधि से सम्बन्धित है।

दूसरा द्वार- देशविरति-व्रत की आरोपण-विधि की विवेचना करता है।

तीसरा द्वार- दर्शनादि चार प्रतिमाओं को ग्रहण करने की विधि से युक्त है।

चौथा द्वार- तप-स्वरूप की विधि का विवरण प्रस्तुत करता है।

पांचवाँ द्वार- प्रतिक्रमणादि की विधि का प्रतिपादन करता है।

छठवाँ द्वार- पौषध ग्रहण करने की विधि का निरूपण करता है।

सातवाँ द्वार- प्रव्रज्या ग्रहण करने की विधि का विवेचन करता है।

आठवाँ द्वार- उपस्थापना की विधि से युक्त है।

नवाँ द्वार- काल ग्रहण करने की विधि की विवेचना से समन्वित है।

दसवाँ द्वार- योगवहन की तप-विधि का वर्णन करता है।

ग्यारहवाँ द्वार- आचार्यपद की स्थापनाविधि का उल्लेख करता है।

बारहवाँ द्वार- उपाध्यायपद की स्थापनाविधि से सम्बन्धित है।

तेरहवाँ द्वार- प्रवर्तकपद की स्थापनाविधि की प्रतिपादना करता है।

चौदहवाँ द्वार- स्थविरपद की स्थापनाविधि की चर्चा करता है।

पन्द्रहवाँ द्वार- गणावच्छेदकपद की स्थापनाविधि का प्रतिपादन करता है।

सोलहवाँ द्वार- महत्तरापद की स्थापनाविधि से समन्वित है।

सत्रहवाँ द्वार- प्रवर्तिनीपद की स्थापनाविधि को प्रस्तुत करता है।

अठारहवाँ द्वार- वाचनाचार्यपद की स्थापनाविधि का निरूपण करता है।

उन्नीसवाँ द्वार- अंतिम समय की आराधनाविधि को प्रकट करता है।

बीसवाँ द्वार- अचित्तसंयत-महापरिष्ठापना की विधि का उल्लेख करता है।

इक्कीसवाँ द्वार- जिनबिम्ब की प्रतिष्ठाविधि को निर्दिष्ट करता है।

ग्रन्थ-समाप्ति के पश्चात् परिशिष्ट के रूप में योगविधि से सम्बन्धित यंत्रादि का भी उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही नीवि संबंधी कल्प्याकल्प्य-विधि, योगविधान में प्रयुक्त होने वाली स्तुतियाँ, तीस नीवियाता, अस्वाध्याय की विधि, आदि की चर्चा भी की गई है। यह कृति अप्रकाशित है।

सामाचारी-संग्रह-

सामाचारी-संग्रह नामक यह ग्रन्थ श्रीकुलप्रभसूरि के शिष्य नरेश्वरसूरि विरचित है। यह ग्रन्थ मुख्यतः संस्कृत-भाषा में निबद्ध है, किन्तु कुछ सामग्री प्राकृत-भाषा में भी निबद्ध है। यह कृति वल्लभ नामक स्वोपज्ञटीका से युक्त है। यह नौ परिच्छेदों में विभक्त है। इस ग्रन्थ का श्लोक-परिमाण ४००० है।

इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट ५० द्वारों के नाम निम्नांकित हैं-

पहला द्वार - जिनमन्दिर के योग्य भूमि का शुभाशुभत्व।

दूसरा द्वार - कूर्मप्रतिष्ठा-विधि।

तीसरा द्वार - जिनभवन की निर्माण-विधि।

चौथा द्वार - जिनप्रतिमा के लक्षण।

पांचवाँ द्वार - जिनबिंब की प्रतिष्ठा-विधि।

छठवाँ द्वार-मिथ्यात्व का स्वरूप, मिथ्यात्व के भेद एवं उसके त्याग का उपदेशत्व।

सातवाँ द्वार - सम्यक्त्व की महिमा, स्वरूप एवं उसके त्याग का प्ररूपण।

आठवाँ द्वार - वासचूर्ण की अभिमंत्रण-विधि।

नौवाँ द्वार - सम्यक्त्वव्रत की आरोपण विधि।

दसवाँ द्वार - श्रावक-प्रतिमाओं को ग्रहण करने की विधि।

ग्यारहवाँ द्वार - उपधान की विधि।

बारहवाँ द्वार - मालारोपण की विधि।

तेरहवाँ द्वार - व्रतग्रहण, तपग्रहण-उपधान, प्रवेशादि के समय करने योग्य नंदी की विधि।

चौदहवाँ द्वार - परिग्रह-परिमाण करने की विधि।

पन्द्रहवाँ द्वार - प्रव्रज्या-ग्रहण करने की विधि।

सोलहवाँ द्वार - विहार की विधि।

सत्रहवाँ द्वार - अस्वाध्याय-स्वरूप की विधि।

अठारहवाँ द्वार - आवश्यकसूत्र की नंदी-विधि।

उन्नीसवाँ द्वार - दशवैकालिकसूत्र की नंदी-विधि।

बीसवाँ द्वार - योगोद्धहन संबंधी खमासमणा-विधि।

इक्कीसवाँ द्वार - संघट्टादि की विधि।

बाईसवाँ द्वार - उपस्थापना की विधि।

तेईसवाँ द्वार - लोचप्रवेदन (अनुमति-ग्रहण) की विधि।

चौबीसवाँ द्वार - मंडलीतप की विधि।

पच्चीसवाँ द्वार - कालग्रहण की विधि।

छब्बीसवाँ द्वार - वसतिप्रवेदन की विधि।

- सत्ताईसवाँ द्वार - कालप्रवेदन की विधि।
 अट्ठाईसवाँ द्वार - योग-उत्क्षेप की विधि।
 उनतीसवाँ द्वार - योगनिक्षेप की विधि।
 तीसवाँ द्वार - स्वाध्याय-प्रस्थापना की विधि।
 एकतीसवाँ द्वार - आचारांगादि सूत्रों की नदी-विधि।
 बत्तीसवाँ द्वार - कालसंबंधी खमासमण की विधि।
 तैंतीसवाँ द्वार - कालमंडल की विधि।
 चौतीसवाँ द्वार - अनुष्ठान की विधि।
 पैतीसवाँ द्वार - संघट्ट ग्रहण करने की विधि।
 छत्तीसवाँ द्वार - उत्संघट्ट की विधि।
 सैंतीसवाँ द्वार - आउत्तवाणय का स्वरूप।
 अड़तीसवाँ द्वार - योगवाहियों की कल्याकल्प्य-विधि।
 उनचालीसवाँ द्वार - योगवाहियों की आहार-विधि।
 चालीसवाँ द्वार - योगवाहियों के अपराध-स्थान।
 इकतालीसवाँ द्वार - संघट्ट रखने की विधि।
 बयालीसवाँ द्वार - आउत्तवाणय छोड़ने की विधि।
 तैंतालीसवाँ द्वार - सभी सूत्रों के योग, दिन, काल-संख्यादि का निरूपण।
 चवालीसवाँ द्वार - आचार्य-पदस्थापन-विधि।
 पैतालीसवाँ द्वार - उपाध्याय-पदस्थापन-विधि।
 छियालीसवाँ द्वार - महत्तरा-पदस्थापन-विधि।
 सैंतालीसवाँ द्वार - आलोचना-विधि।
 अड़तालीसवाँ द्वार - साधु की अन्तिम आराधना-विधि।
 उनचासवाँ द्वार - श्रावक की अन्तिम आराधना-विधि।
 पचासवाँ द्वार - मृतकसंयत-परिष्ठापना-विधि।

यह कृति अप्रकाशित है। कृति का रचनाकाल हमें अनुपलब्ध है।

विधिमार्गप्रपा-

यह कृति^{१०४} जिनप्रभसूरि ने प्रायः जैन-महाराष्ट्री में रची है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि.स.-१३६३ माना जाता है। यह ग्रन्थ ३५१५ श्लोक-परिमाण है। विधिमार्ग खरतरगच्छ का नामान्तर है। इस कृति में खरतरगच्छ के अनुयायियों के विधि-विधान का निर्देश है। यह रचना प्रायः गद्य में है। आदि के पद्य में यह कहा गया है कि इस ग्रन्थ में श्रावकों एवं साधुओं की सामाचारी का वर्णन है। अन्त में सोलह पद्यों की प्रशस्ति है। इसके आदि के छः पद्यों में प्रस्तुत कृति के ४१ द्वारों के नामों का उल्लेख किया गया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं-

प्रथम प्रकरण में- सम्यक्त्वारोपण की विधि बताई गई है।

द्वितीय प्रकरण में- परिग्रह के परिमाण की विधि कही गई है।

तृतीय प्रकरण में- सामायिक-आरोपण की विधि वर्णित है।

चौथे प्रकरण में- सामायिक लेने और पारने की विधि का वर्णन है।

पांचवें प्रकरण में- उपधान-निक्षेपण की विधि दर्शित की गई है।

छठवें प्रकरण में- उपधान-सामाचारी प्रवेदित की गई है।

सातवें प्रकरण में- उपधान की विधि दर्शित की गई है।

आठवें प्रकरण में- मालारोपण की विधि प्रज्ञप्त की गई है।

नौवें प्रकरण में- पूर्वाचार्यकृत उपधान, प्रतिष्ठा-पंचाशक का उल्लेख है।

दसवें प्रकरण में- पौषध की विधि कही गई है।

ग्यारहवें प्रकरण में- दैवसिक-प्रतिक्रमण की विधि का वर्णन है।

बारहवें प्रकरण में- पाक्षिक-प्रतिक्रमण की विधि निर्दिष्ट की गई है।

तेरहवें प्रकरण में- रात्रिक-प्रतिक्रमण की विधि का प्रवेदन किया गया है।

चौदहवें प्रकरण में- तप-विधि उल्लेखित है।

पन्द्रहवें प्रकरण में- नंदीरचना की विधि बताई गई है।

^{१०४} विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, सं.: विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, पुर्नमुद्रण २०००.

सोलहवें प्रकरण में- प्रव्रज्या-विधि का उल्लेख किया गया है।

सत्रहवें प्रकरण में- लोचकरण की विधि वर्णित है।

अठारहवें प्रकरण में- उपयोग-विधि का वर्णन है।

उन्नीसवें प्रकरण में- आद्यअटन की विधि का उल्लेख है।

बीसवें प्रकरण में- उपस्थापना की विधि का विवेचन है।

इक्कीसवें प्रकरण में- अनध्याय-विधि प्रस्तुत की गई है।

बाईसवें प्रकरण में- स्वाध्याय-प्रस्थापन की विधि का प्रस्तुतिकरण है।

तेईसवें प्रकरण में- योगनिक्षेप की विधि कही गई है।

चौबीसवें प्रकरण में- योग की विधि बताई गई है।

पच्चीसवें प्रकरण में- कल्पत्रेप-सामाचारी का वर्णन है।

छब्बीसवें प्रकरण में- याचना की विधि का प्रवेदन किया गया है।

सत्ताईसवें प्रकरण में- वाचनाचार्य की प्रस्थापना की विधि का उल्लेख है।

अट्ठाईसवें प्रकरण में- उपाध्याय की प्रस्थापना-विधि उल्लेखित है।

उनतीसवें प्रकरण में- आचार्य की प्रस्थापना-विधि वर्णित है।

तीसवें प्रकरण में- प्रवर्तिनी और महत्तरा की प्रस्थापना-विधि का निरूपण है।

एकतीसवें प्रकरण में- गण की अनुज्ञा-विधि निर्दिष्ट है।

बत्तीसवें प्रकरण में- अनशन की विधि दर्शित की गई है।

तेतीसवें प्रकरण में- महापरिष्ठापनिका की विधि की चर्चा है।

चौतीसवें प्रकरण में- प्रायश्चित्त-विधि का कथन किया गया है।

पैंतीसवें प्रकरण में- जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा-विधि का उल्लेख है।

छत्तीसवें प्रकरण में- स्थापनाचार्य की प्रतिष्ठा-विधि का उल्लेख है।

सैंतीसवें प्रकरण में- मुद्रा-विधि का वर्णन है।

अड़तीसवें प्रकरण में- चौसठ योगिनियों के नामोल्लेख के साथ उनका उपशम-प्रकार बताया गया है।

उन्चालीसवें प्रकरण में- तीर्थयात्रा की विधि का निरूपण है।

चालीसवें प्रकरण में- तिथि की विधि का उल्लेख है।

एकतालीसवें प्रकरण में- अंगविद्या-सिद्धि की विधि का कथन है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर इन द्वारों में वर्णित विषयों के तीन विभाग किए जा सकते हैं। १ से १२ द्वारों में मुख्यरूप से श्रावक सम्बन्धी विधि-विधान का, १३ से २६ तक के द्वारों में मुख्यरूप से साधु सम्बन्धी विधि-विधान का तथा ३० से ४१ तक के द्वारों में सामान्य रूप से श्रावक एवं साधु सम्बन्धी विधि-विधान का उल्लेख है।

इन ४१ द्वारों में से कितने ही द्वारों के उपविषय विषयानुक्रम में बताए गए हैं। प्रस्तुत कृति में कई रचनाएँ समग्रतः अथवा अंशतः संगृहीत भी की गई हैं। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के विवेच्य ग्रन्थ आचारदिनकर के लिए भी यह कृति आधारभूत रही है और लगभग इसके १०० वर्ष पूर्व निर्मित हुई है।

श्राद्धजीतकल्प -

यह कृति देवेन्द्रसूरि के शिष्य धर्मघोषसूरि ने वि.स. १३७५ में लिखी है। इसमें श्रावकों की प्रवृत्तियों का विचार किया गया है।

सामाचारी-

यह कृति^{१०५} तिलकाचार्य द्वारा विरचित है। यह ग्रन्थ मुख्यतः संस्कृत गद्यों में निबद्ध है। ये पूर्णिमागच्छीय (आगमिकगच्छ) चन्द्रप्रभसूरि के वंशज और शिष्यप्रभ के शिष्य थे। इस ग्रन्थ का श्लोक-परिमाण १४२१ है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरणरूप एक श्लोक तथा अन्त में प्रशस्तिरूप सात श्लोक हैं। पहले श्लोक में सम्यग्दर्शन, नंदी, इत्यादि विधिरूप सामाचारी का कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है। इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु को ग्रन्थकार ने निम्न ३७ अधिकारों में विभक्त किया है-

प्रथम अधिकार में देशविरतिसम्यक्त्व आरोपण, नंदी की विधि का उल्लेख है।

द्वितीय अधिकार में केवल देशविरति नंदी की विधि उल्लेखित है।

^{१०५} सामाचारी, तिलकाचार्य विरचित, शेट डाबाभाई मोकमचंद, पंजरा पोल, अहमदाबाद, वि.स. १९६०.

तृतीय अधिकार में श्रावकों के व्रतों के करोड़ों भागों (विभिन्न विकल्पों) के साथ श्रावक के व्रत और अभिग्रहों के प्रत्याख्यान की विधि निरूपित है।

चौथे अधिकार में उपासक-प्रतिमा की नंदी-विधि अंकित है।

पांचवें अधिकार में उपासक-प्रतिमाओं के अनुष्ठान की विधि प्रवेदित है।

छठवें अधिकार में उपधान-नंदी की विधि दी गई है।

सातवें अधिकार में उपधान की विधि बताई गई है।

आठवें अधिकार में मालारोपण की नंदी-विधि का उल्लेख है।

नौवें अधिकार में सामायिक ग्रहण करने की विधि प्रज्ञप्त है।

दसवें अधिकार में पौषध ग्रहण करने की विधि कही गई है।

ग्यारहवें अधिकार में सामायिक और पौषध पारने की विधि उल्लेखित है।

बारहवें अधिकार में पौषधिक-दिनकृत्य-विधि की निरूपणा है।

तेरहवें अधिकार में तपकुलक की चर्चा है।

चौदहवें अधिकार में तपयंत्र का वर्णन है।

मूलग्रन्थ में पन्द्रहवें अधिकार की विषय-सामग्री का वर्णन नहीं मिलता है।

सोलहवें अधिकार में श्रावक के प्रायश्चित्तों का यन्त्र वर्णित है।

सत्रहवें अधिकार में प्रव्रजना (प्रव्रज्या)-विधि का उल्लेख है।

अठारहवें अधिकार में लोचप्रवेदन (अनुमति) की विधि कही गई है।

उन्नीसवें अधिकार में उपस्थापना-विधि बताई गई है।

बीसवें अधिकार में उपस्थापना की कथा प्रवेदित की गई है।

इक्कीसवें अधिकार में रात्रिक-दैवसिक-पाक्षिक-प्रतिक्रमण से युक्त साधु की दिनचर्या-विधि का उल्लेख है।

बाईसवें अधिकार में योग-उत्क्षेप एवं निक्षेपपूर्वक नंदी-विधि का वर्णन किया गया है।

तेईसवें अधिकार में योग अनुष्ठान की विधि कही गई है।

चौबीसवें अधिकार में योगतप-विधि उल्लेखित है।
 पच्चीसवें अधिकार में (योग) काल, खमासमण की विधि वर्णित है।
 छब्बीसवें अधिकार में सर्वयोगियों के कल्प्याकल्प्य-विधि का वर्णन है।
 सत्ताईसवें अधिकार में एषणा-उपहनन का उल्लेख किया गया है।
 अट्ठाईसवें अधिकार में अनध्याय की विधि बताई गई है।
 उनतीसवें अधिकार में कालग्रहण की विधि का वर्णन है।
 तीसवें अधिकार में वसति एवं काल के प्रवेदन की विधि बताई गई है।
 एकतीसवें अधिकार में स्वाध्याय-प्रस्थापन की विधि कही गई है।
 बत्तीसवें अधिकार में कालमंडल के प्रतिलेखन की विधि दर्शित की गई है।

तैंतीसवें अधिकार में वाचनाचार्य-पदस्थापना की विधि बताई गई है।
 चौतीसवें अधिकार में वाचनाचार्य-विद्यायंत्रलेखन की विधि का उल्लेख है।
 पैंतीसवें अधिकार में आचार्यपद-प्रतिष्ठा की विधि प्ररूपित है।
 छत्तीसवें अधिकार में उपाध्यायपद-प्रतिष्ठा की विधि वर्णित है।
 सैंतीसवें अधिकार में महत्तरा-पदस्थापना की विधि वर्णित है।

प्रसंगानुसार इस ग्रन्थ में वर्धमानविद्या, संस्कृत के छः श्लोकों का चैत्यवंदन, मिथ्यात्व के हेतुओं का निरूपण करने वाली आठ गाथाएँ, उपधानविधि-विषयक पैंतालीस गाथाएँ, तप के बारे में पच्चीस गाथाओं का कुलक, संस्कृत के छत्तीस श्लोकों में रोहिणी की कथा, तैंतीस आगमों के नाम, आदि बातें भी आती हैं।

सामाचारी-शतक -

इस कृति की रचना रुद्रपल्लीगच्छीय सोमसुन्दर गणी (१४१५-२१) ने की है। इस ग्रन्थ के सौ अधिकार हैं, जो पाँच प्रकाशों में विभक्त हैं। यह ग्रन्थ मुख्यरूप से गद्य में है। आचारदिनकर में वर्णित कुछ विषयों की चर्चा हमें इस ग्रन्थ में भी उपलब्ध होती है, यथा-प्रतिक्रमण की विधि, योगोपधान की विधि, पौषधग्रहण करने की विधि, प्रव्रज्या-विधि, उपधान-विधि, आदि। इस कृति का उल्लेख हमें जैन-साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-४) में मिलता है।

यतिसामाचारी -

वि.स. १४१२ में पार्श्वनाथ-चरित्र के रचयिता श्री भावदेवसूरि ने यतिसामाचारी (यतिदिनचर्या) का संकलन किया है।^{१०६} इस ग्रन्थ में १५४ गाथाएँ हैं। आचारदिनकर की भाँति ही इसमें भी जैन-साधुओं की दिनचर्या में प्रभातकालीन-जागरण से लेकर संस्तारक तक की विधि का उल्लेख मिलता है।

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर-

इस कृति^{१०७} के कर्ता रुद्रपल्ली शाखा के अभयदेवसूरि (तृतीय) के शिष्य वर्धमानसूरि हैं। यह कृति संस्कृत एवं प्राकृत-भाषा में निबद्ध है। इस ग्रन्थ का श्लोक-परिमाण १२५०० है। इस कृति का रचनाकाल वि.स.-१४६८ है। इस ग्रन्थ में गृहस्थ, मुनि एवं गृहस्थ तथा मुनि के आचार सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। इसमें कुल चालीस उदय या अध्ययन हैं। प्रथम खण्ड में गृहस्थ के षोडश संस्कारों का एवं मुनिजीवन के षोडश संस्कारों का उल्लेख है तथा दूसरे खण्ड में गृहस्थ एवं मुनि द्वारा किए जाने वाले आठ सामान्य विधि-विधानों की चर्चा है।

प्रस्तुत कृति के ४० उदयों में जिन विधि-विधानों की चर्चा है, उनके नाम इस प्रकार हैं-

(अ) गृहस्थ के षोडश संस्कार (ब) मुनि के षोडश संस्कार(स) मुनि एवं गृहस्थ सम्बन्धी आठ संस्कार

- | | | |
|------------------------------|------------------------------|----------------------|
| १. गर्भाधान-संस्कार | १. ब्रह्मचर्यव्रत-ग्रहण-विधि | १. प्रतिष्ठा-विधि |
| २. पुंसवन-संस्कार | २. क्षुल्लक-विधि | २. शान्तिक-कर्म |
| ३. जातकर्म-संस्कार | ३. प्रव्रज्या-विधि | ३. पौष्टिक-कर्म |
| ४. सूर्य-चन्द्रदर्शन-संस्कार | ४. उपस्थापना-विधि | ४. बलिविधान |
| ५. क्षीराशन-संस्कार | ५. योगोद्धहन-विधि | ५. प्रायश्चित्त-विधि |
| ६. षष्ठी-संस्कार | ६. वाचनाग्रहण-विधि | ६. आवश्यक-विधि |
| ७. शुचिकर्म-संस्कार | ७. वाचनानुज्ञा-विधि | ७. तप-विधि |
| ८. नामकरण-संस्कार | ८. उपाध्याय-पदस्थापन-विधि | ८. पदारोपण-विधि |
| ९. अन्नप्राशन-संस्कार | ९. आचार्य-पदस्थापन-विधि | |

^{१०६} यतिसामाचारी, (यतिदिनचर्या), विजयजिनेन्द्रसूरि, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबाबल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र), प्रथम संस्करण : १९६७.

^{१०७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

| | |
|------------------------|---|
| १०. कर्णविध-संस्कार | १०. प्रतिमा-उद्वहन-विधि |
| ११. चूड़ाकरण-संस्कार | ११. व्रतिनीव्रतदान-विधि (साध्वी की प्रव्रज्या-विधि) |
| १२. उपनयन-संस्कार | १२. प्रवर्तिनी-पदस्थापन-विधि |
| १३. विद्यारम्भ-संस्कार | १३. महत्तरा-पदस्थापन-विधि |
| १४. विवाह-संस्कार | १४. अहोरात्रिचर्या-विधि |
| १५. व्रतारोपण-संस्कार। | १५. ऋतुचर्या-विधि |
| १६. अन्त्य-संस्कार | १६. अन्त-संलेखना-विधि |

ग्रन्थ के अन्त में “व्यवहार परमार्थ” शीर्षक के माध्यम से संस्कारों के प्रयोजनों को अभिव्यक्त किया गया है तथा इसके बाद ग्रन्थ-प्रशस्ति दी गई है। यहाँ मात्र इस ग्रन्थ की सामान्य जानकारी देते हुए चालीस उदयों का नामोल्लेख किया गया है, इनका विस्तृत वर्णन हमने अग्रिम तृतीय अध्याय “वर्धमानसूरि का व्यक्तित्व” में किया है।

आचारदिनकर से परवर्ती संस्कारों से सम्बन्धित श्वेताम्बर-परम्परा का साहित्य-

प्रतिष्ठाकल्प-

इस कृति^{१०८} के कर्ता हीरविजयसूरि के शिष्य सकलचन्द्रगणी हैं। यह कृति संस्कृत-भाषा में निबद्ध है। गंधकार ने यह कृति प्राचीन आचार्यों द्वारा विरचित प्रतिष्ठाकल्पों का आधार लेते हुए बनाई है। यह उल्लेख ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के अन्त में किया है। इस ग्रन्थ में जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा एवं पूजाविधि का उल्लेख है। इस कृति का रचनाकाल वि.स. १६३० है।

कल्याणकलिका-

यह कृति तपागच्छीय श्री विजयसिद्धसूरि के प्रशिष्य पं. कल्याणविजयगणि द्वारा रचित है। उपलब्ध कृति स्वोपज्ञ गुजराती-भाषा की टीका सहित है। यह ग्रन्थ दो भाग में विभक्त है। प्रथम खण्ड^{१०९} में प्रतिष्ठा-पद्धति की चर्चा की गई है तथा द्वितीय खण्ड^{११०} में प्रतिष्ठा-विधि का उल्लेख है।

^{१०८} प्रतिष्ठाकल्प, सकलचन्द्रगणीकृत, सेठ नेमचन्द मेलापचंद झवेरी, जैनवाड़ी, उपाश्रय ट्रस्ट, गोपीपुरा, सुरत, वि. स. २०४२.

^{१०९} कल्याणकलिका, (प्रथम भाग), श्री कल्याणविजयजी शास्त्रसंग्रह समिति, जालोर (राज.), द्वितीय आवृत्ति १९८७.

^{११०} कल्याणकलिका, (द्वितीय भाग), श्री कल्याणविजयजी गणिवर, श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर मूर्ति पूजक संघ चिकपेट, बैंगलोर, प्रकाशन वर्ष वि.स. २०५१.

श्री सप्तोपधान-विधि-

यह कृति^{१११} मुनि मंगलसागरजी द्वारा संकलित की गई है। इस कृति का संकलन वि.स. १६४७ में हुआ है। यह कृति-संकलन की दृष्टि से अर्वाचीन है, किन्तु इसमें प्रतिपादित उपधान की विधि प्राचीन ग्रन्थों, यथा- विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर, सामाचारीशतक, आदि के आधार पर दी गई है। यह कृति संस्कृत-गद्य में है। इस प्रकार हमें आचारदिनकर के व्रतारोपण-संस्कार में निहित उपधान-विधि की भाँति ही सप्तोपधान की विधि का उल्लेख मिलता है।

जैन-संस्कार, रीति-रिवाज एवं जैनविवाह-विधि -

यह पुस्तक एम.पी.जैन द्वारा वि.स. १६६७ नागपुर में संकलित की गई है। यह पुस्तक सामग्री एवं आकार की दृष्टि से परम उपयोगी है। इसमें जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जितने विधि-विधान एवं संस्कार सम्पन्न किए जाते हैं, वे सभी जैन-पद्धति के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं।

प्रस्तुत कृति के अन्त में प्रशस्तिरूप छः श्लोक दिए गए हैं, उससे ज्ञात होता है कि खरतरगच्छीय जिनकीर्तिसूरि के प्रशिष्य उपाध्याय श्री सुखसागर के शिष्य मुनिमंगलसागर द्वारा प्रस्तुत कृति विधिमार्गप्रपादि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार संकलित की गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस कृति के मुख्य संकलनकर्ता मुनिमंगलसागरजी हैं। मुख्यतः इसमें दो प्रकार के विधि-विधान दिए गए हैं- प्रथम प्रकार के विधि-विधान सोलह संस्कारों से सम्बन्धित हैं एवं दूसरे प्रकार के विधि-विधान में भी हमें आचारदिनकर से सम्बन्धित संस्कारों का उल्लेख मिलता है, यथा- गर्भाधानसंस्कार, न्हावण-विधि (शुचिसंस्कार या जातकर्म), आदि।

श्री बृहद्योग-विधि-

आचार्य देवेन्द्रसागरसूरिजी द्वारा संपादित यह पुस्तक गुजराती में है।^{११२} यह भी एक संकलित कृति है। इस कृति में सूत्रों के योगोद्धहन की क्रिया के अतिरिक्त दीक्षाविधि, पदस्थापना-विधि, उपस्थापना-विधि से सम्बन्धित योगों एवं अनुष्ठानों की भी चर्चा है। इस पुस्तक के अन्त में योगचर्या के सिवाय साधु की कालधर्म-विधि एवं उपधान-विधि का भी उल्लेख किया गया है।

^{१११} श्री सप्तोपधान विधि, संकलनकर्ता-मुनिमंगलसागर, जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, सूरत, वि.स. २००६.

^{११२} श्री बृहद्योग-विधि, सं. आचार्य देवेन्द्रसागरसूरि, श्री उमेदखान्ति जैन ज्ञान मंदिर, झीशुवाड़ा, १९८४.

दीक्षायोग-विधि-

यह भी संकलित की गई कृति है।^{११३} इसका सम्पादन योगीराज शान्तिविमलगणी ने किया है तथा यह प्राचीन गुजराती भाषा में निबद्ध है। इस कृति में तपागच्छीय-परम्परानुसार विधियों का संग्रह किया गया है। इस ग्रन्थ में निम्न विधि-विधानों का उल्लेख है- दीक्षा ग्रहण करने की विधि, उपस्थापना-विधि, व्रतोच्चारण-विधि। इसमें सम्यक्त्वारोपण, ब्रह्मचर्य-व्रतारोपण, बीसस्थानक-तप, ज्ञानपंचमी-तप, रोहिणी-तप, मौन एकादशी-तप, बारहव्रत, आदि तपों एवं व्रतों को ग्रहण करने की विधि, लोच करने की विधि, आवश्यकसूत्र के योग की विधि, दशवैकालिकसूत्र के योग एवं मांडलीयोग सम्बन्धी यंत्र (कोष्ठक) भी दिए गए हैं। उपर्युक्त सभी विषयों की चर्चा हमें आचारदिनकर में भी मिलती है।

उपधान-विधि-

यह एक संकलित कृति है।^{११४} इसका संयोजन तपागच्छीय रामचन्द्रसूरिजी के शिष्य पंन्यास श्री कान्तिविजयजी गणि ने किया है। यह कृति गुजराती में रचित है। इसमें जीतव्यवहार के अनुसार उपधान-विधि वर्णित की गई है। आचारदिनकर के व्रतारोपण-संस्कार में भी इस विषय का उल्लेख मिलता है।

विधिसंग्रह-

पू. प्रबोधसागरजी के शिष्य पू. प्रमोदसागरसूरिजी द्वारा संगृहीत यह कृति^{११५} गुजराती में रचित है। इसमें दीक्षा संबंधी, योगवहन संबंधी, पदप्रदान संबंधी एवं व्रत-तप-ग्रहण संबंधी विधियों का उल्लेख है।

इस प्रकार की संकलित कृतियाँ अन्य भी प्रकाशित हुई हैं। उन सभी कृतियों का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि प्रायः इन पृथक्-पृथक् संस्करणों में अपनी-अपनी परम्परा या समुदाय की अपेक्षा आंशिक परिवर्तन देखे जाते हैं, किन्तु मूलभूत आधार विधिमागप्रपा और आचारदिनकर का ही प्रतीत होता है।

^{११३} दीक्षायोग विधि, सं.: शान्तिविमलगणि, श्री अमृत-हिम्मत-शान्तिविमलजी, जैनग्रन्थमालावती, श्री जसवंतलाल निरधरलाल शाह, कुबेरनगर, अहमदाबाद, वि.स. २०१८.

^{११४} उपधान विधि, संयोजन पंन्यास श्रीकान्तिविजयजी, श्री सिहोर जैन संघ-ज्ञानखाता, वि.स. २५०२

^{११५} विधिसंग्रह, संकलनकर्ता: प्रमोदसागरसूरि, आगमोच्चारक ज्ञानशाला, एम.एम. जैन सोसायटी, वरसोडानी चाल, साबरमती, अहमदाबाद.

श्राद्धसंस्कारकुमुदेन्दु (पूर्वार्द्ध)-

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर एवं शान्तिविजयजीकृत जैनसंस्कार-विधि से उद्धृत श्राद्धसंस्कारकुमुदेन्दु पूर्वार्द्ध^{१९६} का हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन साध्वी श्री सुज्ञानश्रीजी ने किया है। इस कृति के अन्तर्गत गर्भाधान, पुंसदन, आदि संस्कारों का उल्लेख मिला है। इस कृति में आचारदिनकर के मूल श्लोकों या गाथाओं को लेकर ही बात कही गई है, अतः इस विषय में ज्यादा कुछ कहना पिष्टपेषण ही होगा।

श्री तपोरत्न महोदधि -

यह एक संकलित कृति है।^{१९७} इस कृति के संपादक तपागच्छीय पंन्यास श्री जिनेन्द्रविजयजी हैं। इस कृति का मुख्य आधार भी आचारदिनकर, विधिमार्गप्रपा, आदि ग्रन्थ रहें हैं। इस कृति के प्रथम भाग में वर्णित ८८ तप आचारदिनकर में से उद्धृत हैं। इस कृति का ही हिन्दी अनुवाद करके, चाँदमलसीपाणी ने उसे तपरत्नाकर के रूप में प्रस्तुत किया है।



^{१९६} श्राद्धसंस्कार कुमुदेन्दु पूर्वार्द्ध, श्रीमान् बसंतीलालजी कोचर, हीगणघाट, प्रथम संस्करण, वि.स. १९५४.

^{१९७} तपोरत्न महोदधि, सं.: जिनेन्द्रविजयजी, श्री हर्षपुष्पामृत जैनग्रंथमाला, लाखावाबल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र), प्रथम आवृत्ति १९८२.

अध्याय-३

वर्धमानसूरि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

वर्धमानसूरि का व्यक्तित्व परिचय

प्रस्तुत कृति के रचनाकार अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि हैं। अभयदेवसूरि और वर्धमानसूरि जैसे प्रसिद्ध नामों को देखकर सामान्यतः चन्द्रपुरीय वर्धमानसूरि एवं नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि का स्मरण हो आता है, किन्तु आचारदिनकर के कर्ता वर्धमानसूरि इनसे भिन्न हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में वर्धमानसूरि नाम के अनेक आचार्य हुए हैं, अतः यह संशय होना स्वाभाविक है कि इस कृति के रचनाकार वर्धमानसूरि कौन हैं? खरतरगच्छ के संस्थापक जिनेश्वरसूरि के गुरु भी वर्धमानसूरि थे। इनका काल विक्रम की (दसवीं-ग्यारहवीं) शती माना जाता है। नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि (प्रथम) के शिष्य के रूप में भी वर्धमानसूरि का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने आदिनाथ-चरित्र की रचना की थी और जिनका काल विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शती माना जाता है। इसी प्रकार गोविन्दसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि का भी उल्लेख मिलता है, जो सटीक “गणरत्न महोदधि” के कर्ता हैं। उनका काल विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शती माना जाता है। इसी श्रेणी में “वासुपूज्य-चरित्र” के लेखक वर्धमानसूरि का भी उल्लेख मिलता है, जिनका काल विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शती माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में ग्रन्थ-प्रशस्ति के बिना इसके वास्तविक कर्ता कौन थे?— यह पता करना अत्यन्त जटिल कार्य होता, परन्तु रचनाकार वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर की अन्तिम प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपनी सम्पूर्ण वंश-परम्परा का उल्लेख करते हुए अपने को खरतरगच्छ की रुद्रपल्ली-शाखा के अभयदेवसूरि का शिष्य बताया है। ग्रन्थ-प्रशस्ति में उन्होंने जो अपनी गुरु-परम्परा सूचित की है, वह इस प्रकार है^{११८}—

^{११८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण: १९२२.

आचार्य हरिभद्रसूरि
 ↓
 देवचन्द्रसूरि
 ↓
 नेमीचन्द्रसूरि
 ↓
 वर्धमानसूरि
 ↓
 जिनेश्वरसूरि
 ↓
 अभयदेवसूरि (प्रथम)
 ↓
 जिनवल्लभसूरि

इसके पश्चात् उन्होंने रुद्रपल्ली-शाखा की स्थापना को बताते हुए उसकी आचार्य परम्परा निम्न प्रकार से दी है-

जिनशेखरसूरि (रुद्रपल्ली के संस्थापक)

↓
 पद्मचन्द्रसूरि

↓
 विजयचन्द्रसूरि

↓
 अभयदेवसूरि (द्वितीय)
 (१२वीं-१३वीं शती)

↓
 देवभद्रसूरि

↓
 प्रभानन्दसूरि
 (वि.स. १३११)

↓
 श्रीचन्द्रसूरि
 (वि.स. १३२७)

↓
 जिनभद्रसूरि

↓
 जगत्तिलकसूरि

↓
 गुणचन्द्रसूरि
 (१४१५-२१)

↓
 अभयदेवसूरि (तृतीय)

↓
 जयानन्दसूरि

↓
 वर्धमानसूरि (द्वितीय)

(वि.स. १४६४/ई.स. १४१२) आचारदिनकर के कर्ता

प्रस्तुत कृति में वर्धमानसूरि ने जो अपनी गुरु-परम्परा दी है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे खरतरगच्छ की रुद्रपल्ली-शाखा से सम्बन्धित थे। रुद्रपल्ली-शाखा का उद्भव खरतरगच्छ से ही हुआ है। यही कारण है कि हमें रुद्रपल्ली-गच्छ की स्वतंत्र रूप से कोई पट्टावली नहीं मिलती है। इस शाखा के प्रथम आचार्य श्री जिनशेखरसूरि थे, जो आचार्य जिनवल्लभसूरि के गुरुभ्राता थे। “खरतरगच्छ के बृहत् इतिहास”⁹⁶ में जिनशेखरसूरि को जिनवल्लभसूरि का शिष्य बताया है। जिनवल्लभसूरि के स्वर्गवास के बाद वह जिनदत्तसूरि के आज्ञानुवर्ती हो गए। किन्तु जिनदत्तसूरि ने रासलनन्दन को वि. स. १२०३ में अजमेर में दीक्षा देकर अल्पावस्था में ही वि. स. १२०५ वैशाख सुदी ६ को विक्रमपुर में आचार्य पद प्रदान कर जिनचन्द्रसूरि नाम घोषित किया, अर्थात् उन्हें अपने पट्ट पर स्थापित किया। सम्भावना यह है कि इससे रुष्ट होकर जिनशेखरसूरि उनसे पृथक् हो गए और उन्होंने रुद्रपल्ली-शाखा की स्थापना की और रुद्रपल्ली को ही अपना विचरण-केन्द्र बना लिया। रुद्रपल्ली-शाखा का उद्भव वस्तुतः लखनऊ और अयोध्या के मध्यवर्ती रुद्रपल्ली नामक नगर में हुआ और इसीलिए इसका नाम रुद्रपल्ली पड़ा। वर्तमान में भी यह स्थान रूदौली के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है, कि रुद्रपल्ली-शाखा स्वतंत्र गच्छ न होकर खरतरगच्छ का ही एक विभाग था। खरतरगच्छ-परम्परा में अभयदेवसूरि तीन हुए तथा वर्धमानसूरि दो हुए, किन्तु ग्रन्थ-प्रशस्ति के अनुसार प्रस्तुत कृति के कर्ता वर्धमानसूरि (द्वितीय) अभयदेवसूरि (तृतीय) के शिष्य ही हैं। यह तो इस कृति के कर्ता के सम्बन्ध में सामान्य चर्चा हुई अब हम उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं।

वर्धमानसूरि के व्यक्तित्व का परिचय वस्तुतः उनकी कृति आचारदिनकर से ही हो जाता है। संस्कारों को इस प्रकार वही व्यक्ति निरूपित कर सकता है, जो इसके महत्व एवं गूढ़ता को समझ सकता हो। वस्तुतः, इस कृति में उन्होंने इतनी सहजता एवं सरलता से गृहस्थ एवं मुनि-जीवन के आवश्यक संस्कारों का प्रणयन किया है, जिससे ऐसा लगता है कि वे स्वयं इन संस्कारों के विधि-विधान के ज्ञाता थे। उनके गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनकी रचना, उनकी गुरु-परम्परा एवं उनके धर्म-परिवार से हम उनके व्यक्तित्व का आंकलन कर सकते हैं। उनकी परम्परा में अनेक विद्वानाचार्य हुए हैं। साहित्यिक-दृष्टि से रुद्रपल्ली-शाखा के आचार्यों द्वारा अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। अभयदेवसूरि (द्वितीय) द्वारा “जयन्तविजय महाकाव्य” वि. स.

⁹⁶ खरतरगच्छ का बृहत् इतिहास, महोपाध्याय विनयसागर, पृ.-२६१, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २००४.

१२७८ में रचा गया। अभयदेवसूरि (द्वितीय) के पट्टधर देवभद्रसूरि के शिष्य तिलकसूरि ने “गौतमपृच्छावृत्ति” की रचना की है। उनके पश्चात् प्रभानंदसूरि ने “ऋषभपंचाशिकावृत्ति” और “वीतरागवृत्ति” की रचना की। इसी क्रम में आगे संघतिलकसूरि हुए, जिन्होंने “सम्यक्तव-सप्ततिटीका”, “वर्धमान-विद्याकल्प”, “षट्दर्शन-समुच्चयवृत्ति” की रचना की। इनके द्वारा रचित ग्रंथों में वीरकल्प, कुमारपाल-चरित्र, शीलतरंगिनीवृत्ति, कन्यानयन महावीर-प्रतिमाकल्प, आदि कृतियाँ भी मिलती हैं। उनकी कृति एवं उनकी गुरुपरम्परा से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे भी एक प्रभावक जैनाचार्य थे। दूसरे, जब हम उनके गुरुभ्राताओं और उनके धर्म-परिवार को देखते हैं, तो स्पष्ट रूप से यही प्रतीत होता है कि वे सभी अपने युग के विशिष्ट विद्वान् रहें हैं। प्रस्तुत कृति के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि वर्धमानसूरि संस्कृत-भाषा एवं साहित्य के विशिष्ट जानकार थे। उन्होंने अपनी इस कृति में जगह-जगह आगमों के सन्दर्भ भी प्रस्तुत किए हैं, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनको आगमों का भी विशिष्ट ज्ञान था। वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में न केवल आगमों के ही सन्दर्भ दिए हैं, वरन् अन्य परम्पराओं के ग्रन्थों के भी सन्दर्भ प्रस्तुत किए हैं, जो यह प्रमाणित करते हैं कि उन्होंने जैनेतर-साहित्य का भी अध्ययन किया था। इस प्रकार यह कृति स्वयं ही उनकी विद्वत्ता को उजागर कर देती है। लगभग १२५०० संस्कृत-प्राकृत गाथाओं से निबद्ध यह कृति उनके गंभीर अध्ययन का ही परिणाम है।

वर्धमानसूरि का सत्ताकाल-

वर्धमानसूरि का सम्पूर्ण सत्ताकाल कितना था? इसका निर्णय कर पाना कठिन कार्य है, क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसका अनुमान मात्र इनकी इसी कृति के आधार पर किया जा सकता है। आचारदिनकर १२५०० श्लोकों से निबद्ध एक बृहत्काय कृति है। ऐसा लगता है कि यह कृति उनकी प्रौढ़-अवस्था की रचना होगी। इसके लेखन-कार्य में उनके गुरुभ्राता जयानंदसूरि के शिष्य तेजःकीर्तिमुनि का सदैव सहयोग रहा है। वस्तुतः, इसका संशोधन रचनाकार ने स्वयं ही किया होगा-ऐसा प्रतीत होता है। यह कृति विक्रम संवत् १४६८ में पूर्ण हुई, इस आधार पर उनका सत्ताकाल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी सिद्ध होता है। यदि इसे उनकी प्रौढ़-अवस्था की कृति माना जाए, तो उनका जन्म विक्रम संवत् १४१० के आस-पास हुआ होगा। इस प्रकार उनका सत्ताकाल विक्रम की पन्द्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध से लेकर उसका उत्तरार्द्ध सिद्ध होगा।

वर्धमानसूरि की जीवन-रेखा-

वर्धमानसूरि के सांसारिक-जीवन के बारे में कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं है, अतः वर्धमानसूरि के माता-पिता कौन थे? वे किस नगर में जन्मे थे? इस सम्बन्ध में कुछ भी कह पाना संभव नहीं है। ग्रन्थ-प्रशस्ति से भी हमें इस सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनका जन्म रुद्रपल्ली-शाखा के प्रभावक्षेत्र में ही कहीं हुआ होगा। ग्रन्थ की प्रशस्ति में यह तो उल्लेख मिलता है कि प्रस्तुत कृति जालंधर नगर के नंदनवन गाँव में अनंतपाल राजा के राज्य में विक्रम संवत् १४६८ में पूर्ण हुई थी। जालंधर नगर सम्भवतः वर्तमान में पंजाब में जो जालंधर नगर है, वही हो सकता है। इस प्रकार ग्रन्थप्रशस्ति में जिस स्थान का उल्लेख है, उससे यह सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ की रचना पंजाब में हुई है। इस प्रकार जालंधर (पंजाब) में ग्रन्थ-रचना करने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके विचरण और स्थिरता का क्षेत्र पंजाब और हरियाणा रहा होगा। राजस्थान, पंजाब, हरियाणा और उत्तरप्रदेश एक समय तक खरतरगच्छीय-आचार्यों एवं यतियों के मुख्य प्रभावक्षेत्र रहे हैं। देराउर, जो वर्तमान में पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में है, दादा जिनकुशलसूरि का स्वर्गवास-स्थल है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता का जन्मस्थल भी इसी क्षेत्र में कहीं रहा होगा-विशेष सम्भावना पंजाब या हरियाणा की है। इनके गुरु अभयदेवसूरि (तृतीय) द्वारा दीक्षित होने के सम्बन्ध में भी किसी प्रकार की कोई शंका नहीं की जा सकती है, किन्तु इनकी दीक्षा कब और कहाँ हुई, जानकारियों के अभाव में इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना संभव नहीं है।

इस प्रकार इस कृति के कर्ता के कृतित्व का हम उपलब्ध जानकारियों से ही आंकलन कर सकते हैं।

वर्धमानसूरि का कृतित्व-

आचारदिनकर के कर्ता वर्धमानसूरि प्रखर विद्वान् आचार्य थे, इसमें कोई दो मत नहीं हैं। आचारदिनकर के अतिरिक्त उनकी अन्य कृति के सम्बन्ध में भी हमें उल्लेख मिलते हैं। “जिनरत्नकोश” एवं “जैन-साहित्य का बृहत् इतिहास” (भाग-५) के अनुसार “स्वप्नप्रदीप” अपर नाम “स्वप्नविचार”, के कर्ता भी रुद्रपल्लीगच्छ के आचार्य वर्धमानसूरि ही हैं।^{१२०} इसके अतिरिक्त वर्धमानसूरि के नाम से अन्य कृतियों का भी उल्लेख मिलता है। इन कृतियों की चर्चा हम नीचे विस्तार से करेंगे-

^{१२०} (अ) जिनरत्नकोश, भाग-१, पृ.-२६१, (ब) जैन-साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-५, पृ.-२१०.

१. स्वप्न-प्रदोष-

इस ग्रन्थ में चार उद्योत हैं। इन चारों ही उद्योत में स्वप्नविचार का उल्लेख किया गया है। इस कृति में १६२ श्लोक हैं, जो चार उद्योत में विभाजित हैं। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

१. प्रथम उद्योत-

इस उद्योत में ४४ श्लोक हैं। इन ४४ श्लोकों में ग्रन्थकार ने "दैवत-स्वप्नविचार" का प्रस्तुतिकरण किया है।

२. द्वितीय उद्योत-

इस उद्योत में (४५-८०) ३६ श्लोक हैं। इन ३६ श्लोकों में 'द्वासप्तति', अर्थात् बहत्तर महास्वप्नों का उल्लेख है।

३. तृतीय उद्योत-

इस उद्योत में (८०-११२) ४२ श्लोक हैं। इन ४२ श्लोकों में लेखक ने शुभस्वप्नों का प्रतिपादन किया है।

४. चौथा उद्योत-

इस उद्योत में (१२३-१६२) ४० श्लोक हैं। इन ४० श्लोकों में अशुभ स्वप्नों का उल्लेख किया गया है।

यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। "जैन-साहित्य का बृहत् इतिहास" में इस कृति के रचनाकाल का उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भवतः, इस कृति के रचनाकार भी आचारदिनकर के कर्ता वर्धमानसूरि ही होना चाहिए, क्योंकि जहाँ तक हमारी जानकारी है, रुद्रपल्ली-शाखा में वर्धमानसूरि नाम के एक ही आचार्य हुए हैं।

प्रतिष्ठाविधि-

जिनरत्नकोश में वर्धमानसूरिकृत "प्रतिष्ठाविधि" नामक ग्रन्थ की सूचना मिलती है।^{१२} सम्भावना यह हो सकती है कि आचारदिनकर के प्रतिष्ठा उदय को ही एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में "प्रतिष्ठाविधि" के नाम से जाना गया हो।

^{१२} जिनरत्नकोश, भाग-१, पृ.-४५८.

शकुनरत्नावली (कथा-कोश)-

इसके अतिरिक्त जिनरत्नकोश में अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरिकृत कथाकोश, अपरनाम शकुनरत्नावली^{१२२} का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु कर्ता का समय ज्ञात नहीं होने के कारण यह संशय का विषय है कि यह कृति बारहवीं शती के वर्धमानसूरि की है, या पन्द्रहवीं शती के रुद्रपल्ली-शाखा के वर्धमानसूरि की। चूँकि इन दोनों के गुरु के रूप में अभयदेवसूरि का नामोल्लेख मिलता है, इसलिए सम्यक् सूचनाओं के अभाव में यह निश्चय कर पाना कठिनतम कार्य है कि यह बारहवीं शती के वर्धमानसूरि हैं, या पन्द्रहवीं शती के। आचारदिनकर एवं स्वप्नप्रदीप ग्रन्थ में ज्योतिष सम्बन्धी पर्याप्त चर्चा मिलती है। शकुनरत्नावली में भी ज्योतिष सम्बन्धी चर्चा होने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह कृति भी रुद्रपल्लीगच्छ के वर्धमानसूरि की ही होना चाहिए।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त हमें रुद्रपल्लीगच्छ के वर्धमानसूरिकृत अन्य कृतियों का उल्लेख नहीं मिलता है। जहाँ तक मेरा विचार है, इतने विद्वानाचार्य की आचारदिनकर, स्वप्नप्रदोष (स्वप्नविचार), शकुनरत्नावली (कथाकोश) ही कृतियाँ होंगी-यह सम्भव नहीं है। उनकी अन्य कृतियाँ भी होंगी। उनकी इन कृतियों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उनके पास अगाध ज्ञान था, जिसके आधार पर उन्होंने अन्य कृतियों की रचना की होगी, किन्तु जानकारियों के अभाव में हम उस सम्बन्ध में कुछ कह पाने में समर्थ नहीं हैं।

अब हम वर्धमानसूरिकृत कृतियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के आधारभूत ग्रन्थ आचारदिनकर में वर्णित विषय-सामग्री की चर्चा करेंगे।

आचारदिनकर और उसकी विषयवस्तु-

प्रस्तुत कृति के कर्ता रुद्रपल्ली-शाखा के अभयदेवसूरि (तृतीय) के शिष्य वर्धमानसूरि हैं। यह कृति संस्कृत एवं प्राकृत-भाषा में निबद्ध है। अनुष्टुप छंदों की अपेक्षा से इस ग्रन्थ का श्लोक-परिमाण १२५०० है।^{१२३} इस कृति का रचनाकाल विक्रम संवत् १४६८ तदनुसार ई. १४१२ है।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने दस श्लोकों के माध्यम से मंगलाचरण किया है। प्रथम दो श्लोकों में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तुति कर उन्हें नमस्कार किया गया है। तृतीय श्लोक के माध्यम से सर्वज्ञ देव को नमस्कार

^{१२२} (i) जिनरत्नकोश, भाग-१, पृ.-६५, (ii) जिनरत्नकोश, भाग-१, पृ.-३६८.

^{१२३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

किया गया है। चौथे श्लोक में परमात्मपद की प्राप्ति करने वाली आत्माओं को नमस्कार किया गया है। पांचवें श्लोक में जिनवाणी की स्तुति कर उसे नमस्कार किया गया है। छठवें श्लोक में अम्बिकादेवी का गुणगान कर उन्हें नमस्कार किया गया है। सातवें एवं आठवें श्लोक में गुरु की महिमा का बखान करके उन्हें नमन किया गया है। अन्तिम दो श्लोकों में ग्रन्थकार ने ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र्य को कैवल्य का कारण बताकर आदिजिन, अर्थात् ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित आचारमार्ग को प्रमाणरूप माना है।

ग्रन्थ के अंत में विस्तृत ग्रन्थप्रशस्ति भी मिलती है, जिसमें ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए, इस ग्रन्थ में सहायभूत मुनियों का भी उल्लेख किया है। इसके साथ ही इस ग्रन्थप्रशस्ति में ग्रन्थ के रचनाकाल, रचनास्थल, आदि का भी निर्देश किया गया है। ग्रन्थप्रशस्ति के अनुसार^{१२४} यह ग्रन्थ कल्पवृक्ष की उपमा से उपमित अनंतपाल राजा के राज्य में जालंधर नगर के नन्दनवन में विक्रम संवत् १४६८ में कार्तिक पूर्णिमा की रात्रि में पूर्ण हुआ। ग्रन्थप्रशस्ति में न केवल ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा का ही उल्लेख किया है, वरन् इसके साथ ही उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना के प्रयोजन सम्बन्धी विचारों को भी अभिव्यक्त किया है। ग्रन्थप्रशस्ति के अन्त में ग्रन्थकार ने, यह चिरकाल तक स्थाई रहे-ऐसी कामना भी अभिव्यक्त की है।

आचारदिनकर में वर्णित विभिन्न संस्कार-

आचारदिनकर गृहस्थ, साधु तथा गृहस्थ एवं साधु-दोनों से सम्बन्धित विधि-विधानों का आकार-ग्रन्थ है। वस्तुतः, यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में गृहस्थ एवं मुनि-जीवन सम्बन्धी षोडश संस्कारों का उल्लेख किया गया है तथा द्वितीय खण्ड में मुनि तथा गृहस्थ सम्बन्धी आठ सामान्य संस्कारों की विस्तृत चर्चा की गई है। इस प्रकार यह ग्रन्थ कुल चालीस उदर्यों में समाप्त हुआ है। द्वितीय खण्ड के अन्त में ग्रन्थकार ने “व्यवहार-परमार्थ” के माध्यम से इन संस्कारों के किए जाने के क्या प्रयोजन हैं- इसका भी उल्लेख किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित चालीस उदर्यों की विषय-सामग्री, अर्थात् चालीस संस्कारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

^{१२४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

(अ) गृहस्थ के सोलह संस्कार -

आचारदिनकर में प्रथम उदय से लेकर सोलह उदय तक ग्रन्थकार ने गृहस्थ के षोडश संस्कारों की विधि उल्लेखित की है। गृहस्थ के इन षोडश संस्कारों में ग्रन्थकार ने जन्म के पूर्व से लेकर मृत्युपर्यन्त के विधि-विधानों का उल्लेख किया है, जिन्हें हम निम्न बिन्दुओं के माध्यम से देखेंगे :

१. प्रथम उदय में गर्भाधान नामक संस्कार की विधि प्रतिपादित की गई है।
२. द्वितीय उदय में पुंसवन-संस्कार की विधि विवेचित की गई है।
३. तृतीय उदय में जातकर्म-संस्कार की विधि कही गई है।
४. चौथे उदय में सूर्य-चन्द्र-दर्शन की विधि वर्णित की गई है।
५. पाँचवें उदय में क्षीराशन-विधि का वर्णन किया गया है।
६. छठवें उदय में षष्ठी-जागरण और माताओं (देवियों) की पूजा का विधान बताया गया है।
७. सातवें उदय में शुचिकर्म का वर्णन किया गया है।
८. आठवें उदय में नामकरण, ग्रहलग्नादि की पूजा एवं मण्डल-पूजन की विधि का उल्लेख किया गया है।
९. नौवें उदय में अन्नप्राशन-संस्कार की विधि उल्लेखित है।
१०. दसवें उदय में कर्णछेदन की विधि का उल्लेख किया गया है।
११. ग्यारहवें उदय में मुण्डन की विधि बताई गई है।
१२. बारहवें उदय में उपनयन-संस्कार का उल्लेख है। इसमें जिन-उपवीत का स्वरूप, उसकी विधि, व्रतधारण एवं व्रतादेश का विवेचन है। साथ ही व्रत-विसर्जन एवं गोदान का भी उल्लेख है। इसी उदय में चारों वर्णों के उपवीत-संस्कार में व्रतग्रहण की शिक्षा तथा शूद्र के बटुककरण में उत्तरीय धारण करने की विधि का भी उल्लेख है।
१३. तेरहवें उदय में अध्ययन-विधि का उल्लेख किया गया है।

१४. चौदहवें उदय में प्रजापति, आर्ष, दैव, ब्राह्म, पैशाच, राक्षस, गन्धर्व एवं आसुर-इन आठ प्रकार के विवाहों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही इस उदय में वेदीस्थापना, कुलकरो की पूजाविधि, अग्निस्थापना-विधि, अग्निसंतर्पण-विधि, उत्तम अर्घविधि आदि का भी उल्लेख है। इसी उदय के अन्त में गणिकाविवाह-विधि का भी उल्लेख किया गया है।
१५. पन्द्रहवें उदय में सम्यक्त्व-आरोपण, द्वादश व्रतारोपण, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की उद्वहन-विधि, सप्त उपधान-तपश्चर्या तथा उपधान में की जाने वाली मालारोपण की विधि, आदि का वर्णन किया गया है। इसी उदय में परिग्रह-परिमाण का टिप्पण तैयार करने तथा गृहस्थ की अहोरात्रि की चर्या विधि भी उल्लेखित है, जिसमें अर्हत्-पूजाविधि का विस्तृत वर्णन करते हुए लघुस्नात्र-विधि, दिक्पाल एवं ग्रहों की पूजाविधि, लघु उपधान, नंदी की सीपना, आदि की आवन्तर विधियों का भी उल्लेख किया गया है।
१६. सोलहवें उदय में मृत्यु से पूर्व की आराधना-विधि का उल्लेख किया गया है। इस विधि के अन्तर्गत-उत्तमार्थ (संलेखनाव्रत) की आराधना, चतुःशरण (चतुःस्मरण), क्षमापना, अन्त्यसंस्कार, आदि के विधि-विधान गृहस्थों को लक्ष्य में रखकर बताए गए हैं।

(ब) मुनि के सोलह संस्कार -

आचारदिनकर में सत्रह से लेकर बत्तीस तक के उदयों में मुनि के सोलह संस्कारों की चर्चा की गई है। इस विभाग में उन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करने की विधि से लेकर मुनि-जीवन के अन्तिम छोर पर की जाने वाली अंतिम संलेखना-विधि का वर्णन किया है। इन सोलह उदयों में वर्णित संस्कारों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है -

१. सत्रहवें उदय में ब्रह्मचर्यव्रत की दुष्करता का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने की विधि प्रतिपादित की गई है।
२. अठारहवें उदय में शुल्लकदीक्षा-विधि का उल्लेख किया गया है, साथ ही शुल्लक द्वारा करणीय विधि-विधानों का निर्देश दिया गया है।

३. उन्नीसवें उदय में दीक्षा हेतु अयोग्य स्त्री, पुरुष एवं नपुंसकों के प्रकारों का उल्लेख करते हुए गृहत्यागविधि एवं प्रव्रज्याग्रहण की विधि बताई गई है।
४. बीसवें उदय में छेदोपस्थापनीयचारित्र एवं महाव्रतोच्चार की विधि का निर्देश दिया गया है तथा सप्तमण्डलीयोग की चर्चा की गई है।
५. इक्कीसवें उदय में योगोद्वहन करने की विधि, कालग्रहण की विधि, स्वाध्याय-प्रस्थापना की विधि, खमासमणा-योजना, कायोत्सर्ग, वंदन, संघट्टविधि, प्रवेदन-विधि, प्रतिदिन की क्रिया तथा अर्द्धवार्षिक-योग की विधि विवेचित है। इसी उदय में कालिक एवं उत्कालिक-सूत्रों में प्रत्येक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि का भी विस्तृत उल्लेख किया गया है।
६. बाईसवें उदय में वाचना-विधि का वर्णन किया गया है। मुनि किस क्रम से सूत्रों का अध्ययन करे- इसका भी इस उदय में उल्लेख किया गया है।
७. तेईसवें उदय में वाचनाचार्य-पदस्थापना-विधि का उल्लेख किया गया है तथा वाचनाचार्य के योग्य मुनि के लक्षणों का निरूपण हुआ है।
८. चौबीसवें उदय में उपाध्याय-पदस्थापना-विधि उल्लेखित है।
९. पच्चीसवें उदय में आचार्य-पदस्थापना की विधि का उल्लेख किया गया है, साथ ही इस उदय में आचार्यपद के योग्य मुनि के लक्षणों की भी विस्तृत चर्चा की गई है।
१०. छब्बीसवें उदय में मुनियों द्वारा द्वादश प्रतिमाओं के वहन करने की प्रक्रिया का वर्णन है।
११. सत्ताईसवें उदय में साध्वियों की व्रतारोपण-विधि, अर्थात् प्रव्रज्याविधि उल्लेखित है।
१२. अट्ठाईसवें उदय में प्रवर्तिनी-पदस्थापना-विधि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकरण में प्रवर्तिनीपद के योग्य साध्वी के लक्षण तथा उनके द्वारा करणीय एवं अकरणीय कार्यों का भी वर्णन किया गया है।

93. उनतीसवें उदय में महत्तरा-पदस्थापना की विधि, महत्तरा के गुणों तथा महत्तरा के कार्यों का निर्देश किया गया है।
94. तीसवें उदय में साधु-साध्वियों की अहोरात्रि की क्रियाओं का वर्णन किया गया है, अर्थात् प्रातः - संस्तारक का त्याग करने से लेकर पुनः रात्रि को संस्तारक ग्रहण करने तक की विभिन्न क्रियाओं का वर्णन किया गया है। इस उदय में जिनकल्पी, स्थविरकल्पी एवं प्रत्येकबुद्ध साधु-साध्वियों के संयमोपकरणों की भी विस्तृत चर्चा की गई है। संयमोपकरणों का परिमाण कितना होना चाहिए, उनकी क्या उपयोगिता है? इसका भी इसमें उल्लेख किया गया है।
95. एकतीसवें उदय में साधु-साध्वियों की ऋतुचर्या-विधि का उल्लेख किया गया है। किस ऋतु में मुनि को कैसा आचरण करना चाहिए? इस विषय का इसमें विवेचन किया गया है। इसके साथ ही इस प्रकरण में विहार की विधि, आर्य-अनार्य देशों की सूची, लोच की विधि, कल्पतर्पण की विधि, व्याख्यान की विधि भी बताई गई है।
96. बत्तीसवें उदय में मुनि के अंतिम संस्कार की विधि उल्लेखित है। इस उदय में न केवल उत्कृष्टतः बारह वर्षीय संलेखना-विधि का उल्लेख ही किया गया है, वरन् मुनि की मृत्यु हो जाने पर अन्तिम-संस्कार के रूप में जो क्रिया की जाती है, उसका भी इसमें विवेचन किया गया है। पंचक, आदि में मुनि की मृत्यु होने पर उससे उत्पन्न दोषों का निवारण किस प्रकार किया जाए? इसका भी इसमें उल्लेख किया गया है।

(स) गृहस्थ एवं मुनि के सामान्य आठ संस्कार -

आचारदिनकर के द्वितीय विभाग में सामान्य आठ संस्कारों का विवेचन किया गया है। ये आठ संस्कार साधु एवं गृहस्थ- दोनों द्वारा संयुक्त रूप से करवाए जाते हैं, अर्थात् इन संस्कारों की निष्पत्ति में इन दोनों का सहयोग आवश्यक है, जैसे- प्रतिष्ठाविधि में बृहत्स्नात्रपूजा, आदि करने हेतु श्रावक (गृहस्थ) की आवश्यकता होती है तथा नेत्रोन्मीलन, प्राणप्रतिष्ठा, आदि हेतु मुनि की आवश्यकता होती है, इस प्रकार से आठों ही संस्कार मुनि एवं गृहस्थ-दोनों के लिए सामान्य रूप से बताए गए हैं। इन आठ संस्कारों की विषय-सामग्री का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है-

१. तैत्तिरीयों उदय में प्रतिष्ठाविधि का वर्णन है। इस उदय में मुख्य रूप से जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा, चैत्यप्रतिष्ठा, कलशप्रतिष्ठा, ध्वजप्रतिष्ठा, बिम्ब के परिकर की प्रतिष्ठा, देवीप्रतिष्ठा, क्षेत्रपालप्रतिष्ठा, गणेश आदि देवों की प्रतिष्ठा, सिद्धमूर्ति की प्रतिष्ठा, देवतावसर-समवसरण-प्रतिष्ठा, मंत्रपटप्रतिष्ठा, पितृमूर्तिप्रतिष्ठा, यतिमूर्तिप्रतिष्ठा, नवग्रहप्रतिष्ठा, चतुर्निकायदेवप्रतिष्ठा, गृहप्रतिष्ठा, वापी आदि जलाशयों की प्रतिष्ठा, वृक्षप्रतिष्ठा, अट्टालिकादि भवनप्रतिष्ठा, दुर्गप्रतिष्ठा एवं भूमि-अधिवासना-विधि का विवेचन है। इसी में सभी देवों के आह्वान, स्थापना और पूजा की विधि भी दी गई है, साथ ही इसमें बृहत्स्नात्रपूजा-विधि, बृहत् एवं लघुनंद्यावर्त आदि आलेखन की विधि, उनकी पूजाविधि, कंकणछोटन-विधि, अष्टमंगल-पूजाविधि एवं तत्सम्बन्धी पूजासामग्री हेतु ३६० क्रियाणकों की सूची का उल्लेख है।

२. चौत्तीसवें उदय में सभी प्रकार के पूजान्वित शान्तिकर्म की विधि तथा मूलादि नक्षत्रों एवं ग्रहों की शान्तिकविधि बताई गई है। इस प्रकरण में नक्षत्रों एवं ग्रहों की पूजा-विधि का उल्लेख किया गया है तथा प्रसंगवशात् तथा लोकाचार के अनुसार स्नानादि द्वारा की जाने वाली नक्षत्र-शान्तिक की विधि का भी वर्णन किया गया है।

३. पैंतीसवें उदय में पौष्टिककर्म, आदि की विधि का विधान है। इस प्रकरण में विशेष रूप से पांच पीठों पर क्रमशः चौसठ इन्द्रों, दिक्पालों, क्षेत्रपाल सहित नौ ग्रहों, सोलह विद्यादेवियों एवं षट्द्रहदेवियों की स्थापना करने एवं उनकी पूजन-विधि का उल्लेख हुआ है।

४. छत्तीसवें उदय में बलिकर्म की विधि बताई गई है। किन-किन को किस-किस वस्तु की बलि प्रदान करें? इसका भी इसमें उल्लेख किया गया है।

५. सैंतीसवें उदय में प्रायश्चित्तविधि का विवेचन किया गया है। यह विधि जीतकल्पभाष्य पर आधारित है। यह विधि साधु एवं गृहस्थ के जीवन में लगने वाले दोषों और उनकी शुद्धि हेतु किए जाने वाले प्रायश्चित्तों का उल्लेख करती है। इस उदय में प्रायश्चित्त के दस प्रकारों यथा-(१) आलोचना (२) प्रतिक्रमण (३) उभय (४) विवेक (५) कायोत्सर्ग (६) तपयोग्य (७) छेदयोग्य (८) मूलयोग्य (९) अनवस्थाप्य एवं (१०) पाराचिक का भी उल्लेख किया गया है।

६. अड़तीसवें उदय में आवश्यकविधि के अन्तर्गत षडावश्यकों यथा-सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यानों के स्वरूप पर विचार किया गया है। इस उदय में दसविध प्रत्याख्यानों की भी योजना की गई है, साथ ही इस उदय के अन्तर्गत पाक्षिक-प्रतिक्रमणसूत्र, यति एवं श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्र, अर्थात् श्रमणसूत्र एवं वंदितुसूत्र की व्याख्या, शक्रस्तव, अर्हत् एवं सिद्ध परमात्मा की स्तुति आदि की व्याख्या की गई है। रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक एवं संवत्सरिक-प्रतिक्रमण की विधि का भी इस उदय में उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही इस उदय में अतिव्यस्त राजा, मंत्री, आदि द्वारा की जाने वाली संक्षिप्त प्रतिक्रमण-विधि का भी उल्लेख किया गया है।

७. उनचालीसवें उदय में त्रिविध प्रकार के तपों की विधि विवेचित है। इस उदय में न केवल विविध प्रकार के तपों की विधि का वर्णन ही किया गया है, वरन् उन तपों की उद्यापनविधि के भी निर्देश दिए गए हैं।

८. चालीसवें उदय में पदारोपण का महत्व बताया गया है। इस उदय में व्रतियों (मुनियों), ब्राह्मणों और क्षत्रियों की शासन-व्यवस्था का और सामन्त, मण्डलाधिकारी, मंत्री, आदि की पदस्थापना की विधि का विवेचन किया गया है, साथ ही वैश्य, शूद्रादि सहायकों की पदस्थिति का भी वर्णन है। इसके अतिरिक्त सभी वर्णों के नामों के साथ साधु-साध्वियों के नामकरण किस विधि से किए जाएं-इसका तथा प्रतिष्ठा, पदारोपण, आदि विधियों में उपयोगी मुद्राओं का भी उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के चालीस उदयों में विविध विषयों का निर्देश है, जिनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास यहाँ किया गया है। मेरे इस शोधप्रबन्ध हेतु इस ग्रन्थ का बहुत ही महत्व है, क्योंकि यह मेरे शोधप्रबन्ध का आधारभूत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रकाशन “खरतरगच्छ ग्रन्थमाला” से वर्षों पूर्व मूल रूप में पत्राकार में हुआ है। इस पर अभी तक किसी ने भी कोई शोधकार्य नहीं किया है और न सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद कर इसे पुनः प्रकाशित ही किया है।

‘आचारदिनकर’ में वर्णित संस्कारों का तुलनात्मक विवेचन -

आचारदिनकर में वर्णित चालीस संस्कारों का दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में वर्णित संस्कारों के साथ तुलना एवं समीक्षा का संक्षिप्त विवरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। विस्तृत विवरण तो यथास्थान किया जाएगा। तीनों परम्पराओं में कौन-कौनसे संस्कार कब एवं किस समय किए जाते हैं? तीनों परम्पराओं की इस सम्बन्ध में क्या अवधारणा है? इस विषय को हम इस बिन्दु के अन्तर्गत विवेचित करने का प्रयत्न करेंगे, किन्तु इससे पूर्व हमें यह जान लेना भी आवश्यक है कि तीनों परम्पराओं में ये संस्कार किस प्रयोजन से किए जाते थे, चारों वर्ण में से कौन-कौनसे वर्ण के लोग इन संस्कारों के अधिकारी माने गए हैं, इत्यादि।

सामान्यतया, इन संस्कारों को करने का प्रयोजन समाज की सुव्यवस्था को स्थापित करना ही था। जैनधर्म में गृहस्थ के संस्कारों का आध्यात्मिक-विकास से कोई सम्बन्ध नहीं माना गया है, अपितु एक सामाजिक-व्यवस्था के रूप में इन्हें स्वीकार किया गया है। मुनिजीवन के षोडश संस्कार एवं आठ सामान्य संस्कारों में से कुछ संस्कार यथा-प्रव्रज्या, उपस्थापना, योगोद्धहन, भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं की उद्वहनविधि, प्रायश्चित्तविधि, आवश्यकविधि, आदि का अवश्य आध्यात्मिक विकास के साथ आंशिक सम्बन्ध माना जा सकता है। हिन्दू-परम्परा में इन्हें सामाजिक एवं धार्मिक रूप में स्वीकृत किया गया है। हिन्दू-परम्परा में षोडश संस्कारों का अधिकारी मात्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के पुरुष-वर्ग को ही माना गया था, किन्तु जैन-परम्परा में तो चारों ही वर्ण के लोगों को इन संस्कारों का अधिकारी माना गया है, अपितु यह भी माना है कि संस्कारों, विशेष रूप से उपनयन-संस्कार द्वारा वर्ण-परिवर्तन एवं निर्धारण भी होता है, किन्तु वैदिक-परम्परा में वर्ण-परिवर्तन एवं निर्धारण की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया गया है। जैन-परम्परा में कन्या के सम्बन्ध में भी गृहस्थ के संस्कारों को किए जाने के उल्लेख मिलते हैं,^{१२५} क्योंकि जैन-परम्परा में पुरुष के समान ही स्त्री को भी समान महत्व प्रदान किया गया है और यही कारण है कि जैन-परम्परा में स्त्री हेतु भी इन संस्कारों के किए जाने का निर्देश दिया गया है। वैदिक-परम्परा में मंत्रोच्चारपूर्वक ये षोडश संस्कार पुरुषों के सम्बन्ध में ही किए जाने के निर्देश दिए गए हैं, क्योंकि वे पुरुष एवं स्त्री को एक समान नहीं मानते हैं। उनके अनुसार

^{१२५} ज्ञाताधर्मक्या, मधुकरमुनि, सूत्र सं.-८/३१, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.), प्रथम संस्करण : १९६२.

यदि स्त्रियों के सम्बन्ध में ये संस्कार करने हों, तो उनको वैदिक-मंत्रों का उच्चारण किए बिना करना चाहिए।^{१२६}

उपर्युक्त सामान्य चर्चा करने के पश्चात् अब हम आचारदिनकर में वर्णित संस्कारों का निम्न बिन्दुओं के माध्यम से दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में स्वीकृत संस्कारों के साथ तुलना एवं समीक्षा करेंगे -

गर्भाधान-संस्कार -

आचारदिनकर^{१२७} के अनुसार गर्भस्थापन के पाँचवें मास में शुभ तिथि, वार, नक्षत्र, आदि तथा पति के चंद्रबल को देखकर गर्भाधान-संस्कार किया जाना चाहिए। हिन्दू-परम्परा में यह संस्कार गर्भस्थापन से पूर्व, उत्तम गुणों से युक्त पुत्र^{१२८} की प्राप्ति के लिए किया जाता है, किन्तु आचारदिनकर के अनुसार यह संस्कार गर्भ की प्रसिद्धि तथा गर्भरक्षण के लिए किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार किया जाता है, किन्तु उसमें इस संस्कार की अवधारणा यत्किंचित् हिन्दू-परम्परा के सदृश है, अर्थात् वहाँ भी यह संस्कार गर्भस्थापन के पूर्व सन्तान की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता है।^{१२९}

पुंसवन-संस्कार -

आचारदिनकर^{१३०} के अनुसार गर्भ के आठ मास व्यतीत हो जाने पर तथा सर्वदोहद (गर्भवती स्त्री की कामनाएँ) पूर्ण होने के पश्चात् गर्भस्थ-शिशु के सम्पूर्ण अंगोपांग पूर्णतः विकसित होने पर शरीर में पूर्णभाव प्रमोदरूप स्तनों में दूध की उत्पत्ति के सूचकार्थ यह संस्कार किया जाता है, जबकि हिन्दू-परम्परा में यह संस्कार गर्भ के तीसरे मास में सन्तान पुत्ररूप हो- इस उद्देश्य से किया जाता है।^{१३१} दिगम्बर-परम्परा में सुप्रीति क्रिया के रूप में यह संस्कार किया जाता है।^{१३२}

^{१२६} प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्व, डॉ. बाबूराम त्रिपाठी एवं डॉ. श्री भगवान शर्मा, पृ.-५६, महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा, तृतीय संस्करण।

^{१२७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय - प्रथम, पृ.-५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२।

^{१२८} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०।

^{१२९} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४५, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००।

^{१३०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय - प्रथम, पृ.-८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२।

^{१३१} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८८, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०।

^{१३२} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००।

जातकर्म-संस्कार -

आचारदिनकर^{१३३} के अनुसार यह संस्कार गर्भकाल के अपेक्षित मास, दिन की कालावधि के पूर्ण होने पर जब शिशु का प्रसव होता है, उस समय किया जाता है। इस संस्कार का मूल उद्देश्य आनंद की अभिव्यक्ति करना है। दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार शिशु के जन्म के बाद ही किया जाता है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार को जातकर्म-संस्कार के नाम से अभिहित न करके वहाँ उसे प्रियोद्भव-क्रिया के नाम से सूचित किया गया है।^{१३४} हिन्दू-परम्परा में पुत्र का जन्म होने पर यह संस्कार किया जाता है।

सूर्य-चन्द्र-दर्शन-संस्कार -

आचारदिनकर^{१३५} के अनुसार शिशु के जन्म के पश्चात् तीसरे दिन यह संस्कार किया जाता है। हिन्दू-परम्परा में भी यह संस्कार किया जाता है, किन्तु वहाँ यह संस्कार निष्क्रमण-संस्कार के रूप में सम्पन्न किया जाता है।^{१३६} वहाँ जन्म के चौथे मास में, अथवा तीसरे मास में क्रमशः सूर्य-चन्द्र-दर्शन करवाकर यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में सूर्य-चन्द्र-दर्शन करवाने के उल्लेख नहीं मिलते हैं।

क्षीराशन-संस्कार -

आचारदिनकर^{१३७} के अनुसार यह संस्कार जन्म के तीसरे दिन करवाया जाता है। वैदिक एवं दिगम्बर-परम्परा में क्षीराशन-संस्कार को पृथक् रूप से नहीं किया जाता है। इन दोनों परम्पराओं में यह विधान जातकर्म-संस्कार के साथ ही सम्पन्न कर दिया जाता है।

षष्ठी-संस्कार -

आचारदिनकर^{१३८} के अनुसार यह संस्कार जन्म के छठवें दिन किया जाता है। यह संस्कार शिशु का मंगल करने के उद्देश्य से किया जाता है। इस संस्कार में षष्ठी माता (दुर्गा) आदि देवियों की पूजा की जाती है। दिगम्बर-परम्परा

^{१३३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय - तृतीय, पृ.-६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१३४} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{१३५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चौथा, पृ.-११, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१३६} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२०१-०२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९६०.

^{१३७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-पाँचवाँ, पृ.-१२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१३८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-छठवाँ, पृ.-१२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

में हमें इस प्रकार के संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है। हिन्दू-परम्परा में मातृकापूजन के रूप में दुर्गादि देवियों की पूजा करने के उल्लेख तो मिलते हैं, किन्तु वहाँ इसे संस्कार की श्रेणी में नहीं रखा गया है।

शुचि-संस्कार -

आचारदिनकर^{१३६} के अनुसार सूतक का निवारण करने हेतु यह संस्कार अपनी कुल-परम्परा के अनुसार किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ आदिपुराण में इस संस्कार को प्रियोद्भवक्रिया में ही समाहित किया गया है। हिन्दू-परम्परा में हमें इस संस्कार का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि, हिन्दू-परम्परा में भी सूतक सम्बन्धी मान्यताओं का और उसके निवारण का उल्लेख मिलता है, किन्तु वहाँ इसे संस्कार के रूप में उल्लेखित नहीं किया गया है।

नामकरण-संस्कार -

आचारदिनकर^{१४०} के अनुसार यह संस्कार शुचिकर्म के दिन अथवा दूसरे दिन या तीसरे दिन, अथवा अन्य कोई शुभ दिन देखकर किया जाना चाहिए। इस संस्कार का मूल उद्देश्य शिशु का नामकरण करना है। हिन्दू-परम्परा में यह संस्कार प्रायः दसवें या बारहवें दिन किया जाता है।^{१४१} दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार जन्म के बारह दिन बाद किया जाता है।^{१४२}

अन्नप्राशन -

आचारदिनकर^{१४३} के अनुसार यह संस्कार सामान्यतः पाँचवें या छठवें मास में किया जाता है। हिन्दू-परम्परा में भी यह संस्कार आचारदिनकर की भाँति ही पाँचवें या छठवें महीने में किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार सातवें या आठवें मास में किया जाता है।

^{१३६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सातवाँ, पृ.-१२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१४०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- आठवाँ, पृ.-१४, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१४१} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१९६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{१४२} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु : डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४८, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{१४३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-नववाँ, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

कर्णविध-संस्कार -

आचारदिनकर^{१४४} के अनुसार यह संस्कार शुभ वर्ष, मास, आदि देखकर कुलपरम्परा के अनुसार बालक के तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष में किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में हमें इस नाम के संस्कार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। हिन्दू-परम्परा में यह संस्कार विशेष रूप से परवर्ती काल में प्रचलित हुआ है। वैदिक-परम्परा में इस संस्कार के समय के सम्बन्ध में मतभेद हैं, किन्तु कात्यायनसूत्र^{१४५} के अनुसार शिशु के जन्म के तृतीय या पंचम वर्ष में कर्णविध-संस्कार किया जाना उचित है।

चूड़ाकरण-संस्कार -

आचारदिनकर^{१४६} के अनुसार यह संस्कार अपनी कुलविधि के अनुसार शुभ दिनों में करना चाहिए। हिन्दू-परम्परा में यह संस्कार शिशु के जन्म के प्रथम या तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में इस संस्कार को किए जाने के समय का उल्लेख नहीं मिलता है।

उपनयन-संस्कार -

यह संस्कार कब किया जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में आचारदिनकर में कोई सूचना नहीं दी गई है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार गर्भ के आठवें मास में किया जाता है।^{१४७} वैदिक-परम्परा के आश्वलायन-गृह्यसूत्र में ब्राह्मणकुमार का आठ वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारह वर्ष एवं वैश्य का बारहवें वर्ष में यह संस्कार करने का निर्देश दिया गया है।^{१४८}

विद्यारम्भ-संस्कार -

आचारदिनकर^{१४९} के अनुसार यह संस्कार उपनयन-संस्कार की भाँति शुभदिन एवं शुभलग्न में किया जाना चाहिए। इस संस्कार का मूल उद्देश्य उपनयन-संस्कार से दीक्षित एवं वर्णत्व को प्राप्त बालक को भाषा एवं लेखन का

^{१४४} आचारदिनकर, वर्षमानसूरिकृत, उदय-दसवों, पृ.-१७, निर्णयसागर मुद्रालय, बाम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१४५} देखें: हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठं (षष्ठं परिच्छेद), पृ.-१३०, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, पाँचवों संस्करण १९६५.

^{१४६} आचारदिनकर, वर्षमानसूरिकृत, उदय-ग्यारहवों, पृ.-१८, निर्णयसागर मुद्रालय, बाम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१४७} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु : डॉ. पन्नालाल जैन, पूर्व-अङ्गीसवों, पृ.-२४८, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवों संस्करण २०००.

^{१४८} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२११, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{१४९} आचारदिनकर, वर्षमानसूरिकृत, उदय-तेरहवों, पृ.-३०, निर्णयसागर मुद्रालय, बाम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

ज्ञान कराया जाना है। हिन्दू-परम्परा के अनुसार उपनयन-संस्कार के पश्चात् उसी दिन या उससे एक दिन पश्चात् गुरुदेव-स्तुति के पश्चात् ब्रह्मचारी को गायत्री-मंत्र का उपदेश देकर शिक्षा प्रदान की जाती है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार (१) लिपिसंख्यान एवं (२) व्रतचर्याक्रिया-इन दो चरणों में संपन्न किया जाता है।^{१५०}

विवाह-संस्कार -

आचारदिनकर^{१५१} के अनुसार कन्या का विवाह आठ वर्ष बाद कर देना चाहिए, किन्तु पुरुष का विवाह आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष की आयु के बीच कभी भी हो सकता है। जैन-परम्परा में विवाह को अनिवार्य संस्कार नहीं माना गया है, जबकि हिन्दू-परम्परा के स्मृतिग्रन्थों में तो पुरुष को अनिवार्य रूप से विवाह करने का निर्देश दिया गया है, क्योंकि इसके अभाव में वह अपत्नीक पुरुष अयज्ञीय कहलाता है।^{१५२} हिन्दू-परम्परा में पुरुष के विवाह के लिए कोई निश्चित अवधि नहीं रखी गई है, परन्तु कन्या के लिए विवाह की अवधि का निर्धारण किया गया है। गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के अनुसार सामान्यतः लड़कियों को युवावस्था के बिल्कुल पास पहुँच जाने या उसके प्रारम्भ होने पर ही विवाह योग्य माना जाता था।^{१५३} दिगम्बर-परम्परा में भी इस संस्कार का उल्लेख मिलता है। वहाँ बारह वर्ष की कन्या एवं सोलह वर्ष के किशोर को विवाह के योग्य माना है।^{१५४}

व्रतारोपण-संस्कार -

यह संस्कार जैन-परम्परा में ही पाया जाता है। वर्धमानसूरि के अनुसार^{१५५} इस लोक में गर्भ से लेकर विवाह तक के चौदह संस्कारों से संस्कारित व्यक्ति भी व्रतारोपण-संस्कार के बिना इस जन्म में लक्ष्मी का सदुपयोग नहीं कर पाता है। वह जगत् में प्रशंसा का पात्र नहीं होता है तथा आर्यदेश में मनुष्यजन्म की प्राप्ति, स्वर्ग एवं मोक्ष के सुख से भी वंचित रहता है, अतः मनुष्यों के लिए व्रतारोपण-संस्कार परम कल्याणकारक है। हिन्दू-परम्परा में यद्यपि चार वेदव्रतों का

^{१५०} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु : डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अइतीसवाँ, पृ.-२४४, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{१५१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चौदहवाँ, पृ.-३१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१५२} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-अष्टम, पृ.-१९५, चौखम्मा विद्या भवन, वाराणसी, पंचम संस्करण १९६५.

^{१५३} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२७३, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{१५४} हरिवंशपुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, राममूर्ति चौधरी, अध्याय-२, पृ.-४४, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९८६.

^{१५५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-पन्द्रहवाँ, पृ.-४२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

उल्लेख तो मिलता है, किन्तु जैन-परम्परा की भाँति व्रतारोपण-संस्कार का उल्लेख हमें वहाँ भी नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार व्रतावरणक्रिया^{१५६} के रूप में किया जाता है।

अन्त्यसंस्कार -

वर्धमानसूरि^{१५७} के अनुसार जीवनदीप के बुझने की स्थिति में, अर्थात् मृत्यु की सन्निकटता को जानकर यह संस्कार विधि-विधानपूर्वक किया जाता है। जैन-परम्परा में मात्र मृत्योपरान्त की क्रिया को ही इस संस्कार में समाहित नहीं किया गया है, वरन् मृत्यु से पूर्व की आराधना-विधि को भी इसमें शामिल किया है, जो जैन-परम्परा की अपनी विशेषता है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार मृत्योपरान्त किया जाता है। जैन-परम्परा की भाँति वैदिक-परम्परा में संलेखना, आदि करने का विधान भी सामान्यतया देखने को नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में भी श्वेताम्बर-परम्परा के अनुरूप ही यह संस्कार किया जाता है, मात्र अन्तर यह है कि वहाँ अन्त में मुनिदीक्षा देते समय पुरुष को वस्त्र का भी त्याग करना होता है।

ब्रह्मचर्यसंस्कार -

मुनिजीवन के षोडश संस्कारों में सर्वप्रथम वर्धमानसूरि ने इस संस्कार का उल्लेख किया है। इस विधि में साधक को एक अवधि-विशेष के लिए ब्रह्मचर्य का ग्रहण करवाया जाता है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में हमें पृथक् से इस संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

क्षुल्लकविधि -

वर्धमानसूरि के अनुसार इस संस्कार में साधक को प्रव्रज्या की पूर्व भूमिका में उपस्थित करने हेतु एक अवधि विशेष के लिए पंचमहाव्रत एवं छठवें रात्रिभोजनत्याग-व्रत का उच्चारण करवाया जाता है, किन्तु यह प्रतिज्ञा दो करण एवं तीन योग से करवाई जाती है।^{१५८} दिगम्बर-परम्परा में हमें इस संस्कार का पृथक् से उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा में स्थित श्रावक को क्षुल्लक कहा जाता है^{१५९} और इसकी दिनचर्या भी प्रायः मुनिवत् ही

^{१५६} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु. डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४४, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{१५७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सोलहवाँ, पृ.-६६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१५८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अठारहवाँ, पृ.-७३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१५९} सागारधर्माभूत, अनु : सुपाशर्वमतिजी, अध्याय-३, पृ.-३६८, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्, तृतीय संस्करण १९२२.

होती है, किन्तु वहाँ शुल्लकावस्था में गृहीत नियम यावत् जीवन हेतु होते हैं। वैदिक-परम्परा में इस नाम का कोई संस्कार देखने को नहीं मिलता, किन्तु वैदिक-परम्परा में प्रचलित वानप्रस्थाश्रम इस संस्कार के समतुल्य माना जा सकता है।

प्रव्रज्याविधि -

यह संस्कार जैन-परम्परा की एक अपनी धरोहर है। वैदिक-परम्परा में इस प्रकार के संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है। हाँ, वैदिक-परम्परा में प्रचलित संन्यासाश्रम को इस संस्कार का आंशिक अनुकरण अवश्य माना जा सकता है। ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ में वैदिक-परम्परा में यह संस्कार प्रचलित नहीं था। वैदिक-परम्परा में इस संस्कार का सर्वप्रथम उल्लेख औपनिषदिक-ऋषि याज्ञवल्क्य द्वारा संन्यास ग्रहण से होता है, फिर भी जैनश्रमण एवं वैदिक-संन्यास के आचार में अन्तर है।

उपस्थापनाविधि -

आचारदिनकर में वर्णित इस संस्कार के माध्यम से महाव्रतों का ग्रहण करवाया जाता है तथा इसके साथ ही नंदीविधि सहित दशवैकालिकसूत्र एवं आवश्यकसूत्र के योगोद्धहन करवाए जाते हैं।^{१६०} दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार जिनरूप क्रिया के रूप में सम्पन्न करवाया जाता है,^{१६१} किन्तु उसमें सप्तमंडली-योगोद्धहन-विधान देखने को नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में इस प्रकार के किसी संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

योगोद्धहनविधि -

आचारदिनकर में वर्णित यह संस्कार श्वेताम्बर-परम्परा की अपनी विशेषता है। इस संस्कार-विधि में साधक को विधिपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करवाया जाता है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में हमें इस नाम के किसी संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में मौनाध्ययनवृत्तित्वक्रिया को इस संस्कार का आंशिक अनुकरण माना जा सकता है।^{१६२}

^{१६०} आचारदिनकर, वर्धमानसुरिकृत, उदय-बीसवाँ, पृ.-७६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१६१} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु. डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२७६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{१६२} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु. डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५४, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

वाचनाग्रहणविधि -

इस संस्कार में वाचना ग्रहण करने के समय क्या विधि-विधान किए जाना चाहिए- इसका विवेचन किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी के दिन सिद्धभक्ति एवं श्रुतभक्तिपूर्वक वाचना ग्रहण की जाती है, किन्तु वहाँ आचारदिनकर की भाँति वाचनाग्रहण से पूर्व एवं पश्चात् विधि-विधान करने के उल्लेख नहीं मिलते हैं। वैदिक-परम्परा में इस संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

वाचनानुज्ञाविधि -

वर्धमानसूरि ने वाचनाचार्य-पदस्थापना की विधि को भी संस्कार के रूप में माना है। दिगम्बर-परम्परा में वाचनाचार्य-पद का उल्लेख मिलता है। आदिपुराण में वर्णित गणोपग्रहणविधि के साथ हम इस संस्कार की तुलना कर सकते हैं।^{१६३} वैदिक-परम्परा में हमें इस संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

उपाध्याय-पदस्थापन-विधि -

वर्धमानसूरि के अनुसार^{१६४} आचार्यपद के समान ही शुभ मुहूर्त आने पर यह संस्कार किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में यद्यपि उपाध्याय-पद की व्यवस्था देखने को मिलती है तथा वहाँ इस संस्कार के विधि-विधानों के उल्लेख भी मिलते हैं। वैदिक-परम्परा के सन्यासाश्रम में इस पद की व्यवस्था देखने को नहीं मिलती है, किन्तु गृहस्थजीवन में अवश्य वहाँ इस पद की व्यवस्था है।

आचार्य-पदस्थापन-विधि -

इस ग्रन्थ में आचार्य-पदस्थापन-विधि का भी उल्लेख किया गया है। वर्धमानसूरि के अनुसार गुणों से युक्त पात्र मिलने पर ही उसे आचार्य-पद पर स्थापित किया जाना चाहिए।^{१६५} दिगम्बर-परम्परा में भी इस विधि का उल्लेख स्व-गुरुस्थानवाप्ति-क्रिया के रूप में मिलता है। वैदिक-परम्परा में इस विधि को संस्कार के रूप में नहीं माना गया है।

^{१६३} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु : डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५५, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{१६४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चौबीसवाँ, पृ.-११२, निर्णयसागर मुद्रालय, बोम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१६५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-पच्चीसवाँ, पृ.-११३, निर्णयसागर मुद्रालय, बोम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

प्रतिमोद्धहन की विधि -

इस विधि का उल्लेख हमें श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में ही मिलता है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में हमें इस विधि का उल्लेख नहीं मिलता है।

साध्वियों को दीक्षा प्रदान करने की विधि -

वर्धमानसूरि ने साध्वी को दीक्षा प्रदान करने की विधि का पृथक् से उल्लेख करके इसे एक स्वतंत्र विधान स्वीकार किया है। दिगम्बर-परम्परा में यद्यपि आर्यिका-दीक्षा का उल्लेख मिलता है, किन्तु वहाँ इसे एक स्वतंत्र संस्कार के रूप में विवेचित नहीं किया गया है। वैदिक-परम्परा स्त्रीदीक्षा को पाप समझती है, अतः वहाँ भी इसे पृथक् संस्कार के रूप में नहीं माना है।

प्रवर्तिनी-पदस्थापन-विधि -

आचारदिनकर में इस पद पर स्थापनविधि को भी स्वतंत्र संस्कार के रूप में उल्लेखित किया गया है। दिगम्बर एवं वैदिक- इन दोनों ही परम्परा में हमें इस संस्कार की कोई चर्चा नहीं मिलती है और जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इन दोनों परम्पराओं में इस पद की भी कोई व्यवस्था नहीं है। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में मान्य मूलाचार नामक ग्रन्थ में साध्वियों के गणधर का उल्लेख है।

महत्तरा-पदस्थापन-विधि -

इस विधि में वर्धमानसूरि ने महत्तरापद के योग्य साध्वी के लक्षणों का निरूपण करके महत्तरा-पदस्थापन-विधि का उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा में इस विधि को संस्कार के रूप में अभिहित नहीं किया गया है, यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में हमें महत्तरा-पद की व्यवस्था साध्वियों के आचार्य के रूप में देखने को मिलती है। वैदिक-परम्परा में हमें इस पद की व्यवस्था देखने को नहीं मिलती है, अतः वहाँ इसे संस्कार के रूप में स्वीकार करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।

अहोरात्रिचर्या-विधि -

इस प्रकरण में साधु-साध्वियों की दिन-रात की चर्या का उल्लेख करते हुए संयमोपकरणों का विस्तृत विवेचन किया गया है।^{१६६} संयमनिर्वाह हेतु उपयोगी होने के कारण वर्धमानसूरि ने इसे भी मुनिजीवन के संस्कार के रूप में माना है,

^{१६६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तीसवाँ, पृ.-१२१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १६२२.

किन्तु दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा ने इसे संस्कार के रूप में नहीं माना है, यद्यपि इन दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में इस विषय की आशिक चर्चा मिलती है।

ऋतुचर्याविधि -

इस विधि में वर्धमानसूरि ने साधुओं की ऋतुचर्या का वर्णन कर अलग-अलग ऋतुओं में उनकी आचारविधि का निरूपण किया है।^{9६७} दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस विधि को संस्कार के रूप में उल्लेखित नहीं किया गया है।

अंतिम संलेखना-विधि -

मुनि जीवन के अन्तिम क्षणों में किस प्रकार की आराधना करें तथा उसकी क्या विधि है? इसका इस विधि में निरूपण हुआ है। दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में यह संस्कार योगनिर्वाणसंप्राप्ति-क्रिया^{9६८} के रूप में उल्लेखित हुआ है। वैदिक-परम्परा में हमें इस प्रकार के संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

प्रतिष्ठाविधि -

वर्धमानसूरि ने प्रतिष्ठाविधि को मुनि एवं गृहस्थ- इन दोनों के लिए करने योग्य आठ सामान्य संस्कारों में अन्तर्निहित किया है।^{9६९} दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में हमें प्रतिष्ठाविधि का तो उल्लेख मिलता है, किन्तु वहाँ इसे संस्कार के रूप में विवेचित नहीं किया गया है।

शान्तिकर्म, पौष्टिककर्म एवं बलिविधान -

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इन तीनों विधियों को भी संस्कार के रूप में विवेचित किया है। दिगम्बर-परम्परा में शान्तिकविधान एवं बलिविधान (नैवेद्य) देखने को मिलता है। वैदिक-परम्परा में भी तीनों ही विधानों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इन विधि-विधानों को संस्कार की श्रेणी में नहीं रखा गया है।

प्रायश्चित्तविधि -

इस विधि में वर्धमानसूरि ने प्रमादवश किए गए पापों की विशुद्धि के हेतुभूत प्रायश्चित्तविधि का निरूपण किया है। यह विधि भी मुनि एवं गृहस्थ हेतु

^{9६७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-इकतीसवाँ, पृ.-१२६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{9६८} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु : डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{9६९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

निर्दिष्ट सामान्य संस्कारों के अन्तर्भूत ही है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में प्रायश्चित्तविधि का उल्लेख मिलता है, किन्तु वहाँ इस विधि को भी संस्कार के नाम से अभिहित नहीं किया गया है।

आवश्यकविधि -

जैन-परम्परा में षट्-आवश्यक माने गए हैं - (१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वंदन (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग एवं (६) प्रत्याख्यान। इन षट्-आवश्यकों की क्रिया-विधि का इस प्रकरण में उल्लेख किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में भी इन षट्-आवश्यकों की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। इस परम्परा में हमें इस प्रकार के विधि-विधान का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु उनके संध्याकर्म में इसके कुछ अंश देखे जाते हैं।

तपविधि -

इस प्रकरण में कर्मों की निर्जरा के हेतुभूत तपविधि का वर्णन हुआ है। वर्धमानसूरि ने इसे भी अनिवार्य कर्म के रूप में माना है, जबकि दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इसे संस्कार का रूप नहीं दिया गया है।

पदारोपणविधि -

इस विधि में विभिन्न पदों पर योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति के साथ-साथ मुद्रा-विधि एवं नामकरण-विधि का भी उल्लेख हुआ है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इससे संबंधित कुछ विधि-विधानों का उल्लेख अवश्य मिलता है।

इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं में संस्कार सम्बन्धी अवधारणाओं में कुछ समानता दृष्टिगत होती है, तो कुछ विभिन्नताएँ भी दृष्टिगत होती हैं। यहाँ हमने उनका संक्षिप्त विवेचन ही प्रस्तुत किया है, इनका विस्तृत विवेचन हम चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ अध्याय में करेंगे।



अध्याय - ४

आचारदिनकर में वर्णित गृहस्थ के षोडश संस्कार

प्रस्तुत अध्याय में आचारदिनकर में वर्णित गृहस्थ-जीवन के संस्कारों का विवेचन करने के साथ-साथ उनकी दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में निर्दिष्ट संस्कारों के साथ तुलना एवं समीक्षा की गई है। जैसा कि हम पूर्व में भी कह चुके हैं कि तीनों परम्पराओं में संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में अपनी-अपनी अवधारणा है। यहाँ हमने उन सभी अवधारणाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आचारदिनकर में वर्णित गृहस्थों के षोडश संस्कारों में से क्षीराशन, षष्ठी, शुचिकर्म एवं व्रतारोपण-संस्कार का उल्लेख हमें वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता है। इसी प्रकार आचारदिनकर में वर्णित इन षोडश संस्कारों में से कुछ संस्कारों यथा सूर्य-चन्द्र-दर्शन, क्षीराशन, षष्ठी-पूजन, शुचिकर्म, कर्णवेध, आदि का उल्लेख हमें दिगम्बर-परम्परा के संस्कार सम्बन्धी ग्रन्थ आदिपुराण में भी नहीं मिलता है। इन संस्कारों का उल्लेख हमें आचारदिनकर में ही मिलता है।

आचारदिनकर में वर्णित कुछ संस्कार ऐसे हैं, जिनका हमें वैदिक एवं दिगम्बर-परम्परा में उल्लेख तो मिलता है, किन्तु नाम में भिन्नता होने के कारण उनमें थोड़ा विभेद दिखाई देता है, जैसे- आचारदिनकर में वर्णित सूर्य-चन्द्रदर्शन-संस्कार का उल्लेख हमें वैदिक-परम्परा में निष्क्रमण-संस्कार के रूप में मिलता है, किन्तु इन दोनों ही संस्कारों का प्रयोजन सूर्य-चन्द्र-दर्शन कराना ही है। इसी प्रकार आचारदिनकर में निर्दिष्ट जातकर्म-संस्कार का उल्लेख आदिपुराण में हमें प्रियोद्भवक्रिया के रूप में मिलता है, इत्यादि। वैदिक-परम्परा की अपेक्षा दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में वर्णित संस्कारों में नामों का परिवर्तन बहुतायत में हुआ है, जिनकी हम यथास्थान चर्चा करेंगे। यहाँ तो हमने इन षोडश संस्कारों की सामान्य चर्चा की है, इनकी विशिष्ट चर्चा हम इस अध्याय के अग्रिम पृष्ठों में करेंगे।

गर्भाधान-संस्कार

गर्भाधान-संस्कार का स्वरूप -

गर्भाधान-संस्कार का तात्पर्य गर्भस्थापना करने सम्बन्धी विधि-विधानों से है। इसका शाब्दिक-अर्थ यही माना जाता है, लेकिन वर्धमानसूरि के अनुसार इसका अर्थ गर्भस्थापन सम्बन्धी विधि-विधान से न होकर स्थापित गर्भ के संरक्षण एवं संस्कारित करने सम्बन्धी विधि-विधान से है। इस प्रकार जहाँ दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा ने इसके शाब्दिक-अर्थ का अनुसरण करते हुए इसका तात्पर्य गर्भस्थापन करने सम्बन्धी विधि-विधान से बताया है, वहीं वर्धमानसूरि ने अपने ग्रन्थ आचारदिनकर में इसे गर्भ के स्खलन से बचाने का या गर्भ के संरक्षण सम्बन्धी संस्कार माना है।

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार स्थापित (रहे हुए) गर्भ के संरक्षण हेतु एवं उसे संस्कारित करने हेतु किया जाता है, क्योंकि सामान्यतया पूर्वकाल में यह मान्यता थी कि गर्भिणी को अमंगलकारी शक्तियाँ ग्रस्त कर सकती हैं और जिनके कारण गर्भ का स्खलन हो सकता है, अतः उनके निराकरण के लिए यह संस्कार किया जाता होगा - ऐसा हम मान सकते हैं, साथ ही गर्भ को मंत्रोच्चार एवं विधि-विधान द्वारा संस्कारित करने के प्रयोजन से भी यह संस्कार किया जाता होगा-ऐसा भी हम मान सकते हैं, क्योंकि इतिहास में अभिमन्यु, आदि के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि गर्भस्थ-शिशु पर बाहरी वातावरण का प्रभाव पड़ता है, परन्तु दिगम्बर⁹⁰ एवं वैदिक-परम्परा⁹¹ में इस संस्कार को करने का प्रयोजन गर्भ की स्थापना करना था, अर्थात् उनमें सन्तान की प्राप्ति के लिए यह संस्कार किया जाता था। यह कर्म कोई काल्पनिक धार्मिक-कृत्य नहीं था, अपितु एक यथार्थ कर्म था। जाति एवं कुल की परम्परा को अक्षुण्ण रखने हेतु प्रजनन-कार्य को सोद्देश्य और सुसंस्कृत बनाने के निमित्त ही गर्भाधान किया जाता था।

इस प्रकार तीनों ही परम्परा में यह संस्कार एक विशिष्ट प्रयोजन को लेकर किया जाता था। वर्तमानकाल में इस संस्कार के प्रति अभिरुचि कम होने लगी है।

⁹⁰ आदिपुराण जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४५, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण - २००० ।

⁹¹ धर्मशास्त्र का इतिहास, पांडुरंग वामन काणे, (भाग-प्रथम), अध्याय-६, पृ.-१८१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८० ।

संस्कार का कर्ता -

आचारदिनकर के अनुसार यह संस्कार जैन-ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है।

यहाँ जैन-ब्राह्मण से तात्पर्य⁹⁰² - अर्हत् मंत्र से उपनीत ब्राह्मण से है एवं क्षुल्लक का तात्पर्य⁹⁰³ - ऐसे गृहस्थ से है, जिसने तीन वर्ष तक विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् तीन वर्ष की अवधि के लिए पंचमहाव्रतों को दो करण एवं तीन योग से पालन करने का नियम लिया हो। वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में ऐसे व्यक्ति को क्षुल्लक कहा है।

चूँकि श्वेताम्बर-परम्परा में गर्भाधान-संस्कार का सम्बन्ध गर्भस्थापन से नहीं था, अतः इस संस्कार को कराने का अधिकार क्षुल्लक या जैन-ब्राह्मण (विधिकारक) को प्राप्त था। यद्यपि इस संस्कार की विधि में गर्भवती स्त्री के साथ उसके पति की भी उपस्थिति मानी गई थी।

दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार कौन करवाए, इस सम्बन्ध में आदिपुराण⁹⁰⁴ में यह कहा गया है कि जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गई हैं, जो सफेद वस्त्र पहने हुए है, पवित्र यज्ञोपवीत धारण किए हुए है और जिसका चित्त आकुलता से रहित है- ऐसा द्विज इन मंत्रों के द्वारा ये समस्त क्रियाएँ करवा सकता है, किन्तु ज्ञातव्य है कि गर्भाधान हेतु सम्भोगक्रिया तो पति ही कर सकता था।

वैदिक-परम्परा में यह संस्कार कौन करवाए - इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद हैं। प्राचीन विद्वानों के अनुसार प्रायः पति ही इस संस्कार का कर्ता होता था, किन्तु उसकी अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति भी विहित माना गया था। प्राचीनकाल में हिन्दू-परम्परा में नियोग-प्रथा प्रचलित थी, क्योंकि कुल-परम्परा को अक्षुण्ण रखने हेतु और मृत पूर्वजों के लौकिक तथा पारलौकिक-क्रियाकर्म के लिए, यथा- श्राद्ध, तर्पण, पिण्ड, आदि की क्रिया हेतु सन्तति का होना आवश्यक था और इसी उद्देश्य को लेकर स्मृतियों में विधवा, नपुंसक की स्त्री या अयुक्त पति की पत्नी को देवर, सगोत्र या ब्राह्मण द्वारा

⁹⁰² आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-प्रथम, पृ.-५ निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

⁹⁰³ आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-अठारहवाँ उदय, पृ.-७२ निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२

⁹⁰⁴ आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-चात्सीसवाँ, पृ.-३०१, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण - २०००

सन्तति प्राप्त करने के भी निर्देश दिए गए हैं^{१०५}, लेकिन कालान्तर में पारिवारिक-पवित्रता सम्बन्धी विचार आने पर पति के प्रतिनिधि के द्वारा गर्भस्थापना की परम्परा उपेक्षित होने लगी और अन्त में निषिद्ध मान ली गई। अतः कालान्तर में केवल पति को ही गर्भाधान-संस्कार कराने का अधिकारी माना गया।

गर्भाधान-संस्कार की विधि -

वर्धमानसूरी के अनुसार गर्भधारण के पश्चात् पाँच मास पूर्ण होने पर गर्भाधान की क्रिया गृहस्थ-गुरु द्वारा करवाई जाना चाहिए। यह संस्कार मास, तिथि, दिन, आदि की शुद्धि देखे बिना भी निश्चित मास, आदि में करना चाहिए। फिर भी इस हेतु कौन-कौनसे नक्षत्र एवं वार शुभ कहे गए हैं तथा यह संस्कार किस प्रकार के वेश एवं गुणों से युक्त गृहस्थ-गुरु द्वारा करवाया जाना चाहिए, इसका भी इसमें विचार किया गया है।

गर्भाधान-संस्कार के लिए सर्वप्रथम गृहस्थ-गुरु को गर्भवती स्त्री के पति की अनुज्ञा प्राप्त करना चाहिए। तदनन्तर गर्भवती स्त्री का पति पूर्ण स्नान कर शुद्ध वेश को धारण करे तथा बृहत्स्नात्र-विधि से परमात्मा की पूजा करे और उस स्नात्रजल को पवित्र पात्र में संचित करे। तत्पश्चात् शास्त्रानुसार परमात्मा की द्रव्य एवं भाव पूजा करे। पूजा के अन्त में गृहस्थ-गुरु के निर्देशानुसार सधवा स्त्रियाँ गर्भवती स्त्री को स्नात्रजल से सिंचित करें। तदनन्तर सभी जलाशयों के पानी को एकत्रित करके उसे शान्तिदेवी के मंत्र से सात बार अभिमंत्रित करे तथा उसमें सहस्रमूलचूर्ण को डाले। तत्पश्चात् गृहस्थ-गुरु शान्तिदेवी के मंत्र से या अन्य मंत्र से अभिमंत्रित उस जल से गर्भवती स्त्री को स्नान करवाने हेतु सधवा स्त्रियों को निर्देश दे। स्नान करवाने के बाद गर्भवती स्त्री को सुसज्जित कर उसका पति के साथ मंत्रपूर्वक गीथिबंधन करे तथा पति के वामपार्श्व में पद्मासन में बैठकर शुभपात्र में स्नात्रजल सहित तीर्थोदक को रखे एवं आर्यवेद (जैन) मंत्रपूर्वक कुशाग्र पर स्थित जल क्री बूंदों से गर्भिणी स्त्री को सिंचित करे। तदनन्तर पंच परमेष्ठी मंत्र का स्मरण करते हुए दंपति को आसन से उठाकर जिन बिम्ब के समीप ले जाए। वहाँ शक्रस्तव से जिनवन्दन करके दंपति को शक्ति के अनुसार फल, वस्त्र, मुद्रा, मणि, आदि चढ़ाना चाहिए। विधि के अन्त में गर्भवती स्त्री स्वसंपत्ति में से विधिकारक-गुरु को दान-दक्षिणा दे तथा गुरु उसके प्रतिफल में आशीर्वाद दे। तत्पश्चात् मंत्रपूर्वक गीथि का मोचन कर दंपति को उपाश्रय में ले जाए तथा वहाँ

^{१०५} हिन्दू-संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-पाँचवाँ (प्रथम परिच्छेद), पृ.-६७, चौखम्बा विद्याभवन, पाँचवाँ संस्करण १९६५।

उनसे साधुओं को वंदन करवाकर दान दिलवाए। तदनन्तर अपने कुलाचार के अनुसार कुलदेवता आदि की पूजा करे। इसी विधि में वर्धमानसूरि ने आर्यवेद और जैन-ब्राह्मण-वर्ण के उद्भव की कथा भी उल्लेखित की है। स्थानाभाव के कारण उसका उल्लेख हम यहाँ नहीं कर रहे हैं। इसकी विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के अनुवाद को देखा जा सकता है।

विधि के अन्त में इस संस्कार से सम्बन्धित सामग्रियों का भी उल्लेख हुआ है।

तुलनात्मक विवेचन -

गर्भाधान-संस्कार की अवधारणा को लेकर जैनों के दोनों सम्प्रदायों में एवं जैन तथा वैदिक-परम्परा में भी कुछ मतभेद हैं। यह संस्कार कब, किस समय और किस प्रकार किया जाना चाहिए एवं इसकी विधि क्या हो ? इस सम्बन्ध में सभी की अलग-अलग धारणाएँ हैं।

श्वेताम्बर-परम्परा के अर्द्धमागधी आगमग्रन्थ राजप्रश्नीयसूत्र^{१०६} में इस संस्कार का उल्लेख मिलता है, परन्तु इसमें इस संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख नहीं मिलता है। श्वेताम्बर आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर^{१०७} के अनुसार यह संस्कार गर्भधारण के पश्चात् पांचवाँ मास पूर्ण होने पर करने का विधान है, अर्थात् गर्भधारण के बाद ही, गर्भ रहने के स्पष्ट लक्षण प्रकट होने पर ही यह संस्कार किया जाता है, जबकि जैनों की दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार मासिकधर्म के चतुर्थ दिन चतुर्थ स्नान से शुद्ध होने पर करने का विधान है। उसमें गर्भधारण करवाने के उद्देश्य से ही यह संस्कार किया जाता है। वैदिक-परम्परा में भी दिगम्बर-परम्परा के अनुसार ही यह संस्कार गर्भधारण करवाने के उद्देश्य से ही किया जाता है, परन्तु इस विधि को किस समय करें, इस सम्बन्ध में भी हिन्दू-परम्परा में अनेक मत हैं, जैसे - शंखायन-गृह्यसूत्र^{१०८} में विवाह की तीन रात के उपरान्त चौथी रात को यह संस्कार करने के लिए कहा गया है। मनु^{१०९} एवं याज्ञवल्क्य^{११०} के अनुसार मासिक-प्रवाह की अभिव्यक्ति के

^{१०६} राजप्रश्नीय, सं. - मधुकरमुनि, सू. - २८०, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।

^{१०७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम खण्ड), उदय - प्रथम, पृ.-५, प्रकाशक - निर्णयसागर मुद्रालय बॉम्बे, सन् १९२२।

^{१०८} धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{१०९} मुनस्मृति, सम्पादक - पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, अध्याय-तीसरा, श्लोक-४६, संस्कृति संस्थान बरेली (उ.प्र.)

^{११०} याज्ञवल्क्यस्मृति, सम्पादक - पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, अध्याय-पहला, श्लोक-७६, संस्कृति संस्थान बरेली (उ.प्र.)

उपरान्त सोलह रात्रियाँ इस संस्कार के योग्य हैं, जबकि लघुआश्वलायन^{१८१} के अनुसार रक्त के प्रथम प्रकटीकरण के चौथे दिन के उपरान्त ही गर्भाधान-संस्कार करना चाहिए। स्मृतिचंद्रिका में कहा गया है कि प्रवाह की पूर्ण समाप्ति पर चतुर्थ दिवस इस संस्कार-विधि हेतु उपयुक्त है।

इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा के आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार गर्भधारण के पांच मास पूर्ण होने पर किया जाता है, जबकि दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा के अनुसार यह संस्कार गर्भधारण के उद्देश्य से गर्भाधान के योग्य समय में किया जाता है। पुनः, गर्भाधान के योग्य समय के सम्बन्ध में अनेक विचारधाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वैदिक-परम्परा के आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, मनुस्मृति^{१८२} एवं याज्ञवल्क्यस्मृति^{१८३} में एवं वैखानस-सूत्रों में इस सम्बन्ध में एक विशेष बात का उल्लेख मिलता है, वह यह है कि - मासिक धर्म के चौथे दिन के उपरान्त सम दिनों में लड़के की उत्पत्ति हेतु तथा विषम दिनों में लड़की की उत्पत्ति हेतु संभोग करना चाहिए। दिगम्बर-परम्परा में आर्यिका सुपाश्वर्मतिजी ने सागारधर्माभूत के अनुवाद में आयुर्वेदग्रन्थ अष्टांगहृदय का आलम्बन लेते हुए इस बात का उल्लेख किया है कि सम रात्रियों में समागम करने से पुत्र एवं विषम रात्रियों में समागम करने से पुत्री की प्राप्ति होती है।^{१८४} गर्भाधान के योग्य समय के सम्बन्ध में निवृत्तिप्रधान जैन-परम्परा के ग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार शुभ नक्षत्र, वार एवं तिथि में किया जाने का उल्लेख मिलता है। “आचारदिनकर”^{१८५} के अनुसार श्रवण, हस्त, पुनर्वसु, मूल, पुष्य और मृगशीर्ष नक्षत्र में, रविवार, सोमवार, बुधवार, आदि शुभ वारों एवं शुभ तिथियों में यह संस्कार किया जाना चाहिए। दिगम्बर-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में इस विषय में अलग से कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया गया है, किन्तु नाथूलाल शास्त्री की जैनसंस्कारविधि में ज्योतिष सम्बन्धी उल्लेख मिलता है।^{१८६} वैदिक-परम्परा में इस विषय में कुछ जानकारी मिलती है, जैसे - मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भाधान हेतु अमावस्या, पूर्णमासी, अष्टमी, चतुर्दशी को छोड़ देना चाहिए। मूल एवं मघा नक्षत्र भी इस कर्म हेतु त्याज्य बताए गए हैं।

^{१८१} धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०.

^{१८२} मनुस्मृति, सम्पादक- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, अध्याय-पहला, श्लोक-४८, संस्कृति संस्थान, बरेली

^{१८३} याज्ञवल्क्यस्मृति, सम्पादक- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, अध्याय पहला, श्लोक-७६, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

^{१८४} सागारधर्माभूत, अनु.-आ. सुपाश्वर्मति, अध्याय-तृतीय, पृ.-१७६, भारतवर्षीय अनेकाल विद्वत् परिषद्।

^{१८५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम खण्ड), उदय-प्रथम, पृ.-५, निर्णयसागर मुद्रालय बॉम्बे, सन् १९२२

^{१८६} जैनसंस्कारविधि, पं. नाथूलाल जैन, अध्याय-२, पृ.-५-६, श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ, प्रकाशन समिति, गोम्पटगिरी,, इन्दौर पांचवाँ संस्करण, १९६८

इसी प्रकार अन्य हिन्दू ग्रन्थों में^{१८७} भी कुछ महीनों, तिथियों, नक्षत्रों, आदि को गर्भाधान हेतु अशुभ माना गया है।

आचारदिनकर में इस संस्कार को करने से पूर्व पति की अनुमति एवं संस्कार-कार्य में पति की उपस्थिति को अनिवार्य बताया गया है, दिग्म्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी इस संस्कार में पति की उपस्थिति को अनिवार्य बताया है।

इस संस्कार को किस प्रकार से किया जाना चाहिए, अर्थात् किस विधि से यह संस्कार करें, इस सम्बन्ध में दोनों ही परम्पराओं में बहुत भिन्नता है, जैसे- श्वेताम्बर-परम्परा के आचारदिनकर^{१८८} नामक ग्रन्थ में इसकी विधि बताते हुए कहा गया है कि गर्भवती स्त्री एवं उसका पति सर्वप्रथम नख से शिखापर्यन्त पूर्ण स्नान करके, निज वर्ण के अनुसार शुद्ध वस्त्रों को धारण करके, आदिनाथ परमात्मा की प्रतिमा की शास्त्रानुसार बृहत्स्नात्रविधि करें एवं उसके स्नात्र के जल को पवित्र पात्र में संचित करें।

उसके पश्चात् जिनप्रतिमा की अष्टद्रव्यों से गीत-वाजिंत्रों सहित शास्त्रोक्त पूजा करें। पूजा करने के पश्चात् गृहस्थ-गुरु सधवा स्त्रियों के हाथों से उस गर्भवती स्त्री को स्नात्र के जल से सिंचित कराए। तत्पश्चात् सर्व जलाशयों के जल को एकत्रित कर उसमें सहस्रमूल-चूर्ण डालकर शान्तिदेवी के मंत्र द्वारा उसे अभिमंत्रित करें या गर्भितस्तोत्र द्वारा सात बार उसे अभिमंत्रित करें। इस अभिमंत्रित जल से मंगलगीत गाती हुई पुत्रवान् सधवा स्त्रियाँ गर्भवती स्त्री को स्नान कराएं। उसके बाद गर्भवती उपयुक्त साजसज्जा कर पति के साथ वस्त्रांचल-ग्रन्थिबन्धन के लिए पति के वामपार्श्व में शुभ-आसन पर स्वस्तिक करके बैठे।

विधिकारक ग्रन्थियोजन-मंत्र द्वारा ग्रन्थिबन्धन करें। उसके बाद गृहस्थ-गुरु (विधिकारक) उनके सामने पादपीठ पर पद्मासन में बैठकर मणि, स्वर्ण, चांदी एवं ताम्र के पात्रों में परमात्मा के स्नात्रजल सहित तीर्थोदक को रखकर आर्य वेदमंत्र का उच्चारण करते हुए कुशाग्र से या पत्ते से सात बार गर्भिणी के सिर एवं शरीर को अभिसिंचित करें। उसके बाद पंचपरमेष्ठीमंत्र का स्मरण करते हुए दंपति आसन से उठे एवं जिनप्रतिमा के समीप जाकर शक्रस्तव से जिनवंदन करें। यथाशक्ति परमात्मा के समक्ष फल, वस्त्र, स्वर्णमुद्रा, मणिरत्न, आदि चढ़ाए। उसके पश्चात् अपनी शक्ति के अनुरूप गृहस्थ-गुरु (विधिकारक)

^{१८७} धर्मशास्त्र का इतिहास, पांडुरंग वामन काणे, (भाग प्रथम), अध्याय-६, पृ.-१८१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण, १९८०

^{१८८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम खण्ड), उदय-प्रथम, पृ.-५, निर्णयसागर मुद्रालय बॉम्बे, सन् १९२२ ।

को भी वस्त्र, स्वर्णमुद्रा (द्रव्य), आभरण, आदि का दान दे। गृहस्थ-गुरु उन दोनों को आशीर्वाद दे। इसके बाद मंत्र द्वारा ग्रन्थि-विमोचन करके उपाश्रय में जाकर दंपति साधुजनों को गुरुवंदन के पाठ से वंदन करे एवं उनको निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र, आदि का दान दे। आचारदिनकर में जैन-परम्परा-अनुसार यह गर्भाधान-संस्कार की विधि बताई है। उसके बाद अपने कुलाचार के अनुसार कुलदेवता, गृहदेवता एवं नगरदेवता की पूजा करे।

दिगम्बर-परम्परा के “आदिपुराण”^{१८६} नामक ग्रन्थ में इस संस्कार की विधि को बताते हुए कहा गया है - चतुर्थ स्नान के द्वारा शुद्ध हुई रजस्वला पत्नी को आगे कर गर्भाधान के पूर्व अरिहंतदेव की पूजा द्वारा मंत्रपूर्वक यह संस्कार किया जाता है। इस क्रिया (संस्कार) की पूजा में जिनेन्द्र परमात्मा की दाहिनी ओर तीन चक्र, बाईं और तीन छत्र और सामने तीन पवित्र अग्नियों की स्थापना की जाती है।

अरिहन्तदेव की पूजा करने के पश्चात् शेष बचे हुए पवित्र द्रव्य से पुत्र उत्पन्न होने की इच्छा कर (पुत्रप्राप्ति की इच्छा से) मंत्रपूर्वक उन तीन अग्नियों में आहुति दी जाती है। इस प्रकार गर्भाधानक्रिया को विधिपूर्वक करने के पश्चात् स्त्री और पुरुष- दोनों विषयानुराग के बिना मात्र सन्तान की प्राप्ति के लिए समागम करते हैं। दिगम्बर-परम्परा में गर्भाधान की यही विधि बताई गई है।

वैदिक-परम्परा में विविध गृह्यसूत्रों में इसकी भिन्न-भिन्न क्रियाविधि बताई गई है। अथर्ववेद^{१८०}, बृहदारण्यकोपनिषद्^{१८१}, आश्वलायनगृह्यसूत्र^{१८२}, शंखायनगृह्यसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र,^{१८३} आदि में भी इस संस्कार की विधि मिलती है। शंखायनगृह्यसूत्र^{१८४} में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है- विवाह की तीन रात व्यतीत हो जाने पर चौथी रात्रि को पति अग्नि में पके हुए भोजन की आठ आहुतियाँ देता है। इसके पश्चात् अध्यण्डा नामक वृक्ष की जड़ को कूटकर उसके

^{१८६} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पूर्व-अड़तीसवीं, पृ.-२४५, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवीं संस्करण : २०००

^{१८०} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग प्रथम) पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{१८१} बृहदारण्यकोपनिषद्, भाष्यकार भगवान शंकर, अध्याय-६/४/२१, पृ.-१३५७, गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर २०५२

^{१८२} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग प्रथम) पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{१८३} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{१८४} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

जल को पत्नी की नाक पर छिड़कता है, तब वह पत्नी को छूता है। संभोग करते समय “तू गन्धर्व विश्वासु का मुख हो”- कहता है। पुनः, वह पत्नी से कहता है- “हे ! (पत्नी का नाम लेकर) मैं वीर्य डालता हूँ, जिस प्रकार तरकश में बाण घुसता है, उसी प्रकार एक नर भ्रूण तेरे गर्भाशय में प्रवेश करे और दस मास के उपरान्त एक पुरुष उत्पन्न हो।” पारस्करगृह्यसूत्र में भी यही विधि कही गई है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र^{१६५} तथा गोभिल ने भी संक्षेप में इसी विधि का निरूपण किया है, किन्तु उनके मन्त्रपाठ भिन्न हैं। भारद्वाजगृह्यसूत्र^{१६६} में एक विशेष बात का उल्लेख मिलता है कि रजस्वला स्त्री चौथे दिन स्नानोपरान्त श्वेत वस्त्र धारण करे, आभूषण पहने एवं योग्य ब्राह्मणों से बात करे - अन्य किसी व्यक्ति से बात न करे। इसी बात को वैखानस^{१६७} में इस प्रकार कहा गया है कि वह अंगराग का लेप करे, किसी नारी या शूद्र से बात न करे, पति को छोड़कर किसी अन्य को न देखे, क्योंकि स्नानोपरान्त वह जिसे देखेगी, उसी के समान सन्तान होगी - ऐसी मान्यता है। यही बात शंखस्मृति में भी उल्लेखित है। रजस्वला नारियाँ उस अवधि में जिन्हें देखती हैं, उन्हीं के गुण उनकी सन्तानों में आ जाते हैं, किन्तु इस प्रकार की चर्चा प्रायः श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें कहीं देखने को नहीं मिलती है।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में जिस प्रकार संस्कार के प्रारंभ में अर्हत्पूजन का विधान किया है, ठीक उसी प्रकार वैदिक-परम्परा में गोभिलस्मृति^{१६८} के अनुसार सभी संस्कारों के आरम्भ में गणाधीश, अर्थात् गणपति के साथ मातृकापूजन किए जाने का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं वैदिक-परम्परा में इस संस्कार को अपने-अपने ढंग से एवं अपनी-अपनी शैली में प्रस्तुत किया गया है। श्वेताम्बर-परम्परा में यह विधि कुछ विस्तृत एवं अधिक स्पष्ट रूप से मिलती है। इस संस्कार को कौनसे नक्षत्र, तिथि, वार, आदि में किया जाना चाहिए- इसका स्पष्ट निरूपण वर्धमानसूरी ने किया है। दिगम्बर-परम्परा में यह विधि संक्षिप्त रूप से कही गई है, जैसे - अरिहन्तदेव की पूजा का निर्देश करके भी वह पूजा किस

^{१६५} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{१६६} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{१६७} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{१६८} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

प्रकार करें- इसका स्पष्ट निर्देश उसमें नहीं किया गया है, जबकि वर्धमानसूरि ने पूजाविधि का विस्तृत उल्लेख किया है।

संक्षेप में, तीनों ही परम्पराओं में इस संस्कार को स्वीकार किया गया है और सभी ने इसे संस्कारों में प्रथम स्थान दिया है। साथ ही इसे पति की साक्षी में ही करने का विधान किया है। भिन्नता की दृष्टि से देखा जाए, तो श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार गर्भाधान के पांच मास पूर्ण होने पर किया जाता है, जबकि दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में गर्भाधान हेतु ही यह क्रिया की जाती है।

उपसंहार -

इस तुलनात्मक-विवेचन के पश्चात् हम इस संस्कार की उपादेयता एवं आवश्यकता को लेकर कुछ समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत करना चाहते हैं। यह स्पष्ट है कि प्रवृत्तिप्रधान गृहधर्म के परिपालन के लिए तथा वंश-परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए इस संस्कार की आवश्यकता है। यद्यपि संसार में बिना संस्कार के भी गर्भाधान और वंशवृद्धि होती देखी जाती है, किन्तु सुसंस्कारित सन्तान की प्राप्ति के लिए संस्कारक्रिया को प्राचीनकाल से ही आवश्यक माना गया है। प्राचीनकाल में अभिमन्यु, आदि की कथाओं के माध्यम से इस बात को स्पष्ट किया गया है कि गर्भस्थ-बालक पर भी बाह्य-परिस्थितियों के अच्छे-बुरे संस्कार पड़ते हैं। अब तो आधुनिक विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करने लगा है कि परिवेश का प्रभाव गर्भ पर पड़ता है और इस दृष्टि से गर्भाधान-संस्कार की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है।

फिर भी समीक्षात्मक-दृष्टि से हमें यह बात समझ लेना चाहिए कि जहाँ वैदिक और दिगम्बर-परम्पराएँ इस संस्कार को गर्भस्थापन की दृष्टि से आवश्यक मानती हैं, वहीं श्वेताम्बर-परम्परा में गर्भ के संरक्षण और उसे संस्कारित करने के लिए इस संस्कार को आवश्यक माना गया है। आचार्य वर्धमानसूरि ने इस संस्कार के काल का जो निर्धारण किया है, वह वस्तुतः उनकी निवृत्तिप्रधान दृष्टि का परिचायक है। गर्भ के स्थापना निमित्त संस्कार करना और स्थापित गर्भ के संरक्षण और संस्कारित करने हेतु संस्कार करना - इन दोनों दृष्टिकोणों में महत् अन्तर है, इसे हमें समझना होगा। गर्भस्थापन हेतु संस्कार करने की जो बात दिगम्बर-परम्परा और विशेष रूप से हिन्दू-परम्परा में कही गई है, वह कहीं-न-कहीं प्रवृत्तिमार्ग की संपोषक है, जबकि वर्धमानसूरि द्वारा विरचित आचारदिनकर में गर्भाधान के पांच माह पश्चात् जो इस संस्कार का उल्लेख किया है, वह उनकी निवृत्तिमार्गी दृष्टि का परिचायक है और उसमें गर्भ के कल्याण की ही बात प्रमुख है। यहाँ सांसारिक-प्रवृत्तियों के पोषण का नहीं, अपितु उन्हें

संयमित एवं संस्कारित करने का दृष्टिकोण प्रमुख है। इस प्रकार प्रस्तुत संस्कार के सम्बन्ध में आचारदिनकर में प्रतिपादित वर्धमानसूरि का दृष्टिकोण जैनधर्म की निवृत्तिमार्गी परम्परा का संपोषक ही प्रतीत होता है।

पुंसवन-संस्कार

पुंसवन-संस्कार का स्वरूप -

गर्भाधान के पश्चात् गर्भ से पुत्र की प्राप्ति हो- इस हेतु पुंसवन नामक संस्कार किया जाता था। पुंसवन शब्द का अभिप्राय - वह कर्म, जिसके अनुष्ठान से 'पुं-पुमान्' (पुरुष) का जन्म हो। सम्भवतः, इस संस्कार को यह नाम इसलिए दिया गया, क्योंकि इसके करने से गर्भ से पुत्रोत्पत्ति होती थी- ऐसी लोक-प्रचलित मान्यता थी (पुमान् प्रसूयते येन तत् पुंसवनमीरितम्-संस्कारप्रकाश^{१६६}) पुंसवन शब्द अथर्ववेद^{१००} में भी आया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है -“लड़के को जन्म देना।” इस अवसर पर गाए जाने वाले गीतों या ऋचाओं में भी पुत्रजन्म की ही कामना की जाती है।

प्राचीन समय में पुरुष प्रधान संस्कृति होने के कारण पुत्र को जन्म देने वाली माता की प्रशंसा की जाती थी तथा समाज में पुरुष को सम्मानित स्थान प्राप्त था। यह परम्परा उस युग से चली आ रही है, जब युद्ध के लिए पुरुषों की आवश्यकता अधिक होती थी, क्योंकि प्रत्येक युद्ध के बाद पुरुष-संख्या में कमी आ जाती थी। उस कमी को पूरा करने के लिए प्राचीन समय से ही यह पुंसवन-संस्कार सम्बन्धी क्रिया की जाती रही है। यदि सन्तति स्त्री भी हो, तो भी आशा तो यही की जाती थी कि वह आगे चलकर पुरुष-संतान को जन्म देगी। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अब इस संस्कार का इतना अधिक महत्व नहीं रहा है, अतः यह संस्कार प्रायः उपेक्षित है।

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर^{१०१} के अनुसार श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार गर्भ के आठ मास व्यतीत हो जाने पर तथा सर्वदोहद (गर्भवती स्त्री की कामनाएँ) पूर्ण होने के पश्चात् गर्भस्थ-शिशु के सम्पूर्ण अंग-उपांग पूर्णतः विकसित होने पर शरीर में पूर्णाभाव प्रमोदरूप स्तनों में दूध की उत्पत्ति के सूचकार्य यह

^{१६६} देखें - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८७-१८८ उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{१००} देखें - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६ पृ.-१८८ उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{१०१} “आचारदिनकर”, श्री वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-द्वितीय, पृ.-८, निर्णयसागर मुद्रालय बॉम्बे। (सन् १९२२)

संस्कार किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार का अलग से कोई विवेचन नहीं मिलता है, यद्यपि उनके सुप्रीति^{२०२} नामक संस्कार से इसकी तुलना की जा सकती है।

दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार गर्भ की पुष्टि और उत्तम सन्तान की कामना से गर्भाधान के पाँचवें माह में देवाराधन के साथ किया जाता है। यह संस्कार पुत्रोत्पत्ति हेतु ही किया जाता है- ऐसा उल्लेख दिगम्बर-ग्रन्थों में नहीं मिलता है, जबकि वैदिक-परम्परा में यह संस्कार तेजस्वी पुत्र की कामना से किया जाता है। यह संस्कार कब किया जाना चाहिए- इस सम्बन्ध में सबकी अलग-अलग धारणा है, कोई इसे द्वितीय मास में, तो कोई इसे सीमन्तोन्नयन-संस्कार के बाद, अर्थात् चौथे मास के पश्चात् यह संस्कार करने को कहता है। इसी प्रकार कितने ही विद्वान् पाँचवें या आठवें मास के पश्चात् भी यह संस्कार करने के लिए कहते हैं, परन्तु आश्वलायनगृह्यसूत्र^{२०३} के अनुसार तीसरे महीने में यह संस्कार किया जाता है। इस प्रकार वैदिक-परम्परा में इस संस्कार के अनुष्ठान का समय गर्भ के द्वितीय से अष्टम मास तक माना गया है।

संस्कारकर्त्ता -

श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार जैन-ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार कौन करवाए- इसका स्पष्ट निर्देश आदिपुराण में मिलता है। उसके अनुसार जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गई हैं, जो सफेद वस्त्र पहने हुए है, पवित्र यज्ञोपवीत धारण किए हुए है और जिसका चित्त आकुलता से रहित है- ऐसा द्विज मंत्रों द्वारा समस्त क्रियाएँ करे। सामान्यतया, जैन-ब्राह्मण ही यह संस्कार करवाते हैं। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार गर्भिणी स्त्री का पति या उसके अभाव में देवर यह संस्कार करवाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रस्तुत की है -

पुंसवनसंस्कार की विधि -

वर्धमानसूरि के अनुसार गर्भ के आठ मास व्यतीत हो जाने पर, सर्वदोहद पूर्ण हो जाने पर, गर्भस्थ-शिशु के सम्पूर्ण अंग-उपांग पूर्णतः विकसित हो जाने पर शरीर के पूर्णभाव एवं उसके प्रमोदरूप स्तनों में दूध की उत्पत्ति का

^{२०२} "आदिपुराण" श्री जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २००० ।

^{२०३} देखें - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८८ उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

सूचक पुंसवनकर्म करना चाहिए। ज्योतिषानुसार यह संस्कार कब किया जाना चाहिए, इसका भी वर्धमानसूरि ने इसमें उल्लेख किया है।

गृहस्थ-गुरु के वेश को धारण किए हुए विधिकारक-गुरु सुसज्जित गर्भवती स्त्री को रात्रि के चतुर्थ प्रहर में जिस समय गगन में तारें हों, उस समय श्रृंगारित सधवा स्त्रियों द्वारा मंगलगान गाते हुए तेलमर्दन और उबटन लगवाकर जल से स्नान करवाए। तदनन्तर प्रभात होने पर भव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित उस गर्भिणी स्त्री की उपस्थिति में स्वजन, सम्बन्धी या विधिकारक-गुरु स्वयं गृहचैत्य में स्थित जिनबिम्ब को पंचामृत से बृहत्स्नात्र-विधिपूर्वक स्नान कराए। तत्पश्चात् जिनप्रतिमा को सहस्त्रमूल एवं समस्त तीर्थजल से स्नान कराए तथा उस स्नात्रजल को शुभ पात्र में संचित करे। तदनन्तर गृहस्थ-गुरु पति या देवर आदि जनों की साक्षी में शुभ-आसन पर स्थित गर्भिणी स्त्री के सिर, स्तन एवं उदर को विधिपूर्वक वेदमंत्रोच्चारपूर्वक स्नात्रजल से आठ बार अभिसिंचित करे। तत्पश्चात् गर्भवती स्त्री आसन से उठकर सर्वजाति के आठ फल तथा सोने-चाँदी की आठ मुद्राएँ, प्रणाम करके जिनप्रतिमा के सम्मुख रखे। तदनन्तर विधिकारक गुरु को दान-दक्षिणा दे। उसके बाद उपाश्रय में जाकर साधुओं को वन्दन करे, यथाशक्ति दान दे। तत्पश्चात् अपने से आयुष्य में बड़े लोगों को नमस्कार करके कुलाचार के अनुसार कुलदेवता, आदि की पूजा करे।

अन्त में इस संस्कार से सम्बन्धित सामग्रियों का भी उल्लेख हुआ है। इस विधि की विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक-विवेचन -

पुंसवन नामक संस्कार को लेकर जैन-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा की अपनी-अपनी अवधारणाएँ हैं। इसी प्रकार पुंसवन-संस्कार की विधि एवं समय को लेकर भी दोनों का अपना-अपना मंतव्य है।

श्वेताम्बर-परम्परा में वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर^{२०४} के अनुसार यह संस्कार गर्भधारण से आठवें माह पश्चात् करने का विधान है, अर्थात् गर्भ के पूर्ण विकसित होने पर ही यह संस्कार किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में इस नाम का कोई संस्कार उल्लेखित नहीं है, परन्तु उस परम्परा के सुप्रीति-संस्कार^{२०५} को

^{२०४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम भाग), उदय-द्वितीय, पृ.-८, निर्णयसागर मुद्रालय बॉम्बे, सन् १९२२

^{२०५} आदिपुराण, श्री जिनसेनाचार्यकृत (द्वितीय भाग), अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अइतीसवाँ, पृ.- २४६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण: २००० ।

इस संस्कार के समान मान सकते हैं। इस संस्कार को दिग्म्बर-परम्परा में पुत्रोत्पत्ति के सूचकार्य नहीं, वरन् गर्भ के पुष्ट एवं उत्तम सन्तान-प्राप्ति की कामना से गर्भाधान के पांचवें माह में किया जाता है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार पुत्रप्राप्ति की कामना से किया जाता है, किन्तु इस परम्परा में यह संस्कार सामान्यतः गर्भाधान से तीसरे मास के पश्चात् करने का विधान है। इस प्रकार इस संस्कार के समय के सम्बन्ध में सबके अपने-अपने मत हैं। आपस्तम्बगृह्यसूत्र, हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एवं भारद्वाजगृह्यसूत्र के मतानुसार यह संस्कार सीमन्तोन्नयन के उपरान्त होता है।^{२०६} आपस्तम्ब तो इसे गर्भ के लक्षण स्पष्ट हो जाने पर ही करने को कहते हैं। पारस्कर, बैजवाप, जातूकर्ण्य, गोभिल, खादिर, आदि भी इसके समय के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। काठकगृह्यसूत्र गर्भाधान के पांचवें तथा मानवगृह्यसूत्र ने आठवें मास में पुंसवन करने का निर्देश दिया है।^{२०७} इस प्रकार वैदिक-परम्परा में इस संस्कार के उपयुक्त समय के सम्बन्ध में सबकी अलग-अलग अवधारणा है, किन्तु आचारदिनकर का मत मानवगृह्यसूत्र से मिलता है।

इस संस्कार को किस समय, अर्थात् कौनसे ग्रह, नक्षत्र एवं वारों में करना चाहिए- इसका निर्देशन करते हुए आचारदिनकर में वर्धमानसूरि कहते हैं- नक्षत्रों में मूल, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, मृगशीर्ष और श्रवण नक्षत्र एवं वारों में मंगलवार, गुरुवार एवं रविवार पुंसवनकर्म के लिए उचित माने गए हैं। छठवें मास में या आठवें मास में भी यदि उसके स्वामी, अर्थात् पति को अभुक्त पुरुष लग्न हो, तो भी इस संस्कार की क्रिया की जाना इष्ट है। सामान्यतया अशुभ तिथि, नक्षत्र, योगों का त्याग करके गर्भवती स्त्री के पति के चंद्रबल में ही पुंसवन-संस्कार करना चाहिए। दिग्म्बर-परम्परा में किया जाने वाला सुप्रीति नामक संस्कार, जिसे हम पुंसवन-संस्कार के समानान्तर ही मान सकते हैं, किस समय, अर्थात् किन नक्षत्रों आदि में किया जाना चाहिए ? उसका उल्लेख प्राचीन साहित्य में तो नहीं मिलता है, परन्तु नाथूलाल शास्त्री की जैन-संस्कार-विधि में ज्योतिष सम्बन्धी उल्लेख अवश्य मिलते हैं, जैसे- सुप्रीति या पुंसवनक्रिया श्रवण, रोहिणी, पुष्य नक्षत्र, रवि, मंगल, गुरु, शुक्रवार, द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी-तिथि में करें।^{२०८} वैदिक-परम्परा में यह संस्कार किन

^{२०६} देखें - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८८ उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{२०७} देखें - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८८ उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{२०८} जैन संस्कार विधि, पं. नाथूलाल जैन शास्त्री,, अध्याय-२, पृ.-७-८, श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, गोम्मटगिरी,, इन्दौर, पांचवीं आवृत्ति २०००।

नक्षत्रों में किया जाना चाहिए- इसका दिशा-निर्देशन करते हुए आश्वलायनगृह्यसूत्र में कहा गया है कि गर्भ के तीसरे महीने तिष्य (पुष्य) नक्षत्र के दिन यह संस्कार किया जाता है।^{२०६} इसी प्रकार कुछ विद्वान् इस संस्कार को पुरुष-नक्षत्र में करने के लिए कहते हैं। पुरुष-नक्षत्र के सम्बन्ध में विद्वानों का एक मत नहीं है। स्मृतिचन्द्रिका^{२१०} द्वारा उद्धृत एक श्लोक में हस्त, मूल, श्रवण, पुनर्वसु, मृगशिरा एवं पुष्य पुरुष-नक्षत्र कहे गए हैं। संस्कारमयूख में उल्लेखित नारदीयसूत्र के अनुसार रोहिणी, पूर्वभाद्रपदा एवं उत्तरभाद्रपदा भी पुरुष-नक्षत्र हैं।^{२११} इस प्रकार कितने ही मत हैं, जिनके विस्तार में जाना यहाँ अपेक्षित नहीं है।

श्वेताम्बर-परम्परा में अरहन्त परमात्मा की पूजा एवं साधुओं की भक्ति के साथ विधि कराने वाले को दान देकर यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। इसी प्रकार दिगम्बर-परम्परा में भी सुप्रीति नामक संस्कार अरहंत देवाराधन के साथ सम्पन्न करने का निर्देश मिलता है, परन्तु साधुओं की भक्ति एवं क्रियाकारक को दान देने के सम्बन्ध में यहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में होम, सेम एवं जौ के साथ दधि-पान एवं स्त्री की नाक में कोई औषधि डालने की क्रियाओं के साथ यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्पराओं में इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश हमारी जानकारी में नहीं है।

श्वेताम्बर-परम्परा में इस संस्कार को करते समय कुछ मंत्रों का भी विधान किया है, जैसे- परमात्मा के स्नात्रजल से निम्न मंत्र बोलते हुए गर्भिणी स्त्री के सिर, स्तन एवं उदर को अभिसिक्त करते हैं^{२१२} -

“ॐ अर्हं नमस्तीर्थकरनामकर्मप्रतिबन्धसंप्राप्तसुरासुरेन्द्रपूजायार्हते आत्मने त्वमात्मायुः कर्मबन्ध प्राप्यं तं मनुष्य जन्म गर्भावासमवाप्तोऽसि तद्भवजन्मजरामरणगर्भवास विच्छित्तये प्राप्तार्हद्धर्मोऽर्हद्भवतः सम्यक्त्वनिश्चलः कुलभूषणः सुखेन तवजन्मास्तु। भवतु तवत्वन्मातापित्रोः कुलस्याभ्युदयः ततः शान्तिः तुष्टिवृद्धिः ऋद्धिः कान्तिः सनातनी, अर्हं ॐ।”

^{२०६} देखें - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८८ उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{२१०} देखें - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८८ उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{२११} देखें - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८८ उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{२१२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-द्वितीय उदय, पृ.-६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२।

दिगम्बर-परम्परा में भी सुप्रीति-संस्कार को करने के लिए मंत्रों का विधान किया है, पर यह मंत्र किस समय बोले जाना चाहिए- इसका स्पष्ट निर्देश एवं इसकी विधि न मिलने के कारण हम यह नहीं कह सकते कि यह मंत्र संस्कार करते समय, किस समय बोलें, परन्तु आदिपुराण^{२९३} में जो इसके मंत्र बताए गए हैं, वे इस प्रकार हैं-

“अवतार कल्याणी भव, मन्दरेन्द्राभिषेक कल्याणभागी भव, निष्क्रान्ति कल्याणभागी भव, आर्हन्त्य कल्याणभागी भव, परमनिर्वाण कल्याणभागी भव।”

वैदिक-परम्परा में भी इस संस्कार को करने के लिए कुछ मंत्रों का निर्देश दिया है। वीर्यवान् और बलवान् पुत्र की प्राप्ति के लिए एक जलपात्र स्त्री के अंक में रखकर उसके उदर का स्पर्श करते हुए ‘सुपर्णोऽसि’, आदि मन्त्र का उच्चारण किया जाता था।^{२९४} इस प्रकार इस संस्कार के किए जाने के समय बोले जाने वाले मंत्रों में तीनों परम्पराओं में मतभेद है।

श्वेताम्बर-परम्परा के आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित पुंसवन-संस्कार की सम्पूर्ण विधि करने के पश्चात् कुलाचार के अनुरूप कुलदेवता, आदि की पूजा एवं संस्कार हेतु आवश्यक सामग्री का भी निर्देश दिया गया है,^{२९५} जबकि दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में ऐसा कोई निर्देश हमें प्राप्त नहीं होता है, परन्तु श्वेताम्बर-परम्परा में जिस प्रकार सर्वप्रथम अर्हत्पूजा करने का निर्देश मिलता है, ठीक उसी प्रकार वैदिक-परम्परा में गणाधीश के साथ मातृकापूजन का निर्देश मिलता है।

यह संस्कार प्रत्येक गर्भधारण के समय करना चाहिए या नहीं ? इस सम्बन्ध में जैन-परम्परा में कोई उल्लेख नहीं मिलता, पर वैदिक-परम्परा की स्मृतियों में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है। शौनक^{२९६} के अनुसार यह कृत्य प्रत्येक गर्भधारण के पश्चात् करना चाहिए, जबकि याज्ञवल्क्यस्मृति^{२९७} पर

^{२९३} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवाद- डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-चालीसवाँ, पृ.-३०३, भारतीय विद्यापीठ, सातवाँ संस्करण - २००० ।

^{२९४} हिन्दू-संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-पांचवाँ, (द्वितीय परिच्छेद) पृ.-७४-७५, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण - १९६५ ।

^{२९५} आचारदिनकर, वर्धमानसुरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-द्वितीय, पृ.-६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२।

^{२९६} हिन्दू-संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-पांचवाँ, (द्वितीय परिच्छेद) पृ.-७६, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण - १९६५ ।

^{२९७} हिन्दू-संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-पांचवाँ, (द्वितीय परिच्छेद) पृ.-७६, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण - १९६५ ।

विज्ञानेश्वरप्रणीत मिताक्षराटीका में इस संस्कार को एक बार ही सम्पादन करने के लिए कहा गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों परम्पराओं में यह संस्कार अपनी-अपनी मान्यता के अनुरूप किया जाता है, पर इस संस्कार का प्रयोजन श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार शरीर में पूर्णभाव प्रमोदरूप स्तनों में दूध की उत्पत्ति के सूचकार्थ है, तो वैदिक-परम्परा के अनुसार पुत्र की प्राप्ति करना ही है। श्वेताम्बर-परम्परा में इस विधि का विवेचन सरल ढंग से किया है। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में वैदिक-परम्परा में बताई गई विधि से यह विधि कुछ विस्तृत है, परन्तु इसमें कर्ता, हेतु आदि सभी निर्देश बहुत स्पष्ट दिए गए हैं। दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार-विधि हेतु आवश्यक सभी बातों का विवेचन नहीं किया गया है। श्वेताम्बर-परम्परा की भाँति वैदिक-परम्परा में भी कुछ एक दिशानिर्देश मिलते हैं, जैसे- अमुकवार, अमुकनक्षत्र, आदि में यह संस्कार करना चाहिए, इत्यादि। ज्ञातव्य है कि वैदिक-परम्परा में गर्भरक्षण-संस्कार को भी पुंसवन-संस्कार का ही एक भाग माना है।

उपसंहार -

इस तुलनात्मक-विवेचन के पश्चात् हम इस संस्कार की उपादेयता, आवश्यकता एवं प्रयोजन को लेकर समीक्षात्मक-विवेचन प्रस्तुत करेंगे। हम पाते हैं कि गर्भाधान के पश्चात् किया जाने वाला यह संस्कार अपने-आप में महत्वपूर्ण है। इस संस्कार को करने का उद्देश्य ही इसकी महत्ता को उजागर कर देता है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि प्राचीन समय में हर युद्ध के पश्चात् पुरुषों की संख्या कम हो जाती थी, जिनकी पूर्ति करने के उद्देश्य से गर्भिणी स्त्री को इस संस्कार से संस्कारित कर पुत्रप्राप्ति की कामना की जाती थी, जिससे गर्भिणी स्त्री पुत्र को जन्म दे तथा पुरुषों की कमी न हों। दूसरा, यह भी माना जा सकता है कि उस समय पुरुष-प्रधान संस्कृति के कारण पुरुष को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था तथा पुत्र की माता को बहुमान की दृष्टि से देखा जाता था, अतः पुत्रोत्पत्ति की कामना स्वाभाविक थी, क्योंकि हर माता इस बहुमान को प्राप्त करने की इच्छा रखती थी, इसी हेतु वे इस संस्कार को सम्पन्न करती थीं।

दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार पुत्रप्राप्ति हेतु नहीं, वरन् गर्भ के पुष्ट होने एवं उत्तम सन्तान की कामना से किया जाता है, जिसके पीछे शायद ऐसी मान्यता रही होगी कि पुत्र या पुत्री की प्राप्ति तो कर्मानुसार होती है, पर गर्भस्थ जीव के पुष्ट होने एवं उत्तम सन्तान की प्राप्ति की कामना तो की जा सकती है। दिगम्बर ग्रन्थ सागारधर्माभूत में पुत्र की आवश्यकता बताते हुए योग्य

पुत्र की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करने के लिए कहा गया है, जो इस बात का समर्थक है कि दिगम्बर-परम्परा में भी सन्तान “पुत्र” हो, इसके लिए प्रयत्न किए जाते थे, परन्तु दिगम्बर-ग्रन्थ आदिपुराण में इस प्रकार का कोई निर्देश नहीं मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परा में वर्धमानसूरि ने इस संस्कार को पुत्र-प्राप्ति का हेतु न मानकर गर्भ की शरीर-रचना के पश्चात् प्रमोदरूप माता के स्तनों में दूध की उत्पत्ति के लिए माना है। वर्धमानसूरि ने अपना यह मंतव्य निश्चित रूप से जैन-धर्म के कर्मसिद्धांत को अनुलक्ष्य में रखकर ही दिया होगा- ऐसा हम मान सकते हैं। उन्होंने संतान पुत्ररूप ही हो- ऐसा न मानकर पुत्र-पुत्री में समभाव बताया है।

वैदिक-परम्परा में पुत्रप्राप्ति के साथ-साथ पराक्रमी एवं बलवान् बालक की प्राप्ति के लिए यह संस्कार करने का उल्लेख भी मिलता है, जो वस्तुतः प्राचीन समय में युद्ध हेतु पराक्रमी एवं बलवान् पुरुष की आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया जाता रहा होगा- ऐसा हम मान सकते हैं, किन्तु वर्धमानसूरि ने इस संस्कार का तात्पर्य दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा से कुछ हटकर किया है, जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

जन्म-संस्कार (जातकर्म-संस्कार)

जन्म-संस्कार का स्वरूप -

जन्म-संस्कार के नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे विधि-विधान, जो शिशु के जन्म के समय किए जाते हैं, जन्म-संस्कार कहलाते हैं। आदिम-मानव के लिए शिशु का जन्म एक अत्यन्त आश्चर्यजनक दृश्य था। इस विस्मयजनक घटना का श्रेय उसने किसी अतिमानवीय-शक्ति को प्रदान किया। इस अवसर पर उसे अनेक संकटों तथा विपदाओं की भी आशंका हुई, जिनके उपशमन के लिए अनेक प्रकार के विधि-विधान अस्तित्व में आए। प्रसूता स्त्री और नवजात शिशु की प्रसवजन्य अशौचकालीन स्थिति के लिए सहज सावधानी तथा सुरक्षा अपेक्षित थी, जिसके फलस्वरूप जातकर्म से सम्बद्ध अनेक विधि-विधान किए जाने लगे।

इस संस्कार का मूलभूत प्रयोजन लौकिक एवं अलौकिक-शक्तियों के भय से प्रसूता एवं प्रसव को मुक्त करवाना था, जिससे शिशु का प्रसव भली-भाँति हो सके एवं प्रसूता का भी किसी प्रकार का कोई अनिष्ट न हो।

इस जन्म-संस्कार को वैदिक एवं जैन- दोनों ही परम्पराओं में स्वीकार किया गया है। श्वेताम्बर-परम्परा के आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में वर्धमानसूरि ने

जन्म-संस्कार^{२१८} की विधि का बहुत सुन्दर विवेचन किया है। श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार गर्भकाल की अवधि पूर्ण होने पर, गर्भ का प्रसव होने के समय किया जाता है।

दिगम्बर-परम्परा में भी इस संस्कार को प्रियोद्भव-संस्कार^{२१९} के रूप में स्वीकार किया गया है। इस परम्परा में भी शिशु का जन्म होने पर यह संस्कार विविध विधि-विधानों के साथ सम्पन्न कराया जाता है।

वैदिक-परम्परा में यह संस्कार जातकर्म के नाम से जाना जाता है। उसमें भी यह संस्कार शिशु का जन्म होने के पश्चात् किया जाता है, परन्तु वैदिक-परम्परा में इस संस्कार में पुत्र के होने पर कुछ विशेष विधि-विधान करने का निर्देश दिया गया है। तैत्तिरीय-संहिता^{२२०} के अनुसार - “जब किसी को पुत्र उत्पन्न हो, तो उसे बारह विभिन्न पात्रों में पकी हुई रोटी (पुरोडाश) की बलि वैश्वानर (अग्नि) को देना चाहिए।” इससे स्पष्ट होता है कि लड़के के जन्म पर वैश्वानरेश्टिकृत्य किया जाता था। इसी प्रकार दूसरे भी अन्य विधि-विधान किए जाते थे।

इस प्रकार तीनों परम्परा यह संस्कार अपनी-अपनी विधि के अनुसार सम्पन्न करवाती है।

संस्कार का कर्ता -

श्वेताम्बर-परम्परा में आचारदिनकर के अनुसार यह संस्कार जैन-ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाए जाते हैं, यद्यपि वर्तमान में ये क्रियाएँ हिन्दू-ब्राह्मण ही करवाते हैं। दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार को करवाने का अधिकारी कौन है ? इस सम्बन्ध में आदिपुराण में स्पष्ट रूप से कहा गया है- जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गई हैं, जो सफेद वस्त्र पहने हुए है, पवित्र यज्ञोपवीत धारण किए हुए है और जिसका चित्त आकुलता से रहित है, ऐसा द्विज मंत्रों द्वारा समस्त क्रियाएँ करवाए। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार ब्राह्मण द्वारा करवाया जाता है, यद्यपि कहीं-कहीं शिशु के पिता द्वारा भी यह संस्कार करवाने का उल्लेख मिलता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रतिपादित की है-

^{२१८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम भाग), उदय-तृतीय, पृ.-६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{२१९} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु. - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण, २०००.

^{२२०} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१६२, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण, १९८०.

जन्म-संस्कार की विधि -

गर्भकाल के अपेक्षित मास-दिन आदि की कालावधि पूर्ण होने पर गृहस्थ-गुरु ज्योतिषी सहित शोरगुल से रहित एकान्त तथा स्त्रियों, बालकों, आदि के आवागमन से रहित एवं सूतिकागृह के अत्यन्त समीप के स्थल पर घटिका-पात्र रखकर सावधानीपूर्वक पंचपरमेष्ठी का जाप करे। पहले से ही तिथि, वार, आदि का विचार न करे।

बालक के होने पर गृहस्थ-गुरु ज्योतिषी को जन्म-समय का पूरा ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश दे। उसके बाद बालक के पितृपक्ष के लोग नाल छिन्न होने से पूर्व गृहस्थ-गुरु एवं ज्योतिषी को दान-दक्षिणा दें, क्योंकि नाल छिन्न होने पर सूतक प्रारम्भ हो जाता है। तदनन्तर गृहस्थ-गुरु एवं ज्योतिषी, बालक तथा उसके परिजनों को आशीर्वाद प्रदान करें। उसके बाद ज्योतिषी जन्मलग्न बताकर अपने घर चला जाए। तत्पश्चात् गृहस्थ-गुरु जच्चा का सूतिकाकर्म करने हेतु कुल की वृद्धाओं एवं दाइओं को निर्देश दे तथा अन्य गृह में स्थित हो बालक के स्नानार्थ जल को सात बार मंत्र से अभिमंत्रित करे। उस अभिमंत्रित जल से कुलवृद्धाएँ बालक को स्नान कराएँ। नाल का छेदन, आदि सब क्रियाएँ अपने कुलाचार के अनुरूप करें। बालक के रक्षण हेतु गृहस्थ-गुरु किस प्रकार से रक्षा-पोट्टलिका बनाए तथा उसे किस मंत्र से अभिमंत्रित करके शिशु के हाथ में बंधवाएँ- इसका भी प्रसंगवश इस विधि में उल्लेख हुआ है।

अन्त में विचक्षण व्यक्तियों को इस संस्कार हेतु किन-किन सामग्रियों का संग्रह करना चाहिए- इसका उल्लेख करते हुए यह भी उल्लेख किया है कि यदि शिशु का जन्म आश्लेषा, ज्येष्ठा, मूल-नक्षत्र में, गण्डान्त या भद्रा-नक्षत्र में हुआ हो, तो वह उसके पिता तथा उसके कुल के दुःख, दारिद्र्य, शोक एवं मरण का कारण बनता है, अतः पिता व कुल के ज्येष्ठ लोगों को शान्तिकविधान किए बिना शिशु का मुख नहीं देखना चाहिए।

इस विधि की विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक-विवेचन -

जन्मसंस्कार तीनों परम्पराओं में किए जाते हैं, अर्थात् तीनों ही परम्पराएँ इस संस्कार को स्वीकार करती हैं, यद्यपि नामों में भिन्नता है, जैसे-

श्वेताम्बर-परम्परा के आचारदिनकर^{२२१} में इसे जन्मसंस्कार के नाम से वर्णित किया गया है, तो दिगम्बर-जैन एवं वैदिक-परम्परा में इसे क्रमशः प्रियोद्भव^{२२२} एवं जातकर्म^{२२३} के नाम से विवेचित किया गया है। यह संस्कार तीनों ही परम्पराओं में बालक के जन्म के पश्चात् ही किया जाता है। श्वेताम्बर-परम्परा में अर्द्धमागधी आगमग्रंथ ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक, राजप्रश्नीय एवं कल्पसूत्र में इस संस्कार का उल्लेख मिलता है,^{२२४} किन्तु इस संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख इन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। दिगम्बर-पुराणों में इस सम्पूर्ण क्रिया को जन्माभिषेक, जन्माभिषेकोत्सव, जन्माभिषेचन, जन्मोत्सव, आदि नामों से भी उल्लेखित किया गया है।^{२२५} एक सन्दर्भ में इसे पुत्रलाभोत्सव भी कहा गया है।

आचारदिनकर में इस संस्कार के सम्बन्ध में किए जाने वाले विधि-विधानों में शिशु के जन्म से पूर्व क्या तैयारी रखना चाहिए- इसका भी विवेचन किया गया है। कहा गया है^{२२६}- गर्भकाल के अपेक्षित मास, दिन, आदि की कालावधि पूर्ण होने पर गृहस्थ-गुरु ज्योतिषीसहित एकान्त एवं शोरगुलरहित तथा जहाँ स्त्रियों, बालकों, आदि का आवागमन न हो- ऐसे सूतिकागृह के अत्यन्त समीपवर्ती कक्ष में घटिका-पात्र रखकर सावधानीपूर्वक पंचपरमेष्ठी के जाप में निरत रहते हुए प्रसव का काल जानने का प्रयत्न करे। इसी प्रकार वैदिक-परम्परा में भी श्वेताम्बर-परम्परा के अनुरूप ही एक मास पूर्व से प्रसव की तैयारियाँ करने का निर्देश है। उसमें भी सूतिकाकर्म हेतु घर में उपयुक्त कमरे का चुनाव करने से लेकर अनेक प्रकार के विधि-विधान करने का निर्देश है। दिगम्बर-परम्परा में इस सम्बन्ध में हमें कोई विशेष चर्चा प्राप्त नहीं होती है। इतना उल्लेख जरूर मिलता है कि प्रसव के समय गर्भिणी को सुन्दर, स्वच्छ एवं दीपकों से प्रकाशित प्रसूतिगृह में ले जाया जाता था।^{२२७}

^{२२१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-तृतीय, पृ.-६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

^{२२२} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००.

^{२२३} देखें- धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग) पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१९२, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{२२४} (अ) ज्ञाताधर्मकथा सू.-१/६०-६१, (ब) औपपातिक सू.-१०५, (स) राजप्रश्नीय सू.-२८० (सं.-मधुकरमुनि) (द) कल्पसूत्र सू.-६७-१०१ (सं.-विनयसागर) ।

^{२२५} हरिवंशपुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, राममूर्ति चौधरी, अध्याय-२, पृ.-४१, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण : १९८६

^{२२६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग) उदय-तृतीय, पृ.-६, निर्णयसागर मुद्रालय बॉम्बे, सन् १९२२

^{२२७} हरिवंशपुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, राममूर्ति चौधरी, अध्याय-२, पृ.-४१, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण : १९८६ ।

श्वेताम्बर-परम्परा में बालक के जन्म होने पर सर्वप्रथम ज्योतिषी द्वारा जन्म का यथार्थ समय ज्ञात किए जाने का भी विधान है। इस हेतु ज्योतिषी घटिका लगाकर प्रसूतिगृह के समीप के कमरे में बैठे - यह निर्देश है। इसी प्रकार वैदिक-परम्परा में भी जन्मकाल का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के उल्लेख मिलते हैं, पर इस सम्बन्ध में कोई विशेष निर्देश एवं विधि का उल्लेख नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में ज्योतिषी द्वारा यह सब किए जाने का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

श्वेताम्बर-परम्परा में नाल छिन्न होने से पूर्व ही विधिकारक एवं ज्योतिषी को यथाशक्ति दान देना बताया है।^{२२८} इसी प्रकार वैदिक-परम्परा में भी स्मृतिचन्द्रिका में हारीत, शंख, जैमिनी, आदि का उद्धरण देते हुए यह कहा गया है^{२२९} - नाल काटने के पूर्व अशीच नहीं माना जाता है, अतः तब तक दानादि दिया जा सकता है। दान में तिल, सोना, परिधान, धान्य, आदि देने का निर्देश है। दिगम्बर-परम्परा में उसी दिन, अर्थात् जन्म वाले दिन पुण्याहवाचन के साथ-साथ शक्ति के अनुसार दान करना चाहिए और जितनी बन सके, उतनी सब जीवों के अभय की घोषणा करना चाहिए^{२३०} - ऐसा उल्लेख मिलता है, पर यह दान कब दिया जाना चाहिए, अर्थात् नाल के छिन्न होने से पूर्व या पश्चात्- इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है।

श्वेताम्बर-परम्परा में विधि-विधानों के साथ ही ज्योतिषी एवं विधिकारक द्वारा बालक को दिए जाने वाले आशीर्वादरूप मंत्रों का भी उल्लेख मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में पिता ही पुत्र को आशीर्वाद देता है, ज्योतिषी एवं गृहस्थ-गुरु द्वारा आशीर्वाद देने का उल्लेख नहीं मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परा में इस समय कुछ अन्य विधि-विधान भी किए जाते हैं, जैसे-प्रसूता के स्नानार्थ जल को अभिमंत्रित करना, रक्षापोटली को रक्षामंत्र से अभिमंत्रित करना, आदि। ये विधि-विधान दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में देखने को नहीं मिलते। कुछ संस्कार ऐसे हैं, जो दिगम्बर-परम्परा में ही मंत्रोच्चार के साथ किए जाते हैं, जैसे^{२३१} - नाल का छेदन “घातिंजयो भव”- यह मंत्र पढ़कर करना, “त्वं मंदराभिषेकार्हो भव”- यह मंत्र बोलकर सुगन्धित जल से स्नान कराना, फिर

^{२२८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तृतीय, पृ.-१०, निर्णयसागर मुद्रालय बॉम्बे, सन् १९२२

^{२२९} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१९४, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{२३०} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-चालीसवाँ, पृ.-३०६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

^{२३१} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-चालीसवाँ, पृ.-३०५-३०६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

“चिरजीव्या भव”- इस प्रकार आशीर्वाद देकर उस पर अक्षत डालना, मुख और नाक में “नश्यात् कर्ममलं कृत्स्नम् भव” मंत्रोच्चार करते हुए औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ घी मात्रा के अनुसार डालना, जरायुपटल एवं नाभि की नाल को मंत्रोच्चारपूर्वक पवित्र जमीन में गाढ़ना, आकाश-दर्शन कराना, आदि अनेक ऐसी क्रियाएँ हैं, जो दिगम्बर-परम्परा में विशेष रूप से की जाती हैं। इसी प्रकार वैदिक-परम्परा में भी कुछ ऐसे विधि-विधानों का उल्लेख मिलता है, जो मात्र वैदिक-परम्परा में ही मिलते हैं, जैसे- ब्रह्मपुराण के अनुसार^{२३२} पुत्रजन्म के अवसर पर नांदाश्राद्ध करना, बृहदारण्यकोपनिषद्^{२३३} के अनुसार दही एवं घृत का मंत्रों के साथ होम करना, बच्चे के दाहिने कान में “वाक्” शब्द को तीन बार कहना, स्वर्ण-चम्मच या शलाका से बच्चे को दही, मधु एवं घृत चटाना, बच्चे को गुप्त नाम देना, माता को मंत्रों द्वारा सम्बोधित करना, शतपथाब्राह्मण^{२३४} के अनुसार पंचब्राह्मण-स्थापन (पांच ब्राह्मणों द्वारा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊपर की दिशाओं से बच्चे के ऊपर सांस लेना) होम करना, मेघाजनन, आदि अनेक ऐसे विधि-विधान हैं, जो वैदिक-परम्परा में बताए गए हैं। यहाँ विस्तार के भय से उन सबका विवेचन करना संभव नहीं है। वैदिक-परम्परा की भाँति दिगम्बर-परम्परा में भी इस संस्कार के साथ नामकरण करने के उल्लेख मिलते हैं। जिस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा में आचारदिनकर में अशुभ नक्षत्रों, आदि में सन्तानोत्पत्ति से उत्पन्न प्रभावों को दूर करने के लिए शान्तिकर्म एवं पौष्टिककर्म, अर्थात् एक विशेष विधि का निर्देश किया गया है^{२३५}, उसी प्रकार वैदिक-परम्परा में भी अशुभ नक्षत्रों, आदि में सन्तानोत्पत्ति के प्रभावों को दूर करने के लिए शान्तिकर्म, आदि का निर्देश मिलता है।^{२३६} दिगम्बर-परम्परा में पं. नाथूलाल शास्त्री की जैन-संस्कार-विधि में भी अशुभ नक्षत्रों में सन्तानोत्पत्ति के प्रभावों को दूर करने के लिए मूल-शान्ति का निर्देश दिया गया है।^{२३७}

इस प्रकार तुलनात्मक-अध्ययन करने के पश्चात् हम देखते हैं कि दोनों ही परम्पराओं में यह संस्कार अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुसार ही किया

^{२३२} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-२, पृ.-६४, चौखम्बा विद्याभवन, पांचवीं संस्करण १९६५।

^{२३३} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१९२, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{२३४} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१९२, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{२३५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-तृतीय, पृ.-१०, निर्णयसागर मुद्रालय बॉम्बे, सन् १९२२।

^{२३६} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१९५, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०।

^{२३७} जैन संस्कार विधि, नाथूलाल जैन शास्त्री, अध्याय-२, पृ.-१०, श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, गोम्पटगिरी, इन्दौर, पांचवीं आवृत्ति: २०००।

जाता है। कितने ही संस्कार सम्बन्धी विधि-विधान ऐसे भी हैं, जो मात्र एक ही परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे- वैदिक-परम्परा के बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार^{२३८} “पुत्र को सर्वप्रथम विमलीकृत मक्खन चटाना”- इस क्रिया का विवेचन जैन-परम्परा की दोनों शाखाओं में कहीं भी नहीं मिलता है, क्योंकि जैन-परम्परा में मक्खन को अभक्ष्य माना गया है और इसी कारण इस क्रिया का उल्लेख वर्धमानसूरि एवं जिनसेनाचार्य ने क्रमशः अपने ग्रन्थों आचारदिनकर एवं आदिपुराण में नहीं किया है। दिगम्बर-परम्परा के अन्य ग्रन्थ उपासकाध्ययनांग में इस संस्कार का विवेचन बहुत विस्तार से मिलता है।

श्वेताम्बर-परम्परा के आचारदिनकर नामक इस ग्रन्थ में जन्म-संस्कार की विधि दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा की अपेक्षा सरल होने के साथ ही संक्षिप्त भी है। वास्तव में, यह विधि प्रसूता एवं नवजात शिशु हेतु बहुत सुविधाजनक भी है। वैदिक-परम्परा में इस संस्कार की विधि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा की अपेक्षा बहुत विस्तृत और जटिल है, जो प्रसूता एवं नवजात शिशु हेतु अधिक सुविधाजनक नहीं है। यही कारण है कि वर्तमान में हिन्दू-धर्म में उन विधि-विधानों में से कुछ ही प्रचलन में हैं, शेष लुप्त हो गए हैं।

उपसंहार -

इस तुलनात्मक-विवेचन के पश्चात् जब हम इस संस्कार की उपादेयता, आवश्यकता एवं प्रयोजन को लेकर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करते हैं, तो हम पाते हैं कि अतिप्राचीनकाल में अपनी पत्नी के सहवास का सुखोपभोग करने वाले पुरुष के लिए इस कठिन समय में स्त्री तथा शिशु के जीवन की रक्षा करना आवश्यक था। इस हेतु जन्म सम्बन्धी विधि-विधान किए जाते थे। पत्नी की इस प्रसवकालीन तीव्र वेदना को देखकर पति का हृदय स्वभावतः ही विचलित हो जाता था। वह उसे इस पीड़ा से यथाशीघ्र मुक्त करने के लिए व्यग्र बन जाता था और इस प्रसव-वेदना को सरल एवं सह्य कर देने के लिए देवताओं और अभिचारकों की शुभेच्छा के लिए प्रार्थना की जाती थी - इस बात की पुष्टि अथर्ववेद में भी मिलती है।

इस प्रकार जन्म-संस्कार का मूलभूत हेतु प्रसववेदना को सह्य बनाना था, जो कालान्तर में माता एवं शिशु की रक्षा तथा अशुचि की शुद्धि के साथ संयुक्त हो गई गर्भिणी स्त्री के प्रसव के पश्चात् स्नान, आदि द्वारा शुद्धि कराना,

^{२३८} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१६५, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८० ।

आदि कार्य लोकाचार की दृष्टि से एवं धार्मिक-दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होने के कारण इस संस्कार का महत्व बहुत अधिक रहा है, क्योंकि इसी संस्कार में प्रसव के पश्चात् दैहिकशुद्धि कैसे करें ? इसके निर्देश भी दिए गए हैं। इस प्रकार अन्य संस्कारों की भाँति ही यह संस्कार भी अपने-आप में महत्वपूर्ण है।

सूर्य-चन्द्र-दर्शन-संस्कार

सूर्य-चन्द्र-दर्शन-संस्कार का स्वरूप -

शिशु के विकासशील जीवन में उसका प्रत्येक पदन्यास या चरण महत्वपूर्ण होता है और माता-पिता तथा परिवारजनों के लिए हर्ष और आनंद का अवसर होता है, अतः उसे अवसरोचित धार्मिक विधि-विधानों के साथ मनाया जाता था। इस प्रकार के विधि-विधानों में एक सूर्य-चन्द्रदर्शन-संस्कार भी है, यह अपनी कुल-परम्परा के अनुरूप किया जाता है।

प्रथमतः, शिशु को बाहरी संसार से अवगत कराने के लिए सूर्य एवं चन्द्र का दर्शन कराया जाता था। दूसरे पूर्वकाल में शिशु का जीवन प्राकृतिक-संकटों से सुरक्षित नहीं था, अतः शिशु की रक्षा के लिए देवताओं का अर्चन करके उनकी सहायता प्राप्त करने का यत्न किया जाता था। तीसरा कारण हम यह भी मान सकते हैं कि शिशु के उज्ज्वल भविष्य हेतु सूर्य-चन्द्र का दर्शन कराया जाता होगा, जिससे शिशु में सूर्य जैसी तेजस्विता एवं चन्द्रमा जैसी सौम्यता प्रकट हो। चौथा कारण यह भी है कि शिशु को संसार से परिचित होने के लिए प्रकाश आवश्यक है एवं सूर्य और चन्द्र प्रकाश के हेतु हैं, अतः उनका दर्शन कराना आवश्यक माना जाता होगा।

वास्तव में, इस संस्कार का मूलभूत हेतु बालक को प्रकाश से परिचित कराना है। सूर्य एवं चन्द्र का प्रकाश सृष्टि को गतिशील बनाने में सहायकरूप है। इनके सहारे ही संसार में दिन एवं रात्रि का क्रम अनवरत गति से चल रहा है। सूर्य एवं चन्द्र सृष्टि के अभिन्न अंग हैं, अतः शिशु का उनसे परिचय कराना आवश्यक है।

वर्धमानसूरि के अनुसार श्वेताम्बर-परम्परा में सूर्य-चन्द्रदर्शन नामक यह संस्कार^{२३६} जन्म के पश्चात् तीसरे दिन कराया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार सम्बन्धी कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, परन्तु इस संस्कार की भाँति ही दिगम्बर-परम्परा में प्रियोद्भव नामक क्रिया में जन्म से तीसरे दिन, रात के समय

^{२३६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चौथा, पृ.-११, निर्णय सागर मुद्रालय बॉम्बे, सन् १९२२

मंत्रोच्चार के साथ शिशु को तारों से सुशोभित आकाश का दर्शन करवाते हैं।^{२४०} इस परम्परा में अलग से सूर्य एवं चन्द्र-दर्शन करवाने का उल्लेख नहीं मिलता। वैदिक-परम्परा^{२४१} में भी इस नाम के संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है, वरन् निष्क्रमण नामक संस्कार में ही इस संस्कार का समावेश कर दिया गया है। उसमें तीसरे माह में सूर्यदर्शन एवं चौथे मास में चन्द्रदर्शन करवाने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं, जबकि जैन-परम्परा में यह संस्कार तीसरे दिन करने का उल्लेख है।

संस्कार का कर्त्ता -

श्वेताम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में यह संस्कार अपनी-अपनी कुल-परम्परा के अनुसार करते हैं। श्वेताम्बर-जैन-परम्परा में यह संस्कार जैन-ब्राह्मण या क्षुल्लक के द्वारा करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा के गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार माता-पिता करवाते थे। मुहूर्त्त-संग्रह के अनुसार^{२४२} इस संस्कार को सम्पन्न कराने के लिए मामा को आमन्त्रित करना होता था, किन्तु परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण इस संस्कार को सम्पन्न करने का अधिकार उससे अन्य व्यक्तियों को भी प्राप्त हो गया। संस्कारप्रकाश^{२४३} में इसका निर्देश देते हुए कहा गया है - पति की अनुपस्थिति में गर्भाधान को छोड़कर सभी संस्कार किसी सम्बन्धी द्वारा किए जा सकते हैं। इस प्रकार हिन्दू-परम्परा में कर्त्ता के सम्बन्ध में मतभेद हैं। दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार के समरूप आकाश-दर्शन नामक क्रिया का उल्लेख मिलता है। उसमें “माता-पिता पुत्र को गोदी में उठाकर तारों से सुशोभित आकाश का दर्शन कराते हैं, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में आदिपुराण के अनुसार सम्पूर्ण क्रिया वह व्यक्ति ही करवा सकता है, जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गई हैं, जो सफेद वस्त्र पहने हुए है, पवित्र है, यज्ञोपवीत धारण किए हुए है और जिसका चित्त आकुलता से रहित है। ऐसा द्विज मन्त्रों द्वारा समस्त संस्कारों संबंधी क्रियाएँ करवा सकता है।”

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रतिपादित की है -

^{२४०} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पूर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-३०६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

^{२४१} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-पांचवाँ (तृतीय परिच्छेद), पृ.-१११, चौखम्बा विद्यामवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

^{२४२} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-पांचवाँ (तृतीय परिच्छेद), पृ.-११२, चौखम्बा विद्यामवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

^{२४३} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८३, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

सूर्य-चन्द्र-दर्शन संस्कार -

शिशु के जन्म के तीसरे दिन गृहस्थ गुरु समीप के गृह में अर्हत्-अर्चनापूर्वक जिनप्रतिमा के आगे स्वर्ण, ताम्र या रक्त-चंदन की सूर्य की प्रतिमा को स्थापित करके विधिपूर्वक उसकी पूजा करे। उसके बाद शिशु-माता स्नान करके सुन्दर वस्त्रों एवं आभूषणों को धारण करे तथा दोनों हाथों में शिशु को लेकर सूर्य के सम्मुख जाए। विधिकारक-गुरु-सूर्य वेदमंत्र का उच्चारण करके माता और पुत्र को सूर्य का दर्शन कराए। सूर्यदर्शन के बाद माता पुत्रसहित गुरु को नमस्कार करे। तदनन्तर गुरु उन दोनों को आशीर्वाद प्रदान करे। उसके बाद विधिकारक-गुरु अपने स्थान पर आकर स्थापित जिन-प्रतिमा एवं सूर्य-प्रतिमा को विसर्जित करे। माता एवं पुत्र को सूतक होने के कारण वहाँ न ले जाए।

तत्पश्चात् उस दिन संध्याकाल के समय दूसरे कक्ष में गृहस्थ-गुरु जिनपूजापूर्वक जिनप्रतिमा के आगे स्फटिक, चाँदी या चन्दन की चंद्र-प्रतिमा को स्थापित कर उसकी विधिपूर्वक पूजा करे। तत्पश्चात् सूर्यदर्शन की भाँति ही चंद्रोदय के समय वेदमंत्रपूर्वक गृहस्थ-गुरु माता एवं शिशु को चंद्र के दर्शन करवाए। चंद्रदर्शन होने के बाद पुत्र को गोद में लेकर माता गुरु को नमस्कार करे तथा गुरु उन्हें आशीर्वाद प्रदान करे। सूतक में दक्षिणा नहीं दी जाती है। उसके बाद गुरु जिनप्रतिमा एवं चंद्र-प्रतिमा का विसर्जन करे।

यदि उस रात्रि में चतुर्दशी, अमावस्या होने के कारण, अथवा आकाश बादलों से ढका होने के कारण चन्द्रदर्शन न हो पाए, तो भी पूजन उसी संध्या में करे, चन्द्रदर्शन किसी अन्य रात्रि को भी करवाया जा सकता है।

अन्त में इस विधि से सम्बन्धित सामग्री का उल्लेख किया गया है। इस विधि की विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक-विवेचन -

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के अनुसार श्वेताम्बर-परम्परा में सूर्य-चन्द्रदर्शन नामक यह संस्कार जन्म के पश्चात् दो दिन व्यतीत हो जाने पर तीसरे दिन किया जाता है। श्वेताम्बर-परम्परा के अर्द्धमागधी आगमग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा, राजप्रश्नीय एवं कल्पसूत्र में भी इस संस्कार का यही समय बताया गया है।^{२४४} औपपातिकसूत्र में जन्म के दूसरे ही दिन यह संस्कार करने का

^{२४४} (अ) ज्ञाताधर्मकथा सू.-१/६३ (ब) राजप्रश्नीय सू.-२८० (सं.-मधुकरमुनि) (स) कल्पसूत्र सू.-१०१ (सं.-विनयसागर) ।

उल्लेख मिलता है,^{२४५} किन्तु इस संस्कार के विधि-विधानों का उल्लेख इन ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में भी आकाश-दर्शन तीसरे दिन ही कराया जाता है। दिन के सम्बन्ध में दोनों एकमत हैं, किन्तु दर्शन-विधि के सम्बन्ध में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्पराओं में कुछ मतभेद हैं। वैदिक-परम्परा में यह विधि-विधान निष्क्रमण-संस्कार के अन्तर्गत ही किया जाता है। वैदिक-परम्परा में संस्कार करने का समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चतुर्थ मास तक माना गया है। भविष्यपुराण और बृहस्पतिस्मृति इस संस्कार के लिए जन्म से बारहवें दिन का विधान करते हैं^{२४६}, किन्तु गृह्यसूत्रों एवं अन्य स्मृतियों के अनुसार सामान्यतः जन्म के तीसरे या चौथे मास में यह संस्कार किया जाना चाहिए। यम नामक ग्रन्थ में तृतीय और चतुर्थ मास के विकल्प का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है - तृतीय मास में शिशु को सूर्यदर्शन कराना चाहिए तथा चतुर्थ मास में चन्द्रदर्शन।^{२४७} यदि किसी प्रकार उपर्युक्त अवधि में संस्कार सम्पन्न नहीं हो पाता है, तो आश्वलायन के अनुसार यह संस्कार अन्नप्राशन-संस्कार के समय अवश्य किया जाना चाहिए।^{२४८}

श्वेताम्बर-परम्परा में वर्धमानसूरि के अनुसार सूतिकागृह के समीप के गृह में गृहस्थ-गुरु (विधिकारक) परमात्मा की पूजा करने के पश्चात् जिनप्रतिमा के आगे सूर्य की प्रतिमा को स्थापित करके विधिपूर्वक उसकी भी पूजा करे, तत्पश्चात् स्नान से शुद्ध एवं वस्त्रालंकार से सुसज्जित शिशु की माता को शिशुसहित प्रत्यक्ष सूर्य के सम्मुख ले जाकर गृहस्थ-गुरु निम्न सूर्यमंत्र^{२४९} का उच्चारण करके माता एवं पुत्र को सूर्यदर्शन कराए -

“ऊँ अहँ सूर्योऽसि, दिनकरोऽसि, सहस्रकिरणोऽसि, विभावसुरसि, तमोऽपहोऽसि, प्रियंकरोऽसि, शिवंकरोऽसि, जगच्चक्षुरसि, सुरवेष्टितोऽसि, मुनिवेष्टितोऽसि, विततविमानोऽसि, तेजोमयोऽसि, अरुणसारथिरसि, मार्तण्डोऽसि, द्वादशात्मासि, चक्रबान्धवोऽसि नमस्ते भगवन् प्रसीदास्य कुलस्य तुष्टिं, पुष्टिं, प्रमोदं कुरु-कुरु सन्निहतो भव अहँ ऊँ।।”

^{२४५} औपपातिकसूत्र, सं.-मधुकरमुनि, सूत्र-१०५ ।

^{२४६} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-पांचवाँ (तृतीय परिच्छेद), पृ.-१११, चौखम्बा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५ ।

^{२४७} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-पांचवाँ (तृतीय परिच्छेद), पृ.-१११, चौखम्बा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५ ।

^{२४८} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-पांचवाँ (तृतीय परिच्छेद), पृ.-१११, चौखम्बा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५ ।

^{२४९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-चतुर्थ, पृ.-११, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

सूर्यदर्शन के पश्चात् पुत्रसहित माता गुरु को नमस्कार करती है तथा गुरु उनको आशीर्वाद प्रदान करता है। यह क्रिया करने के पश्चात् गृहस्थ गुरु पुनः सूतिकागृह के समीप के गृह में, जहाँ जिन-प्रतिमा एवं सूर्य-प्रतिमा को स्थापित किया था, वहाँ आकर उनका विधिपूर्वक विसर्जन करे। आचारदिनकर में सूर्यदर्शन-विधि का इस प्रकार उल्लेख मिलता है-

वैदिक-परम्परा में इस संस्कार के आरम्भ में गोभिल के अनुसार^{२५०} गणाधीश (गणेश) के साथ मातृकापूजन करने का विधान मिलता है। इस संस्कार के अन्तर्गत प्रथम बार शिशु को सूतिकागृह से बाहर लाया जाता था तथा सूर्यदर्शन करवाया जाता था। इसके लिए माता बरामदे या आंगन के ऐसे वर्गाकार भाग को, जहाँ से सूर्य दिखाई देता, गोबर और मिट्टी से लीपती, उस पर स्वस्तिक का चिह्न बनाती तथा धान्यकणों को विकीर्ण करती थी। फिर पिता बालक को बाहर लाकर 'तच्चक्षुर्देवहितम्' मंत्रोच्चार के साथ उसे सूर्यदर्शन कराता।^{२५१} ज्ञातव्य है कि परवर्ती ग्रन्थों में इस संस्कार का बहुत विस्तार किया गया है, जैसे- आठ लोकपाल, सूर्य, चन्द्र, वासुदेव और आकाश की स्तुति करना। इस अवसर पर ब्राह्मण एवं वृद्धजन उसे आशीर्वाद देते हैं - ऐसा भी उल्लेख मिलता है, परन्तु आचारदिनकर के अनुसार जिस मंत्र से आशीर्वाद दिया जाता है, वैदिक-परम्परा का मंत्र उससे भिन्न है।

दिगम्बर-परम्परा में श्वेताम्बर एवं वैदिक-परम्परा के अनुरूप किसी विशिष्ट प्रकार के विधि-विधान का उल्लेख नहीं मिलता है। प्रियोद्भव नामक संस्कार में तीसरे दिन 'अनन्तज्ञानदर्शी भव'^{२५२} मंत्रोच्चार के साथ तारों से सुशोभित आकाश के दर्शन कराने का ही उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त कोई विशेष विधि हमें प्राप्त नहीं होती है।

वर्धमानसूरि के अनुसार श्वेताम्बर-परम्परा में पुनः उसी दिन संध्या के समय सूर्यदर्शन की विधि के समान ही चंद्रोदय के होने पर चंद्र के दर्शन करवाने का निर्देश मिलता है। कदाचित् उस रात्रि में चतुर्दशी या अमावस्या होने के कारण या अन्य किसी कारण से चन्द्रदर्शन न हो पाए, तो पूजन उसी दिन करें,

^{२५०} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{२५१} हिन्दू-संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-पांचवाँ (तृतीय परिच्छेद), पृ.-१११, चौखम्बा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५।

^{२५२} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-चालीसवाँ, पृ.-३०६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००।

चंद्रदर्शन किसी अन्य रात्रि को भी कर सकते हैं।^{२५३} वैदिक-परम्परा में चंद्रदर्शन चौथे मास में करने का निर्देश दिया गया है, पर इसकी विधि क्या है ? इस संबंध में वहाँ हमें कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती है।

ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थ आचारदिनकर में विधिकारक को इस संस्कार की दक्षिणा इस समय देने के लिए (सूतक होने के कारण) निषेध किया गया है।^{२५४} वैदिक-परम्परा में ऐसे किसी विधि-निषेध का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। इसी प्रकार वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार आचारदिनकर में इस संस्कार हेतु आवश्यक सामग्री का निर्देश दिया है^{२५५}, उस प्रकार का दिशानिर्देश दिग्म्बर एवं वैदिक-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

श्वेताम्बर-परम्परा के आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में जन्म के तीसरे दिन सूर्य-चन्द्र-दर्शन-संस्कार का विधान है और साथ ही इसकी संक्षिप्त एवं सरल विधि भी बताई गई है। वैदिक-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में भी इसकी विधि का संक्षिप्त उल्लेख ही मिलता है, परन्तु वैदिक-परम्परा की परवर्ती रचनाओं में इसकी विधि को विस्तृत रूप देकर जटिल बना दिया गया है। इस संस्कार के समय के सम्बन्ध में वैदिक-विद्वान् एकमत नहीं हैं। कोई बारहवें दिन, तो कोई तीसरे महीने में, तो कोई चौथे महीने में और कोई अन्नप्राशन के साथ इस संस्कार को करने के लिए कहते हैं। दिग्म्बर-परम्परा में इस संस्कार का स्वतंत्र रूप से कोई उल्लेख नहीं मिलता है। मात्र प्रियोद्भवक्रिया, अर्थात् जातकर्म-संस्कार के साथ ही तीसरे दिन मात्र आकाश-दर्शन कराने का उल्लेख मिलता है।

उपसंहार -

इस तुलनात्मक-विवेचन के पश्चात् जब हम इस संस्कार की उपादेयता एवं प्रयोजन को लेकर समीक्षात्मक-दृष्टि से विचार करते हैं, तो यह पाते हैं कि यह संस्कार प्राचीनकाल से किया जाता रहा है, क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा के आगमग्रन्थ कल्पसूत्र में भी इस संस्कार का उल्लेख मिलता है, यद्यपि इसकी पूर्ण विधि वहाँ हमें उपलब्ध नहीं होती है। निश्चित रूप से इस संस्कार को किए जाने के पीछे विशिष्ट प्रयोजन यही रहा होगा कि बालक को प्रकाश से और उसके माध्यम से बाह्यजगत् से परिचित कराया जाए। हमारे जीवन में प्रकाश का अत्यन्त

^{२५३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-चौथा, पृ.-११, निर्णयसागर मुद्रालय बॉम्बे, सन् १९२२

^{२५४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-चौथा, पृ.-११, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{२५५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-चौथा, पृ.-११, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

महत्व है। सूर्य-चन्द्र प्रकाश के पुंज हैं, इसलिए बालक को प्रकाश एवं बाह्यजगत् से परिचित कराने हेतु यह संस्कार किया जाता होगा- ऐसा हम मान सकते हैं।

इसका दूसरा कारण हम यह भी मान सकते हैं कि जिस प्रकार सूर्य तेजस्वी एवं गतिशील है तथा चन्द्रमा सौम्यता एवं शान्ति को देने वाला है, उसी प्रकार यह बालक भी इन गुणों को प्राप्त करे- ऐसी कामना से यह संस्कार किया जाता होगा ।

क्षीराशन-संस्कार

क्षीराशन-संस्कार का स्वरूप -

जिस संस्कार में क्षीर, अर्थात् दुग्ध का आहार कराया जाता है, उसे क्षीराशन-संस्कार कहते हैं। यह संस्कार नवजात शिशु को विधि-विधानपूर्वक दुग्धपान कराए जाने से सम्बन्धित है।

नवजात शिशु के लिए सबसे पौष्टिक आहार यदि कुछ है, तो वह है-दूध, जिसे नवजात शिशु का पाचनतंत्र भलीभाँति पचा सकता है, इसलिए सर्वप्रथम शिशु को माता के दुग्ध का पान कराया जाता है।

इस संस्कार में शिशु को मंत्रोच्चार के साथ दुग्धपान कराया जाता है। मंत्रोच्चार से शुद्ध तरंगों किसी-न-किसी रूप में शिशु को प्रभावित करती हैं। सामान्यतया, इस संस्कार के पीछे यह मान्यता रही होगी कि माता और पिता की तरह शिशु में भी सात्विकता, धैर्य, शूरवीरता एवं पराक्रम आदि गुणों का न्यास हो। इस संस्कार को करने का दूसरा कारण हम यह भी मान सकते हैं - प्रत्येक माता अपने पुत्र की दीर्घ-आयुष्य की कामना करती है, इसलिए वह अमृतमंत्र के जल से सिंचित स्तनों का पान ही शिशु को कराना चाहती है तथा यह कामना करती है कि उसका यह दुग्धपान अमृत के समान बन जाए और शिशु दीर्घ-आयुष्य को प्राप्त करे। इसी प्रयोजन को लेकर ही यह संस्कार किया जाता रहा होगा- ऐसा हम मान सकते हैं।

आचारदिनकर के अनुसार श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार सूर्य-चन्द्रदर्शन के दिन, अर्थात् जन्म के तीसरे दिन विधि-विधानपूर्वक करवाया जाता है।^{२५६} वर्धमानसूरि द्वारा प्रतिपादित आचारदिनकर में इसकी सम्यक् विधि बताई गई है।

^{२५६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-पांचवाँ, पृ.-१२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

दिगम्बर-जैन एवं वैदिक-परम्परा में इस संस्कार को अलग से कोई स्थान नहीं दिया गया है, अपितु इसे जातकर्म-संस्कार में ही अन्तर्निहित कर दिया गया है। जातकर्म-संस्कार के साथ-साथ मंत्रोच्चारपूर्वक यह क्रिया उसी दिन सम्पन्न कर दी जाती है।

श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार जैनब्राह्मण या कुल्लक द्वारा करवाया जाता है।

दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण नामक ग्रन्थ में यह संस्कार पिता द्वारा कराने का संकेत मिलता है^{२५७}, जबकि वैदिक-परम्परा में यह संस्कार पिता या वैदिक-ब्राह्मण द्वारा करवाए जाने का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार जैन एवं वैदिक-दोनों परम्पराओं में यह संस्कार मंत्रोच्चारपूर्वक करवाया जाता है, परन्तु श्वेताम्बर-परम्परा में यह विशेषता है कि उसमें “क्षीराशन-संस्कार” को अलग से निर्देशित किया गया है, जबकि अन्य परम्पराओं में इसे स्वतंत्र संस्कार नहीं माना गया है, अपितु इसे जातकर्म-संस्कार में ही अन्तर्निहित कर दिया गया है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इसकी निम्न विधि प्रस्तुत की है-

क्षीराशन-संस्कार -

जन्म के पश्चात् तीन दिन होने पर चन्द्र-सूर्यदर्शन के दिन ही शिशु को दूध का आहार कराते हैं। उसके लिए पूर्व में बताए गए अनुरूप वेश को धारण करने वाले गृहस्थ-गुरु सर्वप्रथम अमृतमंत्र के द्वारा १०८ बार अभिमंत्रित किए गए तीर्थजल को शिशु की माता के दोनों स्तनों पर सिंचित करे, तत्पश्चात् माता की गोद (अंक) में स्थित शिशु की नासिका को माता के स्तन से लगाकर स्तनपान कराते हुए गृहस्थ-गुरु उस शिशु को वेदमंत्र से आशीर्वाद दे।

एतदर्थ विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के अनुवाद को देखा जा सकता है।

^{२५७} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-चालीसवाँ, पृ.-३, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००

तुलनात्मक-विवेचन -

श्वेताम्बर-परम्परा में क्षीराशन नामक संस्कार को अन्य संस्कारों की भाँति एक स्वतंत्र संस्कार माना गया है, जबकि दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस संस्कार को जातकर्म-संस्कार के अन्तर्गत माना गया है।

वर्धमानसूरि के अनुसार श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार जन्म के पश्चात् तीसरे दिन, अर्थात् सूर्य-चन्द्रदर्शन के दिन ही किया जाता है^{२५८}, परन्तु दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार जातकर्म के दिन ही, अर्थात् प्रथम दिन ही विधि-विधान एवं मंत्रोच्चार के साथ किया जाता है। इस परम्परा में इसे प्रियोद्भव नाम की क्रिया में ही समाहित किया गया है। वैदिक-परम्परा में भी इसे स्वतंत्र संस्कार के रूप में उल्लेखित नहीं किया गया है, उन्होंने भी इसे जातकर्म में ही अन्तर्निहित मान लिया है। उनके अनुसार भी स्तनपान के विधि-विधान दिगम्बर-परम्परा की भाँति ही प्रथम दिन ही किए जाते हैं।

श्वेताम्बर-परम्परा में आचारदिनकर के अनुसार गृहस्थ-गुरु अमृतमंत्र के द्वारा १०८ बार अभिमंत्रित तीर्थ-जल को शिशु की माता के दोनों स्तनों पर सिंचित करते हैं। उसके पश्चात् ही माता शिशु को स्तनपान कराती है। दिगम्बर-परम्परा में भी माता के स्तन को अभिमंत्रित जल से अभिसिंचित करने के बाद ही स्तनपान करवाने का निर्देश मिलता है, जबकि वैदिक-परम्परा में मात्र वैदिक-मंत्रोच्चार के साथ शिशु को स्तनपान कराए जाने का उल्लेख है, परन्तु तीनों ही परम्पराओं में संस्कार के समय बोले जाने वाले मंत्रों में भिन्नता है; जैसे- श्वेताम्बर-परम्परा में माँ के स्तन को अभिसिंचित करने वाले जल को निम्न अमृतमंत्र से अभिसिंचित किया जाता है^{२५९} -

“ऊँ अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय-स्रावय स्वाहा।।”

दिगम्बर-परम्परा में “विश्वेश्वरीस्तन्यभागीभूया”^{२६०}, अर्थात् तू तीर्थकर की माता के स्तन का पान करने वाला हो - इस मंत्र द्वारा माता के स्तनों को मंत्रित करते हैं।

^{२५८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-पांचवाँ, पृ.-१२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

^{२५९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-पांचवाँ, पृ.-१२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

^{२६०} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-चालीसवाँ, पृ.-३०५, भारतीय ज्ञानपीठ सातवाँ संस्करण २०००

वैदिक-परम्परा में यह संस्कार ऋग्वेद^{२६१} के मंत्रोच्चार के साथ किया जाता है। इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं के मंत्रों में भिन्नता है।

तीनों परम्पराओं में यह संस्कार एक निश्चित दिन करने का निर्देश दिया गया है, यद्यपि दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में यह संस्कार शिशु के जन्म के प्रथम दिन तथा श्वेताम्बर-परम्परा में तीसरे दिन किया जाता है।

श्वेताम्बर-परम्परा में स्तनपान करते हुए शिशु को गृहस्थगुरु (विधिकारक) किस मंत्र से आशीर्वाद दे, उसका भी उल्लेख आचारदिनकर में किया गया है। वह मंत्र निम्न है^{२६२} -

“ॐ अर्हं जीवोऽसि, आत्मासि, पुरुषोऽसि, शब्दज्ञोऽसि, रूपज्ञोऽसि, रसज्ञोऽसि, गन्धज्ञोऽसि, स्पर्शज्ञोऽसि, सदाहारोऽसि, कृताहारोऽसि, अभ्यस्ताहारोऽसि, कावलिकाहारोऽसि, लोमाहारोऽसि, औदारिकशरीरोऽसि, अनेनाहारेण तवांगवर्द्धतां, बलं वर्द्धतां, तेजोवर्द्धतां, पाटवं वर्द्धतां, सौष्टवं वर्द्धतां, पूर्णायुर्भव अर्हं ॐ॥”

परन्तु दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस प्रकार के आशीर्वाद देने सम्बन्धी मंत्र का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

श्वेताम्बर-परम्परा में इस संस्कार के लिए किस प्रकार की सामग्री की आवश्यकता है, उसका भी उल्लेख वर्धमानसूरि ने अपने ग्रन्थ आचारदिनकर में किया है।^{२६३} सामग्री सम्बन्धी इस प्रकार का निर्देश दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं किया गया है।

श्वेताम्बर-परम्परा में जिस प्रकार इसे स्वतंत्र संस्कार मानकर जो महत्व दिया गया है, उतना महत्व दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इसे नहीं दिया गया है। श्वेताम्बर-परम्परा के संस्कार सम्बन्धी ग्रन्थ आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी बहुत ही सरल एवं संक्षिप्त विधि का वर्णन किया है, जबकि दिगम्बर-परम्परा में एवं वैदिक-परम्परा में इसे न तो इस नाम से विवेचित किया गया है तथा न इसकी अलग से कोई विधि बताई गई है, अपितु जातकर्म में ही

^{२६१} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१६२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{२६२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-पांचवाँ, पृ.-१२, निर्णय सागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

^{२६३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-पांचवाँ, पृ.-१२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

इसको अन्तर्निहित करके मात्र दो पंक्तियों में ही इस विधि को सम्पूर्ण कर दिया गया है।

उपसंहार -

इस तुलनात्मक-विवेचन के पश्चात् जब हम इस संस्कार की उपादेयता को लेकर समीक्षात्मक-दृष्टि से विचार करते हैं, तो यह पाते हैं कि यह संस्कार अपने-आप में बहुत महत्वपूर्ण है। शिशु को इस संसार में जन्म लेने के पश्चात् सबसे पहले यदि कोई आहार दिया जाता है, तो वह है- माँ के दूध का आहार, जो वह स्तनपान द्वारा प्राप्त करता है। सामान्यतया, यह देखा जाता है कि नवजात शिशु को आहार शीघ्रता से नहीं पचता है और आहार का पाचन व्यवस्थित न होने के कारण अनेक रोग उत्पन्न होने का भय रहता है, इसलिए शिशु को यह आहार अमृतरूप बने, अर्थात् उसका पाचन व्यवस्थित रूप से हो- इस प्रयोजन को लेकर यह संस्कार किया जाता होगा- ऐसा हम मान सकते हैं। वैद्यकशास्त्रों में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि जिस भोजन का पाचन सुचारू रूप से होता है, वही भोजन व्यक्ति के लिए अमृतरूप होता है। जिस प्रकार अमृत तुष्टि-पुष्टि और सौष्टव आदि देने वाला होता है, उसी प्रकार अमृतमंत्र से मन्त्रित वह आहार भी उसे तुष्टि-पुष्टि और सौष्टव, प्रदान करने वाला बनता है। हर माता की यही इच्छा होती है कि मेरा नवजात शिशु आरोग्य को प्राप्त करे और हृष्ट-पुष्ट हो। इसी कामना को लेकर यह संस्कार किया जाता रहा होगा- ऐसा हम मान सकते हैं।

यदि हम वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, तो भी इस संस्कार की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि शिशु के लिए माता का दूध अमृत के समान माना गया है। आधुनिक युग में चिकित्सक भी इस मत का समर्थन करते हैं कि शिशु को उसकी प्रारम्भिक-वय में माता का ही दूध पिलाना चाहिए। यद्यपि इस सन्दर्भ में यह सावधानी आवश्यक है कि माता किसी संक्रामक रोग से पीड़ित न हो।

इस संस्कार को, जो जन्म के तीसरे दिन करने के लिए कहा गया है, उसका प्रयोजन यह है कि माता के स्तन में गर्भकाल का जो संचित दूध रहता है, वह बालक को पिलाने योग्य नहीं रहता है, इसलिए यह कहा गया है कि यह संस्कार जन्म के तीसरे दिन करना चाहिए। जहाँ अन्य परम्पराओं ने इस संस्कार को जातकर्म संस्कार के अन्तर्गत ही मानकर इसका अवमूल्यन किया है, वहीं वर्धमानसूरि ने इसे एक स्वतंत्र संस्कार के रूप में स्वीकार करके इसके महत्व को अभिव्यक्त किया है।

षष्ठी-संस्कार

षष्ठी-संस्कार का स्वरूप -

षष्ठी-संस्कार में बालक के जन्म के छठवें दिन विधि-विधानपूर्वक देवी (षष्ठी माता) की पूजा की जाती है। यह संस्कार जन्म से छठवें दिन विधि-विधानपूर्वक मातृकाओं की पूजा से सम्पन्न होता है। वैसे तो साधारणतः हिन्दू-परम्परा में षष्ठी का अभिप्राय षष्ठीदेवी है, जो कात्यायनी के नाम से दुर्गा का ही एक रूप मानी जाती है तथा जो सोलह विद्या-देवियों में से एक है। श्वेताम्बर-परम्परा में आचारदिनकर के अनुसार षष्ठी-संस्कार का तात्पर्य ब्राह्मी, आदि आठ माताओं सहित अम्बिकादेवी के पूजन से है।^{२६४} दिगम्बर-परम्परा में इस सम्बन्ध में कोई विशेष चर्चा नहीं मिलती है। वैदिक-परम्परा में इस नाम का कोई संस्कार नहीं है, यद्यपि गोभिल के अनुसार^{२६५} - सभी संस्कारों के आरंभ में गणेश के साथ-साथ मातृकापूजन का विधान मिलता है, जो वस्तुतः श्वेताम्बर-परम्परा के षष्ठी-संस्कार के सदृश ही है- ऐसा हम मान सकते हैं।

इस संस्कार को करने का प्रयोजन मुख्यतः क्या रहा होगा ? इस सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं, तो निष्कर्ष रूप में यह पाते हैं कि इस संस्कार को करने का मूलभूत प्रयोजन अनिष्ट का निवारण और अभीष्ट की प्राप्ति रहा होगा, क्योंकि संसार का प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसे वांछित की प्राप्ति हो, अवांछित स्थिति उससे दूर रहे, जिससे उसके जीवन में किसी प्रकार का कोई विक्षेप, या किसी प्रकार की खेदजनक स्थितियाँ उत्पन्न न हों। नवजात शिशु का मन-मस्तिष्क बहुत कोमल होता है। उसके इस कोमल अंग पर किसी प्रकार की अशुभ शक्तियों का प्रभाव न पड़े, उससे बचने के लिए एवं शिशु के कल्याण की कामना से यह संस्कार किया जाता रहा होगा। आचारदिनकर के अनुसार यह संस्कार शिशु के कल्याण हेतु किया जाता है।^{२६६}

श्वेताम्बर-परम्परा के अर्द्धमागधी आगमग्रन्थों ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक, राजप्रश्नीय एवं कल्पसूत्र में रात्रिजागरण या धर्मजागरण के रूप में इस संस्कार

^{२६४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-पांचवॉ, पृ.-१२, निर्णय सागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{२६५} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{२६६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-पांचवॉ, पृ.-१२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

का उल्लेख मिलता है।^{२६७} ज्ञाताधर्मकथा में यह संस्कार दूसरे दिन करने के लिए कहा गया है, परन्तु इन आगम-ग्रन्थों में इस संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार अपने नाम के अनुरूप जन्म के छठवें दिन किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख हमें प्राप्त नहीं होता है। वैदिक-परम्परा में भी देवीपूजन सम्बन्धी यह संस्कार किया जाता है, किन्तु श्वेताम्बर-परम्परा की भाँति जन्म से छठवें दिन नहीं किया जाता है। उसके अनुसार सभी संस्कारों के प्रारम्भ में गणेश और देवी की पूजा की जाती है, फिर भी इससे सम्बन्धित विधि-विधान का वर्णन वहाँ नहीं करके अन्यत्र किया गया है। माताओं की संख्या एवं नामोल्लेख जरूर मिलते हैं, जिनमें से कुछ माताओं के नाम आचारदिनकर में वर्णित माताओं के नाम से मिलते हैं, जैसे-ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, चामुण्डा।^{२६८}

श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार जैन-ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में यह विधि-विधान कौन करवाए, इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु सामान्यतः ब्राह्मण द्वारा ही यह संस्कार करवाया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रतिपादित की है -

षष्ठी-संस्कार की विधि -

वर्धमानसूरि के अनुसार प्रसव के छठवें दिन गुरु प्रसूतिगृह में आकर षष्ठीपूजन की विधि प्रारंभ करे। इस विधि में सूतक का कोई मतलब नहीं है।

इस संस्कार के लिए सर्वप्रथम सधवा स्त्रियाँ सूतिकागृह के भित्तिभाग एवं भूमिभाग को गोबर से लीपें। तत्पश्चात् शुभ वार देखकर सूतिकागृह के भित्तिभाग, भूमिभाग, आदि को खड़ियाँ मिट्टी से सफेद करके सुशोभित करे। तदनन्तर सधवा स्त्रियाँ कुंकुम, हिंगुल, आदि लाल वर्णों (रंगों) से आठ खड़ी हुई, आठ बैठी हुई एवं आठ लेटी हुई माताओं का आलेखन करें।

कहीं-कहीं कुल एवं गुरु-परम्परा के अनुसार छः-छः माताओं के आलेखन का भी विधान है। उसके बाद सधवा स्त्रियों द्वारा मंगलगीत गाए जाने

^{२६७} (अ) ज्ञाताधर्मकथा सू.-१/६३ (ब) औपपातिक सू.-१०५ (स) राजप्रश्नीय सू.-२८० (सं.-मधुकरमुनि)

(द) कल्पसूत्र सू.-१०१ (सं.-विनयसागर)।

^{२६८} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८७, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

पर गुरु चौकोर शुभ आसन पर बैठकर मंत्रपूर्वक इन सभी माताओं का आह्वान, संनिधान एवं गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, आदि से द्रव्यपूजन करे। कुछ लोग चामुण्डा, त्रिपुरा को छोड़कर छः माताओं की ही पूजा करते हैं। तत्पश्चात् इन माताओं की पूजा करके शिशु के कल्याण हेतु प्रार्थना की जाती है। तदनन्तर मातृस्थापन के अग्र भूमिभाग पर चन्दन का लेप कर अम्बा माता की स्थापना करे तथा उसकी भी विधिपूर्वक पूजा करे। तत्पश्चात् शिशु की माता सहित कुलवृद्धाएँ, सधवा स्त्रियाँ, आदि गीत गाते हुए एवं वाजिन्त्र बजाते हुए रात्रि-जागरण करें तथा प्रातः मंत्रोच्चारपूर्वक सभी माताओं का विसर्जन करें। उसके बाद गृहस्थ-गुरु शिशु को पंचपरमेष्ठी-मंत्र से अभिमंत्रित जल से अभिसिंचित करे तथा वेद-मंत्र से आशीर्वाद दे। सूतक में दक्षिणा नहीं दी जाती है।

इसी विधि के अन्त में वर्धमानसूरि ने संस्कार हेतु आवश्यक सामग्री का भी उल्लेख किया है। इस विधि की विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के अनुवाद को देखा जा सकता है।

उपसंहार -

जैसा कि हम पूर्व में बता चुके हैं, इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति अनिष्टकारी शक्तियों का निवारण कर अभीष्ट की प्राप्ति करना चाहता है, साथ ही इस संस्कार का अन्य प्रयोजन कुलदेवी की परम्परा को जीवंत रखना होगा- ऐसा भी हम मान सकते हैं, क्योंकि व्यक्ति कुल-परम्परा के माध्यम से ही कुलाचार के विधि-विधानों से भलीभाँति परिचित हो सकता है। यह संस्कार भी कुल-परम्परा से सम्बन्धित है। अपनी कुल-परम्परा में किए जाने वाले विधि-विधानों से कुल की एकता प्रकट होती है। आज हम कितने ही ऐसे विधि-विधानों के बारे में सुनते हैं, पर उनका व्यवहार में प्रचलन न होने के कारण मात्र नामोल्लेख ही मिलता है।

इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति को अपने कुल की देवी का भी ज्ञान होता है।

शुचिक्रिया-संस्कार

शुचिसंस्कार का स्वरूप -

यह संस्कार दैहिकशुद्धि, स्थानशुद्धि हेतु किए जाने वाले विधि-विधानों से सम्बन्धित है। शुचि का अभिप्राय सभी परम्पराओं में प्रायः शुद्धि, अर्थात् पवित्रता से ही लिया गया है। व्यक्ति के जन्म एवं मरण के कारण जो अशुचि उत्पन्न

होती है; उसे दूर करना आवश्यक होता है, क्योंकि जब तक यह शुद्धि नहीं होती है; तब तक व्यक्ति शुभ-अनुष्ठान, आदि नहीं कर सकता है। बाह्य-शारीरिक एवं स्थान-शुद्धि वह प्राथमिकता है, जो सभी धार्मिक-क्रियाओं के सम्पादन का अधिकार प्रदान करती है। किसी सपिण्ड के जन्म, आदि के अवसर पर अशुचि उत्पन्न होती है। यहाँ इस संस्कार में मात्र जन्म सम्बन्धी अशुचि के निवारण-विधि की ही चर्चा की गई है।

शिशु के जन्म के पश्चात् सभी परम्पराओं में एक कालावधि तक अशौच की स्थिति, अर्थात् सूतक मानते हैं। यह बात भिन्न है कि सूतक की कालस्थिति सभी परम्पराओं में भिन्न-भिन्न बताई गई है।

इस संस्कार के मूलभूत प्रयोजन के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं, तो यह पाते हैं कि इसके पीछे देहशुद्धि एवं स्थानशुद्धि का लक्ष्य रहा होगा, क्योंकि प्रायः यह सर्वमान्य धारणा है कि यह शरीर अशुद्ध है, अशुचि का धाम है। इससे मलमूत्र, आदि अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ निकलती रहती हैं। शिशु के जन्म के समय भी माता की योनि से रक्तादि अशुचि निकलती है। जैन-परम्परा में भी शरीर को अशुचि का भण्डार माना है, उससे अनेक रूपों में अशुचि बाहर निकलती रहती है। प्रसव के पश्चात् की अशुचि का निवारण करने के विशिष्ट प्रयोजन को लेकर ही यह संस्कार किया जाता है।

श्वेताम्बर-परम्परा में वर्धमानसूरि ने अपनी कुल-परम्परा के अनुसार यह संस्कार करने का निर्देश दिया है। चूँकि सूतक के सम्बन्ध में सबकी अपनी-अपनी धारणाएँ होती हैं, अतः कुल-परम्परा के अनुसार ही शुचिकर्म करने का निर्देश दिया गया है। कल्पसूत्र^{२६६} में ग्यारहवें दिन यह संस्कार करने का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, इसे उन्होंने प्रियोद्भव नामक संस्कार के अन्तर्गत ही माना है। दिगम्बर-परम्परा में जन्म सम्बन्धी सूतक की अवधि १० दिन की बताई गई है।^{२७०}

वैदिक-परम्परा में भी प्रसव सम्बन्धी सूतक तो स्वीकार किया गया है, परन्तु संस्कार के रूप में इसको विवेचित नहीं किया गया है। इस परम्परा में सूतक और उसके निवारण सम्बन्धी रचनाएँ बहुत हैं, परन्तु गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों

^{२६६} कल्पसूत्र, भद्रबाहुविरचित, अनु.-विनयसागर, पृ.-१५३, प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, द्वितीय संस्करण, सन् १९८४

^{२७०} जैन संस्कार विधि, नाथूलाल जैन (शास्त्री), अध्याय-२, पृ.-६, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति गोम्पटगिरी, इन्दौर, पाँचवी आवृत्ति-१९६८.

आदि में इसे संस्कार के रूप में नहीं स्वीकार किया गया है। यद्यपि शिशु के जन्म सम्बन्धी सूतक के निवारण के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा गया है -

“ब्राह्मणों को दसवें दिन, क्षत्रियों को बारहवें दिन, वैश्यों को सोलहवें दिन एवं शूद्रों को एक महीने में सूतक का निवारण करना चाहिए। कारू, अर्थात् शिल्पियों को सूतक नहीं होता है।”^{२०१}

श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार जैन-ब्राह्मण या कुल्लक द्वारा करवाने का निर्देश दिया गया है। आचारदिनकर के अनुसार इस संस्कार में जन्म-संस्कार, सूर्य-चन्द्रदर्शन-संस्कार, क्षीराशन एवं षष्ठी-संस्कार कराने वाले गृहस्थ-गुरु को भी इसी संस्कार के दिन दान देना चाहिए, क्योंकि इससे पूर्व सूतक होने के कारण उनको दान देना एवं लेना विहित नहीं है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इस संस्कार की निम्न विधि प्रस्तुत की है-

शुचिकर्म-संस्कार की विधि -

वर्धमानसूरि के अनुसार अपने-अपने वर्ण के अनुसार निर्धारित दिनों के व्यतीत होने पर शुचिकर्म-संस्कार करना चाहिए। कौनसे वर्ण में कितने दिन बाद सूतक का निवारण करना चाहिए- इसका भी मूल ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है।

शुचिकर्म-संस्कार हेतु गृहस्थ-गुरु सर्वप्रथम आमंत्रित सभी गोत्रीजनों को पूर्णस्नान एवं वस्त्र-प्रक्षालन हेतु कहे। तदनन्तर शुद्ध वस्त्रों को धारण करके गृहस्थ-गुरु की साक्षी में परमात्मा की विविध प्रकार से पूजा-अर्चना करे। तत्पश्चात् शिशु के माता-पिता पंचगव्य से कुल्ला एवं स्नान करके शिशुसहित अपने नाखून काटे। तदनन्तर ग्रन्थि से बंधे हुए दंपति जिनप्रतिमा को नमस्कार करें। सधवा स्त्रियाँ मंगलगीत गाते हुए एवं वाद्य बजाते हुए सभी मंदिरों में पूजा करें एवं नैवेद्य चढाएं। साधु को यथाशक्ति अन्न, वस्त्र, आदि का दान दें तथा विधिकारक-गुरु को भी ताम्बूल, मुद्रा, आभूषण, आदि का दान दें।

इसी दिन जन्म-संस्कार, चंद्र-सूर्यदर्शन, क्षीराशन-संस्कार एवं षष्ठी-संस्कार करवाने वाले गुरु को भी दान दें तथा यथाशक्ति स्वजन, गोत्रजन, आदि को भोजन, आदि करवाएं। तदनन्तर गुरु उनके कुलाचार के अनुसार शिशु को पंचगव्य, जिनस्नात्र-जल, सर्वोषधि-जल एवं तीर्थजल से स्नान करवाकर वस्त्र,

^{२०१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-सातवाँ, पृ.-१४, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

आभूषण पहनाए। सूतक के दिन पूर्ण हो जाने पर भी यदि आर्द्र-नक्षत्र, सिंहयोनि-नक्षत्र एवं गजयोनि-नक्षत्र हों, तो स्त्री को सूतक-स्नान नहीं करवाना चाहिए- इस बात का उल्लेख करते हुए इन नक्षत्रों में स्नान करवाने के दुष्परिणाम के सम्बन्ध में भी मूल ग्रन्थ में विचार किया गया है। अन्त में इस संस्कार से सम्बन्धित सामग्री का उल्लेख हुआ है। इस विधि की विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के अनुवाद को देखा जा सकता है।

शुचिकर्म-संस्कार का तुलनात्मक विवेचन -

श्वेताम्बर-परम्परा में अर्द्धमागधी आगमग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक, राजप्रश्नीय, कल्पसूत्र में इस संस्कार का उल्लेख मिलता है, किन्तु इसकी विधि हमें वहाँ उपलब्ध नहीं होती है।^{२७२} वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में शुचिकर्म को एक स्वतन्त्र संस्कार के रूप में उल्लेखित किया है, जबकि दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ आदिपुराण, आदि में इसे जातकर्म-संस्कार के अन्तर्गत ही उल्लेखित किया गया है। वहाँ इसकी एक स्वतन्त्र संस्कार के रूप में मान्यता नहीं है। यही स्थिति हिन्दू धर्मग्रन्थों में भी पाई जाती है, वहाँ भी इसे संस्कार के रूप में उल्लेखित नहीं करके अशौच (सूतक) और अशौच-निवारण के अन्तर्गत इसका उल्लेख किया गया है। हिन्दू-परम्परा में अशौच (सूतक) के दो प्रकार बताए गए हैं- जनन-अशौच एवं मरण-अशौच। इसी प्रकार पं. नाथूलाल शास्त्री ने जैन-संस्कार विधि में भी इन दोनों अशौचों का उल्लेख किया है। शुचिकर्म-संस्कार का सम्बन्ध अशौच-निवारण से है, सभी परम्पराओं में यह तो स्वीकार किया गया है कि अशौच की शुद्धि आवश्यक है। हिन्दू-परम्परा में गृह्यसूत्रों, स्मृतियों एवं पुराणों के अतिरिक्त भी अशौच और उसकी शुद्धि पर विशेष साहित्य लिखा गया है। मात्र यही नहीं, हिन्दू-परम्परा में भी वर्धमानसूरि के समान ही विभिन्न वर्णों के लिए सूतक के विभिन्न दिनों का उल्लेख मिलता है। इससे ऐसा लगता है कि सूतक सम्बन्धी ये विचार वर्धमानसूरि ने हिन्दू-परम्परा के आचार पर ही माने हैं, यद्यपि हिन्दू-परम्परा के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण हिन्दू-परम्परा के ग्रन्थों से वर्धमानसूरि के ग्रन्थ में कुछ अन्तर भी देखा जाता है। यद्यपि प्रस्तुत प्रसंग तो केवल जननाशौच का है, किन्तु हिन्दू-परम्परा में अशौच के अनेक रूप मानकर उसकी शुद्धि के लिए विभिन्न दिनों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। वैदिक-हिन्दू-परम्परा में जन्म का सूतक सामान्यतः १० दिन का माना गया है। इसी प्रकार दिगम्बर-परम्परा में जन्म स्त्री के पितृपक्ष में हो, तो उसके माता-पिता

^{२७२} (अ) ज्ञाताधर्मकथा सू.-१/६३ (ब) औपपातिक सू.-१०५ (स) राजप्रश्नीय सू.-२८० (सं.-मधुकरमुनि)
(द) कल्पसूत्र सू.-१०१ (सं.-विनयसागर)।

और भाइयों को 9 दिन का अशौच होता है, किन्तु यदि शिशु का जन्म स्त्री के श्वसुरपक्ष में हो, तो उसके माता-पिता और भाइयों को अशौच नहीं होता, किन्तु हर परिस्थिति में सगोत्र को तो जननाशौच होता ही है। इस प्रकार से बालक का जन्म कहाँ हुआ है, इस पर भी अशौच की स्थिति निर्भर करती है। फिर भी, इतना तो निश्चित है कि चाहे इसे कोई स्वतंत्र संस्कार माने या न माने, परन्तु जननाशौच का निवारण तो सभी परम्पराओं में आवश्यक माना है और शुचिकर्म-संस्कार का सम्बन्ध उसी से है।

उपसंहार -

सामान्यतया, इस बात में तो किसी को कोई मतभेद नहीं हो सकता है कि जिस स्थान पर प्रसव की घटना घटित होती है, उस स्थान पर अशुचि का होना स्वाभाविक है, किन्तु जो भी अशुचि होती है, उसका निवारण तो सामान्यतः तत्काल ही कर दिया जाता है, फिर अग्रिम दिनों में अशौच मानने का क्या कारण है ? यह विचारणीय है। हमारी दृष्टि में एक तो सूतक का कारण यह है कि शिशु के प्रसव के साथ जो अशुचि उत्पन्न होती है, चाहे उसका निवारण तत्काल कर दिया जाए, किन्तु नाल को काटने के कारण बालक एवं रक्तस्राव के कारण उसकी माता की अशुचि तो अनेक दिनों तक बनी रहती है, अतः उस अशुचि के समाप्त होने तक अशौच को मानना आवश्यक है। इसके पीछे हमें एक कारण यह भी समझ में आता है कि नवजात शिशु व उसकी माता को प्रसवकाल के कुछ समय पश्चात् तक भी संक्रामक रोगों से ग्रस्त होने की संभावना बनी रहती है। अशौच की अवधारणा के कारण अन्य लोगों से और अन्य स्थानों से माता एवं शिशु का संस्पर्श बचा रहता है और इस प्रकार अशौच या सूतक के कारण बालक और सद्यःप्रसूता स्त्री अनेक संक्रामक रोगों से बच जाते हैं। इस प्रकार यह संस्कार बाह्य-पवित्रता या बाह्यशुद्धि तथा बालक और उसकी माता को संक्रामक रोगों से बचाने के लिए अति उपयोगी माना जा सकता है। यद्यपि इतना निश्चित है कि पूर्व में जब तक अशुचि का निवारण नहीं होता, तब तक बाह्यशुद्धि के प्रति जो उपेक्षाभाव था, वह समुचित नहीं माना जा सकता। वर्तमान युग में हमें इस संस्कार को बालक और उसकी माता को संक्रामक रोगों से बचाने हेतु और उसकी दैहिक-शुचिता को बनाए रखने के लिए आवश्यक मानना होगा।

नामकरण-संस्कार

नामकरण-संस्कार का स्वरूप -

इस संस्कार के द्वारा एक नियमित समयावधि के पश्चात् शिशु का नामकरण किया जाता है। जन्म के पश्चात् शिशु को किस नाम से बुलाया जाए, इस समस्या का निवारण करने के लिए ही शिशु का नामकरण-संस्कार किया जाता है, क्योंकि संसार के प्रायः सभी व्यवहार नाम के आधार पर ही चलते हैं। व्यक्ति की पहचान के लिए तथा अन्य व्यक्तियों से पृथक्करण हेतु विशिष्ट तथा निश्चित नाम की आवश्यकता होती है। नाम के बिना सभ्य समाज में व्यवहार का संचालन असंभव होता है। यही कारण है कि नामकरण की प्रथा को एक धार्मिक-संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया। जैन और हिन्दू- इन दोनों परम्पराओं में इस संस्कार को एकमत से माना गया है।

जब हम इस संस्कार को करने के पीछे क्या प्रयोजन रहा है- इस सम्बन्ध में भी विचार करते हैं, तो इस संस्कार का प्रयोजन एवं महत्व स्वतः ही प्रकट हो जाता है। नाम समस्त व्यवहार का हेतु है। नाम के अभाव में कोई भी व्यवहार संभव नहीं है, चाहे शिक्षा का क्षेत्र हो तथा व्यापार का क्षेत्र हो, या शासकीय व्यवस्था का प्रश्न हो, नाम के बिना काम नहीं चलता है। नाम से ही व्यक्ति को कीर्ति प्राप्त होती है, अतः नामकरण- संस्कार अत्यन्त प्रशस्त एवं आवश्यक है। भारतीय-परम्परा में शिशु को जन्मलग्न एवं ग्रह की स्पष्ट स्थिति देखकर ही विशिष्ट नाम दिया जाता है। इस संस्कार में ग्रहों की पूजा की जाती है, ताकि वह लग्न के अधिपति ग्रहों की कृपा को प्राप्त कर सके एवं जीवन में यश, कीर्ति एवं सफलता को प्राप्त कर सके। नामकरण व्यक्ति के जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष है, क्योंकि नाम की राशि के आधार पर ही व्यक्ति के भावी जीवन के शुभाशुभत्व की भविष्यवाणी की जाती है, जो व्यक्ति के व्यवहार की प्रेरक होती है।

श्वेताम्बर-परम्परा, दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में यह संस्कार किया जाता है, यह बात भिन्न है कि यह संस्कार कब किया जाए। इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार शुचिकर्म के दिन, अथवा उसके दूसरे या तीसरे दिन, अथवा अन्य कोई शुभ दिन देखकर यह संस्कार करने का विधान है।^{२७३} दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार जन्म के बारह दिन बाद

^{२७३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-आठवाँ, पृ.-१४, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

करने का निर्देश दिया गया है।^{२७४} वैदिक-परम्परा में यह संस्कार कब किया जाना चाहिए- इस सम्बन्ध में मतभेद हैं। गृह्यसूत्रों के सामान्य नियम के अनुसार^{२७५} नामकरण-संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था, किन्तु परवर्ती विकल्प के अनुसार नामकरण जन्म के पश्चात् दसवें दिन से लेकर द्वितीय वर्ष के प्रथम दिन तक सम्पन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार इस सम्बन्ध में और भी मतभेद हैं, जिनका वर्णन यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा रहा है।

संस्कार का कर्ता -

आचारदिनकर के अनुसार श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार जैन-ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है, दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार आदिपुराण द्वारा निर्दिष्ट योग्यता के धारक जैन-ब्राह्मणों द्वारा करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में भी यह संस्कार ब्राह्मण के द्वारा करवाया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने नामकरण-संस्कार की निम्न विधि प्रतिपादित की है-

नामकरण-संस्कार की विधि -

वर्धमानसूरि के अनुसार मृदु, ध्रुव एवं क्षिप्र संज्ञक-नक्षत्रों में बालक का नामकरण-संस्कार करें। गुरु एवं शुक्र के चतुर्थ स्थान में होने पर नामकरण-संस्कार करना शुभ कहा गया है। गृहस्थ-गुरु शुचिकर्म के दिन या अन्य शुभ दिन में आसन पर पंचपरमेष्ठी-मंत्र का स्मरण करते हुए सुखपूर्वक बैठे। तदनन्तर शिशु के पितृपक्ष के लोग विधिपूर्वक गृहस्थगुरु, कुलपुरुषों, कुलवृद्धाओं एवं कुल की स्त्रियों को समक्ष बैठाकर ज्योतिषी को जन्मलग्न का प्ररूपण करने हेतु कहें। ज्योतिषी जन्मलग्न का पूजन करे तथा उसके बाद नवग्रहों की पूजा करे। तत्पश्चात् ज्योतिषी जन्मलग्न कहकर तथा लग्न का सम्पूर्ण विवरण कुंकुम-अक्षरों से पत्र में लिखकर शिशु के कुलज्येष्ठ को अर्पण करे। तदनन्तर पिता, आदि ज्योतिषी को दान-दक्षिणा दें। फिर ज्योतिषी जन्मनक्षत्र के अनुसार नामाक्षर बताकर अपने घर जाए।

^{२७४} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, (भाग-२), पर्व-अङ्गीसर्वो, पृ.-२४८, भारतीय ज्ञानपीठ सातवाँ संस्करण २०००.

^{२७५} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठं (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-१०७, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण - १९६५.

तत्पश्चात् गृहस्थ-गुरु किस प्रकार से कुलवृद्धा के कान में शिशु का नाम बताए, किस प्रकार से शिशु एवं उसकी माता को चैत्य में लेकर जाए तथा वहाँ किस प्रकार से परमात्मा की द्रव्यपूजा करे ? इसका भी मूल ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् जिनप्रतिमा के समक्ष कुलवृद्धाएँ शिशु का नाम प्रकट करें।

गाँव या नगर में मंदिर का अभाव होने पर गृह-प्रतिमा के सम्मुख भी इसी प्रकार की विधि करें। तत्पश्चात् पौषधशाला में आकर भोजन-मण्डली के स्थान पर मण्डलीपट्ट को स्थापित कर उसकी विधिपूर्वक पूजा करें। तत्पश्चात् साधुओं की तीन प्रदक्षिणा करके नमस्कार करें तथा सोने-चाँदी की मुद्राओं से यति (साधु) गुरु के नवांग की पूजा करें। फिर अक्षत से बधाकर वासक्षेप डलवाए। यति गुरु किस प्रकार से वासक्षेप करें तथा कुलवृद्धाएँ किस प्रकार से शिशु का नामकरण करें ? इसका उल्लेख करते हुए मूलग्रन्थ में यतिगुरु एवं गृहस्थगुरु को दान देने के लिए कहा गया है।

विधि के अन्त में वर्धमानसूरि ने इस संस्कार से सम्बन्धित सामग्री का भी उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक-विवेचन -

नामकरण-संस्कार लोकव्यवहार हेतु अनिवार्य है, इसलिए तीनों परम्पराओं में इसे एक धार्मिक-संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि इन तीनों परम्पराओं में इस संस्कार के विधि-विधानों के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं, तो कुछ समानता भी है।

श्वेताम्बर-परम्परा के अर्द्धमागधी आगमग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक, राजप्रश्नीय एवं कल्पसूत्रादि में इस संस्कार का उल्लेख मिलता है,^{२७६} किन्तु इस संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख नहीं मिलता है। आचारदिनकर के अनुसार^{२७७} यह संस्कार गुरु एवं शुक्र के चतुर्थ स्थान में होने पर किया जाना श्रेष्ठ माना जाता है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ आदिपुराण में इस प्रकार का ज्योतिष सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में भी इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं मिलता है।

^{२७६} (अ) ज्ञाताधर्मकथा सू.-१/६५, (ब) औपपातिक सू.-१०५, (स) राजप्रश्नीय सू.-२८० (सं.-मधुकरमुनि)
(द) कल्पसूत्र सू.-१०१-१०४ (सं.-विनयसागर)।

^{२७७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-आठवाँ, पृ.-१५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

आचारदिनकर के अनुसार^{२७८} श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार शुचिकर्म के दिन या उसके दूसरे या तीसरे दिन, अथवा अन्य किसी शुभ दिन में शिशु के चंद्रबल को देखकर किया जाता है। जैन-आगम-ग्रन्थ कल्पसूत्र^{२७९} आदि के अनुसार- अशुचि का निवारण करने के बाद जन्म से बारहवें दिन यह संस्कार किया जाता है, परन्तु उनमें इसकी विधि नहीं बताई गई है।

दिगम्बर-परम्परा में जन्म के बारह दिन के बाद जो भी दिन माता-पिता और पुत्र के अनुकूल हो, सुख देने वाला हो, उस दिन नामक्रिया-संस्कार करने का उल्लेख मिलता है।

वैदिक-परम्परा में नामकरण-संस्कार कब किया जाए ? इसे लेकर वैदिक-विद्वानों में मतभेद हैं। आपस्तम्ब, बौधायन, भारद्वाज एवं पारस्कर ने नामकरण के लिए दसवाँ दिन निर्धारित किया है। याज्ञवल्क्य ने जन्म के ग्यारहवें दिन नामकरण करने को कहा है। बौधायन-गृह्यसूत्र में दसवाँ या बारहवाँ दिन तथा हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र में बारहवाँ दिन नामकरण-संस्कार के लिए माना है।^{२८०} इसी प्रकार अन्य विद्वानों के भी इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं, जिनकी चर्चा विस्तार के भय से यहाँ नहीं कर रहे हैं। गृह्यसूत्रों के अनुसार सामान्यतः नामकरण-संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था। इसका एकमात्र अपवाद है- गुह्यनामकरण, जो कतिपय विद्वानों के अनुसार जन्म के पश्चात् दसवें दिन से लेकर द्वितीय वर्ष के प्रथम दिन तक कभी भी किया जा सकता है। इस परम्परा में श्वेताम्बर-परम्परा की भाँति ही इस संस्कार को अशुभ दिनों, यथा- संक्रांति, ग्रहण या श्राद्धपक्ष में सम्पन्न करना उचित नहीं माना गया है।^{२८१}

श्वेताम्बर-परम्परा में^{२८२} इस संस्कार के अन्तर्गत शुभ-आसन एवं शुभ स्थान पर पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए बैठने का निर्देश किया गया है, जो इस संस्कार के प्रति पूज्यता का भाव प्रदर्शित करता है। दिगम्बर-परम्परा में भी

^{२७८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-आठवाँ, पृ.-१४, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{२७९} कल्पसूत्र, भद्रबाहुविरचित, अनु.-विनयसागर, पृ.-१५३, प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, द्वितीय संस्करण, सन् १९८४

^{२८०} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१९६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{२८१} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबती पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-१०८, चौखम्भा विद्यामवन, वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण - १९६५.

^{२८२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-आठवाँ, पृ.-१३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

इस संस्कार को करने से पूर्व सिद्ध परमात्मा की पूजा का उल्लेख किया गया है।^{२८३} इसी प्रकार वैदिक-परम्परा में इस संस्कार के पूर्व गणपतिपूजा, मातृकापूजन आदि करने का निर्देश मिलता है।^{२८४}

श्वेताम्बर-परम्परा के इस संस्कार में जिस प्रकार ज्योतिष द्वारा जन्मलग्न को शुभपट्ट पर लिखकर स्थान-स्थान पर ग्रहों को स्थापित करके द्रव्य एवं मुद्राओं से लग्न एवं ग्रहों की पूजा करने का जो विधान आचारदिनकर में मिलता है, उस प्रकार की क्रियाविधि दिगम्बर एवं वैदिक-परम्पराओं के ग्रन्थों में हमें देखने को नहीं मिलती है।

श्वेताम्बर-परम्परा में लग्न एवं ग्रहों की पूजा के पश्चात् ज्योतिषी लग्न का सम्पूर्ण वर्णन कुंकुम अक्षर से पत्र में लिखकर कुलज्येष्ठ को अर्पण करता है तथा जन्मनक्षत्र के अनुसार नामाक्षर बताता है। तत्पश्चात् गृहस्थ-गुरु सर्वसम्मति से परमेष्ठीमंत्र का स्मरण करते हुए कुलवृद्धा के कान में जाति एवं कुलोचित नाम कहता है। फिर सभी आडम्बरपूर्वक मन्दिर जाते हैं, वहाँ जाकर परमात्मा की पूजा करते हैं, फिर उसके बाद परमात्मा के समक्ष नाम प्रकट करते हैं। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में इस प्रकार की विधि का उल्लेख हमें नहीं मिला है। साथ ही श्वेताम्बर-परम्परा में निर्दिष्ट मण्डलीपूजा, गुरु की पूजाविधि, वासक्षेप ग्रहण करना, यतिगुरु द्वारा वासक्षेप को ऊँकार, ह्रींकार, श्रींकार सन्निवेश द्वारा कामधेनु-मुद्रा से वर्धमानविद्या का जाप करते हुए माता एवं शिशु के सिर पर डालना, बालक को चन्दन का तिलक करके उस पर अक्षत लगाकर नामकरण करना, यतिगुरु को चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्र, आदि का दान देना, आदि महत्वपूर्ण क्रियाओं का जो उल्लेख किया गया है,^{२८५} वह दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में नहीं मिलता है।

दिगम्बर-परम्परा में जिनेन्द्रदेव के एक हजार आठ नामों के समूह से घटपत्र की विधि^{२८६} से कोई एक शुभनाम ग्रहण करके नामकरण करने का उल्लेख

^{२८३} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु. डॉ. पन्नालाल जैन, (भाग-२), पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४७, भारतीय ज्ञानपीठ सातवाँ संस्करण २०००.

^{२८४} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{२८५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-आठवाँ, पृ.-१५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

^{२८६} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, (भाग-२), पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४७, भारतीय ज्ञानपीठ सातवाँ संस्करण २०००.

मिलता है। साथ ही उसमें ऋषियों की पूजा का भी निर्देश मिलता है। हरिवंशपुराण में भी इस संस्कार की चर्चा मिलती है।

वैदिक-परम्परा में इसकी विधि बहुत लम्बी बताई गई है। उसमें नाम चयन करने सम्बन्धी बहुत अधिक निर्देश मिलते हैं, जैसे - जो नाम नहीं रखना चाहिए, या जो नाम रखना चाहिए, आदि के उल्लेख भी हैं। उसमें नामकरण की विधि मात्र इतनी ही है कि शिशु के दाहिने कान की ओर झुकता हुआ पिता उसे इस प्रकार सम्बोधित करता है^{२८७} - “हे शिशु! तू कुलदेवता का भक्त है, तेरा अमुक नाम है, तू इस मास में उत्पन्न हुआ है, अतः तेरा अमुक नाम है, तू इस नक्षत्र में जन्मा है, अतः तेरा अमुक नाम है तथा यह तेरा लौकिक-नाम है।” इतना कहने के पश्चात् ब्राह्मण “यह नाम प्रतिष्ठित हो”- ऐसा कहकर उसका नामकरण करते हैं।

श्वेताम्बर-परम्परा में ज्योतिष एवं विधिकारक को यथोचित दान देने का निर्देश दिया गया है। दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में भी द्विजों को दान देने का निर्देश दिया गया है। ज्योतिषी को अलग से दान देने के सम्बन्ध में वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता है, क्योंकि वे द्विजों के अन्तर्भूत ही माने गए हैं, यद्यपि व्यवहार में उन्हें भी दक्षिणा दी जाती है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार इस संस्कार के लिए आवश्यक वस्तुओं का निर्देश दिया है, इस प्रकार का निर्देश दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है, किन्तु पं. नाथूलालजी शास्त्री आदि परवर्ती विद्वानों के ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख देखने को मिल जाते हैं।

उपसंहार -

इस तुलनात्मक-विवेचन के पश्चात् जब हम इस संस्कार की उपादेयता का आंकलन करते हैं, तो यह पाते हैं कि यह संस्कार भी शिशु के जीवन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, जिसे किसी भी स्तर पर नकारा नहीं जा सकता। इस संस्कार को करने का मुख्य प्रयोजन शिशु का विशिष्ट नाम स्थापित करने से है, जिससे वह अपनी पहचान बनाकर अपने जीवन के हर व्यवहारिक कार्य को उस नाम से कर सके। हर माता-पिता की यह इच्छा होती है कि मेरा पुत्र अपने नाम से सफलता के सोपान प्राप्त करे।

^{२८७} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-१०६, चौखम्मा विद्याभवन, वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण - १९६५.

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार व्यक्ति की सफलता का कुछ अंश व्यक्ति के नाम पर भी आधारित होता है। इस संस्कार का सबसे महत्वपूर्ण पहलू तो यह है कि विश्व में अनेक मनुष्य हैं, अनेक प्रकार की वस्तुएँ हैं, जिनको नामकरण के बिना पहचान पाना सम्भव नहीं है, अतः व्यक्ति की पहचान के लिए नाम अत्यन्त अनिवार्य है, साथ ही सम्पूर्ण भाषा-व्यवहार भी नाम पर आधारित है। यह अनिवार्यता ही इस संस्कार की उपादेयता को स्पष्ट कर देती है।

अन्नप्राशन-संस्कार

अन्नप्राशन-संस्कार का स्वरूप -

अन्नप्राशन-संस्कार में शिशु के जन्म के पश्चात् उसे प्रथम बार अन्न का आहार कराया जाता है। इस संस्कार में ऐसे प्रशस्त अन्न का आहार, जो शिशु के लिए योग्य हो तथा जो उसके विकास के लिए आवश्यक हो, विधि-विधानपूर्वक कराया जाता है। अन्नप्राशन-संस्कार न होने तक शिशु मात्र माता के स्तनपान या दुग्धाहार पर निर्भर रहता है। इस संस्कार के होने के पश्चात् ही शिशु को ठोस अन्नादि का आहार दिया जाता है।

इस संस्कार के मूलभूत प्रयोजन के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं, तो पाते हैं कि जन्म के ५-६ महीने तक शिशु माँ के स्तनपान पर ही आश्रित रहता है, लेकिन जैसे-जैसे उसका शरीर विकसित होता है, वैसे-वैसे उसे ठोस आहार की भी अपेक्षा रहती है। दूसरी ओर, धीरे-धीरे माता के दूध की मात्रा भी घटती जाती है, अतः शिशु एवं माता - दोनों के हित की दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया कि शिशु को माता के स्तनपान के साथ-साथ अन्य खाद्यपदार्थ भी दिए जाएँ, ताकि कालान्तर में वह माता के दूध पर निर्भर न रहे। इसी आवश्यकता का अनुभव करते हुए ही यह संस्कार किया जाता है- ऐसा हम मान सकते हैं। दूसरे शब्दों में, शिशु की शारीरिक-आवश्यकताओं की पूर्ति एवं माता के हित को ध्यान में रखकर यह संस्कार किया जाता है।

आचारदिनकर के अनुसार^{२८८} यह संस्कार बालक के जन्म से छठवें मास में एवं बालिका के जन्म से पाँचवें मास में करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों^{२८९} में भी इस संस्कार को स्वीकार किया गया है। उनमें जन्म से सातवें या आठवें मास में यह संस्कार करने का निर्देश दिया गया है। वैदिक-परम्परा के

^{२८८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथमविभाग), उदय-नवाँ, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

^{२८९} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक- डॉ. पन्नालाल जैन (भाग-२), पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४८, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

ग्रन्थों में^{२६०} यह संस्कार श्वेताम्बर-परम्परा की भाँति ही सामान्यतः छठवें मास में करने का विधान मिलता है। तीनों परम्पराओं में विधिपूर्वक शिशु को प्रथम अन्न का भोजन कराने की यह प्रथा इस बात की द्योतक है कि यह एक सर्वमान्य प्रथा थी, जिसे सभी परम्पराओं ने एक संस्कार के रूप में स्वीकार किया है।

संस्कार का कर्ता -

श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार जैन-ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण के अनुसार भी यह संस्कार जैन-ब्राह्मण द्वारा ही करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार ब्राह्मण द्वारा कराने का तथा कहीं-कहीं पिता द्वारा भी^{२६१} कराने का उल्लेख मिलता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने अन्नप्राशन-संस्कार की निम्न विधि प्रतिपादित की है-

अन्नप्राशन-संस्कार की विधि -

वर्धमानसूरि के अनुसार जन्म के छठवें महीने में पुत्र को एवं पाँचवें महीने में पुत्री को शुभ नक्षत्र, तिथि, वार एवं योग होने पर शिशु के चन्द्रबल को देखकर विधिपूर्वक अन्न का आहार कराना चाहिए। यह संस्कार कौनसे नक्षत्रों में एवं वारों में किया जाना चाहिए- इस पर भी मूल ग्रन्थ में विचार किया गया है। इसके साथ ही कौनसे लग्न में यह संस्कार किए जाने पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है- इसका भी इसमें उल्लेख किया गया है।

इस संस्कार हेतु सर्वप्रथम गृहस्थ गुरु शिशु के घर जाकर देश में उत्पन्न होने वाले धान, फल, आदि का संग्रह करे। तत्पश्चात् उनसे अनेक प्रकार के व्यंजन बनाए। तदनन्तर अर्हत्-प्रतिमा को बृहत्स्नात्रविधि से पंचामृत-स्नान करवाकर, अर्हत्कल्प में उल्लेखित नैवेद्य-मंत्रपूर्वक अन्न, शाक, पकवान, आदि को पृथक् पात्र में संचित कर जिनप्रतिमा के सम्मुख चढ़ाए तथा सभी प्रकार के फल भी रखे। उसके बाद शिशु पर स्नात्रजल का सिंचन करे। तत्पश्चात् वे सभी वस्तुएँ, जो जिनप्रतिमा के सम्मुख चढ़ाई गई थीं, उसी प्रकार की सब वस्तुएँ अमृताश्रव-मंत्रपूर्वक गौतमस्वामी की प्रतिमा, कुल- देवता के मंत्र से कुलदेवता को तथा कुलदेवी के मंत्र से गोत्रदेवता के समक्ष चढ़ाए। तदनन्तर कुलदेवी के नैवेद्य

^{२६०} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२०२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०

^{२६१} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२०२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

में से शिशु के योग्य आहार लेकर गीत-गान तथा मंत्रपूर्वक शिशु के मुख में दे। इस अवसर पर यतिगुरु एवं गृहस्थगुरु को किन-किन वस्तुओं का दान दे- इसका भी मूल ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है।

एतदर्थ विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के प्रथम भाग के नौवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक-विवेचन -

शिशु के शारीरिक-विकास की दृष्टि से अन्नप्राशन नामक यह संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। इसके महत्व को समान रूप से स्वीकारते हुए भी सभी परम्पराओं में अपने उपास्य देव आदि के भेद से इसके विधि-विधानों में आंशिक मतभेद भी परिलक्षित होता है।

श्वेताम्बर-परम्परा में इस संस्कार का उल्लेख अर्द्धमागधी आगमग्रन्थ राजप्रज्ञीय^{२६२} में मिलता है, किन्तु इस संस्कार के विधि-विधान हमें वहाँ उपलब्ध नहीं होते हैं। आचारदिनकर के अनुसार श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार बालिका के जन्म से पाँचवें महीने में तथा बालक के जन्म से छठवें महीने में शिशु का चन्द्रबल देखकर किया जाता है। जबकि दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार सात या आठ माह व्यतीत होने पर किया जाता है, वैदिक-परम्परा के विद्वानों का इस संस्कार के समय के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। लौगाक्षि के अनुसार^{२६३} - शिशु की पाचनशक्ति के विकसित हो जाने पर तथा दाँत के निकलने पर यह संस्कार करना चाहिए। कुछ विद्वानों के अनुसार^{२६४} - अन्नप्राशन-संस्कार जन्म से छठवें सौर-मास में तथा कारणवशात् स्थगित होने पर आठवें या नौवें या दसवें मास में करना चाहिए, किन्तु कतिपय पण्डितों के मतानुसार यह बारहवें मास में या एक वर्ष पूर्ण होने पर भी किया जा सकता है, किन्तु इससे आगे इसे स्थगित नहीं किया जा सकता है। वैदिक-परम्परा में बालकों का सम मास में एवं बालिकाओं का विषम मास में यह संस्कार करने का उल्लेख मिलता है।^{२६५}

^{२६२} राजप्रज्ञीयसूत्र, सम्पादक - मधुकरमुनि, सूत्र-२८०, पृ.-२०६, श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), द्वितीय संस्करण, १९६१

^{२६३} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (चतुर्थ परिच्छेद), पृ.-११५, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवीं संस्करण १९६५

^{२६४} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (चतुर्थ परिच्छेद), पृ.-११५, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवीं संस्करण १९६५

^{२६५} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (चतुर्थ परिच्छेद), पृ.-११५, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवीं संस्करण १९६५

स्मृतियों में सामान्यतया इस संस्कार को करने के लिए छठवाँ महीना उपयुक्त माना गया है। मानवगृह्यसूत्र ने भी इस संस्कार के लिए पांचवाँ या छठवाँ महीना बताया है^{२६६}, जो आचारदिनकर के मत का समर्थन करता है।

आचारदिनकर^{२६७} में यह संस्कार कौन-कौनसे वारों, नक्षत्रों, तिथियों एवं लग्नों में करना चाहिए- इसका बहुत स्पष्ट विवेचन मिलता है। ऐसा स्पष्ट विवेचन दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

आचारदिनकर में इस संस्कार हेतु शिशु के लिए आहार किस प्रकार से तैयार करें- इसका भी स्पष्ट निर्देश दिया गया है, जबकि दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में इस सम्बन्ध में मार्कण्डेयपुराण^{२६८} में इतना उल्लेख जरूर मिलता है कि पिता शिशु को मधु और घी के साथ खीर खिलाए। गृह्यसूत्रों में इस संस्कार में मांसाहार के भी कुछ उल्लेख हैं^{२६९}, इससे लगता है कि उस काल में हिन्दू समाज में मांसाहार का प्रचलन रहा होगा, किन्तु इससे परवर्तीकाल के हिन्दुओं के संस्कार सम्बन्धी ग्रन्थों में शिशु को मधु और घी के साथ खीर खिलाए जाने तथा दही, दूध, घी, आदि खिलाए जाने का ही उल्लेख मिलता है।^{३००}

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार^{३०१} इस संस्कार में सर्वप्रथम अर्हत् परमात्मा की प्रतिमा को बृहत्स्नात्रविधि से पंचामृत-स्नान कराने का निर्देश है, साथ ही अर्हत्कल्प में निर्दिष्ट नैवेद्य-मंत्र द्वारा इस संस्कार हेतु तैयार किए गए व्यंजनों को परमात्मा के सम्मुख चढ़ाने का विधान है। दिगम्बर-परम्परा में भी अरिहंत परमात्मा की प्रतिमा की पूजा का निर्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त वहाँ किसी प्रकार का और कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में इस संस्कार के प्रारम्भ में मातृकापूजन एवं गणपति-पूजन का संकेत मिलता है।^{३०२}

^{२६६} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२०२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{२६७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथमविभाग), उदय-नवाँ, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

^{२६८} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (चतुर्थ परिच्छेद), पृ.-११७, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

^{२६९} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२०२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{३००} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (चतुर्थ परिच्छेद), पृ.-११७, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

^{३०१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथमविभाग), उदय-नवाँ, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

^{३०२} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

आचारदिनकर में^{३०३} गीतमस्वामी की प्रतिमा के समक्ष भी वे सभी वस्तुएँ चढ़ाने का निर्देश है, जो जिनप्रतिमा के समक्ष चढ़ाई गई थीं। विशेष यह कि गीतमस्वामी की प्रतिमा के समक्ष वे सभी वस्तुएँ अमृताम्रव मंत्रोच्चार के साथ चढ़ाने का विधान है। फिर उसी प्रकार की वे सब वस्तुएँ कुलदेवी या कुलदेवता के समक्ष भी चढ़ाने का निर्देश है तथा उस कुलदेवी के नैवेद्य में से ही शिशु के योग्य आहार लेकर गीत-गान करते हुए शिशु के मुख में दिया जाता है।

शिशु को आहार देते समय बोले जाने वाले मंत्रों में भी इन सभी परम्पराओं में भिन्नता है, जैसे - श्वेताम्बर-परम्परा में गृहस्थ-गुरु निम्न मंत्र बोलता है^{३०४} -

“अर्हं भगवानर्हन् त्रिलोकनाथः त्रिलोकपूजितः सुधाधारधारित शरीरोऽपिकावलिकाहारमहारितवान् पश्यन्नपि पारणा विधाविश्वरसपरमान्-भोजनात्परमानन्ददायकं बलं। तद्देहिन्नौदारिक शरीरमाप्तस्त्वमप्याहारय आहारं तत्ते दीर्घमायुरारोग्यमस्तु अर्हं ऊँ॥”

दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार के समय निम्न मंत्र बोला जाता है^{३०५} -

“दिव्यामृतभागीभव, विजयामृतभागीभव, अक्षीणामृतभागीभवा”

वैदिक-परम्परा में अन्नप्राशन के समय निम्न मंत्र बोला जाता है^{३०६} -

“भूः भूवः स्वः।”

वैदिक-परम्परा में कहीं-कहीं मौनपूर्वक या ‘हन्त’ शब्द के साथ भी शिशु को भोजन कराने का उल्लेख मिलता है।^{३०७}

इस प्रकार तीनों परम्पराओं में इस संस्कार के समय बोले जाने वाले मंत्रों में भिन्नता है। श्वेताम्बर-परम्परा में जिस प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख है, वैसा दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में शिशु को आहार कराने से पूर्व यज्ञ (होम) करने का विधान है।

^{३०३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथमविभाग), उदय-नवाँ, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

^{३०४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथमविभाग), उदय-नवाँ, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

^{३०५} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक-डॉ. पन्नालाल जैन (भाग-२), पर्व-चालीसवाँ, पृ.-३०८, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{३०६} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{३०७} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (चतुर्थ परिच्छेद), पृ.-११७, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

श्वेताम्बर-परम्परा में शिशु को अन्न का आहार कराने के पश्चात् साधुओं को भी वह आहार देने का निर्देश किया गया है, साथ ही विधिकारक को भी यथोक्त अन्न, धन एवं वस्त्र, आदि देने के लिए कहा गया है।^{३०८} दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस प्रकार का उल्लेख हमें देखने को नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में ब्राह्मणभोज^{३०९} का उल्लेख अवश्य मिलता है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में जिस प्रकार से इस संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री का निर्देश किया है, वैसे विस्तृत निर्देश हमारी जानकारी में दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में नहीं मिलते हैं।

उपसंहार -

इस संस्कार का तुलनात्मक-अध्ययन करने के पश्चात् जब हम इसके प्रयोजन एवं उपादेयता के सम्बन्ध में समीक्षात्मक-दृष्टि से विचार करते हैं, तो हम पाते हैं कि शिशु के शरीर के विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा माता के दुग्धपान कराने के दायित्व से निवृत्ति हेतु यह संस्कार किया जाता रहा है। अन्नप्राशन-संस्कार के माध्यम से उचित समय पर शिशु को अपनी माता के स्तनपान से क्रमशः पृथक् कर अन्न से अपना जीवन चलाने वाला बनाया जाता है। शिशु के हितार्थ जानकर छठवें माह में या उसके कुछ समय पश्चात् यह संस्कार करने का विधान इसलिए किया गया कि शिशु के दाँत आ जाने पर तथा उसकी पाचनक्षमता का विकास होने पर ही वह इस ठोस आहार को पचा सकता है। सामान्यतः, छठवें महीने में शिशु के दाँत आ जाने एवं उसकी पाचनक्षमता का विकास हो जाने के कारण ही इस संस्कार की अवधि जन्म से छठवें महीने में रखी गई, क्योंकि इससे पूर्व उसकी पाचनक्षमता विकसित न होने पर ठोस भोजन द्वारा शिशु रोगग्रस्त भी हो सकता है।

साथ ही, यह संस्कार माता के हित के लिए भी किया जाता था। चूँकि एक समय के बाद माता के दूध की मात्रा भी घटती जाती है तथा नया गर्भधारण भी हो सकता है, अतः माता की शक्ति का भी निरर्थक क्षय न हो, इसलिए भी यह संस्कार किया जाता रहा होगा- ऐसा हम मान सकते हैं। दूसरे, यह संस्कार माता के पुत्र के प्रति कर्तव्य को भी इंगित करता है, क्योंकि यदि माता एक समयावधि के पश्चात् उसे ठोस आहार प्रारम्भ नहीं करती है, तो शिशु की

^{३०८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथमविभाग), उदय-नवाँ, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

^{३०९} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (चतुर्थ परिच्छेद), पृ.-११७, चौखम्भा विद्याभवन, पाँचवाँ संस्करण १९६५

पाचनशक्ति भी कमजोर बनी रहेगी, अतः शिशु की पाचनशक्ति का क्षय न हो, इसलिए माता का यह कर्तव्य है कि वह उसे धीरे-धीरे ठोस आहार कराए।

वर्धमानसूरि की यह विशेषता है कि उन्होंने अन्य संस्कारों की भाँति इस संस्कार में कुलदेवी-देवताओं के नैवेद्य आदि का भी निर्देश आचारदिनकर में किया है, जो अपनी कुल-परम्परा को अक्षुण्ण रखने हेतु आवश्यक था।

उपर्युक्त सभी दृष्टिकोणों पर जब हम विचार करते हैं, तो इस संस्कार का प्रयोजन एवं इस संस्कार की जीवन में उपादेयता स्वतः ही प्रकट हो जाती है। मनुष्य का जीवन आहार पर ही आश्रित है, उसके बिना व्यक्ति का शारीरिक-विकास सम्भव नहीं है, क्योंकि आहार ही शरीर को शक्ति एवं संबल प्रदान करता है, इसलिए शिशु के शारीरिक-विकास के लिए यह संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कर्णविध-संस्कार

कर्णविध-संस्कार का स्वरूप -

इस संस्कार में शिशु का कर्णछेदन कर विधि-विधानपूर्वक कर्ण-आभूषण पहनाया जाता है। आभूषण पहनाने के लिए शरीर के विभिन्न अंगों के छेदन की प्रथा सम्पूर्ण संसार की आदिम जातियों में प्रचलित रही है। इस संस्कार का उद्भव अतिप्राचीनकाल से ही हुआ होगा, क्योंकि इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे - सूर्यदेवता द्वारा कर्ण को कुंडल देना आदि। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि उस काल में भी यह कर्णविध-संस्कार प्रचलित रहा होगा। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इसकी विधि आदि नहीं मिलती, तथापि कर्ण-आभरण पहनने के उल्लेखों से कर्णविध सम्बन्धी इस संस्कार की पुष्टि होती है।

इस संस्कार को किए जाने का मूलभूत प्रयोजन क्या रहा होगा, इस सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं, तो निष्कर्ष रूप में यह पाते हैं कि प्राचीनकाल में भी इस संस्कार का प्रारम्भ कानों के आभूषण पहनाने के लिए ही हुआ होगा, किन्तु आगे चलकर इसे धार्मिक संस्कार का रूप दे दिया होगा। वैदिक-परम्परा के प्राचीन साहित्य में विशेष रूप से गृह्यसूत्रों में इसके विधि-विधान का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, जो इस बात का द्योतक है कि अतिप्राचीनकाल में मात्र यह एक प्रथा थी, लेकिन इसकी उपयोगिता सिद्ध होने पर परवर्ती साहित्य में इसे संस्कार के रूप में माना गया। एक्यूपंचर की चिकित्सा-विधि के अनुसार कर्णछेदन से रोगों का यथासम्भव निरोध होने की शक्यता रहती है। इस महत्वपूर्ण

पक्ष पर विचार करके ही यह संस्कार प्रारम्भ हुआ होगा- ऐसा भी हम मान सकते हैं।

वर्धमानसूरि के आचारदिनकर में विधि-विधानसहित यह संस्कार करने का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में हमें इस नाम के संस्कार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु जैन-संस्कार-विधि में चौल-संस्कार के समय कर्णछेद करने का निर्देश किया गया है, परन्तु इसे स्वतन्त्र संस्कार के रूप में उल्लेखित नहीं किया गया है।³⁹⁰ वैदिक-परम्परा के अन्तर्गत यह संस्कार करने का विधान मिलता है।

कर्णविध-संस्कार गृह्यसूत्रों में वर्णित नहीं है, परन्तु कालान्तर वाली स्मृतियों एवं पुराणों में ही उल्लेखित हुए हैं³⁹¹ तथा परवर्ती वैदिक-विद्वानों ने इसे संस्कार के रूप में स्वीकार कर इसका विधि-विधानसहित विवेचन किया है। इस प्रकार वर्धमानसूरि के आचारदिनकर में एवं वैदिक-परम्परा में इसे संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया है।

आचारदिनकर के अनुसार³⁹² यह संस्कार शुभ वर्ष, मास, दिन आदि देखकर कुल-परम्परा के अनुसार बालक के तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष में किया जाता है। वैदिक-परम्परा में इस संस्कार के समय के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। बृहस्पति के अनुसार³⁹³ यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें, बारहवें या सोलहवें दिन करना चाहिए। गर्ग के अनुसार³⁹⁴ छठवें, सातवें, आठवें मास में यह संस्कार करना चाहिए, किन्तु कात्यायनसूत्र³⁹⁵ कर्णविध-संस्कार के उपयुक्त समय के रूप में शिशु के तृतीय या पाँचवें वर्ष का विधान करता है, जो श्वेताम्बर-परम्परा में निर्दिष्ट समय का समर्थन भी करता है।

³⁹⁰ जैन संस्कार विधि, नाथूलाल जैन शास्त्री, अध्याय-२, पृ.-१२, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, गोम्पटगिरी, इन्दौर, पांचवी आवृत्ति : २०००.

³⁹¹ धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामनकाणे, अध्याय-६, पृ.-१७८, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०.

³⁹² आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथमविभाग), उदय-दसवीं, पृ.-१७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

³⁹³ देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२०१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

³⁹⁴ देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (षष्ठ परिच्छेद), पृ.-१३०, चौखम्भा विद्या भवन, पाँचवीं संस्करण १९६५

³⁹⁵ देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (षष्ठ परिच्छेद), पृ.-१३०, चौखम्भा विद्या भवन, पाँचवीं संस्करण १९६५

संस्कार का कर्ता -

आचारदिनकर के अनुसार यह संस्कार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में कात्यायनसूत्र के मतानुसार³⁹⁶ यह संस्कार पिता द्वारा किया जाता था, पर कानों का छेदन कौन करे ? इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया गया है। मध्यकालीन लेखक श्रीपति ने यह अधिकार सुई बनाने वाले और स्वर्णकार को दिया है।³⁹⁹ आधुनिक समय में भी वंश-परम्परा के अनुभव के कारण कर्णवेध प्रायः स्वर्णकार द्वारा ही करवाया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने कर्णवेध की निम्न विधि प्रतिपादित की है-

कर्णवेध-संस्कार की विधि -

वर्धमानसूरि के अनुसार निर्दोष वर्ष, मास, तिथि, वार, नक्षत्र होने पर शिशु के रवि-चन्द्रबल में ही कर्णवेध-संस्कार किया जाना चाहिए। कर्णवेध-संस्कार के समय ग्रहों, नक्षत्रों की क्या स्थिति हो, कौनसे वार इस कार्य हेतु शुभ कहे गए हैं, इसकी विस्तृत चर्चा मूल ग्रन्थ में की गई है।

कर्णवेध-संस्कार हेतु तीसरा, पांचवाँ, सातवाँ वर्ष निर्दोष माना गया है। इसमें भी जिस मास में शिशु का सूर्य बलवान् हो, उस मास में गुरुवार आदि शुभ दिनों में अमृत-मंत्र द्वारा जल को अभिमंत्रित करें तथा उस जल से सधवा स्त्रियाँ शिशु एवं उसकी माता को मंगलगीत गाते हुए स्नान कराएं।

तत्पश्चात् गृहस्थ गुरु उसके गृह में पौष्टिककर्म अधिकार के अनुरूप पौष्टिककर्म करे तथा षष्ठीमाता को छोड़कर आठ माताओं की पूजा करे। तत्पश्चात् अपनी कुल-परम्परा के अनुसार योग्य स्थान पर कर्णवेध-संस्कार की क्रिया करे। वहाँ मोदक आदि बनाने का सभी कार्य अपने कुलाचार के अनुसार करें। तदनन्तर बालक को सुखासन में पूर्वाभिमुख बैठाकर उसका कर्णवेध करें। उसके बाद बालक को किस प्रकार से उपाश्रय में ले जाएं, किस प्रकार से वहाँ मण्डली-पूजा करें एवं वासक्षेप लें, इसका भी उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् गृहस्थ गुरु बालक को उसके घर ले जाकर कर्ण-आभरण पहनाए। उसके बाद यतिगुरु को चतुर्विधाहार तथा गृहस्थगुरु को दान-दक्षिणा दें।

³⁹⁶ देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (षष्ठ परिच्छेद), पृ.-१२१, चौखम्भा विद्या भवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

³⁹⁹ देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (षष्ठ परिच्छेद), पृ.-१२१, चौखम्भा विद्या भवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

कणविध हेतु किन-किन सामग्रियों की आवश्यकता होती है, इसका भी प्रसंगवश मूल ग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। इसकी विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के प्रथम खण्ड के दसवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन -

श्वेताम्बर-परम्परा में इस संस्कार का उल्लेख अर्द्धमागधी आगम राजप्रश्नीयसूत्र^{३१८} में मिलता है, किन्तु इस संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख हमें वहाँ नहीं मिलता है। आचारदिनकर एवं वैदिक-साहित्य में कणविध नामक इस संस्कार को अपनी-अपनी कुल-परम्परा के अनुरूप किए जाने का उल्लेख है। इस कारण इस संस्कार के विधि-विधानों में भी कुछ अन्तर है।

आचारदिनकर में इस संस्कार के सम्बन्ध में ज्योतिष सम्बन्धी चर्चा भी की गई है।^{३१९} उसके अनुसार यह संस्कार उत्तराषाढा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराभाद्रपद, हस्त, रोहिणी, रेवती, श्रवण, पुनर्वसु, मृगशीर्ष एवं पुष्य नक्षत्र में करना चाहिए। साथ ही इसमें उन्होंने विशिष्ट शुभ नक्षत्रों का भी उल्लेख किया है। कौन-कौनसे वारों एवं तिथियों में यह संस्कार किया जाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने अन्य संस्कारों की भाँति ही शिशु के सूर्यबल एवं चन्द्रबल को देखकर ही यह संस्कार करने के लिए कहा है।

वैदिक-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में इस संस्कार के मुहूर्त आदि का विस्तृत वर्णन न करके इतना ही उल्लेख किया गया है कि यह संस्कार शुक्लपक्ष में किसी शुभ दिन में सम्पन्न करना चाहिए।^{३२०}

आचारदिनकर के अनुसार इस संस्कार के अन्तर्गत गृहस्थ गुरु सर्वप्रथम अमृतमंत्र द्वारा जल को अभिमंत्रित करते हैं और उस जल से सधवा स्त्रियाँ शिशु एवं उसकी माता को स्नान कराती हैं।

आचारदिनकर में यह स्नान कुलाचार के अनुसार विशेष तेल का मर्दन करके तीसरे, पाँचवें, नवें या ग्यारहवें दिन करने का निर्देश दिया गया है। इसके पश्चात् घर में पौष्टिककर्म करके एवं षष्ठीमाता को छोड़कर शेष आठ माताओं

^{३१८} राजप्रश्नीय सूत्र, सम्पादक-मधुकरमुनि, सूत्र-२८० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), द्वितीय संस्करण : १९६१

^{३१९} आचारदिनकर, वर्षमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-दसवीं, पृ.-१७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

^{३२०} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (षष्ठ परिच्छेद), पृ.-१३२, चौखम्भा विद्या भवन, पाँचवीं संस्करण १९६५

की पूजा की जाती है। तत्पश्चात् कुल-परम्परा के अनुसार कुलदेवता के स्थान पर या अन्य किसी जगह पर जाकर कर्णवेध का कार्य किया जाता है।^{३२१} वैदिक-परम्परा में इस सम्बन्ध में मात्र मातृकापूजन एवं गणेशपूजन का ही उल्लेख मिलता है।^{३२२} वैदिक-परम्परा में यह संस्कार कहाँ किया जाए, इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं मिलता है।

आचारदिनकर के अनुसार^{३२३} नैवेद्य आदि बनाने का कार्य भी कुलदेवता के स्थान पर जाकर ही किया जाता है। वहाँ गीत, गान, मंगलाचार आदि सब कार्य भी कुल-परम्परा के अनुसार ही किया जाता है और उसी स्थान पर बालक को सुखासन में पूर्वाभिमुख बैठकर उसका कर्णछेदन करते हैं। वैदिक-परम्परा में आचारदिनकर की भाँति कुलदेवता आदि की कोई विशेष चर्चा नहीं है। वैदिक-परम्परा में कात्यायनसूत्र के अनुसार^{३२४} शिशु को पूर्वाभिमुख बैठकर उसे कुछ मिठाई दी जाती है, फिर मंत्रोच्चार के साथ शिशु का दाहिना कान छेदा जाता है। सुश्रुत के अनुसार^{३२५} शिशु को माता या धाय की गोद में बैठकर यह संस्कार किया जाना चाहिए।

श्वेताम्बर-परम्परा में एवं वैदिक-परम्परा में इस संस्कार के समय बोले जाने वाले मंत्रों में भी मतभेद हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में कर्णछेदन के समय निम्न मंत्र बोला जाता है^{३२६} -

“ऊँ अर्हं श्रुतेनागैरूपगैः कालिकैस्त्वकालिकैः पूर्वगतैश्चूलिकाभिः परिकर्मभिः सूत्रैः पूर्वानुयोगैः छन्दोभिर्लक्षणैर्निस्वतैर्धर्मशास्त्रैर्विद्धकणौभूयात् अर्हं ऊँ।।”

यहाँ वर्धमानसूरि ने शूद्रों के लिए अलग मंत्र बताया है, जो निम्न प्रकार से है^{३२७} -

“ऊँ अर्हं तव श्रुतिद्वयं हृदयं धर्माविद्धमस्तु।।”

^{३२१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-दसवाँ, पृ.-१७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२

^{३२२} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{३२३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-दसवाँ, पृ.-१७ ठ, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

^{३२४} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (षष्ठ परिच्छेद), पृ.-१३२, चौखम्भा विद्याभवन, पाँचवाँ संस्करण १९६५

^{३२५} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (षष्ठ परिच्छेद), पृ.-१३३, चौखम्भा विद्याभवन, पाँचवाँ संस्करण १९६५

^{३२६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-दसवाँ, पृ.-१७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

^{३२७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-दसवाँ, पृ.-१७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा में ये दो मंत्र बताए गए हैं। वैदिक-परम्परा में दाहिना कर्णछेदन करते समय - “हम अपने कानों से भद्रवाणी सुने” एवं बायाँ कर्णछेदन करते समय “वक्ष्यन्ति” आदि मंत्रोच्चारण किए जाते हैं - ऐसा उल्लेख मिलता है।^{३२८} वैदिक-परम्परा में आचारदिनकर की भाँति शूद्रों के लिए अलग से किसी मंत्र का विधान नहीं मिलता है।

आचारदिनकर के अनुसार कर्णछेदन के पश्चात् शिशु को उपाश्रय में ले जाकर मण्डलीपूजा करते हैं और यतिगुरु से विधिपूर्वक वासक्षेप डलवाकर शिशु को घर ले जाते हैं, फिर कर्ण-आभरण पहनाते हैं। इस प्रकार का विधान वैदिक-परम्परा में नहीं मिलता है।

आचारदिनकर के अनुसार इस अवसर पर यतिगुरु को चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्र, आदि का दान देने का तथा गृहस्थ गुरु को भी स्वर्ण, वस्त्र आदि का दान देने का विधान है। वैदिक-परम्परा में ब्राह्मण-भोजन का विधान मिलता है। उत्तरकालीन साहित्य में लेखकों ने इस संस्कार के अनेक विधि-विधानों को जोड़कर इस संस्कार को थोड़ा विस्तृत कर दिया है। आचारदिनकर में वर्धमानसूरी ने इस संस्कार के लिए जिस प्रकार आवश्यक सामग्री का निर्देशन दिया है, उस प्रकार का उल्लेख वैदिक साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में हमें देखने को नहीं मिला।

इस प्रकार दोनों परम्पराओं में किए जाने वाले इस संस्कार के विधि-विधानों में भिन्नता है, लेकिन दोनों का ध्येय कर्णछेदन करना ही है।

उपसंहार -

इस प्रकार तुलनात्मक विवेचन के बाद जब हम इस संस्कार की उपादेयता के बारे में विचार करते हैं, तो हम पाते हैं कि यह संस्कार मात्र कर्ण के अलंकरण (शोभा) के लिए ही नहीं किया जाता था, अपितु इसके पीछे एक प्रयोजन यह भी रहा होगा कि इस संस्कार को करने से शिशु की रोग आदि से रक्षा होती है। ऐसी मान्यता थी कि अण्डकोशवृद्धि एवं आन्त्रवृद्धि के निरोध के लिए यह संस्कार करना चाहिए। वर्तमान में एक्यूपंचर के चिकित्सक भी इस बात को स्वीकार करते हैं, कि कर्णछेदन से रोगों का निरोध होता है। हर व्यक्ति अपने जीवन का हर पल खुशी में, सुख में व्यतीत करना चाहता है, वह किसी रोग का दुःख या त्रास सहन करना नहीं चाहता। अतः रोगों की रोकथाम करने में भी इस संस्कार की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस प्रकार इस संस्कार की उपादेयता स्वतः ही

^{३२८} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (षष्ठ परिच्छेद), पृ.-१३२, चौखम्भा विद्यामवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

प्रकट हो जाती है। लगभग ५०-६० वर्षों से यह संस्कार पुरुष वर्ग में उपेक्षित हो गया था, किन्तु वर्तमान में कितने ही लोग कर्णछेदन कराने लगे हैं।

चूड़ाकरण-संस्कार

चूड़ाकरण-संस्कार का स्वरूप -

इस संस्कार में बालक के मस्तक का प्रथम बार मुण्डन किया जाता है। चूड़ा शब्द का तात्पर्य बालों के गुच्छ या शिखा से है, जो मुण्डित सिर पर रखी जाती है। इसे चोटी या शिखा भी कहते हैं। इस प्रकार चूड़ाकर्म वह संस्कार है, जिसमें जन्म के उपरान्त पहली बार सिर पर एक बालगुच्छ (शिखा) रखकर शेष सिर के बालों का मुण्डन किया जाता है। तीनों ही परम्पराओं में इस संस्कार को इसी रूप में स्वीकार किया गया है।

इस संस्कार को करने का मूलभूत प्रयोजन क्या है ? इस सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं, तो हम पाते हैं कि प्राचीन समय में सिर को स्वच्छ रखने के लिए यह संस्कार किया जाता था। लेकिन कालप्रवाह के साथ जैसे-जैसे इससे लाभ होने लगा, वैसे-वैसे व्यक्ति की यह धारणा बन गई कि इस संस्कार से व्यक्ति को दीर्घ आयु, सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति होती है। हिन्दुओं के आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। इस संस्कार को करने का मुख्य प्रयोजन गर्भकाल के केशों का मुण्डन रहा है। कुछ लोगों की यह भी मान्यता थी कि पूर्वजन्म के मस्तिष्क में बैठे कुसंस्कारों-कुप्रभावों को समाप्त करने के लिए यह संस्कार किया जाना चाहिए, जिससे बालक पाशविक संस्कारों से मुक्त हो सके तथा वह मानवीय सद्गुणों से ओत-प्रोत बन सके। दूसरा, गर्भ के बाल अपवित्र माने जाते हैं तथा उन्हें हटाना भी आवश्यक था। इस प्रकार इन उद्देश्यों को लेकर यह संस्कार किया जाता होगा - ऐसा हम मान सकते हैं।

आचारदिनकर के अनुसार^{३२६} यह संस्कार अपनी कुलविधि के अनुसार शुभदिनों में करना चाहिए। यहाँ समयावधि का निर्देश न देकर इस सम्बन्ध में कुल-परम्परा को ही महत्त्व दिया गया है। दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार कब किया जाए, इस सम्बन्ध में पुराणों आदि में कोई निर्देश नहीं मिलता है, किन्तु जैन संस्कार विधि में इससे सम्बन्धित उल्लेख मिलते हैं, जिसके अनुसार यह बालक के पांच वर्ष पूर्ण होने पर किया जाता है, दूसरे या तीसरे वर्ष में भी यह

^{३२६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-ग्यारहवाँ, पृ.-१८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

क्रिया की जा सकती है।³³⁰ वैदिक-परम्परा में यह संस्कार कब किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं, लेकिन सामान्यतया गृह्यसूत्रों के अनुसार³³¹ चूड़ाकरण-संस्कार जन्म के पश्चात् प्रथम वर्ष के अन्त में या तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व किया जाता है। प्राचीनतम स्मृतिकार मनु भी इसी समय का समर्थन करते हैं।³³²

संस्कार का कर्ता -

आचारदिनकर के अनुसार यह संस्कार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार द्विजों (जैन ब्राह्मण) द्वारा करवाने का निर्देश है। वैदिक-परम्परा में भी यह संस्कार ब्राह्मण द्वारा करवाया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने चूड़ाकरण-संस्कार की निम्न विधि प्रतिपादित की है -

चूड़ाकरण-संस्कार की विधि -

सर्वप्रथम आचारदिनकर में यह संस्कार कब किया जाना चाहिए - इस सम्बन्ध में विचार किया गया है। वर्धमानसूरि के अनुसार बालक का सूर्य जिस मास में बलवान् हो, उस मास में तथा जिस दिन चंद्र बलवान् हो उस दिन, शुभ तिथि, वार एवं नक्षत्रों के होने पर कुलाचार के अनुरूप कुलदेवता के स्थान पर अथवा अन्य किसी स्थान पर पौष्टिककर्म करें। तत्पश्चात् षष्ठीमाता को छोड़कर शेष सभी माताओं की पूजा करें। तदनन्तर कुलाचार के अनुसार कुलदेवता के लिए नैवेद्य, पकवान आदि बनाएं। तत्पश्चात् गृहस्थ गुरु स्नान किए हुए बालक को आसन पर बैठाकर बृहत्स्नात्रविधि से प्राप्त स्नात्रजल से शान्तिदेवी के मंत्र से उसे अभिसिंचित करें। तत्पश्चात् कुल परम्परागत नाई के हाथ से बालक का मुण्डन कराए। तीनों वर्णों के लोगों में मुण्डन किस विधि से कराएं - इसका भी उल्लेख वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में किया गया है। मुण्डन के पश्चात् अभिमंत्रित जल से शिशु को अभिसिंचित करें तथा पंचपरमेष्ठी के स्मरणपूर्वक बालक को आसन से उठाकर स्नान कराएं। तदनन्तर चन्दन आदि का लेप करके

³³⁰ जैन संस्कार विधि, नाथूलाल जैन शास्त्री, अध्याय-२, पृ.-१२, श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, गोम्मत गिरी, इन्दौर, पांचवी आवृत्ति : २०००

³³¹ देखें - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (पांचवाँ परिच्छेद), पृ.-१२२, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

³³² देखें - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (पांचवाँ परिच्छेद), पृ.-१२२, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

तथा वस्त्राभूषण धारण करवाकर बालक को उपाश्रय में ले जाएं और मण्डलीपूजा, गुरुवन्दन आदि कृत्य करें तथा वासक्षेप ग्रहण करें। तत्पश्चात् यतिगुरु एवं गृही गुरु को दान दें तथा नाई को वस्त्र एवं कंकण आदि प्रदान करें। इसके पश्चात् मूल ग्रन्थ में इस संस्कार हेतु आवश्यक सामग्री के सम्बन्ध में निर्देश दिया गया है।

इस संस्कार के विधि-विधान की विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के प्रथम खण्ड के ग्यारहवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन -

चूड़ाकरण नामक यह संस्कार तीनों परम्परा में किया जाता है। श्वेताम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में इस संस्कार को इसी नाम से विवेचित किया गया है, किन्तु दिग्म्बर-परम्परा में यह संस्कार केशवाप^{३३३} या चौलक्रिया के नाम से वर्णित है।

श्वेताम्बर-परम्परा के अर्द्धमागधी आगमग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा एवं राजप्रशनीयसूत्र में इस संस्कार का उल्लेख मिलता है^{३३४}, किन्तु इस संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख हमें इन ग्रन्थों में नहीं मिलता है। आचारदिनकर के अनुसार^{३३५} श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार बालक के सूर्यबल एवं चन्द्रबल को देखकर शुभ तिथि, वार एवं नक्षत्र में कुलविधि के अनुसार किया जाता है। इस सम्बन्ध में वर्धमानसूरि ने ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी कुछ विधि-निषेधों का भी वर्णन किया है, जिसका उल्लेख पूर्व में कर चुके हैं। उन्होंने यह बताया है कि किन-किन नक्षत्रों, तिथियों एवं वारों में यह संस्कार करना चाहिए तथा किन-किन नक्षत्रों, तिथियों एवं वारों में तथा किन स्थानों पर यह संस्कार नहीं करना चाहिए। दिग्म्बर-परम्परा के प्राचीन साहित्य में ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी कोई उल्लेख हमें देखने को नहीं मिले। उनके मतानुसार यह संस्कार शुभ दिनों में करना चाहिए, परन्तु वे शुभ दिन कौन-कौनसे माने गए हैं, इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु नाथूलाल जैन शास्त्री ने अपनी पुस्तक जैन संस्कार विधि में इसका उल्लेख किया है। इस संस्कार के लिए उन्होंने वारों में

^{३३३} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४८, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{३३४} (अ) ज्ञाताधर्मकथा सू.-१/६७ (ब) राजप्रशनीय सू.-२८०, सं.-मधुकरमुनि।

^{३३५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-ग्यारहवाँ, पृ.- १८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

सोम, बुध, शुक्रवार, तिथियों में द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, त्रयोदशी तथा नक्षत्रों में ज्येष्ठा, मृगशिरा, चित्रा, रेवती, हस्त, स्वाति, पुनर्वसु, पुष्य, धनिष्ठा, शतभिषा, अश्विनी को शुभ माना है,^{३३६} जो आचारदिनकर के समरूप ही है। वैदिक-परम्परा में इस संस्कार से सम्बन्धित ज्योतिष विषयक मान्यताओं का उल्लेख गृह्यसूत्र में नहीं मिलता है, परन्तु उत्तरस्मृति-काल में इस सम्बन्ध में चर्चा की गई है, जिसके अनुसार यह संस्कार सूर्य के उत्तरायण में करना चाहिए। राजमार्तण्ड के अनुसार^{३३७} चैत्र और पौष मास तथा सारसंग्रह के अनुसार^{३३८} ज्येष्ठ और मृगशीर्ष मास इस संस्कार के लिए वर्जित माने गए हैं। साथ ही यह संस्कार दिन में करना चाहिए-ऐसा भी निर्देश है।^{३३९} फिर भी आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार ज्योतिष सम्बन्धी निर्देशों को जितने विस्तृत ढंग से एवं स्पष्ट रूप से विवेचित किया है, उस प्रकार का उल्लेख वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

आचारदिनकर के अनुसार इस संस्कार के लिए सर्वप्रथम कुलदेवता के स्थान पर ग्राम, पर्वत अथवा घर में शास्त्रोक्त विधि से पौष्टिककर्म किया जाता है, इसके बाद षष्ठी माता को छोड़कर शेष सभी माताओं की पूजा की जाती है। साथ ही कुलाचार के अनुसार कुलदेवता के लिए पकवान बनाए जाते हैं। दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार में देव एवं गुरु की पूजा की जाती है।^{३४०} वैदिक-परम्परा में यह संस्कार गणेशपूजन, मातृकापूजन, संकल्प, मंगल श्राद्धकर्म एवं ब्रह्मभोज के साथ किया जाता है।^{३४१} यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार पौष्टिककर्म का निर्देश दिया है, उस प्रकार का उल्लेख दिगम्बर-परम्परा में हमें देखने को नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार गृह या कुलदेवता के स्थान पर करने का निर्देश अवश्य मिलता है।

^{३३६} जैन संस्कार विधि, नाथूलाल जैन शास्त्री, अध्याय-२, पृ.-१२, श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, गोम्पट गिरी, इन्दौर, पांचवी आवृत्ति : २०००.

^{३३७} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (पांचवाँ परिच्छेद), पृ.-१२३, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

^{३३८} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (पांचवाँ परिच्छेद), पृ.-१२३, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

^{३३९} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (पांचवाँ परिच्छेद), पृ.-१२३, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

^{३४०} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४८, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{३४१} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (पांचवाँ परिच्छेद), पृ.-१२३, चौखम्भा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

आचारदिनकर के अनुसार^{३४२} गृहस्थ गुरु स्नान किए हुए बालक को आसन पर बैठाकर बृहत्स्नात्रविधि से प्राप्त स्नात्रजल द्वारा शान्तिदेवी के मंत्र से बालक को अभिसिंचित करते हैं। फिर उसके बाद, कुलपरम्परागत नाई से उसके सिर का मुण्डन करवाते हैं। यहाँ वर्धमानसूरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि तीनों वर्ण में सिर के मध्य भाग में शिखा रखते हैं तथा शूद्र शिखा न रखकर पूरा ही मुण्डन करवाते हैं। दिगम्बर-परम्परा में बालक को स्नान करवाने का उल्लेख नहीं मिलता है। इस परम्परा में बालक के केशों को गीला करके उस पर पूजा के शेष अक्षत रखते हैं। फिर उसकी चोटी छोड़कर या कुलपद्धति के अनुसार मुण्डन किया जाता है। इस संस्कार की क्रिया में 'पुण्याह' नामक मंगलक्रिया किए जाने का भी निर्देश मिलता है।^{३४३} वैदिक-परम्परा में^{३४४} पहले बालक को स्नान कराया जाता है। फिर अनधुले वस्त्र में लिपटे हुए उस बालक को गोद में लेकर माता यज्ञीय-अग्नि के पश्चिम में बैठती है तथा पिता उसे पकड़े हुए आहुतियाँ देता है। यज्ञशेष भोजन कर चुकने पर मंत्रोच्चार के साथ बालक के सिर पर शिखा रखकर शेष बालों का मुण्डन किया जाता है। शिखाओं की संख्या कितनी हो, इस सम्बन्ध में कुल की मान्यता को स्थान दिया गया है। हिन्दुओं के लिए शिखा रखना अनिवार्य समझा जाता है। आचारदिनकर में तीनों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) में शिखा रखने का तथा शूद्र को शिखा नहीं रखने का विधान है। इस सम्बन्ध में दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में स्पष्ट निर्देश देखने को नहीं मिलता और न अभिमंत्रित जल से बालक को स्नान कराने का निर्देश मिलता है। तीनों परम्पराओं में चौलकर्म के समय बोले जाने वाले मंत्रों में भी भिन्नता है, जैसे श्वेताम्बर-परम्परा में निम्न मंत्रोच्चार^{३४५} के साथ यह विधि सम्पन्न की जाती है -

“ऊँ अर्हं ध्रुवमायुर्ध्रुवमारोग्यं ध्रुवाः श्रियो ध्रुवं कुलं ध्रुवं यशो ध्रुवं तेजो ध्रुवं कर्म ध्रुवा च कुलसन्ततिरस्तु अर्हं ऊँ॥”

^{३४२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-ग्यारहवाँ, पृ.-१८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२.

^{३४३} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४८, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{३४४} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (पाँचवाँ परिच्छेद), पृ.-१२६, चौखम्भा विद्याभवन, पाँचवाँ संस्करण १९६५

^{३४५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-ग्यारहवाँ, पृ.-१८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

दिगम्बर-परम्परा में चौलकर्म करते समय निम्न मंत्र बोले जाते हैं^{३४६} -

“उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्कान्तिमुण्डभागी भव, परमनिस्तारकेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव।”

वैदिक-परम्परा में चौलकर्म के समय जो मन्त्र बोले जाते हैं, उनका हिन्दी रूपान्तरण निम्न है^{३४७} -

“मैं आयुष्य, अनाद्य, प्रजनन, ऐश्वर्य (रायस्पोष), सुप्रजात्य तथा सुवीर्य के लिए केशों को काटता हूँ।” सिर के पीछे के केश को “तिगुनी आयु” आदि मंत्रों द्वारा तथा सिर के दाहिनी एवं बाईं ओर के केशों को अन्य मंत्रों से काटते हैं।

इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं के मंत्रों में भिन्नता है, परन्तु श्वेताम्बर-परम्परा में बोले जाने वाले मंत्र का भावार्थ किञ्चित् रूप से वैदिक-परम्परा के मंत्रवाक्यों से मिलता-जुलता है।

श्वेताम्बर-परम्परा^{३४८} में सिर का मुण्डन होने के बाद परमेष्ठीमंत्र का पाठ करते हुए बालक को आसन से उठाकर स्नान कराते हैं। फिर चन्दन आदि का लेप करके एवं सुन्दर वस्त्राभूषण से सज्जित करके उपाश्रय ले जाते हैं तथा वहाँ जाकर मंडलीपूजा, गुरुवंदन, वासक्षेप-ग्रहण आदि क्रियाएँ करते हैं। साधुओं को वस्त्र, अन्न, पात्र आदि का दान करते हैं तथा गृहस्थ गुरु एवं नाई को भी उचित दान दिया जाता है। इस प्रकार यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है।

दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ आदिपुराण^{३४९} में भी श्वेताम्बर-परम्परा की भाँति ही केशवाप की क्रिया के पश्चात् बालक को स्नान कराकर, चन्दनादि का लेप लगाकर उत्तम आभूषणों से सज्जित किया जाता है। इसके बाद बालक से मुनि भगवंत को नमस्कार करवाते हैं - ऐसा उल्लेख मिलता है, परन्तु मुनि भगवंत को आहार आदि देने एवं विधि कराने वाले ब्राह्मण आदि को दान देने का

^{३४६} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-३०६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००

^{३४७} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (पांचवाँ परिच्छेद), पृ.-१२६, चौखम्मा विद्याभवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

^{३४८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथमविभाग), उदय-ग्यारहवाँ, पृ.-१८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

^{३४९} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४८, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

वहाँ उल्लेख नहीं मिलता है और न ही मण्डलीपूजा, गुरुवंदन आदि क्रियाओं का उल्लेख मिलता है।

वैदिक-परम्परा^{३५०} में सिर का मुण्डन करने के पश्चात् कटे हुए केशों को गोबर में रखकर गौशाला में गाढ़ दिए जाने या तालाब आदि में डाल दिए जाने का विधान है। इस परम्परा में भी ब्राह्मण (विधिकारक) एवं नापित को दान-दक्षिणा दी जाती है - ऐसे उल्लेख हैं। वैदिक-परम्परा में कन्या का चूड़ाकरण करने का भी निर्देश मिलता है, पर इस सम्बन्ध में मंत्रोच्चार का निषेध किया गया है।^{३५१}

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इस संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री का भी निर्देश दिया है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई उल्लेख हमें देखने को नहीं मिला, जबकि वैदिक-परम्परा में ग्रन्थों में भी इस संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री का वर्णन किया गया है।^{३५२}

इस प्रकार तीनों परम्पराओं में चूड़ाकरण-संस्कार के विधि-विधान में कहीं समरूपता दिखाई देती है, तो कहीं भिन्नता भी दिखाई देती है।

उपसंहार -

इस संस्कार का तुलनात्मक विवेचन करने के पश्चात् जब हम इसकी उपादेयता के सम्बन्ध में समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करते हैं, तो हम पाते हैं कि यह एक सर्वमान्य संस्कार था, जिसे सभी परम्पराओं ने स्वीकार किया है, सिर को स्वच्छ रखने के लिए यह आवश्यक था कि गर्भकाल के केशों को छेदन किया जाए, जिससे सिर में जीवादिक की उत्पत्ति न हो। दूसरा, इस संस्कार के सम्बन्ध में यह मान्यता भी थी कि इस संस्कार से व्यक्ति की आयु दीर्घ होती है, जिसका स्पष्टीकरण करते हुए वैदिक विद्वान् सुश्रुत कहते हैं - “मस्तक के भीतर की ओर शिरा तथा सन्धि का संनिपात है। इस अंग को किसी भी प्रकार का आघात लगने पर तत्काल मृत्यु हो जाती है।”^{३५३} अतः इस महत्वपूर्ण अंग की सुरक्षा आवश्यक मानी जाती थी, और इसीलिए इस अंग पर शिखा रखकर इस प्रयोजन

^{३५०} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (पांचवाँ परिच्छेद), पृ.-१२७, चौखम्भा विद्यामवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

^{३५१} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-१८, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{३५२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-ग्यारहवाँ, पृ.-१८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२.

^{३५३} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-षष्ठ (पांचवाँ परिच्छेद), पृ.-१२८, चौखम्भा विद्यामवन, पांचवाँ संस्करण १९६५

को पूर्ण किया जाता था। तीसरे, बालक का सिर अत्यन्त कोमल होता है, उसके सिर का मुण्डन करते समय माता-पिता के मन में भय बना रहता है कि केश छेदन के तीक्ष्ण औजार से उसके सिर पर किसी प्रकार का आघात या क्षति न हो। इस भय से मुक्त होने के लिए तथा शिशु के सिर की अस्थियों के कठोर होने पर उसके प्रति मंगल कामना व्यक्त करते हुए यह संस्कार किया जाता था।

संक्षेप में सिर शरीर का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। जिस प्रकार प्रत्येक नगर में एक ऊर्जाकेन्द्र या विद्युतकेन्द्र होता है, उसी प्रकार मस्तिष्क भी हमारे पूरे शरीर की क्रिया का विद्युतकेन्द्र है, अतः उस अंग की सुरक्षा एवं स्वच्छता का ध्यान रखना आवश्यक था, इसी कारण इस संस्कार को अनिवार्य माना गया।

उपनयन-संस्कार

उपनयन-संस्कार का स्वरूप -

उपनयन का शाब्दिक अर्थ है - समीप या सन्निकट ले जाना। इस संस्कार में बालक को विधि-विधानपूर्वक आचार्य के पास ले जाकर ज्ञानार्जन हेतु ब्रह्मचर्यव्रत की दीक्षा देकर विद्यार्थी बनाया जाता है। यह एक ऐसा संस्कार है, जिसके माध्यम से बालक को विद्याध्ययन के योग्य बनाया जाता है। इस संस्कार के माध्यम से संस्कारित बालक गुरु के सान्निध्य में रहकर एक निश्चित अवधि तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन करता है। तीनों ही परम्पराओं में इस संस्कार को स्वीकार किया गया है तथा इस संस्कार का प्रयोजन विद्याध्ययन माना गया है।

इस संस्कार के अन्तर्गत की जाने वाली क्रियाएँ, जैसे - यज्ञोपवीत, जिसे वर्धमानसूरि ने जिनउपवीत का नाम दिया है, आदि की क्रियाएँ प्रायः समान हैं, फिर भी परम्पराओं की भिन्नता की अपेक्षा से उनमें आंशिक भेद भी देखा जाता है।

इस संस्कार के प्रयोजन के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं, तो पाते हैं कि मूलतः विद्याध्ययन ही इसका प्रमुख प्रयोजन था और इस हेतु छात्र को आचार्य के सान्निध्य में रखा जाता था, किन्तु वर्धमानसूरि के अनुसार^{१५} व्यक्ति को वर्ण विशेष में प्रवेश करने के लिए और तदनु रूप वेश एवं मुद्रा को धारण

^{१५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-बारहवौं, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२

करने के लिए तथा अपने-अपने गुरु द्वारा उपदिष्ट धर्ममार्ग में प्रवेश पाने हेतु उपनयन नामक संस्कार किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार^{३५५} इस संस्कार को करने का प्रयोजन बालक को द्विजत्व की प्राप्ति कराना तथा उसे व्रतों द्वारा सुसंस्कारित करके विद्याध्ययन कराना था। वैदिक-परम्परा में इस संस्कार को किए जाने का मूलभूत प्रयोजन विद्याध्ययन एवं द्विजत्व की प्राप्ति ही था।

यहाँ वर्धमानसूरि का एवं दिगम्बर जैन आचार्य जिनसेन का दृष्टिकोण वैदिक-परम्परा से अंशतः भिन्न रहा है, क्योंकि वैदिक-परम्परा जन्मना वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करती है, अतः उसमें सामान्यतया ब्राह्मण-कुल में जन्में बालक और विशेष अवस्था में क्षत्रिय एवं वैश्य-कुल में उत्पन्न बालक का ही उपनयन-संस्कार होता है। उसमें संस्कार के माध्यम से वर्ण-परिवर्तन नहीं होता है, जबकि जैन-परम्परा के अनुसार इस संस्कार के माध्यम से विद्याध्ययन कर कोई व्यक्ति ब्राह्मण आदि वर्ण विशेष को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि जैन-परम्परा में वर्ण व्यवस्था कर्मणा है।

जिनसेन के आदिपुराण एवं वर्धमानसूरि के आचारदिनकर के अनुसार ब्राह्मण जन्म से नहीं, अपितु विशेष व्रतों को धारण करके बना जाता है। यद्यपि उपनयन-संस्कार की इस चर्चा में वर्धमानसूरि ने कहीं-कहीं वैदिक-परम्परा का अनुसरण करते हुए जन्मना जातिवाद का समर्थन भी किया है।

संस्कार का कर्त्ता -

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार यह संस्कार आदिपुराण में निर्दिष्ट योग्यता को धारण करने वाले जैन द्विजों द्वारा करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार कौन करवाए, अर्थात् किसके द्वारा करवाया जाता है, इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते हैं, परन्तु सामान्यतः ब्राह्मणों द्वारा ही यह संस्कार करवाया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने उपनयन-संस्कार की निम्न विधि प्रतिपादित की है -

^{३५५} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-३१०, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

उपनयन-संस्कार की विधि -

उपनयन-संस्कार मनुष्यों को वर्ण विशेष में प्रवेश करने हेतु तदनुसूक्त वेश एवं मुद्रा धारण करने के लिए तथा अपने-अपने गुरु द्वारा उपदिष्ट धर्म-मार्ग में प्रवेश करने के निमित्त किया जाता है। तदनन्तर मूल ग्रन्थ में उपनयन के महत्व को समझाया गया है तथा कौन-कौन से कुल तथा वर्ण के लोग किस प्रकार के वेश एवं उपवीत को धारण करने के योग्य होते हैं, इसका उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि निर्ग्रन्थ यतियों को उपवीत धारण करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वे तत्स्वरूप होते हैं। तदनन्तर किस-किसको किस कारण से कितने सूत्र के उपवीत को धारण करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए यह भी बताया गया है कि शूद्र को जिनाज्ञाभूत उत्तरीय वस्त्र तथा वणिक आदि को देव, गुरु, धर्म की उपासना के समय जिनाज्ञारूप उत्तरासंगमुद्रा धारण करने की अनुज्ञा है। तत्पश्चात् जिनउपवीत के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

उपनयन-विधि का उल्लेख करते हुए वर्धमानसूरि ने इस संस्कार हेतु शुभलग्न आदि की विस्तृत चर्चा करते हुए उपनयन-संस्कार हेतु उपयुक्त आयु का उल्लेख किया है। उपनयन-संस्कार हेतु उपनयन के योग्य पुरुष को नौ, सात, पाँच या तीन दिन तक तेल का मर्दन करके स्नान करवाए। तत्पश्चात् लग्नदिन में गृहस्थ गुरु उसके घर में ब्रह्ममुहूर्त में पौष्टिककर्म करें। फिर चोटी को छोड़कर उसके शेष बालों का मुण्डन कराए तथा वेदी पर समवसरण के सदृश चतुर्मुख जिनबिम्ब की स्थापना करें। तत्पश्चात् जिनबिम्ब की पूजा करके गृहस्थ गुरु उपनेय पुरुष से तीन प्रदक्षिणा करवाए तथा चारों दिशाओं में अर्हत्स्तोत्रयुक्त शक्रस्तव का पाठ करें। उस समय मंगल गीत गाए जाएं तथा चतुर्विध संघ को आमंत्रित करें। तत्पश्चात् आर्य वेदमंत्र, अर्थात् जैन-मंत्रपूर्वक उपनयन-विधि का आरंभ करके पुनः चारों दिशाओं में स्थित हो आदिनाथ भगवान् के स्तव सहित शक्रस्तव का पाठ करें। उस दिन उपनेय पुरुष आयम्बिल करें। तत्पश्चात् गुरु अभिमंत्रित चंदन से हृदय, कटि एवं ललाट पर रेखा अंकित करें। तदनन्तर शिष्य किस प्रकार से गुरु को निवेदन करता है, गुरु किस प्रकार से मुंजमेखला, लंगोटी एवं जिनउपवीत को अभिमंत्रित करके धारण करवाए - इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। तदनन्तर गृहस्थ गुरु उपनेय पुरुष को महाप्रभावशाली पंचपरमेष्ठीमंत्र दाएँ कर्ण में तीन बार सुनाए। तत्पश्चात् इस मंत्र की महिमा को बताते हुए अपवित्र, शठ आदि को यह मंत्र देने का निषेध करें। तत्पश्चात् उपनेय पुरुष गृहस्थ गुरु को दान-दक्षिणा दे। तत्पश्चात् उपनेय पुरुष की व्रतादेशविधि का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इसी प्रकरण में चारों वर्णों के लिए सामान्य एवं विशेष व्रतादेशों का भी उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात् उपनेय पुरुष की व्रत-विसर्जन

की विधि एवं गोदान-विधि का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि गोदान आदि गृहस्थ गुरु एवं विप्रों को ही दें, निःस्पृह यतियों को नहीं। उन्हें अन्न-पान, वस्त्र आदि का ही दान दें। तत्पश्चात् गृहस्थ गुरु उपनीत पुरुष को वर्ण की अनुज्ञा देकर महोत्सवपूर्वक उपाश्रय में ले जाए तथा पूर्व की भौंति मण्डलीपूजा आदि करे। तदनन्तर चतुर्विध संघ की पूजा कर साधुओं को आहार आदि का दान दे। यह उपनयन की विधि है। इसके बाद मूलग्रन्थ में शूद्र को उत्तरीय वस्त्र देने की तथा बटुक बनाने की विधि का उल्लेख हुआ है। अन्त में उपनयन-संस्कार सम्बन्धी सामग्री का उल्लेख किया गया है।

इस विधि की विस्तृत जानकारी के लिए मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के प्रथम खण्ड के बारहवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन -

उपनयन नामक यह संस्कार तीनों ही परम्पराओं में किया जाता है, लेकिन उनके विधि-विधानों में कुछ भिन्नता है, जिसे हम तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से जान सकते हैं।

वर्धमानसूरि ने इस संस्कार का महत्व एवं इतिहास के प्रमाणों की चर्चा करने के पश्चात् किनको जिनोपवीत धारण करना चाहिए - इसका विवेचन किया है। उनके अनुसार निर्ग्रन्थ यतियों को उपवीत धारण करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वे तत्स्वरूप हैं, अतः उपवीत केवल गृहस्थों के लिए ही धारण करना आवश्यक है।^{३५६} दिगम्बर-परम्परा में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि उपवीत को कौन धारण करे, कौन नहीं। जो भी श्रावक के व्रतों को स्वीकार कर सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहे तथा अध्ययन, अध्यापन एवं धर्मसाधना में रूचि ले, वह उपवीत धारण कर सकता है। वैदिक-परम्परा में सामान्यतः संन्यासी यज्ञोपवीत धारण नहीं करता, लेकिन यदि करना चाहे, तो एक यज्ञोपवीत को धारण कर सकता है - ऐसा उल्लेख मिलता है।^{३५७}

वर्धमानसूरि के अनुसार जिनउपवीत का तात्पर्य नवब्रह्मचर्यगुप्तियुत ज्ञान, दर्शन, चारित्र के चिन्हरूप मुद्रासूत्र से है। दिगम्बर-परम्परा में उपवीत का तात्पर्य

^{३५६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-बारहवाँ, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{३५७} धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२१८, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

ऐसे ही सूत्र से है, जो व्रत-धारण के चिन्हस्वरूप हैं।^{३५८} वैदिक-परम्परा में यज्ञोपवीत का अर्थ द्विजवर्ण की प्राप्ति है।

इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं में उपवीत का अर्थ आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से समान बताया गया है।

वर्धमानसूरि के अनुसार जिनोपवीत में नवतन्तुगर्भित त्रिसूत्र होते हैं, जो क्रमशः ब्रह्मचर्य की नवगुप्ति के तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप त्रिरत्न के प्रतीक माने जाते हैं।^{३५९} दिगम्बर- परम्परा में यज्ञोपवीत सात सूत्र का होता है, ये सात सूत्र सात परम स्थानों के सूचकरूप माने जाते हैं।^{३६०} वैदिक-परम्परा में देवल के अनुसार यज्ञोपवीत के नौ तन्तु नौ देवताओं के प्रतीकरूप हैं।^{३६१}

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में कौन, किस कारण से, कितने सूत्र का धारण करे - इसका भी विवेचन किया है। जैसे - विप्र नवतन्तुगर्भित सूत्र के तीन सूत्र धारण कर सकता है, क्योंकि ब्राह्मणों के लिए नवब्रह्मगुप्तिगर्भित ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यरूप रत्नत्रय स्वयं करणीय है, दूसरों से कराने योग्य है एवं दूसरों को करवाने की आज्ञा देने के योग्य है। इसी प्रकार क्षत्रिय को नवतन्तुगर्भित त्रिसूत्र में प्रथम के दो सूत्र और वैश्य को एक सूत्र, शूद्र को मात्र उत्तरीयवस्त्र एवं वणिकों के लिए उत्तरासंग को धारण करना बताया है।^{३६२} दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी योग्यता के अनुरूप यज्ञोपवीत धारण करने का उल्लेख मिलता है।^{३६३} वैदिक-परम्परा में किस वर्ण का व्यक्ति कितने सूत्रों को धारण करे - इसका उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु इस बात का उल्लेख जरूर मिलता है कि ब्रह्मचारी केवल एक यज्ञोपवीत को धारण करता था। संन्यासी भी अगर चाहे, तो एक यज्ञोपवीत पहन सकता था। स्नातक एवं गृहस्थ दो उपवीत तथा जो दीर्घजीवन चाहे, वह दो से अधिक यज्ञोपवीत पहन सकता था।^{३६४}

^{३५८} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अइतीसवीं, पृ.- २४६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवीं संस्करण : २०००

^{३५९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-बारहवीं, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२

^{३६०} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अइतीसवीं, पृ.-२४६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवीं संस्करण : २०००

^{३६१} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२१८, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{३६२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-बारहवीं, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२

^{३६३} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अइतीसवीं, पृ.-३११, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवीं संस्करण : २०००.

^{३६४} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२१८, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

इसके अतिरिक्त और कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

जिनउपवीत का स्वरूप क्या हो, अर्थात् वह कैसा एवं किस परिमाण का हो, इस सम्बन्ध में वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में कहा है कि - दो स्तनों के अन्तर के समरूप चौरासी धागों को बटकर एक सूत्र करें, ऐसा एक तन्तु होता है। उसके साथ ऐसे दो तन्तु और जोड़े, इसका एक अग्र होता है। ब्राह्मण को ऐसे तीन, क्षत्रिय को दो एवं वैश्यों को एक अग्र धारण करना चाहिए।^{३६५} इस प्रकार ब्राह्मण के लिए उपवीत तीन अग्र का, क्षत्रिय के लिए दो अग्र का एवं वैश्यों के लिए एक अग्र का होता है। दिगम्बर-परम्परा में इस सम्बन्ध में मात्र इतना उल्लेख मिलता है कि यज्ञोपवीत सात लर अर्थात् सात सूत्रों का होता है,^{३६६} परन्तु इसका परिमाण कितना हो, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में यज्ञोपवीत का परिमाण ६६ अंगुल का तिगुना बताया है।^{३६७} वैदिक-परम्परा में एवं दिगम्बर जैन-परम्परा में वर्ण विशेष के हिसाब से उपवीत के परिमाण का उल्लेख हमें देखने को नहीं मिला।

वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार ब्राह्मणों के लिए स्वर्णसूत्र एवं क्षत्रियों और वैश्य को कपास का सूत्र धारण करने का निर्देश दिया है, वैसा निर्देश दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में मनु एवं विष्णुसूत्र के अनुसार^{३६८} - ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को क्रमशः कपास, सन एवं ऊन का यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में उपनयन-संस्कार किन-किन नक्षत्रों में करना चाहिए - इसका विवेचन बहुत सुन्दर ढंग से किया है तथा इसके साथ ही संस्कार के समय ग्रहों की स्थिति कैसी हो, उसका भी विवेचन किया है। जैसे - वर्ण के स्वामी ग्रह का लग्न बलवान् होने पर, या व्यक्ति के गुरु, चन्द्र और सूर्य बलशाली होने पर उपनयन-संस्कार करना चाहिए। इस प्रकार ज्योतिष सम्बन्धी विवेचन दिगम्बर-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है, किन्तु

^{३६५} आचारदिनकर वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-बारहवाँ, पृ.-१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{३६६} आदिपुराण जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

^{३६७} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२२०, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{३६८} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२२०, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

जैन-संस्कार-विधि में इसका विवेचन मिलता है।^{३६६} वैदिक-परम्परा में भी श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थ आचारदिनकर की भाँति ही इसकी विस्तृत विवेचना मिलती है,^{३७०} जैसे - अमुक नक्षत्रों में, शुभ समय में, अमुक तिथियों में एवं जब सूर्य उत्तरायण में हो, तब उपनयन-संस्कार करना चाहिए। इसी प्रकार विभिन्न ऋतुओं एवं मासों के आधार पर भी वर्ण विशेष का उपनयन-संस्कार करने का उल्लेख मिलता है।^{३७१}

वर्धमानसूरि के अनुसार^{३७२} ब्राह्मणों में गर्भाधान से या जन्म से आठवें वर्ष में, मौंजी बन्धन करने का विधान है। क्षत्रियों में ग्यारहवें वर्ष में एवं वैश्यों को बारहवें वर्ष में उपनयन-संस्कार करने का और तत्पश्चात् वेदाध्ययन कराने का विधान है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में विभिन्न वर्णों हेतु विभिन्न वर्षों का निर्देश न करते हुए मात्र इतना ही उल्लेख किया है कि गर्भ से आठवें वर्ष में बालक का उपनयन-संस्कार करना चाहिए। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार कब किया जाए, इस सम्बन्ध में मतभेद हैं, परन्तु सामान्यतः आश्वलायनगृह्यसूत्र में^{३७३} ब्राह्मणकुमार का उपनयन आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष में एवं वैश्य का बारहवें वर्ष में होना बताया है। इस प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र में उपनयन-संस्कार का जो समय बताया गया है, वह आचारदिनकर ग्रन्थ में निर्दिष्ट काल का प्रायः समर्थन करता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{३७४} इस संस्कार में उपनयन के योग्य व्यक्ति को पहले नौ, सात, पाँच या तीन दिन तक तेल का मर्दन कर स्नान करवाया जाता है तथा लग्नदिन आने पर गृहस्थ गुरु उसके घर जाकर ब्रह्ममुहूर्त में पौष्टिक कर्म करता है एवं उसके सिर पर एक शिखा रखकर शेष बालों का मुण्डन करवाता है। दिगम्बर-परम्परा में^{३७५} इस संस्कार के प्रारंभ में अर्हन्तदेव की पूजा करने का

^{३६६} जैन संस्कार विधि, नाथूलाल जैन शास्त्री, अध्याय-२, पृ.-१३, श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, गोम्मतगिरी, इन्दौर, पांचवीं आवृत्ति : २०००.

^{३७०} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२२०, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{३७१} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-७ (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-१६४, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवीं संस्करण : १९६५

^{३७२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-बारहवाँ, पृ.-२०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{३७३} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२२१, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{३७४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-बारहवाँ, पृ.-२०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{३७५} आदिपुराण जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, (द्वितीय भाग) पर्व-अइतीसवाँ, पृ.-२४८, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

उल्लेख मिलता है। वैदिक-परम्परा में इस संस्कार से पूर्व गणेश एवं मातृकाओं की पूजा करने का उल्लेख मिलता है तथा उपनयन से पूर्व रात्रि को बालक के शरीर पर हल्दी का लेप करने तथा उसकी शिखा से चाँदी की अंगूठी बांधने का भी उल्लेख मिलता है।^{३७६}

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इस संस्कार हेतु किस प्रकार के भू-भाग पर कैसी वेदी बनाएं, उसकी प्रतिष्ठा कैसे करें, क्रिया हेतु किस प्रकार के वस्त्र धारण करें तथा वेदी के समक्ष किस प्रकार से क्रिया करें, इसका बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है।

दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में इस प्रकार की क्रियाविधि का उल्लेख हमें देखने को नहीं मिला। वैदिक-परम्परा में उपनयन से पूर्व माता के साथ सहभोज करना, मुण्डन के बाद स्नान करना आदि क्रियाविधि विशेष रूप से बताई गई है,^{३७७} जो जैन-परम्परा की दोनों शाखाओं में दृष्टिगत नहीं होती है, किन्तु उसका इससे कोई विरोध भी नहीं है।

वर्धमानसूरि ने उपनयन संस्कार आरंभ करने के लिए भी एक विशिष्ट मंत्र बताया है।^{३७८} जबकि दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में उपनयन-संस्कार आरंभ करने हेतु इस प्रकार के विशिष्ट मंत्र का उल्लेख नहीं मिलता है। इसी प्रकार ऐसी अनेक क्रियाएँ हैं, जो आचारदिनकर में उल्लेखित हैं, जैसे - संस्कार के दिन उपनेय व्यक्ति को जल एवं यव, अर्थात् तेलरहित खाद्यवस्तु से आयम्बिल करना, अमृतमंत्र के अभिमन्त्रित जल से उपनेय को अभिसिंचित करना, चंदनमंत्र से अभिमन्त्रित चन्दन से हृदय पर उपवीतरूप कटि पर मेखलारूप एवं ललाट पर तिलकरूप रेखा करना इत्यादि। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख हमें दृष्टिगत नहीं हुआ। कुछ ऐसी भी क्रियाएँ हैं, जो तीनों ही परम्पराओं में की जाती हैं, जैसे - कटिसूत्र, लंगोटी, उपवीत एवं दण्ड को धारण करवाना, परन्तु जिस प्रकार वर्धमानसूरि ने मेखला आदि का परिमाण वगैरह बताया है, जैसे - मेखला इक्यासी हाथ परिमाण की हो, आदि, इस प्रकार का उल्लेख हमें दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिला।

^{३७६} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-७ (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-१६५-६६, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवें संस्करण : १९६५

^{३७७} हिन्दू संस्कार विधि, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-सप्तम (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-१६५-१६६, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवें संस्करण : १९६५.

^{३७८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-बारहवाँ, पृ.-२०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

वर्धमानसूरि ने कुछ ऐसी क्रियाओं का भी उल्लेख किया है, जो वैदिक-परम्परा में भी की जाती हैं, जैसे - कृष्ण मृगचर्म या वृक्ष की छाल धारण करवाना, पलाश का दण्ड देना, चारों वर्णों के भिन्न-भिन्न व्रतादेश, गोदान, ब्रह्मचारी बनाने की विधि आदि।

किसी कारण से यदि पुनः उपवीत को धारण करना पड़े, तो उसकी विधि का भी वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में उल्लेख किया है। शूद्र को उत्तरीयवस्त्र किस प्रकार दें, अर्थात् धारण कराएं, इसकी विधि का भी वर्णन वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में किया है। वैदिक-परम्परा में भी नवीन यज्ञोपवीत धारण करने की विधि का उल्लेख मिलता है।^{३७८}

यदि हम संक्षेप में कहें, तो उपनयन नामक संस्कार की क्रियाविधि तीनों ही परम्पराओं में आंशिक समानता एवं आंशिक भिन्नता है। फिर भी आचार्य वर्धमानसूरि एवं वैदिक-परम्परा के विद्वानों ने जितने विस्तार से इस क्रियाविधि का विवेचन किया है, उतना विस्तृत विवेचन दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

अन्य संस्कारों की भाँति ही वर्धमानसूरि ने इस संस्कार हेतु आवश्यक सामग्री का भी निर्देश दिया है। इस प्रकार का निर्देश दिगम्बर एवं वैदिक-ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

उपसंहार -

इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् हम पाते हैं कि यह संस्कार वास्तव में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस संस्कार के माध्यम से ही बालक का अध्ययन प्रारंभ होता है। सामान्यतया वैदिक-परम्परा में यह धारणा थी कि व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है, संस्कार से द्विज बनता है और उसके पश्चात् ही उसे किसी भी धार्मिक अनुष्ठान आदि करने, कराने की अनुमति मिलती है। यज्ञोपवीत प्रकारान्तर से जिनउपवीत को धारण करने वाला उपनयन-संस्कार से संस्कारित व्यक्ति ही द्विज कहा जाता है।

वैदिक-परम्परा में भी इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन मिलता है, जैसे - जो यज्ञोपवीत को धारण नहीं करता है, उसका यज्ञ सफल नहीं होता है। इसी प्रकार दैनिक क्रियाओं जैसे भोजन आदि करते समय यज्ञोपवीत को धारण करना आवश्यक माना जाता है तथा उसको धारण नहीं करने पर प्रायश्चित्त आता

^{३७८} देखें - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२२१, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

है।^{३८०} इस प्रकार वैदिक-परम्परा में भी यज्ञोपवीत को धारण करना आवश्यक माना गया है।

वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों^{३८१} में ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि प्राचीन समय में यज्ञोपवीत के रूप में कृष्णमृगचर्म या उसके अभाव में रूई का वस्त्र तथा वस्त्र के अभाव में त्रिसूत्र धारण किया जाता था।

दिगम्बर-परम्परा में इस संस्कार की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि^{३८२} - यज्ञोपवीत को धारण किए बिना उसे श्रावकधर्म के पालन का तथा मुनिदान का अधिकारी नहीं माना जाता है। इस प्रकार दिगम्बर-परम्परा में भी उपनयन-संस्कार को आवश्यक माना गया है।

वर्धमानसूरि ने भी वर्ण-क्रम में प्रवेश करने और उस अनुरूप वेश एवं मुद्रा धारण करने के लिए तथा जिनधर्म में प्रवेश करने के लिए यह संस्कार अनिवार्य बताया है। वर्तमान में भी हम देखते हैं कि धार्मिक अनुष्ठान के समय, मन्दिर में प्रवेश करते समय श्रावक को उत्तरासंग धारण करने का विधान है। वर्तमान में दिगम्बर-परम्परा में उपवीत धारण करने की परम्परा जीवित है, जबकि श्वेताम्बर-परम्परा में इसका प्रायः अभाव ही है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जिनउपवीत की यह चर्चा वर्धमानसूरि के अतिरिक्त किसी अन्य श्वेताम्बर आचार्य ने की हो - यह हमारी जानकारी में नहीं है।

विद्यारंभ-संस्कार

विद्यारंभ-संस्कार का स्वरूप -

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह संस्कार बालक को विधिपूर्वक विद्याध्ययन का आरंभ करवाने हेतु किया जाता है। जब बालक का मन-मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो जाता है, तब उसकी शिक्षा का आरंभ इस संस्कार द्वारा किया जाता है। प्रारम्भ में उसे अक्षरज्ञान करवाया जाता है और बाद में शास्त्रों का अध्ययन करवाया जाता है। तीनों परम्पराओं में इस संस्कार का उल्लेख हुआ है, परन्तु इसके नाम की भिन्नता के साथ ही अध्ययन के विषय के सम्बन्ध में भी भिन्नता है। श्वेताम्बर एवं वैदिक-परम्परा ने इसे विद्यारंभ के नाम

^{३८०} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२१७, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{३८१} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२१७, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{३८२} श्रावकाचार संग्रह, स्व. पं. हीरालाल शास्त्री (भाग-४), पृ.-१६१, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, द्वितीय संस्करण, ई.स. १९६८

से विवेचित किया है, तो दिगम्बर-परम्परा ने इसे लिपिसंख्या-क्रिया के रूप में विवेचित किया है। इस प्रकार संस्कार के नाम आदि में आंशिक भिन्नता है, जिसे हम यथास्थान विवेचित करेंगे। विद्यारंभ-संस्कार उपनयन-संस्कार की अपेक्षा परवर्ती संस्कार है। यही कारण है, कि वैदिक-परम्परा के गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में इसका विवेचन नहीं मिलता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि प्राचीनकाल में उपनयन-संस्कार के साथ ही मौखिक अध्ययन प्रारम्भ हो जाता था। उस समय लिपि का विकास नहीं हुआ था, अतः इस संस्कार की कोई अलग से आवश्यकता अनुभव नहीं की गई होगी।

इस संस्कार को किए जाने का प्रयोजन बालक को लिखना एवं पढ़ना सिखाना था, क्योंकि वर्णमाला के, या स्वर और व्यंजन के ज्ञान के अभाव में, बालक के सामने पुस्तक हो, तो भी नहीं पढ़ सकता; अतः बालक को अक्षरबोध कराना अत्यन्त अनिवार्य था। इस संस्कार के दो चरण हैं। पहले चरण में बालक को स्वर-व्यंजन का ज्ञान करवाया जाता है तथा दूसरे चरण में आगम आदि ग्रन्थों का अध्ययन करवाया जाता है। बालक के विकास में शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{३२३} यह संस्कार भी उपनयन के समान ही शुभदिन और शुभलग्न में करना चाहिए। इसके निश्चित समय का निर्देश आचारदिनकर में नहीं मिलता है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा के अनुसार लिपिसंख्या नामक यह क्रिया पाँचवें वर्ष में की जाती है^{३२४} - ऐसा उल्लेख मिलता है। वैदिक-परम्परा में भी यह संस्कार दिगम्बर-परम्परा की भाँति ही सामान्यतः पाँचवें वर्ष में ही करने का विधान है।^{३२५} विद्यारम्भ नामक यह संस्कार गृह्यसूत्रों में वर्णित नहीं है, परन्तु कालान्तर में रचित कुछ स्मृतियों एवं पुराणों में ही उल्लेखित है।^{३२६}

^{३२३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-तेरहवाँ, पृ.-३०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{३२४} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४८, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

^{३२५} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२०६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{३२६} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२०६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

संस्कार कौन कराता है -

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ आदिपुराण के अनुसार यह संस्कार निर्दिष्ट योग्यता वाले द्विजों द्वारा करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में भी सामान्यतः यह संस्कार ब्राह्मणों द्वारा करवाया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इस संस्कार की निम्न विधि प्रस्तुत की है -

विद्यारंभ-संस्कार की विधि -

उपनयन के समान ही शुभदिन एवं शुभलग्न होने पर विद्यारंभ-संस्कार करना चाहिए। इससे पूर्व मूलग्रन्थ में इस संस्कार हेतु उचित नक्षत्रों, वारों एवं तिथियों पर विचार किया गया है। विद्यारंभ-संस्कार हेतु सर्वप्रथम गृहस्थ गुरु उपनीत पुरुष के घर में पौष्टिककर्म करे। तदनन्तर गृहस्थ गुरु योग्य स्थान पर बैठकर अपने वामपार्श्व में शिष्य को बैठाकर उसके दाहिने कान को पूजकर सारस्वतमंत्र सुनाए। तत्पश्चात् गाते- बजाते हुए उसे उपाश्रय में ले जाए और मण्डलीपूजापूर्वक वासक्षेप करवाए। तदनन्तर शिष्य को पाठशाला ले जाए। फिर पाठशाला में शिष्य गुरु के समक्ष बैठकर गुरु की स्तुति करे। तत्पश्चात् गुरु शिष्य को हितशिक्षा देकर तथा उसके द्वारा दी गई दान-दक्षिणा लेकर अपने घर चला जाए। उसके बाद उपाध्याय सर्वप्रथम शिष्य को मातृका-पद का पाठ पढ़ाए। विप्र, क्षत्रिय, वैश्य एवं कारुओं को सर्वप्रथम किसका अध्ययन कराए इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात् साधुओं को चतुर्विध आहार आदि का दान देने का निर्देश दिया गया है। इस विधि की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के प्रथम खण्ड के अनुवाद में तेरहवें उदय को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन -

श्वेताम्बर-परम्परा के अर्द्धमागधी आगमग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक एवं राजप्रश्नीय आदि में इस संस्कार का उल्लेख मिलता है^{३८७}, किन्तु इस संस्कार के विधि-विधानों का उल्लेख हमें वहाँ नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि ने इस संस्कार की विधि में सर्वप्रथम इसके मुहूर्त के सम्बन्ध में विचार किया है। उन्होंने यह बताया है कि^{३८८} यह संस्कार कौन से नक्षत्रों,

^{३८७} (अ) ज्ञाताधर्मकथासूत्र-१/६८, (ब) औपपातिक सू.-१०७, (स) राजप्रश्नीय सू.-२८०, सं.- मधुकरमुनि।

वारों एवं तिथियों में करना चाहिए तथा किन-किन नक्षत्रों, तिथियों एवं वारों में नहीं करना चाहिए। इस प्रकार वर्धमानसूरि ने इसके मुहूर्त के सम्बन्ध में विधि और निषेध - दोनों दृष्टि से विचार किया है। दिगम्बर-परम्परा में पं. नाथूलाल शास्त्री की “जैन-संस्कार-विधि” में इस संस्कार को करने के लिए ज्योतिष सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। वैदिक-परम्परा में श्वेताम्बर-परम्परा की भाँति नक्षत्रों आदि का तो उल्लेख नहीं है, परन्तु यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि - कार्तिक शुक्लपक्ष के बारहवें दिन से आषाढ़ शुक्लपक्ष के ग्यारहवें दिन तक, किन्तु प्रतिपदा, षष्ठी, अमावस्या, रिक्ता तिथियों एवं मंगलवार तथा शनिवार का त्याग करके यह संस्कार करना चाहिए।^{३८६}

श्वेताम्बर-परम्परा में वर्धमानसूरि के अनुसार उपनयन-संस्कार के समान शुभदिन एवं शुभलग्न होने पर यह संस्कार किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार पाँचवें वर्ष में करने का विधान है। वैदिक-परम्परा में भी विश्वमित्र के अनुसार^{३६०} यह संस्कार बालक की आयु के पाँचवें वर्ष में करने का विधान है। पं. भीमसेन शर्मा द्वारा लिखित षोडश-संस्कार-विधि^{३६९} में यह उल्लेख है कि एक अज्ञातनामा स्मृतिकार के अनुसार यह संस्कार बालक के पाँचवें या सातवें वर्ष में किया जाना चाहिए। यदि किन्हीं अनिवार्य परिस्थितियों के कारण इसे स्थगित करना पड़े, तो उपनयन-संस्कार के पूर्व किसी समय इसका किया जाना आवश्यक है। इस प्रकार नियत समय के सम्बन्ध में वैदिक-परम्परा में मतान्तर है।

इस संस्कार के प्रारंभ में वर्धमानसूरि ने उपवीत व्यक्ति के घर में पौष्टिककर्म करने का निर्देश दिया है। उसके बाद गृहस्थ गुरु देवालय में, उपाश्रय में, या कदंब-वृक्ष के नीचे कुश के आसन पर बैठकर अपने वामपार्श्व में कुश के आसन पर उस उपनीत बालक को बैठाते हैं और उसके दाहिने कान को पूंजकर तीन बार सारस्वतमंत्र^{३६२} पढ़ते हैं। दिगम्बर-परम्परा में एवं वैदिक-परम्परा में इस प्रकार की क्रियाविधि का उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में सर्वप्रथम

^{३८६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-तेरहवाँ, पृ.-३०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२

^{३६०} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-प्रथम), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२०६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{३६०} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-७ (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-१४०, चौखम्बा विद्यामवन, वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण : १९६५

^{३६९} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-७ (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-१४०, चौखम्बा विद्यामवन, वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण : १९६५

^{३६२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-तेरहवाँ, पृ.-३०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

बालक को स्नान करवाकर उसे सुसज्जित किया जाता है और उसके बाद विनायक, सरस्वती, बृहस्पति और गृहदेवता आदि की पूजा जाती है।^{३६३}

श्वेताम्बर आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार बालक को सारस्वतमंत्र देने के बाद वाहन द्वारा उपाश्रय में लेकर जाते हैं और वहाँ मंडलीपूजा एवं साधु भगवंत से वासक्षेप उलवाते हैं। फिर पाठशाला लेकर जाते हैं। पाठशाला में जाकर शिष्य गुरु के समक्ष बैठकर श्लोक के माध्यम से गुरु कि स्तुति करता है, फिर गुरु उसको हितशिक्षा देते हैं। दिग्म्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस प्रकार का कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि ने शिष्य को शिक्षा देने के पश्चात् गुरु को दक्षिणा देने का भी उल्लेख किया है।^{३६४} दिग्म्बर-परम्परा में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख हमें देखने को नहीं मिला। वैदिक-परम्परा में दक्षिणा आदि से ब्राह्मणों का सत्कार करने सम्बन्धी निर्देश मिलते हैं।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{३६५} इन सब क्रियाओं को करने के पश्चात् उपाध्याय शिष्य को सर्वप्रथम मातृकापाठ पढ़ाए, अर्थात् स्वर-व्यंजन का ज्ञान कराए - यह प्रथम चरण है। उसके बाद बालक को आगम एवं शास्त्रों का अध्ययन कराए - यह द्वितीय चरण है। वर्धमानसूरि ने किस वर्ण के व्यक्ति को पहले किस शास्त्र का अध्ययन कराए - इसका भी निर्देश दिया है, जैसे - विप्र को पहले आर्यवेद, उसके बाद षट्अंग एवं उसके बाद धर्मशास्त्र एवं पुराण आदि पढ़ाए। वर्धमानसूरि ने इस संस्कार हेतु अलग से व्रतों का विधान न करके उपनयन-संस्कार के अन्तर्गत ही व्रतादेश किया है, क्योंकि उपनयन-संस्कार के पश्चात् ही विद्यारंभ-संस्कार किया जाता था, अतः अलग से व्रतादेश नहीं किए गए हैं। उपनयन-संस्कार के व्रतों की अवधि यावज्जीवन हेतु बताई गई है। दिग्म्बर-परम्परा में इस संस्कार के अन्तर्गत मात्र प्रथम चरण को ही शामिल किया गया है। इस संस्कार में बालक को अक्षरज्ञान ही करवाया जाता है। इसके द्वितीय चरण को उन्होंने व्रतचर्या^{३६६} नामक क्रिया के रूप में विवेचित किया है

^{३६३} देखे - हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-७ (द्वितीय परिच्छेद), पृ.-१४१, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवीं संस्करण : १९६५

^{३६४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-तेरहवाँ, पृ.-३०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{३६५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-तेरहवाँ, पृ.-३१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{३६६} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५०, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

तथा इस संस्कार में विशेष व्रतों का विधान भी किया गया है। जैसे - स्थूलहिंसा का त्याग करना चाहिए, ब्रह्मचारी को वृक्ष की दातौन नहीं करनी चाहिए, पान नहीं खाना चाहिए, इत्यादि; परन्तु इनकी अवधि विद्याध्ययन के पूर्ण होने तक ही कही गई है। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी को मूलगुण धारण करने का निर्देश दिया गया है। दिगम्बर-परम्परा में भी सर्वप्रथम कौनसा ग्रन्थ पढ़े - इसका उल्लेख मिलता है।^{३६७} वैदिक-परम्परा में दोनों चरणों का समावेश इसी संस्कार में किया गया है तथा वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में इस संस्कार का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है।

इस संस्कार के अन्त में वर्धमानसूरि ने निर्ग्रन्थ मुनियों को आहार, वस्त्र आदि का दान देने का भी निर्देश किया है।^{३६८} दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार इस संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री का निर्देश दिया है, उस प्रकार का कोई उल्लेख दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में हमें देखने को नहीं मिलता है।

उपसंहार -

इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् जब हम इस संस्कार की आवश्यकता के सम्बन्ध में विचार करते हैं। तो पाते हैं कि यह संस्कार वास्तव में अतिमहत्वपूर्ण है, क्योंकि किसी भी प्रगतिशील सभ्यता के लिए शिक्षा आवश्यक है। शिक्षा के बिना प्रगतिशील मानव-समाज की कल्पना भी निरर्थक है और शिक्षा से सम्बन्धित होने के कारण इस संस्कार की महत्ता सुस्पष्ट है।

कहा गया है - “सुशिक्षित व्यक्ति ही विद्वानों की सभा में हंस के समान शोभायमान होता है।” वही समाज में प्रतिष्ठा, यश और कीर्ति को प्राप्त करता है और ऐसे सुशिक्षित व्यक्तियों को समाज, राष्ट्र एवं विश्व में भी अग्रिम स्थान मिलता है। संक्षेप में विद्यारम्भ-संस्कार द्वारा बालक-बालिका में उन महत्वपूर्ण गुणों की स्थापना का प्रयास किया जाता है, जिनके आधार पर उसकी शिक्षा मात्र अक्षरज्ञान न रहकर जीवन-निर्माण करने वाली हितकारी विद्या के रूप में विकसित हो सके।

^{३६७} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक - डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५०, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

^{३६८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-तेरहवाँ, पृ.-३१, निर्णयसागर मुद्रालय, बाँम्बे, सन् १९२२.

इस प्रकार यह संस्कार व्यक्ति के जीवन में शिक्षा की अनिवार्यता को स्पष्ट कर देता है।

विवाह-संस्कार

विवाह-संस्कार का स्वरूप -

विवाह केवल दो शरीरों का मिलन नहीं, वरन् दो आत्माओं का पवित्र मिलन है। इसके द्वारा दो प्राणी अपने अलग अस्तित्व को समाप्त कर एक सम्मिलित इकाई का निर्माण करते हैं। कहा जाता है कि स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं, विवाह-संस्कार के बिना वे अपूर्ण रहते हैं, इसीलिए विवाह को सामान्यतया मानव-जीवन की एक आवश्यकता माना गया है। विवाह को स्त्री-पुरुष सम्मिलन की एक घटना की जगह एक धार्मिक क्रिया के रूप में परिवर्तित कर ऋषि, महर्षियों ने इसे संस्कार के रूप में स्वीकार किया है। व्यक्ति के लिए सामान्यतः चार आश्रमों की व्यवस्था की गई है, जिसमें से द्वितीय गृहस्थाश्रम की व्यवस्था विवाह-संस्कार पर ही आधारित है। इसके द्वारा ही व्यक्ति गृहस्थ-जीवन में प्रवेश कर गृहस्थाश्रम के दायित्वों का निर्वाह करता है। इस प्रकार विवाह गृहस्थ-जीवन की आधारशिला है, जो स्त्री-पुरुष के न केवल शारीरिक सम्बन्ध पर, अपितु आत्मीय सम्बन्धों पर आधारित है।

इस संस्कार को करने का मूलभूत प्रयोजन क्या था, जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तो यह पाते हैं कि समाज की व्यवस्था को सुन्दर एवं सुव्यवस्थित करने हेतु विवाह अत्यन्त अनिवार्य संस्कार है। इसके अभाव में स्वस्थ समाज की कल्पना ही असम्भव है। जिस प्रकार आजीविका की समुचित व्यवस्था किए बिना समाज में स्थिरता नहीं आती, उसी प्रकार स्त्रियों और पुरुषों के सम्बन्धों का समुचित रूप से निर्धारण किए बिना, अर्थात् विवाह के पवित्र संस्कार के बिना स्वस्थ एवं सदाचारी समाज का निर्माण होना असम्भव है। अतः सुसभ्य समाज के लिए विवाह-संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसके इसी महत्व को दृष्टि में लेकर ही यह संस्कार किया जाता रहा है। हिन्दू-परम्परा के स्मृति ग्रन्थों में तो पुरुष को अनिवार्य रूप से विवाह करने का निर्देश दिया गया है, क्योंकि इसके अभाव में वह अपत्नीक पुरुष अयज्ञीय कहलाता है, जो उसके लिए अत्यन्त निन्दासूचक शब्द माना जाता रहा है।^{३६६} विवाह के अभाव में उसे धार्मिक

^{३६६} हिन्दू-संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-अष्टम, पृ.-१६५, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

क्रियाओं का अधिकारी नहीं माना जाता है^{४००}, अतः इस अधिकार को प्राप्त करने के उद्देश्य को लेकर भी यह संस्कार किया जाता है। दूसरा, वंश-परम्परा को अभ्युष्ण रखने के लिए यह संस्कार आवश्यक है। स्वच्छंद यौनसम्बन्धों में वंश या कुल-परम्परा संभव नहीं है, वस्तुतः इसका मूलभूत प्रयोजन समाज में पारस्परिक यौनसम्बन्धों की समुचित व्यवस्था को स्थापित करना ही है, ताकि सन्तान के पालन-पोषण आदि के दायित्वों का सम्यक् निर्धारण हो सके।

जैन-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा - दोनों में इस संस्कार को स्वीकार किया गया है। वर्धमानसूरि के अनुसार कन्या का विवाह आठ वर्ष बाद कर देना चाहिए, किन्तु पुरुष का विवाह आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष के बीच में हो सकता है।^{४०१} ज्ञातव्य है कि वर्धमानसूरि का दृष्टिकोण बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह का समर्थन करता प्रतीत होता है, किन्तु उनके काल में मुस्लिमों के आतंक के कारण यह एक विवशता में किया गया सामाजिक निर्णय था। दिगम्बर-परम्परा में यशस्तिलकचम्पू के अनुसार १२ वर्ष की कन्या एवं १६ वर्ष का किशोर विवाह के योग्य माने गए हैं।^{४०२} वैदिक-परम्परा में भी पुरुष के विवाह के लिए कोई निश्चित अवधि नहीं रखी गई है^{४०३}, परन्तु कन्या के विवाह के लिए अवधि का निर्धारण किया गया है। गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के अनुसार सामान्यतः लड़कियों को युवावस्था के बिल्कुल पास पहुँच जाने पर, या उसके प्रारम्भ होने पर ही विवाह के योग्य माना जाता था।^{४०४}

संस्कार का कर्ता -

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार भी यह संस्कार आदिपुराण में निर्दिष्ट योग्यता को धारण करने वाले द्विजों या पण्डितों द्वारा करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार सामान्यतः ब्राह्मण द्वारा करवाया जाता है।

^{४००} हिन्दू-संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-अष्टम, पृ.-१६५, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण : १९६५

^{४०१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-चौदहवाँ, पृ.-३१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२

^{४०२} देखे - हरिवंशपुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, राममूर्ति चौधरी, अध्याय-२, पृ.-४४, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण : १९८६

^{४०३} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२७२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{४०४} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२७३, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इसकी निम्न विधि प्रस्तुत की है -

विवाह संस्कार -

इस विधि में वर्धमानसूरि ने सर्वप्रथम यह बताया है कि जिनका शील एवं कुल एक समान हो, उनमें ही मैत्री एवं विवाह सम्बन्ध करने चाहिए। तत्पश्चात् मूलग्रन्थ में कन्या के विकृत कुल, विकृत कन्या एवं कन्यादान हेतु वर के विकृत कुलों का उल्लेख हुआ है।

कदाचित् दोनों का विकृत कुल हो, तो पाँच शुद्धियों को देखकर ही विवाह करना चाहिए। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि गर्भ से आठवें वर्ष बाद कन्या का विवाह कर देना चाहिए। उससे ऊपर की उम्र वाली कन्या राका कहलाती है और उसका विवाह यथाशीघ्र ही कर देना चाहिए। पुरुष का विवाह आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष तक कभी भी हो सकता है, किन्तु उसके बाद नहीं।

तत्पश्चात् विवाह के प्रकारों का उल्लेख करते हुए ब्रह्म, प्राजापत्य, आर्ष एवं दैव विवाह को धर्माधारित तथा गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच विवाह को पापविवाह कहा है। मूलग्रन्थ में सर्वप्रथम ब्रह्मविवाह की विधि बताई गई है। इसके लिए शुभदिन, शुभ लनन में गुणयुक्त वर को बुलाकर उसे स्नान करवाकर अलंकृत करें एवं अलंकृत कन्या दें। तत्पश्चात् मंत्रपूर्वक वस्त्रांचल-बन्धन कर दंपति अपने घर जाते हैं। यह ब्रह्मविवाह की विधि है। तदनन्तर यह बताया गया है कि आर्षविवाह में वन में रहने वाले गृहस्थ मुनि अपनी पुत्री को अन्य ऋषि को गाय और बैल के दान के साथ देते हैं। इस विवाह का वेदमंत्र जैनशास्त्रों में नहीं है, क्योंकि जैन इसे अकृत्य मानते हैं। देव-विवाह में पिता यज्ञादि कर्मों की पूर्ति के लिए पुरोहित को अपनी कन्या दक्षिणावत् देते हैं। तदनन्तर गान्धर्व-विवाह, आसुर-विवाह, राक्षस-विवाह एवं पैशाचिक-विवाह की व्याख्या की गई है। इसके बाद प्राजापति-विवाह की विधि का उल्लेख हुआ है।

मूलग्रन्थ में सर्वप्रथम प्राजापति-विवाह हेतु शुभ नक्षत्र, तिथि, वार, लग्न आदि की विस्तृत चर्चा की गई है। तदनन्तर कन्यादान की विधि बताई गई है। सर्वप्रथम वरपक्ष समान कुल एवं शील से युक्त अन्य गोत्र की कन्या की याचना करे। तत्पश्चात् कन्यापक्ष के कुल के ज्येष्ठ व्यक्ति वरपक्ष के कुल के ज्येष्ठ व्यक्ति को नारियल आदि के दान से मंत्रपूर्वक कन्यादान करें। तत्पश्चात् कन्यापक्ष के लोग सब को ताम्बूल दें। तदनन्तर वरपक्ष एवं कन्यापक्ष के लोग परस्पर वर, कन्या हेतु वस्त्र-आभरण आदि दें। उसके बाद लग्नदिन से पहले मास या पक्ष में

ज्योतिषी को बुलाकर विवाह-लग्न की पूजा करें तथा ज्योतिष को दान-दक्षिणा दें। तत्पश्चात् मिट्टी के करवे में जौ बोएं, फिर कन्या के घर में मातृ-स्थापना एवं षष्ठीमाता की स्थापना करें तथा वर के घर में जिनमतानुसार कुलदेवी एवं कुलकरों की स्थापना करें। इसके बाद मूलग्रन्थ में कुलकर-स्थापना की विधि बताई गई है। तत्पश्चात् वर के घर में शान्तिक-पौष्टिककर्म तथा कन्या के घर में माता की पूजा करें। तदनन्तर विवाह से सात, नौ, ग्यारह या तेरह दिन पहले से ही प्रतिदिन वर और वधू को मंगलगीत गानपूर्वक तेल का मर्दन करके स्नान कराएं। वर एवं वधू के घर में वर-वधू के परिजन किस प्रकार से वस्तुओं का आदान-प्रदान करें - इसका उल्लेख करते हुए मूलग्रन्थ में देश एवं कुलाचार के अनुरूप धूलिपूजा, चाकपूजा आदि करने का निर्देश दिया गया है, तत्पश्चात् बारात-प्रस्थान की विधि का उल्लेख किया गया है। विवाह का दिन आने पर विवाहलग्न से पूर्व नगरवासी या अन्य देश से आया हुआ वर विधिपूर्वक विवाह हेतु निकले। उसकी बहन लवण आदि उतारने का कार्य करे। तत्पश्चात् गृहस्थ गुरु बारातसहित कन्या के गृहद्वार पर जाए। वहाँ वर की सास एवं वर के ससुर तथा कन्यापक्ष की अन्य स्त्रियाँ विवाह सम्बन्धी औपचारिकताओं को पूर्ण करें। तदनन्तर मूलग्रन्थ में मंत्रपूर्वक हस्तबन्धन, वेदीरचना एवं उसकी प्रतिष्ठा, तोरणप्रतिष्ठा तथा अग्निस्थापना की विधि बताई गई है। तत्पश्चात् देश एवं कुलाचार के अनुसार आयुध लेकर चलना, कण्ठ में आयुध धारण करना आदि रीति-रिवाज किए जाते हैं। हस्तमिलाप किए हुए वर और वधू को वेदी के पास लाएं। तत्पश्चात् गृहस्थ गुरु किस प्रकार से अग्नि को प्रज्वलित करे, सब लोगों के समक्ष किस प्रकार से वर-वधू के वंश का प्रकाशन किया जाए, वर एवं वधू किस प्रकार से अग्नि की पूजा करें तथा गृहस्थ गुरु किस प्रकार से वर एवं वधू को सात फेरे दिलवाए, कन्या के स्वजन एवं सम्बन्धी किस प्रकार से उपहार दें एवं कन्या का पिता किस प्रकार से वर को कन्या प्रदान करे - इन सबका मूलग्रन्थ में विस्तृत विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् गृहस्थ गुरु अपने कथन से विवाह सम्बन्ध की पुष्टि करता है तथा वर-वधू को हितशिक्षा देता है। तदनन्तर वर-वधू का विधिपूर्वक करमोचन किया जाता है। तत्पश्चात् वर पुनः स्वगृह की तरफ प्रस्थान करता है। वर-वधू के गृहप्रवेश के समय उसके माता-पिता आदि अनेक औपचारिकताएँ करते हैं। तत्पश्चात् सात रात्रियों के पश्चात्, या एक मास के पश्चात् कन्यापक्ष वाले मातृकाविसर्जन करें तथा वरपक्ष वाले कुलकरों का विसर्जन करें - इसका उल्लेख करते हुए मूलग्रन्थ में कुलकरों के विसर्जन की विधि बताई गई है। कुलकरों का विसर्जन करने के बाद वर-वधू द्वारा मण्डलीपूजा, गुरुपूजा, वासक्षेप ग्रहण करना आदि कार्य किए जाते हैं तथा साधुओं को वस्त्र आदि का

दान दिया जाता है। इसके साथ ही वहाँ विप्रों एवं दूसरों याचकों को भी यथाशक्ति दान देने के लिए कहा गया है।

अन्य देश, कुल एवं धर्म में विवाह के लग्न प्राप्त होने पर तथा वर के श्वसुरगृह में प्रविष्ट होने पर षट् आचार किस प्रकार से किए जाते हैं तथा वैश्याविवाह की क्या विधि है - इसका भी वहाँ उल्लेख किया गया है। स्थानाभाव के कारण हम उसका उल्लेख यहाँ नहीं कर रहे हैं, एतदर्थ विस्तृत जानकारी के लिए मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर (प्रथमखण्ड) के चौदहवें उदय को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन -

विवाह-संस्कार को सभी परम्पराओं ने स्वीकार किया है और अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुरूप इसके विधि-विधान निश्चित किए गए हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में इस संस्कार का उल्लेख अर्द्धमागधी आगम ज्ञाताधर्मकथा एवं विपाकसूत्र में मिलता है, ^{१०५} किन्तु इस संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का वहाँ कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता है। वर्धमानसूरि द्वारा प्रतिपादित इस संस्कार के विधि-विधान बहुत कुछ वैदिक-परम्परा से मिलते-जुलते हैं, फिर भी कहीं-कहीं आंशिक असमानताएँ भी दृष्टिगत होती हैं, जिन्हें तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से जाना जा सकता है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में सर्वप्रथम विवाह कहाँ करना चाहिए ? इसका विवेचन किया है, प्रथमतः जिनके कुल और शील समान हो, उनमें परस्पर विवाह करना चाहिए। श्वेताम्बर-परम्परा के आगमों में भी इस सम्बन्ध में समान कुल, शील, वय आदि की चर्चा मिलती है। जिनका कुल विकृत हो एवं शील भी समान न हो, उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। इसके साथ ही वर्धमानसूरि ने विकृत कुल कौन-कौन से हैं तथा विकृत कन्या एवं विकृत वर किन-किन को माना गया है, इसका भी विवेचन किया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि दोनों का कुल अविकृत होने पर पाँच शुद्धियों को देखकर विवाह करना चाहिए। दिग्म्बर-परम्परा में इस प्रकार के अविकृत कुलों की चर्चा हमें सामान्यतः देखने को नहीं मिलती है, फिर भी वर-कन्या के गुणों एवं योग्यताओं का तथा योग्य कुल में विवाह करने के उल्लेख अवश्य मिलते हैं। इसी प्रकार सागारधर्माभूत ग्रन्थ में कन्यादान किसे करें, सम्यक् कन्यादान की विधि क्या है एवं साधर्मिक को कन्या देने से क्या पुण्यलाभ होता है ? इसका उल्लेख करते हुए वर

^{१०५} (अ) ज्ञाताधर्मकथा सू.-१/१०४, (ब) विपाकसूत्र सू.-६/१/६, सं. मधुकरमुनि ।

के गुणों का भी उल्लेख किया गया है।^{४०६} वर्धमानसूरि द्वारा वर्णित विकृतकुल आदि से सम्बन्धित उल्लेख वैदिक-परम्परा में भी उसी प्रकार से ही वर्णित हैं, परन्तु जहाँ वैदिक-साहित्य में इसे बहुत विस्तार से विवेचित किया गया है, वहाँ वर्धमानसूरि ने इसे उतने विस्तार से विवेचित नहीं किया है।

वर्धमानसूरि के अनुसार कन्या का विवाह गर्भ से आठवें वर्ष बाद कर देना चाहिए। ग्यारह वर्ष से ऊपर की आयु वाली कन्या को राका माना गया है तथा उसका विवाह वर के प्राप्त होने पर चंद्रबल में यथाशीघ्र कर देना चाहिए।^{४०७} पुरुष का आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष के बीच में विवाह हो सकता है, परन्तु उसके बाद शुक्राणुरहित होने के कारण वह वर विवाह योग्य नहीं होता। दिगम्बर-परम्परा में यशस्तिलक के अनुसार विवाह हेतु कन्या की आयु १२ वर्ष एवं पुरुष की आयु १६ वर्ष मानी गई है। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में और कोई उल्लेख नहीं मिलते। वैदिक-परम्परा में पुरुष के लिए विवाह की कोई निश्चित अवधि नहीं मानी गई है। मात्र कन्या की विवाह से सम्बन्धित आयु को लेकर ही विद्वानों में मतभेद है। गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के अनुसार लड़कियों के युवावस्था के बिल्कुल पास पहुँच जाने पर, या उसके प्रारम्भ होने पर, उनका विवाह कर देना चाहिए। इसके पश्चात् की आयु वाली कन्याओं के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाएँ थीं, जैसे - यदि कोई १२ वर्ष के उपरान्त अपनी कन्या का विवाह न करे, तो उसके पूर्वज प्रतिमास उस कन्या का ऋतु प्रवाह पीते हैं। ब्राह्मण उस कन्या से विवाह करे, तो वह वृषली का पति हो जाता है, आदि ऐसी अनेक भ्रान्त लोकमान्यताएँ थीं।^{४०८}

वर्धमानसूरि के अनुसार विवाह आठ प्रकार के होते हैं- ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच। इनमें से प्रथम चार धर्माधारित एवं माता-पिता के वचन के योग से होते हैं तथा अन्तिम चार पापविवाह एवं स्वेच्छा से होते हैं। दिगम्बर-परम्परा में विवाह के अनेक प्रकार बताए गए हैं^{४०९} -

प्रशस्तविवाह - इसमें प्राजापत्य एवं दैवविवाह को शामिल किया गया है।

^{४०६} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२७३, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{४०७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-चौदहवाँ, पृ.-३१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२

^{४०८} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.-२७६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

^{४०९} देखे - हरिवंश पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, राममूर्ति चौधरी, अध्याय-२, पृ.-५२ से ६४, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण : १९८६

अप्रशस्तविवाह - इसमें गान्धर्व एवं राक्षसविवाह को शामिल किया गया है। आसुर और पिशाचविवाह के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलते।

स्वयंवरविवाह - इस विवाह को भी तीन भाग में विभाजित किया गया है।

इसके अतिरिक्त अन्तर्वर्णविवाह, सगोत्रविवाह, बहुपत्नी या बहुपतिविवाह, पुनर्विवाह एवं बालविवाह के भी उल्लेख मिलते हैं। सागारधर्माभूत की अनुवादिका ने आर्षग्रन्थ का आलम्बन लेते हुए विवाह के उन्हीं चार प्रकारों का उल्लेख किया है, जिन्हें वर्धमानसूरि ने धर्मविवाह माना हैं। वहाँ विवाह के अन्य प्रकारों का उल्लेख नहीं किया गया है।^{४१०} वैदिक-परम्परा में विवाह के जिन आठ प्रकारों का उल्लेख मिलता है, ये आठ प्रकार वे ही हैं, जिन्हें वर्धमानसूरि ने भी विवेचित किया है, किन्तु स्मृतिकारों ने विवाह के उक्त आठ प्रकारों को भी (१) प्रशस्त तथा (२) अप्रशस्त - ऐसे दो भागों में विभाजित करके प्रथम चार विवाह को प्रशस्त एवं अन्तिम चार विवाह को अप्रशस्तविवाह के रूप में उल्लेखित किया है।^{४११} इसके अतिरिक्त भी वैदिक-परम्परा में विनिमयविवाह, सेवाविवाह आदि भी माने गए हैं। वैदिक-परम्परा में विवाह के लिए कुछ सीमाओं का भी उल्लेख मिलता है, जिनकी आंशिक चर्चा दिगम्बर-परम्परा के साहित्य में भी मिलती है।

वर्धमानसूरि ने प्राजापत्यविवाह को छोड़कर ब्राह्म एवं दैवविवाह की विधि को बहुत संक्षिप्त रूप में विवेचित किया है। आर्षविवाह को जैन-परम्परा में अकृत्य माना है, तथा इसके लिए जैन वेदों, अर्थात् जैनशास्त्रों में मंत्रों का भी उल्लेख नहीं मिलता है। इस प्रकार आचारदिनकर में हमें ब्राह्म, प्राजापत्य एवं दैवविवाह की विधि का ही वर्णन मिलता है। शेष चार विवाहों की विधि का उल्लेख नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा के प्राचीन साहित्यों में भी विवाह की विधि का वर्णन मिलता है, परन्तु वर्धमानसूरि ने जितनी सूक्ष्मता के साथ इसकी सम्पूर्ण विधि का उल्लेख किया है, वैसा विस्तृत उल्लेख दिगम्बर-ग्रन्थों में नहीं है। यद्यपि प. नाथूलाल शास्त्री की पुस्तक जैन-संस्कार-विधि में विवाह की विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है।^{४१२}

^{४१०} सागारधर्माभूत, अनुवादक - आर्या सुपाश्वरमति जी, अध्याय-द्वितीय, पृ.-१०६, भारत वर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, तृतीय संस्करण, सन् १९६५।

^{४११} हिन्दू-संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-अष्टम, पृ.-२०३, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

^{४१२} जैन संस्कार विधि, नाथूलाल जैन शास्त्री, अध्याय-३, पृ.-१६-५३, श्री वीरनिर्वाणग्रन्थ प्रकाशन समिति, गौमटगिरी, इन्दौर, पांचवीं आवृत्ति : २०००.

वर्धमानसूरि ने प्राजापत्यविवाह की विधि का विवेचन करते हुए इसके शुभ मुहूर्त हेतु ज्योतिष सम्बन्धी निर्देश दिए हैं, जैसे^{४१३} - मूल, अनुराधा, रोहिणी, मघा, मृगशीर्ष, हस्त, रेवती, उत्तरात्रय और स्वाति नक्षत्रों में विवाह करना चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वमत के साथ ही ज्योतिषशास्त्र के अन्य विद्वानों का अभिमत भी प्रकट किया है। इस प्रकार आचारदिनकर में विवाह के मुहूर्त सम्बन्धी विस्तृत विवेचन मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में भी विवाह शुभदिन, तिथि एवं नक्षत्र में करने का विधान है, परन्तु जिस प्रकार आचारदिनकर में इस विषय को स्पष्ट किया गया है, उस प्रकार का स्पष्टीकरण दिगम्बर-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में हमें देखने को नहीं मिला, किन्तु पं. नाथूलाल शास्त्री की जैन-संस्कार-विधि में ज्योतिष सम्बन्धी निर्देश अवश्य मिलते हैं। वैदिक-परम्परा में पूर्वकाल में मुहूर्त के विषय में कोई खास ध्यान नहीं देने के कारण गृह्यसूत्रों में मुहूर्त-विषयक विचार अत्यन्त अल्प हैं, किन्तु परवर्ती स्मृतियों, पुराण आदि में विवाह के मुहूर्त सम्बन्धी उल्लेख विस्तार से मिलते हैं।

वर्धमानसूरि ने विवाह-संस्कार के आरंभ में कन्या के वाग्दान की विधि बताई है तथा उससे सम्बन्धित मंत्रों का भी उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा में विवाह के पूर्व वाग्दान की विधि का विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि वैदिक-परम्परा में वाग्दान के नाम से इसकी विधि का निरूपण किया गया है।^{४१४} कन्या के वाग्दान के माध्यम से औपचारिक रूप से वर-वधू का विवाह निश्चित कर दिया जाता था। इसके पश्चात् दोनों पक्ष एक-दूसरे को प्रसाधन सामग्री, आभरण आदि वस्तुओं का आदान-प्रदान करते हैं। यह विधि वैदिक-परम्परा में भी की जाती है।

वर्धमानसूरि के अनुसार विवाह-लग्न के शोधन हेतु भी एक विशेष प्रकार की विधि की जाती है, जिसमें विवाह के लग्नपत्रक की पूजा भी की जाती है। दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में इस प्रकार की विधि का उल्लेख नहीं मिलता है। वर्धमानसूरि ने इसे विवाह की विधि का आरंभ माना है। उसके बाद मिट्टी के करवे में जौ बोकर कन्या के घर में मातृका या कुलदेवी एवं षष्ठीमाता की स्थापना की जाती है तथा वर के घर में भी जिनमत के अनुसार मंत्रोच्चारपूर्वक माता एवं कुलकर की स्थापना की जाती है। इनकी विधि के साथ ही वर्धमानसूरि ने अन्य धारणा का भी उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा में

^{४१३} आचारदिनकर वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-चौदहवाँ, पृ.-३२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{४१४} हिन्दूसंस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-अष्टम, पृ.-२६५, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण : १९६५

पं. नाथूलाल शास्त्री की जैन-संस्कार-विधि के अनुसार बाना (विनायक) बैठाया जाता है, जिसमें विनायकयन्त्र की पूजा की जाती है। वैदिक-परम्परा में जौ बोने की क्रिया मृदाहरण नामक क्रिया के रूप में की जाती है।^{४९५}

वैदिक-परम्परा में कुलकरों की स्थापना की जगह गणपति एवं कन्दर्प की स्थापना की जाती है और इसकी विधि का भी वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है। वर्धमानसूरि ने कुलकरों की स्थापना हेतु मंत्रों का उल्लेख किया है, परन्तु वैदिक-परम्परा में गणपति एवं कंदर्प की स्थापना के समय किन मंत्रों का उच्चारण करें, इसका उल्लेख पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं मिलता है, किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में ये उल्लेख मिलते हैं। वैदिक-परम्परा में गणपतिपूजन के साथ ही अन्य क्रिया भी की जाती है, जैसे^{४९६} - स्वस्तिवाचन, वसोधारीपूजा, आयुष्यजप आदि, जिनका उल्लेख आचारदिनकर में नहीं मिलता है। इस प्रकार वैदिक-परम्परा में विवाह-संस्कार के अन्तर्गत ऐसे अनेक विधि-विधान किए जाते हैं, जो सामान्यतः जैन परम्परा में देखने को नहीं मिलते हैं।

वर्धमानसूरि के अनुसार कुलकर की स्थापना एवं पूजा करने के बाद वर के घर में शान्तिक और पौष्टिककर्म तथा कन्या के घर में माताओं की पूजा करना चाहिए, जबकि दिगम्बर-परम्परा में विधिपूर्वक सिद्ध परमात्मा की पूजा करने का उल्लेख मिलता है।^{४९७} उसमें शान्तिक-पौष्टिक कर्म करने एवं माताओं की पूजा करने सम्बन्धी उल्लेख नहीं मिलते हैं, किन्तु वैदिक-परम्परा में मातृकापूजन का उल्लेख मिलता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार विवाह से पूर्व दोनों पक्ष में अनेक क्रियाएँ की जाती हैं, जैसे - विवाह के कुछ दिनों पूर्व से ही वर-वधू को तेल का मर्दन कर स्नान कराना, प्रसाधन-सामग्री, सुगन्धित वस्तुओं, द्राक्षा आदि खाद्यपदार्थों का परस्पर आदान-प्रदान करना, कंकण-बन्धन करना आदि। ये सभी क्रियाएँ वर-वधू के चंद्रबल में एवं विवाह सम्बन्धी नक्षत्र में ही करनी चाहिए। दिगम्बर-परम्परा में

^{४९५} हिन्दूसंस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-अष्टम, पृ.-२६६, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

^{४९६} हिन्दूसंस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-अष्टम, पृ.-२६७, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

^{४९७} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु. डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५१, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

भी इनमें से कुछ क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। वैदिक-परम्परा में विवाह के एक या दो दिन पूर्व हरिद्रालेप करने का उल्लेख मिलता है।^{४१८}

वर्धमानसूरि ने धूलिपूजा, करवापूजा, पवित्र जल लाना आदि सभी मंगलकार्य देश एवं कुलाचार के अनुरूप करने का निर्देश दिया है। साथ ही वरयात्रा के प्रस्थान की विधि तथा मंत्रों का भी उल्लेख किया है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी इसकी विधि उल्लेखित है, परन्तु इसके लिए किन मंत्रों का उच्चारण करें, उसका उल्लेख इन दोनों ही परम्पराओं में नहीं मिलता है।

बारात के प्रस्थान की विधि, विवाह की विधि आदि सामान्यतः तीनों ही परम्पराओं में समान है, फिर भी परम्पराओं के भेद के कारण कुछ आंशिक मतभेद अवश्य मिलता है। वर्धमानसूरि ने अपनी इस विधि में प्रत्येक क्रिया हेतु मंत्रों का उल्लेख किया है, जो दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा की विधि में देखने को नहीं मिलते। इसी प्रकार कुछ अन्य क्रियाओं का भी उल्लेख मिलता है, जैसे - तोरण-प्रतिष्ठा-विधि, वेदी-स्थापन करना आदि। यद्यपि पं. नाथूलालजी शास्त्री ने जैन-संस्कार-विधि में वेदी बनाने आदि का उल्लेख किया है, परन्तु दिगम्बर-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में इनकी विधि का उल्लेख नहीं मिलता है। विवाह की इन सम्पूर्ण क्रियाओं में वर्धमानसूरि ने देश एवं कुलाचार को भी महत्व दिया है। वर्धमानसूरि ने विवाह-विधि के अन्तर्गत जो मधुपर्क आदि षट्आचार का वर्णन किया है, वह दिगम्बर-परम्परा में देखने को नहीं मिलते हैं, किन्तु वैदिक-परम्परा में इन आचारों का वर्णन मिलता है।^{४१९} वर्धमानसूरि ने पाप-विवाह के स्वरूप को भी उल्लेखित किया है। साथ ही वेश्या के विवाह की विधि का भी निर्देश दिया है, जिसका उल्लेख हमें दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिला। दिगम्बर-परम्परा में कन्या-प्रदान एवं वरण के पश्चात् हवन करने का भी उल्लेख विशेष रूप से मिलता है।

इस संस्कार हेतु आवश्यक सामग्री का वर्णन भी वर्धमानसूरि ने अपने ग्रन्थ आचारदिनकर में किया है, किन्तु इस प्रकार का उल्लेख दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं मिलता है, यद्यपि परवर्ती ग्रन्थों में इसका उल्लेख किया गया है।

^{४१८} हिन्दू-संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-अष्टम, पृ.-२६६, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

^{४१९} हिन्दू-संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-अष्टम, पृ.-२६८, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

इस प्रकार तीनों परम्पराओं में इस संस्कार के विधि-विधान में आंशिक भिन्नता एवं आंशिक समानता परिलक्षित होती है। परम्पराओं के भेद के कारण कुछ विधियाँ ऐसी भी हैं, जो मात्र एक ही परम्परा से सम्बन्ध रखती हैं, दूसरी परम्परा से नहीं, किन्तु परम्परा-भेद के कारण ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

उपसंहार -

इस संस्कार का तुलनात्मक विवेचन करने के पश्चात् जब हम इस संस्कार की उपादेयता के बारे में विचार करते हैं, तो हम यह पाते हैं कि विवाह सुसभ्य समाज की नींव है। किसी भी समाज में यौन-सम्बन्धों में वर्जनाओं को बनाए रखने एवं नैतिक मूल्यों का आधार सुदृढ़ बनाने के लिए विवाह को एक कर्त्तव्य के रूप में अनिवार्य माना गया है। विवाह-संस्था स्त्री-पुरुष की वासनात्मक पशुवृत्ति को सीमित कर एक सामाजिक सुव्यवस्था प्रदान करती है और इस तरह वह मनुष्य को पशुता की ओर कदम बढ़ाने से रोकती है। मन गतिशील है, वह निरन्तर वासनाओं की पूर्ति की ओर भागता है, उसे सम्यक् दिशा देने हेतु विवाह-संस्था अनिवार्य है। इससे मानव-शक्ति, चारित्रिक-पवित्रता एवं सामाजिक-सुव्यवस्था के रचनात्मक कार्य में लग जाती है। इससे मनुष्य श्रेष्ठ मार्ग की ओर अग्रसर होकर पूर्णता की ओर बढ़ता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी जब इस संस्कार को देखते हैं, तो पाते हैं कि वास्तव में यह संस्कार अपने-आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके माध्यम से ही मनुष्य की काम-वासनाओं को सीमित किया जा सकता है और अनेक सामाजिक-विकृतियों से बचा जा सकता है।

व्रतारोपण-संस्कार

व्रतारोपण-संस्कार का स्वरूप -

इस संस्कार में व्यक्ति द्वारा विधि-विधानपूर्वक व्रतों का ग्रहण किया जाता है। व्रत का शाब्दिक अर्थ है - नियम या प्रतिज्ञा एवं आरोपण का अर्थ है - ग्रहण करना। अतः इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति को व्रतों का ग्रहण कराया जाता है। फलतः उसमें इन व्रतों के पालन से उत्पन्न होने वाले गुणों का आविर्भाव होता है। सभी धर्मों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों को एकमत से स्वीकार किया गया है। सफल जीवन हेतु इन चारों पुरुषार्थों का आचरण अनिवार्य है। इनमें से किसी भी एक पुरुषार्थ की उपेक्षा उचित नहीं है। फिर भी इन चारों पुरुषार्थों में धर्म-पुरुषार्थ प्रमुख हैं और व्यक्ति के जीवन में उसका आचरण अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि धर्म ही व्यक्ति को जीवन जीने का

सही दिशा-निर्देश देता है एवं उसे अधःपतन से बचाता है। वह अर्थ और काम-पुरुषार्थों का नियामक भी है एवं मोक्ष-पुरुषार्थ का साधन है। व्रतारोपण-संस्कार का अर्थ वस्तुतः धर्म या नीतिपूर्वक जीवन जीने की प्रतिज्ञा करना है।

इस संस्कार के मूलभूत प्रयोजन के सन्दर्भ में जब हम विचार करते हैं, तो यह पाते हैं कि व्यक्ति के जीवन में धर्म का परिपालन अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके अभाव में व्यक्ति का जीवन दुराचारी एवं पापों का संकुल बन जाता है, अतः व्यक्ति को धर्म के संस्कारों से संस्कारित करने के उद्देश्य से ही यह संस्कार किया जाता है - ऐसा हम मान सकते हैं। वर्धमानसूरि ने इस संबंध में अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि^{४२०} “इस लोक में गर्भ से लेकर विवाह तक के चौदह संस्कारों से संस्कारित व्यक्ति भी व्रतारोपण-संस्कार के बिना इस जन्म में लक्ष्मी का सदुपयोग नहीं कर पाता है। वह जगत् में प्रशंसा का पात्र नहीं होता है। वह न तो इस लोक में और न ही परलोक में स्व-पर कल्याण का भागी होता है। वह आर्यदेश, मनुष्यजन्म तथा स्वर्ग एवं मोक्ष के सुख से भी वंचित रहता है।” अतः मनुष्यों के लिए व्रतारोपण-संस्कार परम कल्याणकारक है। आगम में भी इसके महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है - “ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र - कोई भी हो, सभी धर्म से ही मोक्ष की प्राप्ति के योग्य होते हैं। सर्व कलाओं में प्रवीण जो मुन्य धर्मकला को नहीं जानते हैं, वे बहतर कलाओं में कुशल एवं विवेकशील होने पर भी (वास्तव में) कुशल नहीं हैं।” अन्य धर्मों में भी कहा गया है - “धर्माचरण के बिना उपनीत, पूज्य तथा कलावान् मनुष्य भी न तो इस लोक में और न परलोक में सुख को प्राप्त कर पाता है।^{४२१}”

वर्धमानसूरि ने यह संस्कार कब किया जाना चाहिए, अर्थात् इस संस्कार को करते समय व्यक्ति की आयु कितनी हो, इसका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु इस सम्बन्ध में व्यक्ति की योग्यता को अत्यन्त महत्त्व दिया है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार व्रतावतरण नामक संस्कार के रूप में विवेचित किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार बारह या सोलह वर्ष के बाद में किया जाता है।^{४२२} वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में भी वेदव्रतों का उल्लेख मिलता है,

^{४२०} आचारदिनकर वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-पन्द्रहवाँ, पृ.-४२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{४२१} आचारदिनकर वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-पन्द्रहवाँ, पृ.-४२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२

^{४२२} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु. डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५०, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

परन्तु उनमें इसकी क्रियाविधि का कोई उल्लेख हमें दृष्टिगत नहीं होता है। अतः सर्वप्रथम हम जैनधर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्पराओं में इस सम्बन्ध में क्या अवधारणा है, उन्हें ही स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

संस्कारकर्ता -

वर्धमानसूरि के अनुसार व्रतारोपण-संस्कार विशिष्ट गुणों से युक्त निर्ग्रन्थमुनि (यतिगुरु) द्वारा ही करवाया जाता है। निर्ग्रन्थगुरु की वे विशिष्ट योग्यताएँ क्या हैं? इसका उल्लेख भी वर्धमानसूरि ने विस्तार से किया है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार आदिपुराण में निर्दिष्ट योग्यता को धारण करने वाले जैनद्विज या भट्टारक के द्वारा करवाया है। वैसे तो उस परम्परा में भी यह संस्कार निर्ग्रन्थमुनि द्वारा ही सम्पन्न होता था, किन्तु कालान्तर में निर्ग्रन्थमुनि परम्परा विच्छिन्न होने से यह कार्य उनके प्रतिनिधि के रूप में भट्टारक करने लगे।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में व्रतारोपण की निम्न विधि प्रस्तुत की है
व्रतारोपण-संस्कार की विधि -

इस विधि के अन्तर्गत वर्धमानसूरि ने सर्वप्रथम इस संस्कार के महत्व का प्रतिपादन करते हुए यह बताया है कि व्रतारोपण-संस्कार निर्ग्रन्थयति द्वारा ही करवाया जाता है। तदनन्तर मूलग्रन्थ में निर्ग्रन्थगुरु के गुणों का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि पितृ-परम्परा में मान्य निर्ग्रन्थगुरु को, या उसके अभाव में इन गुणों से युक्त अन्य गच्छ आदि के निर्ग्रन्थगुरु के प्राप्त होने पर ही गृहस्थ को व्रतारोपण की विधि करनी चाहिए तथा जो गृहस्थ पूर्व कथित इन चौदह संस्कारों से सुसंस्कृत है, वही गृहीधर्म को धारण करने के योग्य है। तदनन्तर व्रतधारण करने के योग्य श्रावक के २१ सामान्य गुणों तथा ३५ मार्गानुसारी गुणों का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् व्रतारोपण-संस्कार-विधि का उल्लेख किया गया है।

वर्ष, मास, दिन, नक्षत्र, लग्न के शुद्ध होने पर विवाह, दीक्षा एवं प्रतिष्ठा के समान ही शुभलग्न में गृहस्थगुरु उसके घर में शान्तिक-पौष्टिककर्म करे। तत्पश्चात् उपाश्रय आदि में योग्य स्थल पर समवसरण की रचना कर उसमें परमात्मा की प्रतिमा स्थापित करे। फिर श्रावक स्नान से पवित्र होकर अपने घर से महोत्सवपूर्वक उपाश्रय में आकर श्रावकयोग्य वेश को धारण करें तथा गुरु की बाईं और पूर्वाभिमुख होकर बैठे। तत्पश्चात् श्रावक गुरु की आज्ञा से नारियल, अक्षत और सुपारी को हाथ में रखकर परमेष्ठीमंत्र का उच्चारण करते हुए

समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दे। तदनन्तर गुरु एवं श्रावक - दोनों ईर्यापथिकी की क्रिया करें। तत्पश्चात् श्रावक किस प्रकार से विधिपूर्वक नंदी क्रिया करे, इसका उल्लेख किया गया है। तदनन्तर देववंदन तथा श्रुतदेवता आदि के कायोत्सर्ग तथा स्तुति का क्रम बताया गया है। देववंदन के मध्य बोले जाने वाले अर्हणादिस्तोत्र का भी उल्लेख मूलग्रन्थ में किया गया है। चैत्यवंदन के बाद श्रावक अनुज्ञापूवक सम्यक्त्व-सामायिक आदि के लिए कायोत्सर्ग करता है तथा मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करता है। इसके बाद श्रावक द्वारा सम्यक्त्वादि त्रिक ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त करने पर यतिगुरु विधिपूर्वक सम्यक्त्वदंडक का तीन बार उच्चारण करवाते हैं। तत्पश्चात् गुरु श्रावक के मस्तक पर वासक्षेप करते हैं। तदनन्तर गुरु सूरिमंत्र से अक्षत एवं वासक्षेप को अभिमंत्रित करते हैं। इसके बाद श्रावक सम्यक्त्व त्रय के स्थिरीकरण हेतु कायोत्सर्ग करता है तथा चौथी स्तुति को छोड़कर शक्रस्तव द्वारा चैत्यवंदन करता है। तत्पश्चात् गुरु श्रावक को सामने बैठाकर नियम ग्रहण करवाते हैं तथा उसे सम्यक्त्व के स्वरूप का उपदेश देते हैं। उस दिन श्रावक आयम्बिल, एकासना आदि व्रत करे। यह निर्देश देकर वर्धमानसूरि ने साधुओं को दान देने, मण्डलीपूजा करने, चतुर्विध संघ को भोजन कराने तथा संघपूजा करने का भी उल्लेख किया है। यह सम्यक्त्व-सामायिक, अर्थात् सम्यक्त्व-धारण की विधि है।

तदनन्तर मूलग्रन्थ में देशविरति-सामायिक-आरोपण की विधि का उल्लेख हुआ है। इसमें श्रावक को बारह व्रतों का ग्रहण करवाया जाता है। इसी प्रकरण में परिग्रह-परिमाण सम्बन्धी टिप्पणक लिखने की विधि का भी उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात् मूलग्रन्थ में छःमासिक सामायिक-व्रत ग्रहण करने की विधि का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

तदनन्तर मूलग्रन्थ में श्रावक प्रतिमाओं के नामोल्लेख करते हुए उनकी उद्धहन की विधि बताई गई है। इस प्रकरण में यह बताया गया है कि जो प्रतिमा जीवनपर्यन्त के लिए ग्रहण की जाती है, उसमें काल आदि का नियम नहीं होता है, शेष में होता है। प्रतिमाओं के वहन में भी नंदीक्रिया, चैत्यवंदन, खमासमणा, वासक्षेप आदि की विधि की जाती है। प्रथमदर्शन-प्रतिमा में दर्शन-प्रतिमा सम्बन्धी दंडक का उच्चारण किया जाता है। इसके साथ ही अन्य-अन्य प्रतिमाओं में उनसे सम्बन्धित प्रतिज्ञापठ में उल्लेखित व्रतचर्या का पालन किया जाता है।

तत्पश्चात् मूलग्रन्थ में श्रुतसामायिक-आरोपण की विधि बताई गई है। साधुओं को योगोद्धहन-विधि से श्रुत-आरोपण हेतु आगमपाठों द्वारा अध्ययन-अध्यापन द्वारा श्रुत-सामायिक का आरोपण कराते हैं तथा गृहस्थों को

उपधानविधि से श्रुतसामायिक का आरोपण किया जाता है। मूलग्रन्थ में सात उपधान बताए गए हैं, किन्तु इनमें से - १. परमेष्ठी मंत्र का २. ईर्यापथिकी का ३. शक्रस्तव का ४. अर्हत्चैत्यस्तव का ५. चतुर्विंशतिस्तव का एवं ६. श्रुतस्तव का ही उपधान होता है और उन्हीं की विधि मूलग्रन्थ में दी गई है। सिद्धस्तव की प्रथम तीन गाथाओं की वाचना उपधान के बिना भी होती है, शेष गाथाएँ आधुनिक हैं, अतः उनके हेतु उपधान आवश्यक नहीं है। तत्पश्चात् छहों उपधानों की विस्तृत विधि का उल्लेख हुआ है, अर्थात् कौनसे उपधान में कितने दिनों तक कौनसा तप करें तथा किस प्रकार से उपधान से सम्बन्धित सूत्र की वाचना दें - इसका विवेचन किया गया है। प्रसंगवशात् मूलग्रन्थ में मानदेवसूरि विरचित उपधान सम्बन्धी प्रकरण को भी उद्धृत किया गया है। तत्पश्चात् उद्यापनरूप मालारोपणविधि का विवरण प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर इसी उदय में प्रसंगानुसार श्रावक की दिनचर्या का वर्णन किया गया है। रात्रि में दो मुहूर्त शेष रहने पर उपासक को उठ जाना चाहिए। तत्पश्चात् नित्यकर्म से निवृत्त होकर आसन पर बैठकर परमेष्ठीमंत्र का जाप करे, स्तोत्र पाठ युक्त चैत्यवन्दन करे तथा प्रतिक्रमणादि करे। तत्पश्चात् उषाकाल में स्नान करके एवं शुद्ध वस्त्रों को धारण कर परमात्मा की पूजा करे। तदनन्तर मूलग्रन्थ में अर्हत्कल्पानुसार परमात्मपूजा-विधि तथा लघुस्नात्र-विधि का वर्णन हुआ है। तत्पश्चात् श्रावक देवगृह में जाकर स्तोत्र एवं शक्रस्तव आदि द्वारा परमात्मा की स्तुति कर प्रत्याख्यान ग्रहण करे। फिर उपाश्रय में जाकर सुसाधुओं को वन्दना करे तथा धर्मदेशना सुने। तत्पश्चात् गुरु को नमस्कार कर न्यायनीतिपूर्वक धन का अर्जन करे। तत्पश्चात् गृहचैत्य में परमात्मा की पूजा करे तथा साधुओं को आहार वगैरह का दान दे। आगत अतिथियों का भी सत्कार करे तथा दीनों को संतुष्ट करके व्रत एवं कुल के लिए उचित हो - ऐसा आहार करे . . इत्यादि। इस प्रकार श्रावक की दिनचर्या सम्बन्धी विस्तृत चर्चा मूलग्रन्थ में हुई है। स्थानाभाव के कारण उसका हम यहाँ उल्लेख नहीं कर रहे हैं। इससे सम्बन्धित विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर (प्रथम खण्ड) के पन्द्रहवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन -

श्वेताम्बर-परम्परा के अर्द्धमागधी आगमग्रन्थ उपासकदशा में इस संस्कार का आंशिक उल्लेख मिलता है^{४२३}, जैसे - बारह अणुव्रतों का ग्रहण करना, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ धारण करना आदि। किन्तु इस संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों

^{४२३} उपासकदशा, सू.-१/१३-५७, १/७०-७१ सं.-मधुकरमुनि, ब्यावर ।

का उल्लेख हमें वहाँ नहीं मिलता है। वर्धमानसूरि ने^{४२४} इस संस्कार के पूर्व की भूमिका के रूप में यह उल्लेख किया है कि व्रतारोपण कराने वाले निर्ग्रन्थगुरु कैसे हों और जिस व्यक्ति को व्रतारोपण किया जा रहा है, वह किन-किन योग्यता का धारक हो। व्रतारोपण करने योग्य श्रावक २१ गुणों से युक्त होना चाहिए, आचार्य हरिभद्र ने श्रावकधर्मविधिप्रकरण^{४२५} में एवं आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में यही बात कुछ विस्तृत रूप में कही^{४२६} है। दिगम्बर-परम्परा में जिसने समस्त विद्याओं का अध्ययन कर लिया है - ऐसे उस ब्रह्मचारी की व्रतावतरण क्रिया होती है। आशाधर आदि ने इस सम्बन्ध में श्रावकधर्म के अधिकारी के १४ गुणों का भी उल्लेख किया है।^{४२७}

वर्धमानसूरि ने इस संस्कार की क्रियाविधि का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने किन नक्षत्रों में, किस दिन (वार) एवं किस मुहूर्त में यह संस्कार करें, इसका भी उल्लेख किया है, जबकि दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में व्रतावतरण की क्रिया का वर्णन बहुत संक्षिप्त रूप में किया गया है। साथ ही वर्धमानसूरि की भाँति दिगम्बर जैनाचार्यों ने इस बात का भी कोई उल्लेख नहीं किया है, कि यह संस्कार कब और किस मुहूर्त में करना चाहिए। वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार व्रतारोपण की सम्पूर्ण क्रियाविधि का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है, उस प्रकार इसकी क्रिया-विधि का विस्तारपूर्वक उल्लेख दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें देखने को नहीं मिला। आदिपुराण में मात्र इतना उल्लेख अवश्य मिलता है कि ब्रह्मचारी के व्रतारोपण की यह क्रिया निर्ग्रन्थगुरु की साक्षी में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा तथा द्विजों का सत्कार करने के पश्चात् की जाती है। गुरु की आज्ञा से वह ब्रह्मचारी वस्त्र, आभूषण और माला आदि को धारण करता है। यदि वह शास्त्रोपजीवी, अर्थात् क्षत्रिय वर्ग का है, तो वह अपनी आजीविका एवं प्रजा की रक्षा के लिए शस्त्र भी धारण कर सकता है, या केवल शोभा के लिए भी शस्त्र ग्रहण कर सकता है एवं जब तक उसके आगे की क्रिया नहीं होती, तब तक वह काम-परित्याग रूप ब्रह्मव्रत का पालन करता है तथा यावज्जीवन के लिए आठ

^{४२४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-पन्द्रहवाँ, पृ.-४२ से ४३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{४२५} श्रावकधर्मविधिप्रकरण, डॉ. सुरेन्द्र बोधरा, गाथा न.-३ से ११, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण : २००१.

^{४२६} योगशास्त्र, अनु.- विजय केशरसूरिश्वर, अध्याय-द्वितीय प्रकाश, पृ.-६६-१००, मुक्तिचंद्र श्रमण आराधना, गिरिविहार, पालीताणा, छठवीं आवृत्ति।

^{४२७} सागारधर्मामृत, अनु.-आर्या सुपाशर्वमति जी, अध्याय-प्रथम, पृ.-१७, भारत वर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, तृतीय संस्करण, सन् १९६५

मूलगुणों को धारण करता है।^{४२८} दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण नामक ग्रन्थ में व्रतावतरण के सम्बन्ध में मात्र इतना ही उल्लेख मिलता है। उसमें इसकी क्रियाविधि एवं मंत्रों का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

वर्धमानसूरि ने व्रतारोपण-संस्कार में सर्वप्रथम जिस प्रकार सम्यक्त्व ग्रहण करने सम्बन्धी निर्देश दिया है, उस प्रकार का निर्देश दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में वर्णित व्रतावतरण-संस्कार में नहीं दिया गया है। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी सम्यक्त्व ग्रहण करने सम्बन्धी उल्लेख मिलता है, परन्तु जिनसेनाचार्य ने इसे व्रतावतरण में समाहित नहीं किया है। वर्धमानसूरि ने व्रतारोपण-संस्कार में बाईस अभक्ष्यों के त्याग करने का भी निर्देश दिया है। दिगम्बर-परम्परा के व्रतावतरण-संस्कार में इन बाईस अभक्ष्यों में से पाँच उदुम्बर फलों का त्याग करने का उल्लेख मिलता है। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में भी द्विदल और अभक्ष्य सम्बन्धी निर्देश हैं, परन्तु व्रतावतरण-संस्कार में इन पाँचों के त्याग का ही उल्लेख मिलता है।

वर्धमानसूरि ने व्रतारोपण-संस्कार में देशविरतिरूप श्रावक के द्वादश व्रतों का भी विस्तृत उल्लेख किया है, जबकि दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में वर्णित व्रतावतरण-संस्कार में हिंसादि पाँच स्थूल पापों का ही त्याग करने का निर्देश दिया गया है; यद्यपि दिगम्बर-परम्परा के अनेक ग्रन्थों में श्रावक के द्वादश व्रतों का उल्लेख है। सागारधर्माभृत एवं विभिन्न श्रावकाचारों में इन व्रतों का अतिचारसहित विस्तृत विवेचन मिलता है। श्रावक के बारह व्रतों की संख्या के सम्बन्ध में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्पराएँ एकमत हैं। श्रावक के इन बारह व्रतों का विभाजन निम्न रूप में हुआ है - पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। श्वेताम्बर आगम उपासकदशांग में पाँच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। यहाँ गुणव्रतों का शिक्षाव्रतों में ही समावेश कर लिया गया है। पाँच अणुव्रतों के नाम एवं क्रम के सम्बन्ध में भी मतैक्य है, लेकिन तीन गुणव्रतों में नाम की एकरूपता होते हुए भी क्रम में अंतर है। श्वेताम्बर-परम्परा में उपभोग-परिभोगव्रत का क्रम सातवाँ और अनर्थदण्डविरमण-व्रत का क्रम आठवाँ है। दोनों परम्पराओं में महत्वपूर्ण अन्तर शिक्षाव्रतों के सम्बन्ध में है। श्वेताम्बर-परम्परा में शिक्षाव्रतों का क्रम इस प्रकार है - ६. सामायिकव्रत, १०. देशावकाशिकव्रत, ११. पौषधव्रत, १२. अतिथिसंविभागव्रत। लेकिन दिगम्बर-परम्परा के कुछ ग्रन्थों में देशावकाशिक के स्थान पर संलेखना को शिक्षा व्रत के रूप में स्वीकार किया है। उनका क्रम

^{४२८} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनुवादक-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५०, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००

इस प्रकार है। ६. सामायिक, १०. पौषधव्रत, ११. अतिथिसंविभागव्रत और १२. संलेखनाव्रत। दिगम्बर-परम्परा में देशावकाशिक और पौषधव्रत को एक में मिला लिया गया है तथा उस रिक्त संख्या की पूर्ति संलेखना को व्रत में समावेश करके की गई है। इस प्रकार दोनों परम्पराओं में आंशिक मतभेद दृष्टिगत होता है। मुख्यतः वर्धमानसूरि ने इन बारह ही व्रतों को व्रतारोपण-संस्कार में समाहित किया है, जबकि दिगम्बर-परम्परा में व्रतावतरण में हिंसादि पांच पापों के त्याग को ही अन्तर्निहित किया गया है।

वर्धमानसूरि ने व्रतारोपण-संस्कार में प्रतिमा-उद्वहन की विधि का भी उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा में व्रतावतरण में इस विषय को विवेचित नहीं किया है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में भी श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है। यह बात भिन्न है कि उन ग्यारह प्रतिमाओं के सम्बन्ध में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में आंशिक मतभेद हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में श्रावक की निम्न ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है - १. दर्शन २. व्रत ३. सामायिक ४. पौषध ५. प्रतिमा ६. ब्रह्मचर्य ७. सचित्तत्याग ८. आरंभत्याग ९. प्रेष्यत्याग १०. उद्दिष्टत्याग और ११. श्रमणभूता। दिगम्बर-परम्परा में श्रावक की निम्न ग्यारह प्रतिमा बताई गई हैं - १. दर्शन २. व्रत ३. सामायिक ४. पौषध ५. सचित्तत्याग ६. दिवामैथुनत्यागप्रतिमा ७. ब्रह्मचर्यव्रतप्रतिमा ८. आरंभत्याग प्रतिमा ९. परिग्रहत्यागप्रतिमा १०. अनुमत्तित्यागप्रतिमा और ११. उद्दिष्टत्यागप्रतिमा। इस प्रकार दोनों परम्पराओं में प्रतिमा सम्बन्धी धारणा में मतभेद दृष्टिगत होता है। नामों के मतभेद एवं क्रमभेद के साथ इनके विवेचन में भी कुछ मतभेद हैं, जैसे - श्वेताम्बर-परम्परा में सामायिकप्रतिमा के अन्तर्गत प्रायः दोनों समय सामायिक करने का विधान है, वहीं दिगम्बर-परम्परा में इस प्रक्रिया के अन्तर्गत तीनों समय सामायिक करने का निर्देश दिया गया है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में व्रतारोपण-संस्कार की क्रियाविधि में शान्तिक एवं पौष्टिककर्म करने, नंदी के समक्ष सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय के आरोपण करने, बाईस अभक्ष्य आदि का त्याग करवाने एवं परिग्रह का परिमाण करने इत्यादि अनेक क्रियाओं का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। साथ ही इस व्रतारोपणविधि में श्रावक को जिन बारह व्रतों का ग्रहण करवाया जाता है, उन बारह व्रतों का वर्णन, उसके नियम, अतिचार और जिन विकल्पों से व्रतग्रहण किए जाते हैं, उनका वर्णन वर्धमानसूरि ने बहुत विस्तार से किया है। द्वादश व्रतों के ग्रहण की अवधि के सम्बन्ध में उन्होंने मर्यादितकाल या यावज्जीवन - दोनों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार श्रावक की ग्यारह प्रतिमा, उपधान विधि, मालारोपणविधि, श्रावक की दिनचर्या, परमात्मा की पूजाविधि, लघुस्नानविधि, बृहत्

स्नानविधि, नवग्रह एवं क्षेत्रपाल की पूजाविधि आदि का भी बहुत सुन्दर विवेचन इसी व्रतारोपण-संस्कार की विधि में किया गया है। इतना विस्तृत उल्लेख दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में हमें नहीं मिलता है।

श्वेताम्बर-परम्परा के आगमग्रन्थ उपासकदशांग में भी श्रावक द्वारा द्वादश व्रतों को धारण करने, ग्यारह प्रतिमाओं के वहन करने के उल्लेख तो मिलते हैं, परन्तु वर्धमानसूरि ने जिस क्रियाविधि का उल्लेख किया है, उस प्रकार की सम्पूर्ण क्रियाविधि का उल्लेख हमें आगमग्रन्थों में नहीं मिलता है। व्रतारोपण में वर्णित विभिन्न विषयों की विधि का वर्णन श्रीजिनप्रभसूरिकृत “विधिमार्गप्रपा” में भी मिलता है।^{४२६} यह बात भिन्न है कि गुरु-परम्परा के कारण कहीं-कहीं आंशिक भिन्नता है, उसमें भी इसकी विधि विस्तार से मिलती है। दिगम्बर-परम्परा में इतना विशेष है कि व्रतावतरण के समय ग्रहण किए गए अणुव्रतों तथा गुणव्रतों का काल यावज्जीवन होता है, जबकि वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के अनुसार इन व्रतों का काल मासिक, षट्मासिक, वार्षिक तथा यावत् जीवन भी हो सकता है। व्रतग्रहण करने के समय कुछ कर्त्तव्यों का भी निर्देश आचारदिनकर में किया गया है, जैसे - उस दिन साधार्मिक वात्सल्य करे, गुरु महाराज को चतुर्विध आहार आदि दान करे, संघपूजा करे, व्रतग्रहण करने वाला श्रावक उस दिन एकासना या आयम्बिल तप करे, आदि।

वैदिक-परम्परा में वेदव्रतों के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में जो उल्लेख मिलते हैं, उनका विवेचन आचार्य पांडुरंग वामन काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में इस रूप में किया है।^{४३०}

“आश्वलायनस्मृति (पद्य) के अनुसार चार वेदव्रत ये हैं - १. महानाम्नीव्रत २. महाव्रत ३. उपनिषद्-व्रत एवं ४. गोदान। आश्वलायनगृह्यसूत्र के अनुसार व्रतों में चौलकर्म से परिदान तक के सभी कृत्य, जो उपनयन के समय किए जाते हैं, प्रत्येक व्रत के समय दुहराए जाते हैं। शांखायनगृह्यसूत्र के अनुसार पवित्र गायत्री से दीक्षित होने के उपरान्त चार व्रत किए जाते हैं, यथा-शुक्रिय, शाक्वर, व्रातिक और औपनिषद्क। इनमें शुक्रियव्रत तीन या बारह दिन या एक वर्ष तक चलता था तथा अन्य तीन कम से कम वर्ष-वर्ष भर किए जाते थे। अन्तिम तीन व्रतों के आरम्भ में अलग-अलग उपनयन किया जाता था तथा इसके उपरान्त उद्दीक्षणिका नामक कृत्य किया जाता था। उद्दीक्षणिका का

^{४२६} विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, पृ.-१ से १६, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, पुनर्मुद्रण : २०००

^{४३०} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-७, पृ.-२५१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

तात्पर्य है - आरम्भिक व्रतों को छोड़ देना। आरण्यक का अध्ययन गाँव के बाहर वन में किया जाता था। मनु के अनुसार इन चारों व्रतों में प्रत्येक व्रत के आरम्भ में ब्रह्मचारी को नवीन, मृगचर्म, यज्ञोपवीत एवं मेखला धारण करनी पड़ती थी। गोभिल गृह्यसूत्र, जो सामवेद से सम्बन्धित है; गोदानिक, व्रातिक, आदित्य, औपनिषद्, ज्येष्ठसामिक नामक व्रतों का वर्णन करता है, जिनमें प्रत्येक एक वर्ष तक चलता है। गोदानव्रत का सम्बन्ध संभोग, गन्ध, नाच, गान, काजल, मधु, मांस आदि का परित्याग किया जाता है और गाँव में जूता नहीं पहना जाता है। गोभिल के अनुसार मेखलाधारण, भोजन की भिक्षा, दण्ड लेना, प्रतिदिन स्नान, समिधा देना, गुरु के चरणवन्दन करना, आदि क्रियाएँ सभी व्रतों में की जाती हैं। गोदानिकव्रत में सामवेद के पूर्वार्चिक का आरम्भ किया जाता था। व्रातिक से आरण्यक का आरम्भ होता था। इसी प्रकार आदित्य से शुक्रिय का, औपनिषद् से उपनिषद ब्राह्मण एवं ज्येष्ठ-सामिक से आज्य-दोह का आरम्भ किया जाता था।

वर्धमानसूरी ने जिस प्रकार इस संस्कार के अन्त में संस्कार से सम्बन्धित सामग्री का उल्लेख किया है, उस प्रकार का उल्लेख भी श्वेताम्बर आगमों एवं दिग्म्बर-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में प्राचीन ग्रन्थों में तो नहीं, किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख मिल जाते हैं।

उपसंहार -

इस तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् जब हम इस संस्कार की आवश्यकता एवं उपादेयता पर विचार करते हैं, तो यह पाते हैं कि वास्तव में व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए व्रतारोपण-संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। गर्भाधान से लेकर विवाहपर्यन्त तक के सभी संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति अपनी दैहिक आवश्यकताओं एवं सामाजिक-दायित्व की पूर्ति करता है, लेकिन इन सामाजिक-दायित्वों के साथ ही व्यक्ति अपने नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक-दायित्वों से वंचित न हो, इसलिए व्रतारोपण-संस्कार किया जाता है। एक तरह से देखा जाए, तो इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति मात्र अपने धार्मिक-दायित्वों को ही पूरा नहीं करता, बल्कि सामाजिक-दायित्वों की भी पूर्ति करता है, जैसे - अहिंसाव्रत के माध्यम से व्यक्ति दूसरों की हिंसा न करने की प्रतिज्ञा लेकर "जीओ और जीने दो" के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, जिससे समाज में अहिंसा का वातावरण स्थापित होता है। इसी प्रकार परिग्रह-परिमाण-व्रत एवं उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत के माध्यम से व्यक्ति दूसरे के शोषण एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्परिणामों से बच जाता है। इस प्रकार यह संस्कार

व्यक्ति को सामाजिक-दायित्वों के साथ-साथ नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक-दायित्वों एवं कर्तव्यों का निर्वाह करने के लिए भी प्रेरित करता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस संस्कार की प्रासंगिकता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आधुनिक काल में व्यक्ति की जो संग्रहवृत्ति एवं हिंसा की भावनाएँ विकसित हो रही हैं, उनका निराकरण एवं स्वस्थ समाज की स्थापना के साथ ही व्यक्ति के चहुँमुखी विकास के लिए यह संस्कार अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि इसके माध्यम से व्यक्ति न मात्र स्व का कल्याण करता है, वरन् पर का कल्याण करने के लिए भी तत्पर बनता है।

अन्त्य-संस्कार

अन्त्यसंस्कार का स्वरूप -

साधारणतया अन्त्यसंस्कार का तात्पर्य मरण के पश्चात् शव की अन्तिम क्रिया से है। वैदिक-परम्परा में इस शब्द को इसी रूप में स्वीकार किया गया है, परन्तु वर्धमानसूरि ने इस संस्कार को व्यापक अर्थ में लेते हुए मरण से पूर्व की साधना, अर्थात् जीवन की अन्तिम आराधना को भी इस संस्कार में अन्तर्निहित किया है। इस प्रकार वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इस संस्कार के अन्तर्गत मृत्यु से पूर्व की साधना एवं मृत्यु के पश्चात् की क्रियाओं-दोनों को सम्मिलित किया है। दिगम्बर-परम्परा में मृत्यु से पूर्व की साधना के रूप में योगनिर्वाणप्राप्ति एवं योगनिर्वाणसाधना क्रिया का विस्तृत उल्लेख मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों में मृत्योपरान्त की क्रिया का विस्तृत उल्लेख नहीं है, किन्तु भगवती आराधना में इस क्रिया का “विजहणा” के रूप में विस्तृत उल्लेख है। फिर भी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर - दोनों परम्पराओं में इस संस्कार के अन्तर्गत समाधिमरण की साधना और मृतदेह की अन्तिम क्रिया - दोनों ही समाहित हैं।

जब हम इस संस्कार के मूलभूत प्रयोजन के संदर्भ में विचार करते हैं, तो यह पाते हैं कि इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करता है। सामान्यतः यह देखा जाता है कि व्यक्ति यह जानते हुए भी कि “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः”, अर्थात् जन्म लेने वालों की मृत्यु सुनिश्चित है, व्यक्ति मृत्यु से भयभीत रहता है और जीवन में अनासक्त दृष्टि का विकास नहीं कर पाता है। सामान्यतया शरीर के प्रति आसक्ति के कारण व्यक्ति मृत्यु से बचने का प्रयत्न करता है, या उससे दूर भागता है, लेकिन इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति को जीवन एवं शरीर की अनित्यता का भास करवाया जाता है तथा उसे

मृत्यु के भय से मुक्त कर आत्मसाधना के लिये प्रेरित किया जाता है, जिससे व्यक्ति मृत्यु आने पर भी भयाक्रान्त नहीं होकर, समभावपूर्वक उसका स्वागत करे। जैन-चिन्तन में मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति है। इस हेतु साधना का आश्रय लेना आवश्यक है। इस संस्कार के माध्यम से साधक को तप आदि विविध प्रकार की साधना करवाई जाती है, जिससे वह अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में सजग एवं अनासक्त रहे तथा अपने पापों की आलोचना कर आत्मसाधना में संलग्न हो अपने देह का विसर्जन करे। इस प्रकार जैन परम्परा में इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन व्यक्ति को आत्मोन्मुखी करना था, न कि मात्र मृतदेह की अन्तिम क्रिया। ज्ञातव्य है कि वैदिक-परम्परा में व्यक्ति के इस संसार से प्रस्थान करने पर उसके भावी जीवन के सुख या कल्याण के प्रयोजन से अन्त्येष्टि (अन्त्य) संस्कार किया जाता है, क्योंकि हिन्दू-परम्परा में इस लोक की अपेक्षा परलोक को अधिक महत्व दिया गया है।

वर्धमानसूरि के अनुसार जीवन-दीप के बुझने की स्थिति में, अर्थात् मृत्यु की सन्निकटता को जानकर यह संस्कार विधि-विधानपूर्वक करवाया जाता है। श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर-परम्परा के साहित्य में मृत्यु की सन्निकटता को जानने के अनेक उपाय भी बताए गए हैं, जिसका वर्णन हम यथास्थान करेंगे। वैदिक-परम्परा में भी कुछ ग्रन्थकारों ने इसे संस्कार के रूप में स्वीकार किया है। गौतम आदि कुछ गृह्यसूत्रों में इसे संस्कार के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु जातूकर्ण्य में इसे संस्कार के रूप में विवेचित किया गया है।^{४३१}

इस प्रकार वैदिक-परम्परा में इस सम्बन्ध में आशिक मतभेद दृष्टिगत होता है।

संस्कारकर्ता -

वर्धमानसूरि के अनुसार इस संस्कार में समाधिमरण सम्बन्धी आराधना निर्ग्रन्थ यति तथा देह की अन्त्येष्टि की क्रिया श्रावक या जैन ब्राह्मण द्वारा की जाती है। दिग्म्बर-परम्परा में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु भगवतीआराधना के अनुसार समाधिमरण की साधना मुनि या आचार्य द्वारा करवाई जाती है और देह-विसर्जन की क्रिया श्रावकवर्ग करता है। मुनि के कालधर्म (स्वर्गवास) होने पर कुछ क्रियाएँ मुनिगण एवं कुछ क्रियाएँ श्रावकवर्ग करता है, यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार मुनि के मृत देह की विजहना या

^{४३१} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास, पांडुरंग वामन काणे (प्रथम भाग), अध्याय-६, पृ.-१७८, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०

विसर्जन भी मुनि ही करते हैं। वे उसे योग्य स्थल पर छोड़ आते हैं। आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्नविधि प्रस्तुत की है -

अन्त्यसंस्कार की विधि -

उपासक को श्रावकों की आचारविधि के अनुसार व्रतों का पालन करते हुए जीवन का अन्तिम समय आने पर श्रेष्ठ संलेखनाव्रत की आराधना करनी चाहिए। परमात्मा के कल्याण के स्थानों पर, या वन में, या अन्यत्र योग्य स्थान पर आमरण अनशन करना चाहिए। उस समय गुरु भी उस शुभस्थान पर जाकर ग्लान को मृत्युपर्यन्त आराधना कराए।

अवश्यम्भावी मृत्यु के निकट आने पर आराधक को सम्यक्त्व आरोपण के समय की जाने वाली नंदीक्रिया कराए, किन्तु सम्यक्त्वारोपण के स्थान पर “संलेहणा आराहणा” शब्द का उच्चारण करे। तत्पश्चात् वैयावृत्यकरदेवता के आराधनार्थ कायोत्सर्ग एवं स्तुति के बाद आराधनादेवता का कायोत्सर्ग कर उनकी स्तुति बोले। तत्पश्चात् गुरु पूर्वोक्त विधि के अनुसार सम्यक्त्वदण्डक एवं द्वादश व्रतों का उच्चारण कराए। सम्पूर्ण क्रिया पूर्व की भाँति ही करे, किन्तु उसमें “संलेहणा आराहणा” शब्द का उच्चारण करे तथा नियमों को ग्रहण करवाते समय ‘यावत् नियम पर्यन्त’ के स्थान पर ‘यावत् जीवन्त पर्यन्त’ कहे। तत्पश्चात् विधिपूर्वक सर्वजीवों से क्षमायाचना करे। तत्पश्चात् आराधक सुकृत की अनुमोदना तथा दुष्कृत की आलोचना करता है। यदि पहले सम्यक्त्वव्रत का आरोपण किया हुआ हो, तो भी पुनः इस क्रिया के अन्त में सम्यक्त्वव्रतपूर्वक बारह व्रतों का आरोपण करे। जिसने पूर्व में श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण किया हुआ हो, उसे पहले उनके १२४ अतिचारों की आलोचना कराए। तत्पश्चात् गुरु एवं संघ किस प्रकार से ग्लान के सिर पर वासक्षेप डाले, पुनः आराधक किस प्रकार से क्षमा याचना करे - इसका मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है।

तदनन्तर मृत्यु के निकट आने पर ग्लान से सुकृत में वित्त का विनियोग करवाए तथा ज्ञात-अज्ञात दुष्कृत्यों के लिए आलोचना करवाए। तत्पश्चात् नमस्कारमंत्रपूर्वक ग्लान चार मंगलों की शरण स्वीकार करे तथा अठारह पापस्थानकों का तीन योग एवं तीन करण से जीवनपर्यन्त के लिए त्याग करे। तदनन्तर गुरु योगशास्त्र के पंचम प्रकाश का और कालप्रदीप आदि का वांचन करे तथा ग्लान की आयु क्षीण होती जानकर संघ आदि की अनुमति से आराधक को यावज्जीवन हेतु अनशन का उच्चारण कराए। फिर अन्तिम समय में आगाररहित अनशन ग्रहण कराए। गुरु एवं संघ किस प्रकार से उसे वासक्षेप प्रदान करे, अन्तिम समय में गुरु ग्लान को किन-किन विषयों का व्याख्यान करे - इसका भी

उल्लेख मूलग्रन्थ में हुआ है। तत्पश्चात् अन्त समय में साधक सम्पूर्ण आहार, सम्पूर्ण देह एवं सम्पूर्ण उपधि का त्याग कर परमेष्ठीमंत्र के स्मरणपूर्वक देह का त्याग करे। यह अनशन की विधि है।

तदनन्तर मृतदेह-विसर्जन की विधि बताई गई है। शिखा को छोड़कर ब्राह्मण के सम्पूर्ण सिर एवं दाढ़ी का मुण्डन करवाना चाहिए - इसका उल्लेख करते हुए वर्ण, जाति के अनुसार शव-संस्कार की विधि करने के लिए कहा गया है। तत्पश्चात् मृतदेह को किस प्रकार से स्नान कराकर उसे शृंगारों से विभूषित करें, किस प्रकार से काष्ठ की शय्या बनाएं तथा गृहस्थ की मृत्यु पंचक में होने पर उससे उत्पन्न दोष के निवारणार्थ किस प्रकार से कुशपुत्र बनाएं - इसका भी इसमें उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् स्वजाति के चार व्यक्तियोंसहित शव को श्मशान में ले जाएं तथा चिता में स्थापित कर पुत्र अग्नि-संस्कार करे। तत्पश्चात् प्रेत सम्बन्धी दान को ग्रहण करने वाले को दान दें तथा सब स्नान करें और उसी मार्ग से अपने घर आ जाएं। तत्पश्चात् उसकी भस्म एवं अस्थियों को कितने समय के बाद मृतक का पुत्र नदी में बहाए, परिवारजन शोक का निवारण किस प्रकार से करें तथा किस प्रकार से जिनचैत्य एवं उपाश्रय में जाएं आदि विवरण भी मूलग्रन्थ में दिया गया है। प्रसंगवशात् अंत में मृतक-स्नान में वर्जित नक्षत्रों का भी उल्लेख हुआ है। इसके साथ ही वर्धमानसूरि ने इस विभाग में जन्म एवं मरण सम्बन्धी सूक्त पर भी विचार किया है।

एतदर्थ विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के प्रथमखण्ड के सोलहवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन -

वर्धमानसूरि ने अपने ग्रन्थ आचारदिनकर में अन्त्यसंस्कार के अन्तर्गत व्यक्ति की मृत्यु से पूर्व की आराधनाविधि एवं मृत्योपरान्त शरीर के विसर्जन सम्बन्धी विधि का विवेचन बहुत विस्तार से किया है। श्वेताम्बर-परम्परा के अर्द्धमागधी आगमग्रन्थ उपासकदशा में इस संस्कार का उल्लेख मिलता है, किन्तु इस संस्कार के विधि-विधान का हमें वहाँ उल्लेख नहीं मिलता है।^{४३२}

वर्धमानसूरि के अनुसार अन्त्यसंस्कार में मृत्यु से पूर्व संलेखनाव्रत की आराधना करवाई जाती है। वैदिक-परम्परा में इस प्रकार की क्रियाविधि का उल्लेख नहीं मिलता।

^{४३२} उपासकदशा, सूत्र - १/८६, सं.-मधुकरमुनि, ब्यावर

श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर-आगमग्रन्थों में गृहस्थ और मुनि - दोनों द्वारा संलेखना धारण करने सम्बन्धी विधि के उल्लेख मिलते हैं। वर्धमानसूरि ने भी संलेखनाव्रत को किस विधि से धारण करें - इसका विस्तृत वर्णन किया है। इस विधि के लिए वर्धमानसूरि ने किसी निश्चित नक्षत्र, तिथि, मुहूर्त आदि के सम्बन्ध में निर्देश नहीं दिया है, क्योंकि मृत्यु अवश्यम्भावी होकर भी अनियत है, वह कब आ जाए, किसी को पता नहीं है।

वर्धमानसूरि ने सर्वप्रथम इस संस्कार के स्थान के बारे में निर्देश दिया है, कि मुनि या गृहस्थ तीर्थकर परमात्मा के जन्म आदि कल्याणकों के स्थान पर, या वन में, या पर्वत पर जीवजन्तु से रहित विशुद्ध बंजर भूमि पर या अपने घर में योग्य स्थान पर आमरण अनशन विधिपूर्वक ग्रहण करे।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{४३३} इस संस्कार में नंदीक्रिया एवं संलेखना-आराधनाविधि की जाती है। संलेखना-आराधनाविधि के अनुसार सर्वप्रथम सम्यक्चदण्डक एवं द्वादश व्रतों का पुनर्प्रत्याख्यान (उच्चारण) करवाया जाता है, परन्तु इस संस्कार में नियमों को ग्रहण कराते समय “यावत् नियम पर्यन्त” के स्थान पर “यावत् जीवन पर्यन्त” का उच्चारण कराया जाता है। साधक सब जीवों से क्षमायाचना करता है एवं सर्वजीवों को क्षमा प्रदान करता है। साथ ही सुकृत की अनुमोदना करता है एवं दुष्कृत की आलोचना करता है। सर्वप्रथम मृत्यु को निकट जानकर श्रावक अपने पुत्रादि से धार्मिक अनुष्ठान कराता है। यथा- मंदिरों में पूजा, स्नान, ध्वजारोहण आदि। साथ ही वह साधक सर्वप्रथम चार शरण स्वीकार करके तथा अठारह पापस्थानक का त्याग करके यावज्जीवन हेतु अनशनव्रत को स्वीकार करता है। अन्त में पंचपरमेष्ठीमंत्र के स्मरण एवं श्रवण पूर्वक शरीर का त्याग करता है। वैदिक-परम्परा में ये सब विधि-विधान देखने को नहीं मिलते। पूर्ववर्ती वैदिक-साहित्य में मृत्यु के बाद की क्रियाओं का ही उल्लेख मिलता है। मृत्यु के पूर्व अनुसृत प्रथाओं तथा क्रियाओं का विशद विवरण तो हिन्दू धर्मशास्त्रों में नहीं दिया गया है,^{४३४} परन्तु कहीं-कहीं इससे सम्बन्धित उल्लेख मिलते हैं। यथा - “जब एक हिन्दू यह अनुभव करता है कि उसकी मृत्यु समीप आ गई है, तो वह अपने सम्बन्धियों और मित्रों को निमन्त्रित करता है और उनसे मित्रता से बातचीत करता है। साथ ही अपने भावी कल्याण के लिए

^{४३३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-सोहलवाँ, पृ.-६६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे सन् १९२२

^{४३४} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दशम, पृ.-३११, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण : १९६५

वह ब्राह्मणों तथा निर्धनों को दान देता है”^{४३५}, परन्तु वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार “मिती से सब्भूएसु” के सिद्धान्त के आधार पर साधक को प्राणीमात्र से क्षमायाचना करने का निर्देश दिया है, उस प्रकार का निर्देश वैदिक-परम्परा में नहीं मिलता।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{४३६} मृत्यु होने पर तीर्थसंस्कार (अग्निसंस्कार) किया जाता है। इसका उल्लेख करते हुए वर्धमानसूरि ने चारों वर्णों की क्रियाविधि का उल्लेख किया है, जैसे - ब्राह्मणों को सम्पूर्ण सिर एवं दाढ़ी का मुण्डन कराना चाहिए। कुछ लोगों के अनुसार क्षत्रिय एवं वैश्यों को भी ऐसा कराने का विधान है। शूद्र को मुण्डन कराने का निषेध किया है। वैदिक-परम्परा में शान्तिकर्म के अन्तर्गत क्षौरकर्म करवाने का उल्लेख मिलता है, जो अग्निसंस्कार के पश्चात् किया जाता है।^{४३७}

वर्धमानसूरि ने शव की संस्कारविधि अपने वर्ण एवं जाति के अनुसार करने का निर्देश दिया है। वर्धमानसूरि के अनुसार शव को सुगंधित द्रव्यों से स्नान कराया जाता है, गन्ध एवं कुंकुम आदि का विलेपन किया जाता है, वस्त्र धारण कराए जाते हैं, आदि।

वर्धमानसूरि ने अर्थी किस प्रकार से बनाएं तथा पंचक में मृत्यु होने पर कुशपुत्र कैसे बनाएं तथा उन्हें कैसे रखकर शव का अग्निसंस्कार करें - इसका भी उल्लेख किया है, साथ ही अन्न का भोजन न करने वाले बालक का भूमिसंस्कार करने का निर्देश दिया है। वैदिक-परम्परा के कतिपय आचार्यों के अनुसार शव वयोवृद्ध दासों द्वारा ले जाया जाना चाहिए^{४३८}, जबकि अन्य आचार्यों के अनुसार दो बैलों द्वारा ढोए जाने वाली गाड़ी पर लादकर ले जाना चाहिए। इसी प्रकार ब्राह्मण का शव ढोने के लिए शूद्र का उपयोग करने का भी निषेध किया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वर्धमानसूरि ने अर्थी का वहन स्वजातिजनों द्वारा करने का निर्देश किया है।

^{४३५} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दशम, पृ.-३११, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

^{४३६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-सोलहवाँ, पृ.-७०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{४३७} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दशम, पृ.-३३०, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

^{४३८} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दशम, पृ.-३१३-३१४, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

वर्धमानसूरि ने अग्निसंस्कार के पश्चात् चिता की भस्म एवं अस्थियों का विसर्जन एवं शोक का निवारण किस प्रकार करें - इसका भी उल्लेख किया है, साथ ही उन्होंने मृतक के स्नान कराने के समय किन-किन नक्षत्रों का त्याग करें तथा किन-किन वारों में प्रेत सम्बन्धी क्रिया करें - इसका भी उल्लेख किया है। वैदिक-परम्परा में भी चिता की भस्म एवं अस्थियों के विसर्जन का उल्लेख मिलता है, परन्तु पूर्ववर्ती वैदिक-ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कुछ अलग ही उल्लेख मिलते हैं। भस्म पर दूध और जल का सेचन करके अस्थियों को उदुम्बर वृक्ष या गूलर के डण्डे से भस्म से पृथक् किया जाता था तथा उस समय मंत्रोच्चारण किए जाते थे। भस्म को एकत्रित करके दक्षिण दिशा में फेंक दिया जाता था तथा अस्थियाँ विधि-विधानपूर्वक जल या गड़्ढे में डाल दी जाती थीं।^{४३६}

दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में गृहस्थ के अन्त्यसंस्कार सम्बन्धी उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु दिगम्बर-परम्परा के अन्य ग्रन्थों जैसे भगवतीआराधना आदि में गृहस्थ के अन्तिम समय की आराधना का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार सागारधर्माभृत में भी श्रावक के अन्तिम समय की आराधनारूप संलेखना का वर्णन बहुत विस्तार से मिलता है। वर्धमानसूरि की भाँति ही इसमें आशाधर जी ने संलेखना ग्रहण करने के लिए स्थान कैसा हो, वहाँ किस प्रकार क्रमशः कषायों एवं आहार का त्याग करते हुए शरीर का त्याग करें, आदि का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में कुछ विशेष उल्लेख मिलते हैं, जैसे - श्रावक को समाधिमरण के लिए शरीर को क्रमशः कृश करना चाहिए, क्योंकि अन्न से पुष्ट और वात, पित्त, कफादि के दोषों से ग्रस्त शरीर समाधिमरण में सहायक नहीं होता है, इसलिए समाधिमरण की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम शास्त्रोक्तविधि से काय और कषायों को कृश करना चाहिए तथा जठराशय के संचित मल को योग्य विरेचन आदि द्वारा शुद्ध करना चाहिए। यद्यपि वर्धमानसूरि ने भी कषायों को कृश करने के लिए मैत्रीभावना से आत्मा को भावित करने को कहा है, परन्तु जिस प्रकार दिगम्बर-परम्परा में जठराशय के मल को अपेक्षित विरेचन आदि द्वारा शुद्ध करने का निर्देश दिया है, उस प्रकार का निर्देश आचारदिनकर में नहीं मिलता। आदिपुराण में दो प्रकार की मृत्यु का उल्लेख है - शरीरमरण, अर्थात् आयु के अन्त में शरीरत्याग और संस्कारमरण, अर्थात् व्रती पुरुषों द्वारा पापों का परित्याग। शरीरमरण में ही अन्त्येष्टि संस्कार की व्यवस्था दी गई है। शरीर की अन्त्येष्टि के भी अनेक रूप हैं, जैसे - अग्निदाह, शव को जमीन में गाड़ना, जल में प्रवाहित करना, अथवा पशु-पक्षियों

^{४३६} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दशम, पृ.-३२८, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण : १९६५

को खाने के लिए खुले स्थान में छोड़ना, परन्तु वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार से मृत्यु के पश्चात् की क्रियाओं का उल्लेख किया है, वैसा उल्लेख हमारी जानकारी के अनुसार दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में नहीं मिलता।

वैदिक-परम्परा में अन्त्येष्टि-संस्कार का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। वैदिक-परम्परा के अनुसार ऐसे कितने ही कृत्यों को उल्लेख किया है, जो जैन-परम्परा में देखने को नहीं मिलते, जैसे - अनुस्तरणीक्रिया के माध्यम से गाय या बकरे की बली देना, या उसका दान देना, उदककर्म करना, शान्तिकर्म करना, पिण्डदान देना आदि।^{४४०}

वर्धमानसूरि ने मृत्यु के पश्चात् कितने दिन का सूतक हो, गर्भपात में कितने दिन का सूतक हो, बालक का कितने दिन का सूतक हो - इसका भी उल्लेख किया है।^{४४१} वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में भी अशौच सम्बन्धी उल्लेख बहुत विस्तार से मिलते हैं। उसमें अशौच का काल, मृतक की जाति, आयु और लिंगभेद के अनुसार बताया गया है। गृह्यसूत्रों के अनुसार अशौच की साधारण अवधि दस दिन की है, परन्तु वैश्यों एवं शूद्रों के लिए अशौच की अवधि क्रमशः पन्द्रह दिन और एक मास है।^{४४२} परवर्ती स्मृतियों के अनुसार विशिष्ट परिस्थितियों में अशौच से पूर्णतः मुक्त भी हुआ जा सकता है। दो वर्ष से कम आयु के शिशु के लिए मात्र उसके माता-पिता को ही एक या तीन रात्रि का अशौच लगता है। इस प्रकार के अन्य मत भी मिलते हैं, जिनका वर्णन स्थानाभाव के कारण यहाँ कर पाना संभव नहीं है। दिगम्बर-परम्परा में पं. नाथूलाल शास्त्री ने जैन-संस्कार-विधि में मृत्यु के समय एवं मृत्यु के बाद की जाने वाली क्रियाओं का संक्षिप्त रूप में उल्लेख करते हुए सूतक सम्बन्धी विचारों को भी प्रस्तुत किया है।

वर्धमानसूरि ने अपने-अपने वर्ण के अनुसार सूतक के अन्त में कल्याणरूप परमात्मा की स्नात्रपूजा एवं साधर्मिकवात्सल्य करने का निर्देश दिया है। वैदिक-परम्परा में परमात्मा की पूजा करने सम्बन्धी उल्लेख तो नहीं मिलते हैं, किन्तु ब्राह्मणभोज का उल्लेख अवश्य मिलता है। वैदिक-परम्परा में इसी संस्कार

^{४४०} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दशम, पृ.-३१५-३३४, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

^{४४१} आधारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत (प्रथम विभाग), उदय-सोलहवाँ, पृ.-७०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, सन् १९२२

^{४४२} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दशम, पृ.-३२५, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

के अन्तर्गत परिव्राजक एवं संन्यासियों के अन्तिमसंस्कार का भी उल्लेख है।^{४४३} संन्यासियों का अन्तिमसंस्कार अनेक रूपों में होता है, जैसे - १. अग्निसंस्कार २. भूमि में गाढ़ना ३. नदी के जल में प्रवाहित करना और ४. पशु-पक्षियों के भक्षण हेतु जंगल में छोड़ देना, आदि। ज्ञातव्य है कि जैन-परम्परा में भी प्राचीनकाल में मुनि की मृतदेह की अन्तिम क्रिया मुनियों द्वारा शव जंगल में रखकर ही की जाती थी, किन्तु वर्तमानकाल में श्रावकों द्वारा उनका दाह-संस्कार किया जाता है।

इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं में अपनी-अपनी परम्पराओं की विधि के अनुरूप अन्त्यसंस्कार करने का उल्लेख मिलता है।

उपसंहार -

इस तुलनात्मक विवेचन करने के उपरान्त जब हम इस संस्कार की आवश्यकता एवं उपादेयता का आंकलन करते हैं, तो हम पाते हैं कि मृत्यु के पूर्व प्राणी को साधना के माध्यम से देह के प्रति निर्ममत्व का भाव जाग्रत कराया जा सकता है, ताकि वह मृत्यु से भयभीत या दुःखी न होकर शान्तभाव से शरीर का त्याग कर सके। सामान्यतः मृत्यु के अन्तिम क्षणों में भी जीव मोह से ऊपर नहीं उठ पाता और अपने स्वजनों, मित्र, परिवार आदि का और अपनी धन सम्पत्ति का ही चिन्तन-मनन करता रहता है। अनासक्त भाव का विचार भी उसके मन में उत्पन्न नहीं होता। मोह से परिवृत्त जीव संसार का चिन्तन-मनन करते हुए ही परलोकगमन कर जाता है। जैन-परम्परा की यह मान्यता है कि यदि अन्तिम क्षणों में जीव के अध्यवसाय शुभ हों, तो वह अपने आगामी भव को सुधार सकता है। प्रायश्चित्त ऐसी अग्नि है जो पापकर्मों का नाश करने में समर्थ है। इस संस्कार के माध्यम से साधक को पूर्वकृत पापों की आलोचना एवं सुकृत की अनुमोदना करवाई जाती है तथा अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन करवाया जाता है, जिससे साधक अन्तिम क्षणों में धर्मसाधना में जुट जाता है तथा परमात्मा के स्मरणपूर्वक ही देह का विसर्जन कर अपना आत्मकल्याण करता है।

मृत्यु के बाद व्यक्ति की सनाथता का आख्यापन करने के लिए अग्निसंस्कार की क्रिया की जाती है, जिसे वर्धमानसूरि ने भी स्वीकार किया है।



^{४४३} हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, अध्याय-दशम, पृ.-३४१, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पांचवाँ संस्करण : १९६५

अध्याय-५

आचारदिनकर में वर्णित मुनि-जीवन के संस्कार

इस अध्याय में आचारदिनकर में वर्णित मुनि-जीवन के संस्कारों का विवेचन किया गया है। इसके साथ ही मुनि-जीवन के इन षोडश संस्कारों का वैदिक एवं दिगम्बर-परम्परा में वर्णित संस्कारों के साथ तुलना एवं समीक्षा की गई है।

आचारदिनकर में वर्णित मुनि-जीवन के इन षोडश संस्कारों में से कुछ संस्कारों की चर्चा दिगम्बर-परम्परा में तो मिलती है, किन्तु वैदिक-परम्परा में प्रायः हमें इन संस्कारों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। हाँ, वैदिक-परम्परा में वर्णित वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम को आचारदिनकर में वर्णित क्षुल्लकसंस्कार एवं प्रव्रज्यासंस्कार के समतुल्य माना जा सकता है, किन्तु उन्हें भी पूर्णरूपेण उनके सदृश नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनके आचार में भिन्नता होने के कारण इसमें भेद पाया जाता है।

आदिपुराण में हमें आचारदिनकर की भाँति ब्रह्मचर्यव्रत-विधि, क्षुल्लकविधि, योगोद्धहनविधि, वाचनाग्रहणविधि, उपाध्यायपदस्थापन-विधि, साध्वी को दीक्षा प्रदान करने की विधि, प्रवर्तिनी एवं महत्तरापदस्थापन की विधि, अहोरात्रि की चर्याविधि एवं ऋतुचर्याविधि का उल्लेख नहीं मिलता है, अर्थात् वहाँ इन विधि-विधानों को संस्कारों की श्रेणी में नहीं रखा गया है; फिर भी दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में इनसे सम्बन्धित यत्किञ्चित् जानकारी अवश्य मिलती है और उन्हीं ग्रन्थों का आधार लेकर हमने आचारदिनकर में वर्णित मुनि-जीवन के षोडश संस्कारों की दिगम्बर-परम्परा से तुलना की है।

आदिपुराण में स्पष्ट रूप से आचारदिनकर में वर्णित मुनि-जीवन के षोडश संस्कारों में से जिन संस्कारों की चर्चा हुई, वे हैं- प्रव्रज्याविधि

(दीक्षाद्यविधि), उपस्थापनाविधि (जिनरूपताक्रिया), वाचनानुज्ञाविधि (गणोपग्रहणविधि), आचार्यपद स्थापन-विधि (स्वगुरुस्थानावाप्ति-क्रिया), अंतिमसंलेखना-विधि (योगनिर्वाणसंप्राप्ति-क्रिया एवं योगनिर्वाणसाधन-क्रिया)।

यह तो इस अध्याय की विषयवस्तु की सामान्य झलक है, इसका विस्तृत विवरण हम अग्रिम पृष्ठों में करेंगे।

ब्रह्मचर्यव्रत-संस्कार

ब्रह्मचर्यव्रत-संस्कार का स्वरूप-

ब्रह्मचर्य शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- ब्रह्म+चर्य ब्रह्म का अर्थ है- आत्मा या परमतत्त्व तथा चर्य का अर्थ है-रमण करना; अतः आत्मा में रमण करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। व्यक्ति अपनी आत्मा में रमण तभी कर सकता है, जब उसका मन बाह्य पौद्गलिक वस्तुओं से विरक्त हो, क्योंकि उसके अभाव में व्यक्ति का मन पुनः-पुनः स्वचेतना से हटकर बाह्य पौद्गलिक वस्तुओं की तरफ दौड़ लगाता है। विद्वानों ने ब्रह्मचर्य शब्द का तात्पर्य मैथुन से विरक्ति भी माना है। यहाँ ग्रन्थकार ने इसी अर्थ में इस संस्कार को व्याख्यायित किया है। दिगम्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में भी ब्रह्मचर्यव्रत को स्वीकृत तो किया गया है, किन्तु इसे संस्कार के रूप में नहीं माना है, जबकि वर्धमानसूरि ने इसे संस्कार के रूप में माना है।

वर्धमानसूरि के अनुसार इस संस्कार का प्रयोजन क्षुल्लकत्व की प्राप्ति से पूर्व की भूमिका का निर्वाह करना है, अर्थात् क्षुल्लकत्व प्राप्त करने से पूर्व उसे इस संस्कार के माध्यम से प्रशिक्षित किया जाता है, क्योंकि यति आचार का पालन करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है और उसमें भी सर्वाधिक दुष्कार कार्य ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना है; ^{४४४} अतः इस संस्कार के माध्यम से उसका प्रशिक्षण एवं परीक्षण किया जाता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार कब किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में हमें कोई निर्देश नहीं मिलते हैं, क्योंकि जैन-परम्परा में प्रायः ब्रह्मचर्यव्रत को ग्रहण करने के लिए किसी आयु विशेष का निर्देश नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में ब्रह्मचारियों के अनेक प्रकार बताए हैं, ^{४४५} किन्तु आयु के सम्बन्ध में वहाँ भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में प्रथम, तृतीय

^{४४४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सत्रहवाँ, पृ.-७१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४४५} सागरधर्माभूत, अनु.- आर्यिका सुपाश्वर्मतिजी, अध्याय-सातवाँ, पृ.-३७६, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, तृतीय संस्करण १९६५.

एवं चतुर्थ आश्रम में इस व्रत का ग्रहण किया जाता है, इस अपेक्षा से वह जीवन के तीन भागों में इस व्रत को ग्रहण करता है। वैदिक-परम्परा में भी उपकुर्वाण और नैष्टिक ब्रह्मचारी के रूप में ब्रह्मचारी के दो प्रकारों की चर्चा मिलती है।^{४४६}

संस्कार का कर्ता-

आचारदिनकर ग्रन्थ के अनुसार यह संस्कार यतिगुरु द्वारा करवाया जाता है।^{४४७} दिगम्बर-परम्परा में भी ब्रह्मचर्यव्रत का ग्रहण सामान्यतः मुनि या भट्टारक द्वारा ही करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में ब्रह्मचर्यव्रत का ग्रहण किसके द्वारा करवाया जाता है, इसका कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इस संस्कार की निम्न विधि प्रस्तुत की है-

ब्रह्मचर्यव्रत-ग्रहण-विधि

इस विधि में सर्वप्रथम वर्धमानसूरि ने यति-आचार की दुष्करता का कथन किया है। तत्पश्चात् सभी व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत को अत्यन्त दुष्कर बताते हुए कहा गया है कि जिस तरह इन्द्रियों में रसनेन्द्रिय, कर्माँ में मोहनीयकर्म एवं गुप्ति में मनगुप्ति अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत को पालना दुष्कर कहा गया है। तदनन्तर ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करने वालों की प्रशंसा की गई है। इसके बाद ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने का अधिकारी कौन हो सकता है, यह बताया गया है। तत्पश्चात् यह बताया गया है, कि ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करने का इच्छुक श्रावक सर्वप्रथम शान्तिक-पौष्टिक कर्म, गुरुपूजा एवं संघपूजा करे। तदनन्तर प्रव्रज्या के समान उपर्युक्त मुहूर्त के आने पर मुण्डित सिर एवं शिखासूत्र को धारण किए हुए वह श्रावक महोत्सवपूर्वक गुणों से युक्त यतिगुरु के पास जाए। तदन्तर गुरु नदीपूर्वक उसे सम्यक्त्व एवं देशविरति सामायिक का आरोपण कराए। फिर गुरु श्रावक को तीन बार नमस्कार मंत्र का उच्चारण करवा कर उसे दो करण तीन योग से सामायिक व्रत का तथा मैथुनत्यागव्रत का ग्रहण करवाए। तदनन्तर “संसार-सागर से पार होओ ” यह कहकर गुरु उसे वासक्षेप दे तथा संघ उसे बधाए। तत्पश्चात् गुरु ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य को नव वाडों सहित पालन करने का उपदेश दे। इसके साथ ही गुरु ब्रह्मचारी को मौनपूर्वक दोनों समय आवश्यक क्रिया करने तथा तीन वर्ष तक त्रिकाल परमात्मा की पूजा करने का

^{४४६} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पांडुरंग वामन काणे, अध्याय- सातवाँ, पृ.-२५२ उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{४४७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सत्रहवाँ, पृ.-७१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

उपदेश भी दे। इस व्रत में प्रायः सचित्त का सम्पूर्ण रूप से त्याग नहीं होता है, केवल ब्रह्मचर्यव्रत का धारण किया जाता है। कथन उपदेश देने के बाद गुरु ब्रह्मचारी को वासक्षेप प्रदान करे। तदनन्तर शिखासूत्र आदि को धारण करते हुए मौन एवं शुभध्यान में निमग्न वह ब्रह्मचारी तीन वर्ष तक विचरण करे। तीन वर्ष तक शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करने पर ही वह क्षुल्लकत्व के योग्य होता है, अन्यथा नहीं। इससे सम्बन्धित विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के द्वितीय भाग में सत्रहवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

यहाँ सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करने की काल की अपेक्षा से दो कोटियाँ हैं। (१) नियतकाल के लिए एवं (२) जीवनपर्यन्त के लिए। नियतकाल के लिए जो ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया जाता है, वह एक अवधि विशेष के लिए ही होता है। सामान्यतः इस प्रकार का व्रत गृहस्थों द्वारा ग्रहण किया जाता है। जैसे अध्ययनकाल की अवधि में, अथवा उपनयन के समय बालक को ब्रह्मचारी बनाया जाता है तथा अध्ययनकाल पूर्ण होने पर उस व्रत का विर्सजन करा दिया जाता है। इस प्रकार एक अवधि विशेष के लिए गृहीत ब्रह्मचर्यव्रत का उस अवधि के पूर्ण होने पर स्वतः ही विसर्जन हो जाता है।

दूसरा, जीवनपर्यन्त हेतु गृहीत ब्रह्मचर्यव्रत जीवन के अन्तिम क्षण तक के लिए होता है। सामान्यतः इस प्रकार का व्रत जैन-परम्परा में निरग्रन्थ मुनियों तथा वैदिक-परम्परा में संन्यासी द्वारा ग्रहण किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में ब्रह्मचारी के जो पाँच प्रकार बताए हैं;^{४४८} उपनयन, अवलम्ब, अदीक्षा, गूढ, और नैष्ठिक- इन पाँच भेदों में से नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी जीवनपर्यन्त हेतु इस व्रत का ग्रहण करता है। इसी प्रकार वैदिक-परम्परा में नैष्ठिक ब्रह्मचारी द्वारा गृहीत ब्रह्मचर्यव्रत यावत् जीवन हेतु होता है।^{४४९}

इस प्रकार विभिन्न अवसरों या क्रियाओं के प्रसंग में ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि के सम्बन्ध में विभिन्न मत मिलते हैं, विस्तार के भय से उन सबका यहाँ विवेचन करना सम्भव नहीं है।

^{४४८} सागरधर्मावृत, अनु.-आर्यिका सुपाश्वर्ममति जी, अध्याय-सातवाँ, पृ.-३७६, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, तृतीय संस्करण १९६५.

^{४४९} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पांडुरंग वामन काणे, अध्याय- सातवाँ, पृ.-२५३, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इस संस्कार में गृहीत ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि तीन वर्ष की बताई है। इन तीन वर्षों की अवधि के परीक्षण में सफल होने पर उसे कुल्लुक प्रव्रज्या प्रदान की जाती है, अन्यथा वह पुनः गृहस्थधर्म में चला जाता है। इस प्रकार वर्धमानसूरि ने इस व्रत की एक अवधि विशेष का निर्देश दिया है। संक्षेप में यहाँ नियत काल हेतु गृहीत ब्रह्मचर्यव्रत की ही चर्चा की गई है। उसके आगे की प्रक्रियाएँ उस नियत काल के परिपूर्ण होने पर ही होती हैं।

वर्धमानसूरि ने इस संस्कार की विधि बताने से पूर्व यति-आचार के स्वरूप को स्पष्ट किया है तथा उसकी दुष्करता का वर्णन किया है। जैसे- यतिधर्म स्वादरहित बालुका के कवल को खाने के समान है, तलवार की धार पर चलने के समान है, इत्यादि^{४५०} इसके साथ ही ग्रन्थकार ने ब्रह्मचर्यव्रत की महत्ता को स्पष्ट करते हुए इस सम्बन्ध में आगमों एवं अन्य मतों के सन्दर्भ दिए हैं। वैदिक-परम्परा में भी इस व्रत के महत्व को स्वीकार करते हुए इसे दुष्कर कहा गया है, इस बात का उल्लेख भी वर्धमानसूरि ने किया है।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{४५१} शुद्ध सम्यक्त्वपूर्वक द्वादशव्रत-आचार का पालन करने वाला, चैत्य एवं जिनबिम्ब का निर्माण कराने वाला, जिनागम एवं चतुर्विध संघ की सेवा हेतु प्रचुर धन का व्यय करने वाला, भोग से विरक्त निराकांक्षी, उत्कृष्ट वैराग्यभावना से वासित, गृहस्थजीवन में सम्पूर्ण मनोरथों को धारण करने वाला, शान्त रस में निमग्न, कुल की वृद्धाओं, पुत्र, पत्नी अथवा स्वामी आदि द्वारा अनुज्ञा प्राप्त तथा प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए उत्सुक श्रावक ही ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने के योग्य होता है।

दिगम्बर तथा वैदिक-परम्पराओं के ग्रन्थों में इस ब्रह्मचर्यव्रत के धारण का अधिकारी कौन हो सकता है, इस सम्बन्ध में कोई विशेष निर्देश हमें देखने को नहीं मिलते हैं।

वर्धमानसूरि के अनुसार ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने से पूर्व श्रावक को शान्तिक-पौष्टिककर्म, गुरुपूजा एवं संघपूजा करनी चाहिए। इसके बाद वह प्रव्रज्या हेतु उपयुक्त मुहूर्त के आने पर मुण्डित सिर एवं शिखासूत्र को धारण करके गुरु के समीप जाकर नदीक्रियापूर्वक देशविरतिसामायिक, सम्यक्त्वसामायिक एवं ब्रह्मचर्यव्रत का उच्चारण करता है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस संस्कार का पृथक् से कोई वर्णन नहीं होने के कारण इसके विधि-विधान का कोई उल्लेख

^{४५०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सत्रहवाँ, पृ.-७१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४५१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सत्रहवाँ, पृ.-७१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

नहीं मिलता है, नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में मौजूबीबन्धन आदि का उल्लेख अवश्य मिलता है।

वर्धमानसूरि ने ब्रह्मचर्यव्रत को ग्रहण करने हेतु एक विशेष दण्डक का निर्देश दिया है। यथा^{४५२}-

“करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावनियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि सव्वं मेहुणं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि दुविहं, तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि”

इस प्रकार के पाठ (दण्डक) का निर्देश दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार ब्रह्मव्रत को ग्रहण करने के पश्चात् गुरु द्वारा व्रत को पुष्ट करने हेतु ब्रह्मचर्य की नौ वाडों का तथा अन्य आवश्यक बातों का उपदेश दिया जाता है। जैसे^{४५३}- स्वाध्याय को छोड़कर हमेशा मौन धारण करना, अन्य किसी के घर में भोजन करते समय प्रायः सचित्त का त्याग करना, हमेशा लंगोटी एवं मुंज-मेखला को धारण करना, शरीर का संस्कार नहीं करना, आभूषण आदि धारण नहीं करना.... इत्यादि। दिगम्बर वैदिक-परम्परा में ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित ब्रह्मचारी हेतु भी कुछ इसी प्रकार के निर्देश दिए गए हैं। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी ब्रह्मव्रत को पुष्ट करने हेतु दस प्रकार के अब्रह्म को त्यागने का निर्देश दिया गया है।^{४५४}

उपदेश प्राप्त करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को किस प्रकार से तथा कितने समय तक इस व्रत का पालन करना चाहिए, इसका भी उल्लेख वर्धमानसूरि ने प्रस्तुत कृति में किया है।^{४५५} दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी ब्रह्मचारियों के लिए प्रायः इसी प्रकार के निर्देश मिलते हैं, किन्तु वर्धमानसूरि ने इस व्रत हेतु जिस प्रकार तीन वर्ष की अवधि विशेष का निर्देश दिया है, उस प्रकार का निर्देश दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में नहीं मिलता है।

^{४५२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सत्रहवाँ, पृ.-७२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४५३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सत्रहवाँ, पृ.-७२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४५४} अणगाय धर्मावृत, अनु.-पं.कैलाश चन्द्र शास्त्री, अध्याय-चतुर्थ पृ.-२७३ भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण १९७७.

^{४५५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सत्रहवाँ, पृ.-७२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

इस प्रकार तीनों परम्पराओं में ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने सम्बन्धी संस्कार में कुछ समानता, तो कुछ विषमता दृष्टिगोचर होती है।

उपसंहार-

इस तुलनात्मक विवेचन के पश्चात् इस संस्कार की उपादेयता एवं आवश्यकता को लेकर कुछ समीक्षात्मक विवेचन करना आवश्यक है। वर्धमानसूरि द्वारा निर्दिष्ट यह संस्कार वास्तव में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस संस्कार से संस्कारित होने पर व्यक्ति ब्रह्मचर्यव्रत के प्रभाव से अद्भुत आत्मिक वैभव को प्राप्त करता है। जैसा कि सागार धर्मामृत^{४५६} में कहा गया है- “निरतिचार ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने वाले को विद्या साधित, सिद्ध और वरप्रदा होती है और मंत्र पढ़ने मात्र से सिद्ध हो जाते हैं। देव किंकर के समान आचरण करते हैं। निर्मल ब्रह्मचारी के नाम उच्चारणमात्र से क्रूर ब्रह्म राक्षसादि भी शान्त हो जाते हैं।”

इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को संयमित करता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार के संस्कार की अत्यन्त आवश्यकता है। संस्कारों के अभाव में ही व्यक्ति अपनी मर्यादाओं को भूल जाता है। व्यक्ति के मन एवं इन्द्रियों के संयमन हेतु ब्रह्मचर्यव्रत संजीवनी-औषधि के समान है, जो व्यक्ति के भोग-विलासरूपी रोग का मूल से नाश कर देता है। इसके साथ ही व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में भी इस संस्कार का बहुत योगदान है, क्योंकि इस व्रत के बिना व्यक्ति आत्मोन्नति नहीं कर सकता है।

क्षुल्लक-विधि

क्षुल्लक-विधि का स्वरूप-

क्षुल्लक शब्द का तात्पर्य है- छोटा। प्राचीनकाल में क्षुल्लक शब्द का तात्पर्य लघुमुनि था, अर्थात् जिसने मात्र सामायिकचारित्र ग्रहण किया हो तथा जिसे महाव्रतारोपण रूप उपसम्पदा या छेदोपस्थापनचारित्र अभी नहीं दिया गया हो, उसे क्षुल्लक कहा जाता था। उसे यावज्जीवन हेतु सामायिकव्रत का ही उच्चारण करवाया जाता है। दिगम्बर- परम्परा में ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करने वाले को क्षुल्लक कहा जाता है^{४५७}, जिसकी चर्या भी प्रायः आचारदिनकर में वर्णित क्षुल्लक

^{४५६} सागारधर्मांमृत, अनु.-आर्थिका सुपाश्वर्यमति जी, अध्याय-सातवाँ, पृ.-३७६, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, तृतीय संस्करण १९६५.

^{४५७} सागारधर्मांमृत, अनु.-आर्थिका सुपाश्वर्यमति जी, अध्याय-सातवाँ, पृ.-३६६, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, तृतीय संस्करण १९६५.

के समान ही है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में इसे श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा ग्रहण रूप माना गया है। वैदिक-परम्परा में भी इस संस्कार के सदृश किसी संस्कार का उल्लेख हमें नहीं मिलता है, फिर भी वानप्रस्थ अवस्था से इसका आंशिक साम्य माना जा सकता है। वर्धमानसूरि ने इसे यतिजीवन के पूर्व की भूमिका मानकर इसे संस्कार के रूप में विवेचित किया है। जिसकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे।

वर्धमानसूरि के अनुसार इस संस्कार का प्रयोजन प्रव्रज्या से पूर्व की तैयारी करना है। इस संस्कार के माध्यम से उसे मुनिदीक्षा हेतु परिपक्व बनाया जाता है। जैसा पूर्व में भी कहा गया है कि यति-आचार का पालन अत्यन्त दुष्कर कार्य है।^{४५८} वह लोहे के चने चबाने के सदृश है। प्रत्येक व्यक्ति उसका सम्यक् परिपालन कर ही पाए, यह कोई आवश्यक नहीं है; अतः प्रव्रज्या से पूर्व उसे तीन वर्ष हेतु दो करण तीन योग से महाव्रतों सहित रात्रिभोजन का त्याग करवाया जाता है, जिससे वह स्वयं की शक्ति का आंकलन कर सके कि वह इन महाव्रतों का यावज्जीवन हेतु पालन कर पाएगा या नहीं। इस प्रकार इस संस्कार का प्रयोजन प्रव्रज्या ग्रहण करने से पूर्व साधक को परिपक्व बनाना है ज्ञातव्य है जहाँ मुनि पंच महाव्रतों को तीन करण और तीन योग से यावज्जीवन हेतु ग्रहण करता है, वहाँ क्षुल्लक दो करण और तीन योग से मात्र तीन वर्ष हेतु इन व्रतों को ग्रहण करता है।

यह संस्कार कब किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में वर्धमानसूरि ने कोई निर्देश नहीं दिया है। हाँ, इतना अवश्य है कि पूर्व में तीन वर्ष सम्यक् रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने पर ही साधक को क्षुल्लक दीक्षा दी जाती है।^{४५९} यदि वह सम्यक् रूप से ब्रह्मचर्यव्रत का पालन नहीं करता है, तो उसे इस संस्कार से संस्कारित नहीं किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा ग्रहण करते समय व्यक्ति क्षुल्लकत्व को प्राप्त करता है। वर्धमानसूरि के अनुसार ही दिगम्बर-परम्परा में भी क्षुल्लकत्व की प्राप्ति से पूर्व ब्रह्मचर्यव्रत का निर्वाह किया जाता है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में ब्रह्मचर्यव्रतप्रतिमा भी आती है तथा पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओं के पालन करने के साथ-साथ साधक आगे की प्रतिमाओं का पालन करता है।^{४६०} इस प्रकार दिगम्बर-परम्परा में भी क्षुल्लकत्व की प्राप्ति से पूर्व ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है।

^{४५८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सत्रहवाँ, पृ.-७२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४५९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सत्रहवाँ, पृ.-७२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४६०} सागर धर्माभूत, अनु.- आर्यिका सुपाश्वर्ममति जी, अध्ययन-प्रथम, पृ.-३७, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, तृतीय संस्करण १९६५.

संस्कार का कर्ता-

आचारदिनकर के अनुसार यह संस्कार यतिगुरु द्वारा करवाया जाता है।^{४६१} दिगम्बर-परम्परा में क्षुल्लक-संस्कार की विधि कौन करवाए? इसमें सम्बन्ध आदिपुराण में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलते हैं, परन्तु सामान्यतः यह विधि मुनि या भट्टारक द्वारा करवाई जाती है। हुम्बुज श्रमण भक्तिसंग्रह^{४६२} में भी यह विधि गुरु (मुनि) द्वारा करवाने का कहा गया है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रस्तुत की है-

क्षुल्लक विधि-

इस विधि में वर्धमानसूरि ने क्षुल्लकव्रत ग्रहण करने के योग्य साधक की योग्यता का वर्णन करते हुए कहा है कि त्रिकरण की शुद्धिपूर्वक तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने पर तीसरे वर्ष के अन्त में व्यक्ति क्षुल्लकत्व को प्राप्त करने योग्य होता है।

इसके लिए साधक सर्वप्रथम गुणसम्पन्न गुरु के पास जाकर, दीक्षा के उपयुक्त लग्न आने पर सिर मुण्डित करवाकर स्नान करे तथा शिखा एवं उपवीत को धारण करे। तत्पश्चात् गमनागमन में लगे दोषों का प्रतिक्रमण करे, तदनन्तर व्रतारोपण के सदृश क्रिया करते हुए एक अवधि विशेष हेतु दो करण तीन योग से सामायिकव्रत, पंचमहाव्रत एवं छठवें रात्रिभोजन-विरमणव्रत को ग्रहण करे। उपर्युक्त व्रतों को ग्रहण करने की क्या विधि है? इसका मूलग्रन्थ में विस्तार से उल्लेख किया गया है। तदनन्तर गुरु साधक को क्षुल्लकाचार का उपदेश देते हैं तथा उसके द्वारा करणीय कार्यों की अनुमति प्रदान करते हैं। तदनन्तर गुरु क्षुल्लक को वासक्षेप प्रदान करे एवं संघ वर्धापन करे। तत्पश्चात् क्षुल्लक गुरु की अनुज्ञा से मुनि की तरह धर्मोपदेश देते हुए तीन वर्ष की अवधि तक विचरण करे। तीन वर्ष तक संयम की यथावत् परिपालना करने पर ही वह प्रव्रज्या के योग्य बनता है, अन्यथा वह पुनः गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर सकता है। इससे सम्बन्धित विधि की विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के द्वितीय भाग के अठारहवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

^{४६१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अठारहवाँ, पृ.-७२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४६२} हुम्बुज श्रमण भक्तिसंग्रह, पृ.-४६७, श्रीसंतकुमार खण्डाका, खण्डाका जैन ज्वैलर्स, इन्दिरा का रास्ता, जयपुर.

तुलनात्मक विवेचन-

वर्धमानसूरि ने सर्वप्रथम इस संस्कार में क्षुल्लकत्व के योग्य साधक के लक्षण बताए हैं। जैसे^{४६३}—तीन वर्ष तक त्रिकरण की शुद्धिपूर्वक ब्रह्मव्रत का पालन करने वाला, वैराग्यभाव से परिपूर्ण, दृढ़तापूर्वक शील का पालन करने वाला तथा यतिदीक्षा ग्रहण करने को उत्सुक ब्रह्मचारी ही क्षुल्लकदीक्षा के योग्य होता है। दिगम्बर-परम्परा में अलग से क्षुल्लकदीक्षा के योग्य व्यक्ति के लक्षणों की चर्चा हमें देखने को नहीं मिली, किन्तु पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओं के पालन करने से उनमें भी ये योग्यताएँ सामान्यतः प्रकट हो ही जाती हैं, यह स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है।

वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार क्षुल्लकत्व की अवधि विशेष का निर्देश किया है, उस प्रकार का निर्देश हमें दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता। उसमें सामान्यतः जीवनपर्यन्त के लिए इस प्रतिमा का ग्रहण किया जाता है। आचारदिनकर के अनुसार क्षुल्लकत्व की प्राप्ति के लिए साधक गुणों से युक्त गुरु के पास जाकर दीक्षा के उपयुक्त तिथि, वार, नक्षत्र, एवं लग्न के आने पर सिर मुण्डित करवाकर तथा स्नान करके शिखा एवं उपवीत को धारण करे और इसके लिए एक विशेष प्रकार की क्रियाविधि करे तथा उस क्रियाविधि में विशेष रूप से तीन वर्ष हेतु पाँच महाव्रतों एवं छठवें रात्रि भोजन-त्याग का व्रत दो करण और तीन योग से ग्रहण करे। दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में इसकी क्रियाविधि का हमें विस्तार से कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। सागार-धर्माभूत^{४६४} में इतना उल्लेख अवश्य मिलता है कि क्षुल्लक (उत्कृष्ट श्रावक) गुह्य अंग को प्रच्छादन करने के लिए सफेद लंगोटी तथा उत्तरीयवस्त्र को धारण करे तथा दाढ़ी और मस्तक के बाल कैंची से या उस्तरे से कटवाए; लेकिन इसकी क्या विधि है? इस सम्बन्ध में वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह में इसकी विधि दी गई है, जो इस प्रकार है-

क्षुल्लक दीक्षा के योग्य नक्षत्रों में यथायोग्य अलंकारों से अलंकृत कर उसे चैत्यालय में लाए। तदनन्तर अरिहंत देव को वंदनकर वह सभी के साथ क्षमापना करे तथा गुरु के आगे दीक्षा की याचना करे। दीक्षा की अनुज्ञा मिलने पर सौभाग्यवती स्त्री विधिपूर्वक स्वस्तिक कर उसके ऊपर श्वेत वस्त्र प्रच्छादित करे। उस पर मुमुक्षु को बैठाकर गुरु विधिपूर्वक लोच करे। लोच के पूर्वक गुरु

^{४६३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अठारहवाँ, पृ.-७२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४६४} सागार धर्माभूत, अनु.- आर्थिका सुपार्ष्वमति जी, अध्याय-सातवाँ, पृ.-३६८, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, तृतीय संस्करण १९६५.

सिद्ध, योगी, शांति भक्ति आदि का पाठ करके मंत्रपूर्वक भावी क्षुल्लक के सिर पर गंधोदक वगैरह डालने की क्रिया करते हैं। तत्पश्चात् उसे क्षुल्लकव्रत ग्रहण का पाठ तीन बार उच्चारित करवाया जाता है। इस पाठ में उसे श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का ही उच्चारण करवाया जाता है। तदनन्तर उसे मंत्रपूर्वक संयमादि उपकरण प्रदान किए जाते हैं।^{४६५} वर्धमानसूरि के अनुसार श्रावक को इस संस्कार में अवधि विशेष हेतु दो करण एवं तीन योग से महाव्रतों एवं रात्रिभोजन त्याग करवाया जाता है।^{४६६} दिगम्बर-परम्परा में इन व्रतों का पृथक् से ग्रहण नहीं करवाया जाता है। वहाँ श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के ग्रहण करने का ही उल्लेख मिलता है।

क्षुल्लकत्व-दीक्षा के पश्चात् क्षुल्लक को जिन नियमों के परिपालनार्थ उपदेश दिया जाता है, वर्धमानसूरि ने उनका भी वर्णन किया है। क्षुल्लक किस प्रकार से विचरण करे, किस प्रकार से तथा कैसे आहार को ग्रहण करे, इत्यादि। इस प्रकार के व्यवहारिक ज्ञान का संक्षिप्त विवेचन आचारदिनकर में मिलता है। दिगम्बर-परम्परा के सागारधर्माभूत^{४६७} ग्रन्थ में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। जैसे- क्षुल्लक (उत्कृष्ट श्रावक) जन्तुओं को बाधा नहीं उत्पन्न करने वाले-ऐसे कोमल वस्त्रादि द्वारा मार्जनादि करे, चारों पर्व में अष्टमी, चतुर्दशी के दिन चार प्रकार के आहार का त्यागरूप उपवास करे। जैसे मुनि पिच्छी रखते हैं, उससे जीवों की विराधना का बचाव होता है, उसी प्रकार क्षुल्लक बैठते समय, सोते समय या पुस्तकादि के उठाते-रखते समय मृदु वस्त्र से जीवों की रक्षा करे। इसी प्रकार क्षुल्लक किस प्रकार से कैसे एवं किन आचारों का पालन करते हुए भिक्षा ग्रहण करे। इसका भी उसमें विस्तृत उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि वर्तमान में क्षुल्लक मोर की पिच्छी रखते हैं, किन्तु पं. आशाधर ने इसके स्थान पर वस्त्र से ही प्रमार्जन करने का उल्लेख किया है।

वर्धमानसूरि के अनुसार क्षुल्लक व्रतारोपण संस्कार को छोड़कर गृहस्थ के शेष संस्कार करवा सकता है, साथ ही वह शान्तिक-पौष्टिककर्म एवं प्रतिष्ठा आदि क्रियाएँ भी करवा सकता है। किन्तु दिगम्बर-परम्परा में क्षुल्लक को यह सब करने की अनुज्ञा नहीं होती है। उसमें तो ये सब क्रियाएँ प्रायः जैन ब्राह्मणों द्वारा करवाई जाती हैं। क्षुल्लक का इन क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

^{४६५} हुम्बुज श्रमण भक्तिसंग्रह, पृ.-४६७-४६८, श्रीसंतकुमार खण्डाका, खण्डाका जैन ज्वैलर्स, हल्दियों का रास्ता, जयपुर.

^{४६६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अठारहवाँ, पृ.-७३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४६७} सागर धर्माभूत, अनु.-आर्यिका सुपाश्वर्मि जी, अध्याय-सातवाँ, पृ.-३६८, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, तृतीय संस्करण १९६५.

वर्धमानसूरि के अनुसार^{४६८} क्षुल्लक गुरु की आज्ञा से मुनि की तरह धर्मोपदेश देते हुए तीन वर्ष की अवधि तक विचरण करता है तथा संयम की यथावत् परिपालना करने पर तीन वर्ष पश्चात् दीक्षा ग्रहण करता है, किन्तु यदि वह व्रतों का सम्यक् प्रकार से परिपालन नहीं कर पाता है, तो वह पुनः गृहस्थजीवन को स्वीकार कर सकता है। दिगम्बर-परम्परा में क्षुल्लकदीक्षा आजीवन हेतु ही होती है, अतः उसमें उसे पुनः गृहस्थ होने की कोई अनुमति नहीं है।

उपसंहार-

तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् जब हम इस संस्कार की उपादेयता एवं आवश्यकता को लेकर समीक्षात्मक अध्ययन करते हैं, तो हमारे सामने कई महत्वपूर्ण तथ्य उपस्थित होते हैं। वर्धमानसूरि ने स्वयं अपनी कृति में इस बात का उल्लेख किया है कि “यति आचार अत्यन्त दुष्कर है।” यह क्षुल्लकदीक्षा-संस्कार वस्तुतः मुनिजीवन ग्रहण करने की पूर्व भूमिकारूप है। तीन वर्ष की प्राथमिक प्रशिक्षण अवधि में उससे इन पंच महाव्रतों का पालन करवाकर उसे व्रतों में स्थिर किया जाता है, ताकि वह प्रव्रज्या एवं उपस्थापना के पश्चात् भी उनका सम्यक् रूप से परिपालन कर सके, क्योंकि पूर्व प्रशिक्षण के बिना ही यदि उसे सीधा महाव्रतों का आरोपण कर दिया जाए और वह उनका सम्यक् परिपालन न करे या गृहीत नियम का त्याग कर दे, तो वह उसके लिए तथा जिनशासन के लिए अपयश का कारण बनता है। वर्धमानसूरि^{४६९} ने भी इस बात को स्वीकार करते हुए व्यवहार परमार्थ प्रकरण में कहा कि साधक यदि दीक्षा ग्रहण करके उन व्रतों का आचरण न करे, तो वह उसके लिए पापकारी एवं अपयश को प्रदान करने वाला होता है, अतः क्षुल्लकव्रत में मुनिदीक्षा पालन करने की उसकी योग्यता का परीक्षण किया जाता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह संस्कार अत्यन्त महत्पूर्ण है। आज हम देखते हैं कि साधक को बिना पूर्व प्रशिक्षण के यँ ही दीक्षा दे दी जाती है। साथ में रखकर उसका परीक्षण भी नहीं किया जाता, जिसका परिणाम यह होता है कि कितने ही साधक भावावेश में बिना सोचे-समझे, बिना किसी पूर्व प्रशिक्षण के दीक्षा तो ले लेते हैं, किन्तु बाद में उनका सम्यक् प्रकार से निर्वाह न करने के कारण उन व्रतों की अवहेलना करते हैं या उनका त्याग कर देते हैं, जिससे समाज में उनका तो अपयश होता ही है, साथ ही देव-गुरु एवं धर्मरूप जिनशासन भी कलंकित होता है।

^{४६८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अठारहवीं, पृ.-७२, निर्णयसागर मुद्रालय, बोम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४६९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६९, निर्णयसागर मुद्रालय, बोम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

इस प्रकार वर्धमानसूरि द्वारा निर्दिष्ट यह संस्कार साधक को महाव्रतों में स्थिर रहने हेतु अत्यन्त उपयोगी है।

प्रव्रज्या संस्कार विधि

प्रव्रज्याविधि का स्वरूप-

प्रव्रज्या शब्द का तात्पर्य संन्यास ग्रहण करने से है। इस संस्कार के माध्यम से साधक को यावत् जीवन हेतु सामायिकव्रत के पालन की प्रतिज्ञा करवाई जाती है। हरिभद्रसूरि के अनुसार^{१००} वैराग्य की उत्तम भूमिका को प्राप्त होकर मुमुक्षु व्यक्ति जब अपने सब सम्बन्धियों से क्षमायाचना कर गुरु की शरण में जाकर, सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर देता है और ज्ञाता-दृष्टाभाव में रहकर समभाव की साधना करने की प्रतिज्ञा करता है, तो इसे जिनदीक्षा या प्रव्रज्या कहते हैं।

दीक्षा मुण्डनसंस्कार को भी कहते हैं, किन्तु वह मुण्डन चित्त का होता है- ऐसा जानना चाहिए। चित्तमुण्डन से तात्पर्य है- मिथ्यात्व, क्रोध आदि दोषों को दूर करना, क्योंकि चंचल चित्तवाला व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी नहीं होता है। श्वेताम्बर-परम्परा में इसे छोटी दीक्षा भी कहते हैं। वर्धमानसूरि के अनुसार क्षुल्लकत्व के बाद साधक को इस संस्कार से संस्कारित किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार किया जाता है। वहाँ इसे दीक्षाद्य नामक क्रिया के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। ज्ञातव्य है कि दिगम्बर-परम्परा में गृहत्याग एवं दीक्षाद्य- इन दोनों को पृथक्-पृथक् क्रिया माना है, किन्तु वर्धमानसूरि द्वारा वर्णित संस्कार में दोनों ही क्रियाओं का समावेश किया गया है। वैदिक-परम्परा में भी संन्यास-ग्रहण का विधान है, किन्तु वहाँ इसे संस्कार के रूप में नहीं माना है, क्योंकि वैदिक-परम्परा प्रवृत्ति-प्रधान होने से गृहस्थजीवन को ही महत्व देती है। इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं में यह विधि की जाती है।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{१०१} इस संस्कार का प्रयोजन साधक को सावद्य व्यापार से विरत करना है। इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति यावत् जीवन उच्चकोटि की समभाव की साधना कर सकता है, पापकारी प्रवृत्तियों से विराम ले सकता है, क्योंकि जब तक व्यक्ति इस संस्कार से संस्कारित नहीं होता है, तब तक उसकी सांसारिक प्रवृत्तियाँ क्रियाशील ही रहती हैं। ज्ञानियों ने इन सांसारिक

^{१००} पंचाशक प्रकरण, अनु- डॉ. दीनानाथ शर्मा, अध्याय-२, पृ.-२१ पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६७.

^{१०१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

प्रवृत्तियों को कारण का कार्य में उपचार करके पापकारी कहा है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी प्रव्रज्या का विधान इसी उद्देश्य से किया गया है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में, यह संस्कार किस समय किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं दिया है, किन्तु जिनेश्वरों ने प्रव्रज्यायोग्य जीवों का द्रव्यलिंग धारण करने के लिए आयु-प्रमाण जघन्यतः आठ वर्ष एवं उत्कृष्टतः अत्यन्त वृद्ध न हो, तब तक का कहा है।^{४९२} दिगम्बर-परम्परा में भी सामान्यतः इसी अवधारणा को स्वीकार किया गया है। वैदिक-परम्परा में संन्यास ग्रहण करने हेतु अनेक मत मिलते हैं। जैसे^{४९३}— मनु के अनुसार वेदाध्ययन, सन्तानोत्पत्ति एवं यज्ञों के उपरांत ही मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिए। बौधायन धर्मसूत्र एवं वैखानस धर्मसूत्र के अनुसार वह गृहस्थ जिसे सन्तान न हो, जिसकी पत्नी मर गई हो, या जिसके लड़के ठीक से धर्म-मार्ग में लग गए हों, या जो ७० वर्ष से अधिक का हो चुका है, वह संन्यासी हो सकता है। इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं में प्रव्रज्याग्रहण अपने-अपने मतानुसार किया जाता है।

संस्कार का कर्त्ता-

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार निर्ग्रन्थमुनि (यतिगुरु) द्वारा किया जाता है। वर्तमान में भी श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार निर्ग्रन्थ मुनियों द्वारा ही किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार मुनियों द्वारा और उनके अभाव में भट्टारकों द्वारा करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार किसके द्वारा करवाया जाता है- इस सम्बन्ध में हमें कोई सूचना नहीं मिलती है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इसकी निम्न विधि प्रस्तुत की है-

प्रव्रज्या-विधि-

इस विधि में वर्धमानसूरि ने सर्वप्रथम दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों को दीक्षा प्रदान करने का निषेध करते हुए दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों की सूची दी है। वर्धमानसूरि के अनुसार अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियाँ, दस प्रकार के नपुंसक तथा विकलांग व्यक्ति प्रव्रज्या के अयोग्य होते हैं। मूल ग्रन्थ में इसकी विस्तार से चर्चा की गई है। तदनन्तर प्रव्रज्या के योग्य व्यक्ति में अन्य किन-किन लक्षणों का होना आवश्यक है, इसकी चर्चा की गई है। तत्पश्चात् यह

^{४९२} पंचवस्तु, अनु. आचार्य राजशेखर सूरि जी, द्वार-प्रथम, पृ.-३०, अरिहंत आराधक ट्रस्ट, बॉम्बे, द्वितीय आवृत्ति.

^{४९३} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामण काणे, अध्याय-२८, पृ.-४६१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

बताया गया है कि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक तथा वाचनाचार्य या गीतार्थ श्रेष्ठ साधु दीक्षा देने के अधिकारी हैं, अन्य नहीं।

दीक्षाविधि का प्रारम्भ करने से पूर्व सर्वप्रथम नक्षत्र, वार, लग्न आदि का विचार करे। तदनन्तर शुभलग्न में दीक्षा के पूर्व पौष्टिककर्म करें और महादान दें। वधू को छोड़कर दीक्षा की सम्पूर्ण विधि विवाह के समान ही होती है। तदनन्तर यह बताया गया है कि उपनयन से उपनीत तथा जिन्होंने गृहस्थधर्म, ब्रह्मचर्यव्रत एवं कुल्लकत्व का पालन किया है- ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य इस व्रत के योग्य होते हैं। इसी प्रकार के द्विजों के समान आचरण करने वाला शूद्र भी दीक्षा के योग्य हो सकता है, किन्तु दीक्षा से पूर्व शूद्र को सर्वप्रथम उपनीत किया जाता है, तत्पश्चात् उसे दीक्षा प्रदान की जाती है। दीक्षाविधि का प्रारम्भ करने हेतु सर्वप्रथम गुरु के उपाश्रय में वेदिका की रचना कर समवसरण की स्थापना करे तथा समवसरण में स्थित अरहंत परमात्मा की पूजा करें। तत्पश्चात् दीक्षार्थी स्वजनों के साथ ऋद्धिपूर्वक चैत्य में अरिहंत परमात्मा की पूजा करके पुनः गुरु के उपाश्रय में आए। तत्पश्चात् दीक्षार्थी स्वयं वस्त्रालंकार आदि उतारकर सिर के केशों का लोच या मुण्डन करवाकर सिर पर शिखा मात्र रखें और अपने परिवारजनों के साथ गुरु के पास जाए। तत्पश्चात् दीक्षार्थी समवसरण को तीन प्रदक्षिणा दे। तत्पश्चात् परिजनों की अनुमतिपूर्वक और दीक्षार्थी द्वारा क्रमशः सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशविरतिसामायिक एवं सर्वविरतिसामायिक आरोपण करने की याचना करने पर इन्हें प्रदान करने का क्रम चलता है। इस क्रम से गुरु शिष्य को वासक्षेप प्रदान करते हैं तथा देववन्दन एवं श्रुतदेवता आदि के आराधनार्थ कायोत्सर्ग एवं स्तुति करवाते हैं। तदनन्तर शिष्य गुरु को विनयपूर्वक वेश प्रदान करने हेतु निवेदन करता है तथा गुरु उस निवेदन को स्वीकार कर उसे विधिपूर्वक मुनिवेश प्रदान करते हैं। शिष्य अहोभावपूर्वक उस वेश को ग्रहण करके ईशान कोण में जाकर उसे धारण करे तथा पुनः गुरु के समीप आकर शिखा के केशों के लोच करने हेतु प्रार्थना करे। गुरु शिखा का लोच करके दीक्षार्थी को सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशविरतिसामायिक एवं सर्वविरतिसामायिक का आरोपण कराए। गुरु दीक्षार्थी को उपर्युक्त सामायिकों का आरोपण किस प्रकार से कराए? इसका भी मूल ग्रन्थ में विस्तृत वर्णन हुआ है। दीक्षा के दिन गुरु दीक्षार्थी को आयम्बिल का प्रत्याख्यान कराए। तदनन्तर गुरु शिष्य का सप्तशुद्धियों से युक्त नामकरण करे। नामकरण के पश्चात् संघ दीक्षार्थी के सिर पर अक्षत एवं मुनिजन वासक्षेप प्रक्षिप्त करें। तत्पश्चात् शिष्य समवसरण एवं गुरु की प्रदक्षिणा करके गुरु को और अन्य साधुओं को उनके दीक्षापर्याय के क्रमपूर्वक वन्दन करे। तदनन्तर साध्वीगण तथा श्रावक-श्राविकाएँ एवं कुल्लकों के आचार का

विवेचन करें। तत्पश्चात् गुरु देशना दे तथा साधुओं एवं क्षुल्लकों के आचार का विवेचन करे। क्षुल्लकाचार का विवेचन करते हुए मूल ग्रन्थ में दशवैकालिकसूत्र के क्षुल्लकाचार नामक अध्ययन को उद्धृत किया गया है। इस प्रव्रज्याविधि की विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा किए आचारदिनकर के द्वितीय विभाग के उन्नीसवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

अन्त में जिनकल्पियों की दीक्षाविधि के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिनकल्पी मुण्डन के स्थान पर स्वयं संपूर्ण केशों का लोच करते हैं। वेश ग्रहण में मात्र तृण का एक वस्त्र धारण करते हैं तथा चमरी गाय की पूंछ का या मोरपंखों से निर्मित रजोहरण (प्रतिलेखनार्थ) ग्रहण करते हैं। शेष उपस्थापनायोग का उद्बहन आदि सब कार्य स्थविर मुनियों के सदृश ही करते हैं, किन्तु संघट्टदान, संघट्टप्रतिक्रमण गृहस्थ के घर में करते हैं तथा पाणिपात्र, अर्थात् स्वयं की अंजलि में ही भोजन करते हैं।

तुलनात्मक विवेचन-

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इस संस्कार की विधि में आगम एवं अन्य मतों का सन्दर्भ देते हुए दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों का विवेचन किया है। आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं के अतिरिक्त भी मुनिदीक्षा के अयोग्य व्यक्ति की सूची श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों में मिलती है, जैसे- प्रवचनसारोद्धार¹⁰⁹⁴ आदि। वर्धमानसूरि के अनुसार वही व्यक्ति प्रव्रज्या का अधिकारी है, जिसने गृहस्थधर्म, ब्रह्मचर्य और क्षुल्लकत्व की सम्यक् प्रकार से आराधना की हो। हरिभद्रसूरि ने पंचवस्तु¹⁰⁹⁵ एवं पंचाशकप्रकरण¹⁰⁹⁶ में इसे कुछ अलग ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार आर्यदेश में उद्भव, जाति-कुल में विशुद्ध लघुकर्मी, विमलबुद्धि, संसार की असारता को जानने वाला, संसार से विरक्त, प्रतनुकषाय, अल्पहास्य, सुकृतज्ञ, विनीत, राजादि का अविरोधी, निर्दोष अंगवाला, श्रद्धालु, स्थिर मन वाला, समुपसम्पन्न आदि गुणों से युक्त व्यक्ति प्रव्रज्या के योग्य होता है। श्वेताम्बर- परम्परा के अन्य ग्रन्थों में भी इसका विस्तार से वर्णन

¹⁰⁹⁴ प्रवचनसारोद्धार, अनु.-हेमप्रभाश्रीजी, द्वार- १०७ से ११०, पृ.-४३३ से ४४०, प्राकृत भारती अकादमी जयपुर, प्रथम संस्करण १९६६.

¹⁰⁹⁵ पंचवस्तु, अनु. आचार्य राजशेखरसूरिजी, अध्याय-प्रथम, पृ.-२३ से २४, अरिहंत आराधक ट्रस्ट, बॉम्बे, द्वितीय संस्करण

¹⁰⁹⁶ पंचाशकप्रकरण, अनु.- डॉ. दीनानाथ शर्मा, अध्याय-२, पृ.-२२ से २३, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६७.

मिलता है। दिगम्बर-परम्परा^{४७७} में दीक्षा के अधिकारी की चर्चा करते हुए कहा गया है कि साधुजीवन अत्यन्त पवित्र जीवन होता है, अतः बाल, वृद्ध, नपुंसक, रोगी, अंगहीन, डरपोक, बुद्धिहीन, डाकू, राजशत्रु, पागल, अन्ध, दास, धूर्त, मूढ़, कर्जदार, भागे हुए एवं गर्भिणी, प्रसूता को मुनिदीक्षा नहीं देनी चाहिए। यहाँ गर्भिणी, प्रसूता आदि के उल्लेख यह सिद्ध करते हैं कि स्त्रियों को दीक्षा देते समय इस बात का विचार किया जाता था।

ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर-परम्परा में चारों वर्णों के व्यक्ति श्रमण हो सकते हैं, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही दीक्षा के योग्य माना गया है। वैदिक-परम्परा में चारों वर्णों के लोग संन्यास धारण कर सकते हैं या केवल ब्राह्मण ही दीक्षा के योग्य है? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में गहरा मतभेद है। कुछ विद्वान् चारों ही वर्णों के लोगों को संन्यास के योग्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा धर्मशास्त्र के इतिहास ग्रन्थ^{४७८} में की गई है। आचारदिनकर में वर्धमानसूरि के दीक्षा के अधिकारी का वर्णन करने के पश्चात् दीक्षा देने के अधिकारी, अर्थात् दीक्षा प्रदाता के सम्बन्ध में भी विचार किया है। उनके अनुसार आचार्य एवं आचार्य की अनुपस्थिति में उपाध्याय आदि दीक्षा देने के अधिकारी हैं। यहाँ वर्धमानसूरि ने दीक्षाप्रदाता के योग्य लक्षणों का निरूपण नहीं किया है। पंचवस्तुक^{४७९} नामक ग्रन्थ के प्रव्रज्याविधान प्रकरण में दीक्षा प्रदाता की योग्यता का विस्तार से वर्णन किया गया है। योग्य गुरु के होने से क्या-क्या लाभ होते हैं, उसका भी बहुत सुन्दर विवेचन मिलता है। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में इस प्रकार की चर्चा हमारे देखने में नहीं आई

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने दीक्षाविधि एवं उससे पूर्व करणीय कार्यों का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। जैसे^{४८०} दीक्षा से पूर्व शुभ लग्न में पौष्टिक कर्म करे, महादान दें। सभी धर्मों व दर्शनों के अनुयायी याचकों को संतुष्ट करें, इत्यादि। दीक्षा के समय यदि साधक शूद्रवर्ण का हो, तो उसे उपनयन आदि की विधि से संस्कारित करें। तत्पश्चात् दीक्षार्थी महत् आडम्बरपूर्वक स्वजनों के साथ चैत्य में परमात्मा की पूजा करके गुरु के उपाश्रय आए। फिर स्वयं वस्त्राभरण उतारकर सिर के केशों का लोच करे या मुण्डन करवाकर सिर पर शिखामात्र

^{४७७} अण्णारधर्माभूत, अनु. कैलाशचन्द्र शास्त्री, अध्याय-६, पृ-६६३, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९७७

^{४७८} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), डॉ. पांडुरंग वामण काणे, अध्याय-२८, पृ.-४१६ से ४१७, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{४७९} पंचवस्तुक, अनु.- आचार्य राजशेखरसूरि, द्वार-प्रथम, पृ.-१३ से १७, अरिहंत आराधक ट्रस्ट, बॉम्बे, द्वितीय संस्करण.

^{४८०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-उन्नीसवाँ, पृ.-७६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

रखे, इत्यादि। इसी प्रकार अन्य महत्वपूर्ण बातों का निर्देश ग्रन्थकार ने अपनी कृति में किया है। श्वेताम्बर-परम्परा के आगमों एवं विधि-विधान सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों जैसे अन्तकृतदशांग, ज्ञाताधर्मकथा, पंचवस्तु, पंचाशक प्रकरण, निर्वाणकलिका, विधिमार्गप्रपा, सुबोधसामाचारी, सामाचारी में भी प्रव्रज्याविधि का वर्णन मिलता है। दिग्म्बर-परम्परा के आदिपुराण में दीक्षा-विधि का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, किन्तु दीक्षाद्य क्रिया विधि का उल्लेख नहीं मिलता है। हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह में प्रव्रज्याविधि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वहाँ दीक्षाविधि का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम मुनिदीक्षा, आर्यिकादीक्षा आदि के योग्य-अयोग्य नक्षत्रों का उल्लेख किया गया है। लघुदीक्षाविधि में सर्वप्रथम सिद्धभक्ति, योगभक्ति करके उसका कायोत्सर्ग किया जाता है। तदनन्तर लोचकरण, नामकरण, नाग्न्यप्रदान एवं पिच्छिका प्रदान की क्रिया होती है। लोचक्रिया करने से पूर्व सिद्धभक्ति एवं योग भक्ति का पाठ कर उसका कायोत्सर्ग किया जाता है तथा लोच क्रिया के बाद सिद्ध भक्ति कर उसका कायोत्सर्ग किया जाता है। दीक्षा के समय मुमुक्षु को मुनि के अट्टाईस गुणों का आरोपण किया जाता है। इसके अन्तर्गत पंचमहाव्रत, पाँच समिति, पंच इन्द्रियनिरोध, क्षितिशयन, अदंतधावन, खड़े होकर भोजन करना, केशलोच, अचेलता, षट्आवश्यक, अस्नान, एक समय भोजन करना आते हैं।^{४८१} वैदिक-परम्परा में इसकी क्रियाविधि का उल्लेख बौधायनगृह्यशेषसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र आदि में बहुत विस्तार से मिलता है^{४८२}, किन्तु वर्धमानसूरि ने जिस प्रकार की क्रियाविधि निर्दिष्ट की है, वह विधि उससे कुछ अलग है। विस्तारभय से हम उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं।

आचारदिनकर के अनुसार सामायिकव्रतारोपण के पश्चात् गुरु शिष्य का नामकरण करते हैं। वह नाम कैसा तथा कितनी विशुद्धियों से युक्त हो, इसका भी वर्धमानसूरि ने वर्णन किया है। विधिमार्गप्रपा^{४८३} आदि में भी नाम की शुद्धि के सम्बन्ध में निर्देश किया गया है। दिग्म्बर-परम्परा के आदिपुराण ग्रन्थ में हमें इस प्रकार के उल्लेख नहीं मिलते हैं। वैदिक-परम्परा में भी संन्यास के बाद नवीन नामकरण करने का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता है।

^{४८१} हुम्बुज श्रमण भक्तिसंग्रह, पृ.-४८८-९०, श्रीसंतकुमार खण्डाका, खण्डाका जैन ज्वैलर्स, हल्दियों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर.

^{४८२} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२८, पृ.-५०२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{४८३} विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण-१६, पृ.-३५, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण(पुनर्मुद्रण) २०००.

दीक्षा के पश्चात् शिष्य को, अर्थात् साधकमुनि को किस प्रकार से अपने आचार का पालन करना चाहिए, इसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने दशवैकालिक के क्षुल्लकाचार का उपदेश देने का निर्देश किया है। पंचवस्तु^{१८४} में भी इस प्रसंग का वर्णन बहुत ही विस्तार से किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में दीक्षाद्यक्रिया के बाद उपदेश देने का उल्लेख तो हमें नहीं मिलता, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में भी दीक्षाद्यक्रिया के बाद साधक को धर्म में स्थिर करने हेतु उपदेश देने का विधान होगा- ऐसा हम मान सकते हैं। वैदिक-परम्परा^{१८५} में भी संन्यासी को किस तरह से रहना चाहिए, इन सबका उल्लेख मिलता है।

प्रव्रज्यासंस्कार के अन्त में वर्धमानसूरि ने प्रसंगवश जिनकल्पियों की दीक्षा विधि का भी संक्षेप में विवेचन किया है, जो दिगम्बरों की मुनिदीक्षा के समान प्रतीत होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों परम्पराओं में प्रव्रज्याविधि सम्बन्धी कुछ बातें परस्पर समान हैं तथा कुछ बातें असमान हैं। जैन-परम्परा में प्रव्रज्याविधि के पश्चात् सावद्यकारी प्रवृत्तियों का पूर्ण निषेध हो जाता है, किन्तु वैदिक-परम्परा में इन क्रियाओं का पूर्ण निषेध नहीं होता है, मात्र आशिक निषेध ही होता है। जैसे- जैन-परम्परा में मुनि को शौचकर्म करने का निषेध है, किन्तु वैदिक-परम्परा में संन्यासियों को भी गृहस्थ के समान ही क्रम से तीन एवं चार बार शौचकर्म (शरीरशुद्धि) करने का निर्देश है।

उपसंहार-

इस तुलनात्मक विवेचन के पश्चात् इस संस्कार की आवश्यकता एवं उपादेयता के सम्बन्ध में समीक्षात्मक विवेचन करना आवश्यक है। वर्धमानसूरि के अनुसार^{१८६} यह संस्कार सामायिक के संग्रह के रूप में है। सामायिक का तात्पर्य है- रागद्वेष के त्यागरूप साम्य-भाव। इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति समता की साधना करता है। विकट परिस्थितियों के आने पर भी उसके मन में किसी प्रकार का उद्वेग नहीं होता है, अनुकूल परिस्थितियों में भी किसी के प्रति राग तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में किसी के प्रति द्वेष नहीं होता है। इस प्रकार वह साधक

^{१८४} पंचवस्तु, अनु. आचार्य राजशेखरसूरिजी, द्वार-प्रथम, पृ.-७५ से ७६ अरिहंत आराधक ट्रस्ट, बॉम्बे, द्वितीय संस्करण

^{१८५} धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२८, पृ.-४६१-४६५, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{१८६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

प्रतिक्षण अपनी आत्मा में लीन रहकर स्वयं का तथा उपदेश देकर पर का कल्याण कर सकता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आत्मोत्थान हेतु यह संस्कार परमावश्यक हैं, क्योंकि व्यक्ति कर्मों का बन्ध समता के अभाव में ही करता है। व्यक्ति में जैसे ही इस गुण का आविर्भाव हो जाता है, वैसे ही कर्मों की निर्जरा होने लगती है तथा साधक आत्मानंद की अनुभूति करने लगता है। आगम के अनुसार इस दीक्षा-विधान का चिन्तन करने से व्यक्ति सकृत्वन्धक एवं अपुनर्बन्धक रूप कदाग्रह का शीघ्र ही त्याग करता है।^{४८७} इस प्रकार इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति समता की साधना करके अपने आत्मस्वभाव की प्राप्ति करता है, जो प्रत्येक आत्मा का परम लक्ष्य है।

इस प्रकार सर्वविरतिरूप चारित्र के प्राप्त होने पर वह भूतकाल में आचरित मिथ्याचारों की निंदा करके, वर्तमान में उन आचारों का सेवन नहीं करके और भविष्य में उन आचारों का प्रत्याख्यान करके, जीव उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होता हुआ जीवन्मुक्ति का अनुभव करके, अन्त में सभी कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

उपस्थापन-विधि

उपस्थापन विधि का स्वरूप-

उपस्थापन शब्द का तात्पर्य है- आत्मा के निकट उपस्थित रहना या आत्मा में रमण करना। इस संस्कार का सम्पूर्ण नाम छेदोपस्थापनीय चारित्र है। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें पूर्व दीक्षापर्याय का छेद करके नवीन महाव्रतारोपण रूप दीक्षा प्रदान की जाती है। परम्परागत दृष्टि से इसे बड़ी दीक्षा भी कहा जाता है। इस संस्कार के माध्यम से साधक को पंचमहाव्रतों एवं छठवें रात्रिभोजन-त्यागव्रत का आरोपण किया जाता है। इस संस्कार के माध्यम से पूर्व साधक सावद्य व्यापारों का त्याग करता है और सामायिक चारित्र ग्रहण करता है। इस संस्कार द्वारा ही उसे महाव्रतों के पालन की प्रतिज्ञा करवाई जाती है। परम्परागत मान्यता यह है कि भगवान आदिनाथ एवं महावीर स्वामी के शिष्यों को सामायिकचारित्र के बाद पंचमहाव्रतों के प्रत्यारोपणरूप छेदोपस्थापनीयचारित्र ग्रहण करवाया जाता था, वही परम्परा आज भी प्रचलित है। शेष बार्डिस तीर्थंकरों के शिष्यों को मात्र सामायिकव्रत का ही आरोपण करवाया जाता था। प्रथम और

^{४८७} पंचाशक प्रकरण, अनु.- डॉ. दीनानाथ शर्मा, अध्याय-२ पृ.-३५ पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६७.

अन्तिम तीर्थकर ने ही पंचमहाव्रतरूप पंचयाम का उपदेश दिया, जबकि शेष तीर्थकरों ने चातुर्यामधर्म का उपदेश दिया। दिगम्बर-परम्परा में भी यही अवधारणा है। अणगार धर्माभूत^{४८८} के अनुसार- “जब कोई मुनि दीक्षा लेता है, तो वह निर्विकल्प सामायिक-संयम पर ही आरूढ़ होता है, किन्तु अभ्यास न होने से जब उससे च्युत होता है, तब वह भेदरूप व्रतों को धारण करता है और वह छेदोपस्थापक कहलाता है, लेकिन पण्डित आशाधर जी की यह मान्यता आगमोक्त नहीं है, क्योंकि उनके काल में दिगम्बर-परम्परा में सामान्यतः मुनि-परम्परा विच्छिन्न हो गई थी और भट्टारक-परम्परा का प्रादुर्भाव हो गया था। इसीलिए महावीर के शासन में द्विविधचारित्र, अर्थात् सामायिकचारित्र एवं छेदोपस्थापनीयचारित्र की जो व्यवस्था थी, उसे वे समझ नहीं पाए। प्राचीन परम्परा में किसी दीक्षार्थी को सर्वप्रथम सामायिकचारित्र प्रदान किया जाता था और जब वह उसकी साधना में परिपक्व हो जाता था तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह-विरमण व्रत को पूर्णतः पालन करने में तत्पर होता था, तो उसे छेदोपस्थापनीयचारित्र प्रदान किया जाता था। श्वेताम्बर परम्परा में चारित्र ग्रहण के ये दोनों भेद सुरक्षित रहे तथा वर्धमानसूरि ने भी प्रव्रज्या एवं उपस्थापन के रूप में इन दोनों चारित्रों के ग्रहण करने का उल्लेख किया है। इस प्रकार दोनों परम्पराओं की इस संस्कार के सम्बन्ध में अपनी-अपनी अवधारणा है। वैदिक-परम्परा में इस प्रकार का कोई संस्कार हमें देखने को नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार इस संस्कार का प्रयोजन दीक्षित मुनि को पंचमहाव्रत एवं छठवें रात्रिभोजन-विरमणव्रत के पालन की प्रतिज्ञा ग्रहण करवाना है। छेदोपस्थापनीयचारित्र ग्रहण करने पर ही वह मुनि संघ का सदस्य बनता है। इसके बाद ही उसे साधुओं की सप्तमण्डली में प्रवेश दिया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी जिनरूपता नामक क्रिया के रूप में यह संस्कार करवाया जाता है।^{४८९} हुम्बुज श्रमणभक्ति संग्रह में इसे बृहद्दीक्षा विधि के नाम से उल्लेखित किया गया है।

यह संस्कार किस मुहूर्त आदि में करें, इसका तो उल्लेख आचारदिनकर में मिलता है, किन्तु यह संस्कार किस वय में किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। व्यवहारसूत्र में इसका विस्तृत विवेचन है। प्रथम एवं अन्तिम तीर्थकर के शासन में भिक्षुओं को सामायिकचारित्ररूप दीक्षा देने

^{४८८} अणगारधर्माभूत, अनु.-कैलाशचन्द्र शास्त्री, अध्याय-६, पृ.-६६३, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९७७.

^{४८९} आदिपुराण अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२६५-२६६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

के बाद छेदोपस्थापनीयरूप बड़ी दीक्षा दी जाती है। उसकी जघन्यकाल-मर्यादा सात अहोरात्र की मध्यमकाल मर्यादा चार मास की एवं उत्कृष्टकाल-मर्यादा छह मास की कही गई है।^{४६०} काल विशेष में यह कालमर्यादा बढ़ाई भी जा सकती है। यदि छेदोपस्थापनीय चारित्र का अर्थ जिनकल्प की दीक्षा माना जाए, तो उसके लिए १८ वर्ष की दीक्षापर्याय और ३० वर्ष की आयु आवश्यक मानी गई है। नवदीक्षित साधु सात रात्रि के बाद कल्पाक (बड़ी दीक्षा के योग्य) कहा जाता है और गुण की अपेक्षा आवश्यकसूत्र सम्पूर्ण अर्थ एवं विधिसहित कंठस्थ कर लेने पर, 'जीवादि का एवं पंच समितियों का ज्ञान कर लेने पर', दशवैकालिकसूत्र के चार अध्ययन की अर्थसहित वाचना लेकर कंठस्थ कर लेने पर एवं प्रतिलेखन आदि दैनिक क्रियाओं का अभ्यास कर लेने पर कल्पाक, अर्थात् छेदोपस्थापनीय चारित्र के योग्य कहा जाता है। दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराणग्रन्थ में इस प्रकार का कोई निर्देश नहीं मिलता है। हुम्बुज श्रमणभक्ति संग्रह में इसे बृहद्दीक्षा विधि के मध्य इतना उल्लेख अवश्य मिलता है, कि लघुदीक्षा के बाद उसी पक्ष में या दूसरे पक्ष में शुभमुहूर्त में महाव्रतारोपण की क्रिया की जाती है।^{४६१}

संस्कार का कर्ता-

वर्धमानसूरि के अनुसार यति संबंधी संस्कार निर्ग्रन्थ गुरु द्वारा करवाए जाते हैं, किन्तु निर्ग्रन्थ गुरु में तो आचार्य, उपाध्याय आदि पदवीधर भी आ सकते हैं तथा सामान्य मुनि भी। ग्रंथकार ने जिस प्रकार इससे पूर्व के संस्कार में विधि कराने वाले गुरु के सम्बन्ध में निर्देश दिया है, उस प्रकार का निर्देश ग्रंथकार ने इस संस्कार में नहीं किया है। सामान्यतः यह संस्कार भी गच्छ की सामाचारी के अनुसार आचार्य, उपाध्याय आदि द्वारा ही करवाया जाता है। वर्तमान में यह संस्कार आचार्य, उपाध्याय आदि पदवीधारी मुनि या बीस वर्ष के संयमपर्याय वाले मुनि द्वारा करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा^{४६२} में यह संस्कार योग्य आचरण वाले मुनिराजों द्वारा करवाने का उल्लेख मिलता है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इसकी निम्न विधि प्रस्तुत की है-

^{४६०} व्यवहारसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र-१०/१७, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९६२.

^{४६१} हुम्बुज श्रमण भक्तिसंग्रह, पृ.-४६६, श्रीसंतकुमार खण्डाका, खण्डाका जैन ज्वैलर्स, हल्दियों का रास्ता, जीहरी बाजार, जयपुर.

^{४६२} आदिपुराण, जिनसेनाचार्य, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, पूर्व-उनचालीसवाँ पृ.-२७६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

उपस्थापना-विधि-

उपस्थापना-विधि हेतु सर्वप्रथम नंदी विधि सहित आवश्यकसूत्र, दशवैकालिकसूत्र के योगोद्धहन कराएं। मण्डलीप्रवेश एवं योगोद्धहन के मध्य दशवैकालिक के तीन अध्ययन के तीन आयम्बिल होने पर ही नंदी एवं उपस्थापनाविधि करें। उपस्थापनाविधि में सर्वप्रथम मुहूर्त सम्बन्धी निर्देश दिए गए हैं। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि शिष्य के लिए वस्त्र संस्कारक आदि मुनिवेश सम्बन्धित सभी उपकरण नए होने चाहिए। उपस्थापना की विधि के लिए चैत्य में या उपाश्रय में समवसरण की स्थापना करें। तदनन्तर गुरु शिष्य को तीन बार परमेष्ठीमंत्र का उच्चारण करवाकर समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करवाएं। तत्पश्चात् गुरु वासक्षेप को अभिमंत्रित करें। इसके बाद शिष्य महाव्रतों के आरोपणार्थ एवं नंदीक्रिया करने हेतु वासक्षेप एवं चैत्यवन्दन करवाने के लिए निवेदन करें। तत्पश्चात् गुरु शिष्य को वासक्षेप करके चैत्यवन्दन वगैरह करवाएं तथा तीन बार नंदीसूत्र का पाठ सुनाएं। मूलग्रन्थ में नंदीसूत्र का पाठ भी दिया गया है। तत्पश्चात् गुरु एवं शिष्य महाव्रत के आरोपणार्थ कायोत्सर्ग करें। तदनन्तर शिष्य विशिष्ट मुद्रा को धारण करके क्रमशः पाँच महाव्रतों एवं छठवें रात्रिभोजन-परित्यागव्रत का तीन-तीन बार उच्चारण करें। शिष्य किस पाठ के माध्यम से इन व्रतों का ग्रहण करें, इसका मूलग्रन्थ में विस्तार से वर्णन किया गया है।

तत्पश्चात् लग्नवेला के आने पर शिष्य पुनः कहे “इस प्रकार मैंने पाँच महाव्रतों और छठवें रात्रिभोजन-विरमणव्रत को आत्महित के लिए अंगीकार करके उपसम्पदा ग्रहण की है।” फिर गुरु पुनः वासक्षेप एवं अक्षत अभिमंत्रित करके क्रमशः साधुओं एवं श्रावकों को दे। तदनन्तर खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करने के पश्चात् मुनि संघ शिष्य के सिर पर वासक्षेप एवं श्रावकवर्ग अक्षत निक्षिप्त करें। तत्पश्चात् शिष्य महाव्रतों के स्थिरीकरण हेतु कायोत्सर्ग करें, फिर दीक्षापर्याय के क्रम से साधुओं को वन्दन करें। फिर शिष्य के नामकरण की विधि करें। उपस्थापना के दिन शिष्य आयम्बिल करें तथा उसके बाद भी चार आयम्बिल करें।

विधि के अन्त में सप्तमण्डली का नामोल्लेख करते हुए इन सप्तमण्डलियों में प्रवेश पाने हेतु सात आयम्बिल किए जाते हैं- ऐसा उल्लेख किया गया है। इसी विधि में आवश्यक एवं दशवैकालिकसूत्र का अध्ययन करवाया जाता है। अल्पबुद्धि वाले शिष्य की भी दशवैकालिक के चार अध्ययनों के बिना उपस्थापना नहीं होती है- ऐसा उल्लेख मूल ग्रन्थ में है। एतदर्थ विस्तृत जानकारी

हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग में बीसवें उदय को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

वर्धमानसूरि के अनुसार स्वयंबुद्ध अरिहंत परमात्मा सामायिकचारित्र को स्वीकार करके यतिधर्म की प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। वे बुद्धबोधित नहीं होते हैं तथा पंचमहाव्रत उच्चारणरूप छेदोपस्थापनीयचारित्र भी ग्रहण नहीं करते हैं।^{४६३} इस बात की पुष्टि आगम ग्रन्थों से भी होती है। दिगम्बर-परम्परा में सामान्यतः यही अवधारणा मिलती है।

वर्धमानसूरि के अनुसार इस संस्कार में नंदीविधि सहित आवश्यकसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र के योगोद्धहन करवाए जाते हैं। मण्डलीप्रवेश योगोद्धहन के मध्य दशवैकालिकसूत्र के तीन अध्ययन के तीन आयम्बिल होने पर नंदी एवं उपस्थापना की विधि की जाती है। दिगम्बर-परम्परा में इस प्रकार की क्रिया प्रायः देखने को नहीं मिलती है। दिगम्बर-परम्परा में जिनरूप नामक क्रिया की विधि आंशिक रूप से वर्धमानसूरि वर्णित प्रव्रज्याविधि से मिलती है। यहाँ मात्र इतना अन्तर है कि श्वेताम्बर-परम्परा में प्रव्रज्याविधि के समय सर्वविरतिरूप सामायिकचारित्र का ही ग्रहण करवाया जाता है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में जिनरूप नामक क्रिया में सर्वविरतिसामायिक के अतिरिक्त पांच महाव्रत आदि का भी ग्रहण करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में जिनरूप नामक क्रिया में ही साधक को पंचमहाव्रतों का आरोपण करवाया जाता है, इसलिए इस क्रिया की तुलना हमने वर्धमानसूरि द्वारा निर्दिष्ट उपस्थापना नामक संस्कार से की है। दिगम्बर-परम्परा के हुम्बुज श्रमणभक्ति संग्रह^{४६४} में इसी विधि को बृहद् दीक्षाविधि के रूप में विवेचित किया गया है। इस विधि के अनुसार दीक्षा के पूर्वदिन भोजन के समय भोजन आदि के तिरस्कार की विधि करे। फिर आहार करके चैत्यालय में आए। तदनन्तर व्रतप्रत्यारव्यान-प्रतिष्ठापन के निमित्त सिद्धभक्ति और योगिभक्ति का पाठ करे तथा गुरु के समीप उपवास का प्रत्याख्यान करे। फिर आचार्यभक्ति, शान्ति एवं समाधि भक्ति का पाठ करके गुरु को प्रमाण करे। दीक्षादान के अवसर पर दीक्षादाता यथाशक्ति शांतिकर्म एवं गणधरवलय का पूजन करे। फिर दीक्षादाता दीक्षित होने वाले को स्नानादि करवाकर यथायोग्य अलंकार से युक्त करके महामहोत्सव पूर्वक चैत्य में ले जाए। वहाँ दीक्षार्थी देव, शास्त्र एवं गुरु की पूजा

^{४६३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बीसवाँ, पृ.-७६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४६४} हुम्बुज श्रमण भक्तिसंग्रह, पृ.-४६०-४६६, श्रीसंतकुमार खण्डाका, खण्डाका जैन ज्वैलर्स, इन्दियों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर.

करके वैराग्य भावना से पूरित होकर सभी से क्षमापना करके गुरु के समक्ष बैठे और गुरु से तथा संघ से दीक्षा की याचना करे। उनकी आज्ञा मिलने पर सौभाग्यवती स्त्री स्वस्तिक के ऊपर श्वेतवस्त्र बिछाए। उस पर दीक्षार्थी पूर्वाभिमुख हो पर्यकासन में बैठे और गुरु उत्तराभिमुख होकर संघ एवं समुदाय की अनुमतिपूर्वक केशलोच करें। केशलोच करते समय आचार्य सिद्धभक्ति एवं योगभक्ति करे। तत्पश्चात् गंधोदक आदि को मंत्र से मंत्रित करके तीन बार उसके सिर पर निक्षिप्त करे। फिर उसके मस्तक को बाएँ हाथ से स्पर्शित करे। तदनन्तर दधि, अक्षत, गोबर एवं दूर्वा के कोमल पत्ते उसके मस्तक पर वर्धमानमंत्र से निक्षिप्त करे। फिर मंत्रोच्चार करते हुए गुरु अपने हाथों से पाँच बार केशों का लोच करे। उसके पश्चात् कोई भी सम्पूर्ण लोच की क्रिया करे। लोचनिष्ठापन क्रिया के पूर्व आचार्य सिद्धभक्ति करे। तदनन्तर दीक्षार्थी सिर का प्रक्षालय करके गुरुभक्ति करे और वस्त्र आभरण, यज्ञोपवीत आदि का परित्याग कर दीक्षा की याचना करे। तत्पश्चात् गुरु उसके सिर पर श्री लिखे और अ.सि.आ.उ.सा. मंत्र का १०८ बार जप करे। उसके पश्चात् गुरु उसके हाथों में केशर, कपूर और चन्दन से श्री लिखे। फिर पूर्व में ३, दक्षिण में २४, पश्चिम में ५ और उत्तर में २ अंक लिखकर रत्नत्रय को नमस्कार करते हुए उसकी अंजलि चावलों से पूरी भर दे। उसके ऊपर नारियल एवं सुपारी रखकर सिद्धभक्ति, चारित्र-योग भक्ति का पाठ कर उसे व्रत प्रदान करे। व्रत आदि प्रदान करते हुए मुनि के अट्ठाईस मूल गुणों का आरोपण करे। तत्सम्बन्धी गाथा को तीन बार उच्चरित करके शान्ति भक्ति करे तथा अंजलि में संचित चावल आदि पात्र में डलवाए। तत्पश्चात् सोलह मंत्रों से नूतन मुनि के षोडश संस्कार करे। अन्त में षड्जीवनिकाय के रक्षणार्थ, पिच्छिका, द्वादशांगसूत्र के अध्ययनार्थ ज्ञानोपकरण एवं ब्राह्म तथा अभ्यन्तर शुद्धि हेतु शौचोपकरण प्रदान करे। उसके बाद समाधिभक्ति का पाठ करे तथा नवदीक्षित मुनि, गुरु एवं अन्य मुनियों को प्रमाण करे। जब तक व्रतारोपण नहीं होता है, तब तक अन्य मुनि उसे प्रतिवन्दना नहीं करते हैं। उसके बाद उसी पक्ष में या दूसरे पक्ष में शुभ मुहूर्त में महाव्रतारोपण की क्रिया की जाती है। इसमें रत्नत्रय की पूजा करके पाक्षिक प्रतिक्रमण का अध्ययन किया जाता है। पाक्षिक नियम ग्रहण करते समय व्रतसमिति आदि का पाठ करके महाव्रत प्रदान किए जाते हैं और किसी एक तप का नियम दिया जाता है। दीक्षाप्रदाता एवं श्रावकादि भी एक तप का नियम ग्रहण करते हैं और इस क्रिया के बाद ही अन्य मुनि नवदीक्षित को प्रतिवन्दना करते हैं।

वर्धमानसूरि के अनुसार उपस्थापना की क्रिया करते समय आचार्य शिष्य को समवसरण के समक्ष नंदीक्रिया करवाकर तीन बार नंदीसूत्र का पाठ सुनाते हैं

तथा उसके बाद उसे महाव्रतों का आरोपण करवाया जाता है। आचारदिनकर में ग्रन्थकार ने इस विधि का उल्लेख करते समय इस बात का भी उल्लेख विशेष रूप से किया है कि महाव्रतों को ग्रहण करते समय शिष्य किस प्रकार से मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण को धारण करे।^{४६५} दिगम्बर-परम्परा में दीक्षादान के पश्चात्, अर्थात् लिंगदान के पश्चात् पंचमहाव्रत, पाँच समिति, पाँचों इन्द्रियों को वश में करना, पृथ्वी पर सोना, इत्यादि उत्तरगुणों का आरोपण किया जाता है,^{४६६} किन्तु महाव्रतों को ग्रहण करते समय मुनि किस मुद्रा में खड़ा रहे- इसका उल्लेख हमें दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार महाव्रतों का आरोपण करने के पश्चात् मुनि के नाम की उद्घोषणा की जाती है। यह उद्घोषणा किस विधि से करनी चाहिए? इसका भी उल्लेख आचारदिनकर में किया गया है।^{४६७} दिगम्बर-परम्परा में नामकरण की क्रिया महाव्रतों के उच्चारण से पूर्व की जाती है, किन्तु वहाँ इसकी क्या विधि है? इसका उल्लेख हमें नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि ने उपस्थापना की जिस विधि का वर्णन किया है, वह विधि श्वेताम्बर-परम्परा के अन्य ग्रन्थों जैसे पंचवस्तु, विधिमागप्रपा, तिलकाचार्य विरचित सामाचारी, श्री चन्द्रविरचित सामाचारी आदि में भी मिलती है। सामान्यतः तो इन सब में वर्णित विधि प्रायः समान ही है, लेकिन कहीं-कहीं कुछ आंशिक अंतर है। वह अपनी-अपनी गच्छ-परम्परा के आधार पर है। फिर भी वर्धमानसूरि ने प्रायः सभी मतों के समन्वय का प्रयास किया है।

उपसंहार-

इस तुलनात्मक विवेचन के पश्चात् इस संस्कार की उपादेयता के सम्बन्ध में भी कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस संस्कार के माध्यम से मुनि को पंच महाव्रतरूप चारित्र का ग्रहण करवाया जाता है तथा सप्तमण्डली, आवश्यकसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र के योगोद्धहन करवाए जाते हैं। आवश्यकसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र दोनों- आगमग्रन्थ हैं। इन दोनों आगमों का सम्यक् अध्ययन मुनि-जीवनचर्या के सम्यक् परिपालन हेतु आवश्यक है, क्योंकि जब तक वह आवश्यकसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र के अर्थ सम्यक् प्रकार से नहीं जानता है, तब तक उसकी क्रिया मात्र कायिक क्रिया ही होती है तथा वह सम्यक् प्रकार से

^{४६५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बीसवाँ पृ.-८०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४६६} आदिपुराण, जिनसेनाचार्य अन.-डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-उनचालीसवाँ, पृ.-२७६ भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{४६७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बीसवाँ पृ.-८१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

मुनि-आचारों का भी पालन नहीं कर पाता है। अतः साधक निरतिचार मुनि-जीवन का पालन कर सके, इस हेतु उसे इन ग्रन्थों का अध्ययन करवाया जाता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{४६८} मण्डली-योगोद्धहन के पश्चात् ही नूतन मुनि पूर्व में दीक्षित मुनियों के साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन कर सकता है। इसी तरह अन्य सामूहिक क्रियाओं के सम्बन्ध में भी होता है। इस संस्कार से पूर्व उसकी सब व्यवस्थाएँ अलग होती है। जैसे- सूत्र की वाचना के समय नूतन मुनि पूर्व दीक्षित मुनियों के साथ नहीं बैठ सकता है, अगर बैठाना भी पड़े, तो डोरी या अन्य किसी वस्तु का मण्डल या सीमा बनाकर उसमें ही उसे बैठाया जाता है। इस संस्कार के पश्चात् ही वह भोजन, प्रतिक्रमण आदि सामूहिक रूप से मिलकर कर सकता है, उससे पूर्व नहीं। वस्तुतः इस संस्कार के पश्चात् ही वह मुनिसंघ का सदस्य माना जाता है।

वर्तमान में भी यही व्यवस्था देखने को मिलती है। इस प्रकार यह संस्कार साधक के आध्यात्मिक विकास, मुनि-जीवन के सम्यक् परिपालन एवं निर्ग्रन्थ मुनि-संघ का सदस्य बनने हेतु आवश्यक है।

योगोद्धहन-विधि

योगोद्धहन विधि का स्वरूप-

योगोद्धहन शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- योग+उद्धहन। योग शब्द के वैसे तो अनेक अर्थ हैं, किन्तु जैनदर्शन में मन, वचन एवं काया की प्रवृत्तियों को योग कहा जाता है, उद्धहन का तात्पर्य है- ऊर्ध्वमुखी गमन। अतः योगोद्धहन का तात्पर्य मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी या आत्मोन्मुखी बनाना है। वर्धमानसूरि के अनुसार मन, वचन और काया की समाधिपूर्ण-तप साधना को योग कहते हैं, अथवा आगम या सिद्धांत-ग्रन्थों की वाचना हेतु अन्यत्र उल्लेखित तप-साधना को योगोद्धहन कहते हैं।^{४६९} दिग्म्बर-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा में सूत्रों के अध्ययनार्थ इस प्रकार तप करने के विधानों का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता है।

दिग्म्बर-परम्परा में श्वेताम्बर परम्परा की भाँति योगोद्धहन के माध्यम से शास्त्रों का अध्ययन कराए जाने की परम्परा नहीं है। वहाँ मात्र शास्त्र की

^{४६८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बीसवीं, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{४६९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-इकीसवीं, पृ.-८१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

समाप्तिपर्यन्त मौन रहकर ही अध्ययन किया जाता है, जिसे आदिपुराण में मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रिया के नाम से उल्लेखित किया गया है।

वर्धमानसूरि के अनुसार इस संस्कार का प्रयोजन मन, वचन एवं काया की प्रवृत्तियों का निग्रह करना है।^{५००} संसार में जीव कर्म का बंध इन तीन योगों के कारण से ही करता है। योगोद्धहन के माध्यम से उन योगों को शुभ कार्यों में लगाया जाता है, जिससे वे कर्मबंध का हेतु न बन सकें। इस संस्कार में कालग्रहण, जप आदि शुभ क्रियाओं से मन का, मौनादि के माध्यम से वचन का एवं नीरस आहार तथा संघटा आदि क्रियाओं से काया का निग्रह किया जाता है। इस प्रकार इस संस्कार का प्रयोजन मन-वचन एवं काया की प्रवृत्तियों का निग्रह करके जीव को आत्मोन्मुख बनाना है।

श्वेताम्बर-परम्परा के विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थों यथा-विधिमार्गप्रपा, सामाचारी, सुबोधासामाचारी आदि में भी योगोद्धहन की विधि का उल्लेख मिलता है। उनमें वर्णित विधि प्रायः आचारदिनकर में वर्णित विधि के सदृश ही है।

चारित्र ग्रहण करने के कितने समय पश्चात् मुनि को योगोद्धहन करके सूत्रों का वाचन करना चाहिए? इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने आचारदिनकर ग्रन्थ में कोई निर्देश नहीं दिया है, किन्तु श्वेताम्बर-परम्परा के अन्य ग्रन्थों एवं आगमों में इस विषय की गहराइयों को समझते हुए, इस सम्बन्ध में विशेष जोर दिया गया है। कहा भी गया है-

“आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ।

इअ सिद्धंत रहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ।।”

अर्थात् जिस प्रकार मिट्टी के कच्चे घड़े में डाला गया पानी कच्चे घड़े का नाश करता है, उसी प्रकार अयोग्य को दिया गया सिद्धांत का रहस्य उसकी आत्मा का नाश करता है।^{५०१} अतः आगमग्रन्थों में भी इस विषय पर बल देते हुए निर्देश दिया है कि^{५०२}-

तिवास-परियायस्स समणस्स निग्गंधस्स कप्पइ आयारपकप्पे नामं अज्झयणं उद्दिसित्तए। चउवास-परियायस्स समणस्स निग्गंधस्स कप्पइ सूयगडे नामं अंगे उद्दिसित्तए। पंचवास-परियायस्स समणस्स निग्गंधस्स कप्पइ दसा-कप्प ववहारे उद्दिसित्तए। अट्ठवास- परियायस्स समणस्स निग्गंधस्स कप्पइ ठाण-समवाए

^{५००} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{५०१} पंचवस्तु, अनु.-राजशेखरसूरिजी, द्वार-गणानुज्ञाद्वार, पृ.-४४५, अरिहंत आराधक ट्रस्ट, बॉम्बे, द्वितीय संस्करण.

^{५०२} व्यवहारसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र सं.-१०/२२-३६, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण: १९६२.

उद्दिसित्तए। दसवास- परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ वियाहे नाम अंगे उद्दिसित्तए। एक्कारसवास- परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ खुड्डियाविमाण पविभत्ती, महल्लियाविमाण पविभत्ती, अंगचूलिया, वग्गचूलिया, वियाहचूलिया नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए। बारसवास-परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ अरूणोववाए, वरूणोववाए, गरूलोववाए, धरणोववाए, वेसमणोववाए, वेलंधरोववाए, नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए। तेरसवास-परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ उट्ठाणसुए, समुट्ठाणसुए, देविदपरियावणिए, नागपरियावणिए नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए। चोदसवास-परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ सुमिण भावणानामं अज्झयणे उद्दिसित्तए। पन्नरसवास-परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ चारण भावणानामं अज्झयणे उद्दिसित्तए। सोलसवास-परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ तेयणिसग्गे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए। सत्तरवास- परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ आसीविसभावणानामं अज्झयणे उद्दिसित्तए। अट्ठारसवास- परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिविसभावणानामं अज्झयणे उद्दिसित्तए। एगूणवीसवास-परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिवाय नाम अंगे उद्दिसित्तए। वीसवास-परियाए समणे निग्गंथे सब्बसुयाणुवाइ भवइ।”

इस प्रकार तीन बरस के दीक्षापर्याय वाले को आचारांग, चारवर्ष के दीक्षापर्याय वाले को सूत्रकृतांग, पाँच वर्ष के दीक्षापर्याय वाले को दशा, कल्प, व्यवहारसूत्र, आठ वर्ष के दीक्षापर्याय वाले को स्थानांग एवं समवायांगसूत्र, दस वर्ष के दीक्षा पर्याय वाले को व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, ग्यारह वर्ष के दीक्षा के पर्याय वाले को क्षुल्लिका विमानप्रविभक्ति, महल्लिका विमानप्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका, और व्याख्याचूलिका, बारह वर्ष के दीक्षा पर्याय वाले को अरूणोपपात, वरूणोपपात, गरूडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात एवं वेल्न्धरोपपात, तेरह वर्ष के दीक्षापर्याय वाले को उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, देवेन्द्र परियापनिका एवं नागपरियापनिका, चौदह वर्ष के दीक्षापर्याय वाले को स्वप्नभावना, पन्द्रह वर्ष के दीक्षापर्याय वाले को चारणभावना, सोलह वर्ष के दीक्षापर्याय वाले को तेजोनिर्ग, सत्रह वर्ष के दीक्षापर्याय वाले को आसीविषभावना, अठारह वर्ष के दीक्षापर्याय वाले को दृष्टिविषभावना, उन्नीस वर्ष के दीक्षापर्याय वाले को दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग पढ़ाना कल्पता है तथा बीस वर्ष के दीक्षा पर्याय वाला श्रमण सर्वश्रुत को धारण कर सकता है।

इस विषय की चर्चा करते हुए श्री बृहद्योगविधि में भी इसका उल्लेख किया गया है।^{५०२}

संस्कार का कर्ता-

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार विशिष्ट गुणों के धारक अथवा उपाध्याय आदि द्वारा करवाया जाता है। संस्कार को कराने वाले गुरु के गुणों की चर्चा भी ग्रन्थकार ने विस्तार से की है कि वह किस प्रकार का होना चाहिए, कैसे-कैसे गुण उसमें होने चाहिए, इत्यादि।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इसकी निम्नविधि अंकित की है-

योगोद्धहन-विधि-

आगमग्रन्थों के अध्ययन हेतु तप एवं उनका पारण तथा स्वाध्याय हेतु कालग्रहण आदि को निर्धारित क्रम से करना योगोद्धहन है। इस विधि में सर्वप्रथम यह बताया गया है कि किस प्रकार के गुणों से युक्त साधु योगोद्धहन के योग्य होता है, योगोद्धहन करवाने वाले गुरु किस प्रकार के होने चाहिए, योगोद्धहन में किस प्रकार की सामग्री, उपकरण आदि सहायक होते हैं, साथ ही योगोद्धहन हेतु किस प्रकार का क्षेत्र एवं वसति शुभ होती है- इसका विस्तृत विवेचन मूलग्रन्थ में हुआ है। तत्पश्चात् योगोद्धहन हेतु उचित काल बताते हुए योगोद्धहन की सामान्य चर्चा का उल्लेख किया गया है। तदनन्तर विभिन्न आगमों के साथ-साथ भगवतीसूत्र के योग की विशेष चर्चा का भी उल्लेख हुआ है। इसमें यह बताया गया है कि भगवतीसूत्र के योगवाही को किस प्रकार का आहार लेना चाहिए, किस प्रकार का आहार नहीं लेना चाहिए, भिक्षा ग्रहण करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। तीस प्रकार के निवियातों में से कौन-कौनसे निवायतें किस प्रकार साधु को ग्रहण करने के योग्य हैं, इत्यादि। कदाचित् निर्दिष्ट चर्चा का भंग हो जाए, तो उसका क्या प्रायश्चित्त आता है, इस पर भी मूलग्रन्थ में विचार किया गया है।

तदनन्तर आवागमन में होने वाले संस्पर्शों के दोषों की विधि बताई गई है। तत्पश्चात् हाथ, पैर, धर्मध्वज, पात्र डोरी, झोलिका आदि स्थिर संघट्ट (संस्पर्श) हैं- इस कथन का उल्लेख करते हुए मूलग्रन्थ में इन सबकी स्पर्शन की विधि का उल्लेख किया गया है। तदनन्तर किन कालों में कालग्रहण, स्वाध्याय आदि करे, उससे सम्बन्धित उचित एवं अनुचित काल का मूलग्रन्थ में सूचन किया गया है।

^{५०२} श्री बृहद् योग विधि, श्री खान्तिविजयजी गणि, पृ.-१२, श्री उमेद खान्ति जैन ज्ञान मंदिर, झींझुवाडा, १९२८.

इस प्रकरण में अस्वाध्यायकाल की भी विस्तार से चर्चा की गई है। तदनन्तर यह बताया गया है कि योग के आरम्भ में योगवाही को लोच, उपधि प्रक्षालन, सर्वाश्रयों का त्याग तथा कल्प्यतर्पण की विधि करनी चाहिए। तत्पश्चात् योगोद्धहन की विधि के समय दिन-शुद्धि आदि देखे जाने का कथन किया गया है। तत्पश्चात् आगम के (१) श्रुत (२) श्रुतस्कन्ध (३) वर्ग या शतक (४) अध्ययन (५) उद्देशक-इन पाँच विभागों को बताते हुए प्रत्येक विभाग की व्याख्या की गई है तथा उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के अर्थ को भी स्पष्ट किया गया है। तदनन्तर यह बताया गया है कि अंग-आगमों के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक आदि की वाचना दिवस के प्रथम प्रहर में ही करें, अन्य प्रहरों में न करें। अंगबाह्य के अध्ययन, उद्देशक आदि की वाचना रात्रि में कर सकते हैं। तत्पश्चात् योग के दो प्रकारों आगाढ़योग एवं अनागाढ़योग की व्याख्या करते हुए यह बताया गया है कि कौनसे सूत्र के योग आगाढ़ हैं तथा कौनसे सूत्र के योग अनागाढ़ हैं।

तदनन्तर कालिकसूत्रों के योग हेतु कालग्रहण की विधि एवं स्वाध्याय प्रस्थापन की विधि बताई गई है। योगवाही को प्रतिदिन प्रभातकाल में योग के संरक्षणार्थ एक लोगसस का कायोत्सर्ग करना चाहिए तथा योगोद्धहन एवं श्रुतस्कन्धों के आरंभ समाप्ति पर नंदीविधि करनी चाहिए। तत्पश्चात् मूलग्रन्थ में नंदीविधि का उल्लेख हुआ है। यह नंदीविधि प्रव्रज्याविधि के समान ही है, किन्तु नंदीपाठ के अन्त में उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु कुछ विशेष क्रिया की जाती है। तदनन्तर उद्देशक आदि के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि बताई गई है। तदनन्तर योगवाही अमुक श्रुतस्कन्ध, अमुक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश अथवा अनुज्ञार्थ आयम्बिल एवं नीवि के (प्रत्याख्यान) हेतु गुरु से निवेदन करे। तत्पश्चात् गुरु निरुद्ध में आयम्बिल का तथा पारण में नीवि का प्रत्याख्यान कराए। तत्पश्चात् पुनः स्वाध्याय प्रस्थापन करे। कालिक एवं उत्कालिक अंगबाह्य आगमग्रन्थों के अध्ययन हेतु कालग्रहण, स्वाध्यायप्रस्थापन, संघट्टा आदि की अलग से कोई विधि नहीं कही गई है। इनकी विधि अंगप्रविष्ट आगमग्रन्थों हेतु निर्दिष्ट विधि के समान ही है। यह सब योगों के संसाधन की विधि है।

तदनन्तर विभिन्न आगमों के योगोद्धहन की क्रमिक विधि बताई गई है। सर्वप्रथम आवश्यकसूत्र के योगोद्धहन की विधि बताई गई है। आवश्यकसूत्र में एक श्रुतस्कन्ध हैं, यह आगाढ़योग है तथा इस योग में आठ दिन लगते हैं। इस योग में एकान्तर से आयम्बिल के पारणे नीवि करते हैं। प्रथम तथा अन्तिम दिन नंदीक्रिया की जाती है। प्रथम छः दिनों में षट् अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु क्रिया की जाती है। प्रथम दिन आवश्यक श्रुतस्कन्ध के उद्देश की क्रिया भी की जाती है तथा उस दिन मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, वंदन, खमासमणा,

कायोत्सर्ग- ये सब क्रियाएँ चार-चार बार करते हैं। शेष दिनों में ये सब क्रियाएँ तीन-तीन बार करते हैं। अन्तिम दो दिन श्रुतस्कन्ध के अनुज्ञा की विधि होती है- ऐसा मूलग्रन्थ में उल्लेख है, किन्तु बृहद्योगविधि के अनुसार अंतिम दो दिनों में क्रमशः आवश्यक श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया की जाती है और वह हमें उचित भी लगता है। इस प्रकार आठ दिनों में आवश्यकसूत्र के योग होते हैं। इसी प्रकार मूलग्रन्थ में दशवैकालिक, मण्डलीप्रवेश, उत्तराध्ययनसूत्र, आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, निशीथ, जीतकल्प, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरणदशा, विपाकसूत्र, उपांगसूत्र, प्रकीर्णकसूत्र, महानिशीथसूत्र, एवं भगवतीसूत्र के योगोद्बहन की विधि का भी उल्लेख हुआ है। स्थानाभाव के कारण उसका उल्लेख हम यहाँ नहीं कर रहे हैं। इसकी विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग के उनतीसवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

उपसंहार-

प्रत्येक वस्तु या क्रिया की क्या आवश्यकता एवं उपादेयता है, इस सम्बन्ध में विचार करना अनिवार्य है। योगोद्बहन के माध्यम से जीव को बाह्य पौद्गलिक जगत् से दूर करके स्व में स्थित किया जाता है, क्योंकि जब तक साधक बहिरात्मा बना रहता है, अर्थात् ऐन्द्रिक विषयों में रूचि रखता है, तब तक वह सूत्रों का भी सम्यक् प्रकार से अध्ययन नहीं कर पाता है। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि जब तक हम अपना मन एकाग्र नहीं करते हैं, तब तक हमारा मन अध्ययन में नहीं लगता है। चाहे व्यक्ति की आंखें हाथ में रही हुई पुस्तक का अवलोकन करती रहे, किन्तु वह उस पुस्तक में रहे हुए विषय का हार्द समझ नहीं पाता है। इसी प्रकार किस विषय को किस अपेक्षा से कहा गया है, इसको जान पाना भी तब तक सम्भव नहीं है, जब तक हम उस विषय की गहराई तक नहीं पहुँचें। साधारण से विषय को समझने के लिए भी जब हमें इतनी सावधानी रखनी पड़ती है, तो स्याद्वाद की प्रचुरता वाले आगमग्रन्थों को जानने के लिए तो कितनी सावधानी रखनी पड़ेगी; क्योंकि आगमग्रन्थों में किस विषय को किस समय किस नय की अपेक्षा से कहा गया है, इसे धीर और गम्भीर व्यक्ति ही समझ सकता है। योगोद्बहन के माध्यम से उसे साधना के ऐसे स्तर पर पहुँचाया जाता है कि जिससे वे उस विषय का सम्यक् अध्ययन कर सकें। योगोद्बहन करने से न केवल आगम सूत्रों के वांचन का ही अवसर प्राप्त होता है, वरन् कर्मों की निर्जरा भी होती है, क्योंकि मन-वचन-कायास्वरूप योग को अशुभ प्रवृत्ति करने का अवकाश

ही नहीं मिलता है। इसी के साथ ही केवल उनकी शुभ प्रवृत्तियाँ ही क्रियाशील रहती हैं, अतः कर्मों को क्षय करने में भी इस संस्कार का महत्वपूर्ण अवदान है।

वर्तमान में भी श्वेताम्बर-परम्परा के कुछ गच्छों में यह परम्परा प्रचलित है।

वाचना ग्रहण विधि

वाचना-ग्रहण-विधि का स्वरूप-

वाचना-ग्रहण का तात्पर्य है कि विधिपूर्वक सिद्धांतग्रन्थों के सूत्रार्थ को ग्रहण करना। इस विधि में वाचना-ग्रहण से लेकर वाचना के पश्चात् तक की समस्त क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। वाचना-ग्रहण करने से पूर्व मुनि को क्या-क्या करना चाहिए, वाचना ग्रहण करते समय उसे किस प्रकार बैठना चाहिए, वाचना पूर्ण होने पर उसे क्या करना चाहिए इत्यादि क्रियाओं का इस विधि में उल्लेख किया गया है। यद्यपि योगोद्धहन के मध्य भी सिद्धांतसूत्रों की वाचना दी जाती है, किन्तु वहाँ उनका उल्लेख मात्र ही है। वाचना ग्रहण करने वाला मुनि क्या-क्या क्रियाएँ करे? इन सबका विस्तृत उल्लेख उसमें इतनी स्पष्टता के साथ नहीं किया गया है, इसी हेतु वर्धमानसूरि ने इसे संस्कार का रूप देकर इसकी पृथक् से व्याख्या की है। दिगम्बर-परम्परा में भी वाचना ग्रहण की जाती है, किन्तु इस सम्बन्ध में पं. आशाधरजी की कृति अणगारधर्मामृत^{१०४} में मात्र इतना ही उल्लेख मिलता है कि साधुओं को ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी के दिन बृहत् सिद्धभक्ति और बृहद् श्रुतभक्तिपूर्वक श्रुतस्कन्ध की वाचना, अर्थात् श्रुत के अवतार, अर्थात् श्रुत के अवतरण का उपदेशग्रहण करना चाहिए। उसके बाद श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय करना चाहिए और श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय को समाप्त करना चाहिए। समाप्ति पर शान्तिभक्ति भी करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त वाचना ग्रहण करने के सम्बन्ध में कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलते हैं।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{१०५} इस संस्कार का प्रयोजन गुरु-मुख से वाचना ग्रहण करना है, क्योंकि गुरु के बिना प्राप्त ज्ञान आकाश-कुसुम के समान निरर्थक होता है। जिस प्रकार आकाशपुष्प का कोई अर्थ (मूल्य) नहीं होता है, उसी प्रकार गुरु बिना गृहीत ज्ञान का भी कोई मूल्य नहीं होता है। गुरुगम से प्राप्त किया गया ज्ञान ही आत्मोत्थान में सहायक होता है। गुरुगम के बिना प्राप्त किया गया ज्ञान

^{१०४} अणगारधर्मामृत, अनु.-कैलाशचन्द्र शास्त्री, अध्याय-६, पृ.- ६७२-७३, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९७७.

^{१०५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बाईसवाँ, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

आत्मा का उत्थान कर सके, यह संभव नहीं है। इस प्रकार इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन गुरुगम से वाचना ग्रहण करना है।

वर्धमानसूरि के अनुसार यह विधि वाचना-ग्रहण के समय की जानी चाहिए, किन्तु किस दिन एवं किस समय वाचना ग्रहण करे, इसका उल्लेख उन्होंने इस उदय में नहीं किया है। सामान्यतया स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय में शास्त्रों के अध्ययन एवं अध्यापन का कार्य करना चाहिए। अनध्यायकाल में सूत्रों के अध्ययन एवं अध्यापन का कार्य नहीं करना चाहिए। स्थानांगसूत्र^{५०६} में इस विषय की चर्चा करते हुए बत्तीस अनध्यायों का उल्लेख किया गया है। दिगम्बर-परम्परा के मूलाचार^{५०७} में भी स्वाध्याय के कालादि का वर्णन मिलता है। विधिमार्गप्रपा^{५०८} में भी अनध्याय विषयक उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार वैदिक-परम्परा में भी मनुस्मृति आदि स्मृतियों में अनध्यायकाल का विस्तृत वर्णन मिलता है।

संस्कार का कर्त्ता-

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार निर्ग्रन्थ मुनियों द्वारा किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी सामान्यतः शास्त्रों की वाचना निर्ग्रन्थ मुनियों के द्वारा ही ग्रहण की जाती है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इसकी निम्न विधि प्रज्ञप्त की है:-

वाचना-ग्रहण विधि-

वर्धमानसूरि ने सर्वप्रथम इस विधि में वाचना ग्रहण करने के योग्य मुनि के लक्षणों का निरूपण किया है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि गुरु कैसे होने चाहिए। तदनन्तर योगोद्धहन हेतु आवश्यक सामग्री का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् वाचनाग्रहण की विधि का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि दृढयोग वाला मुनि विधिपूर्वक प्रभातकाल ग्रहण कर स्वाध्याय प्रस्थापन करे। तत्पश्चात् गुरु के पास जाकर गमनागमन में लगे दोषों का प्रतिक्रमण कर गुरु को द्वादशावर्त वन्दन करे। तत्पश्चात् शिष्य गुरु को अध्ययन आरंभ कराने के लिए निवेदन करे

^{५०६}स्थानांगसूत्र, सम्पादक- मुनिजम्बुविजयजी, सूत्र-२८५ एवं ७१४, महावीर जैन विद्यालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९८५.

^{५०७}मूलाचार, डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार-पंचम, पृ.-१९३ से १९४, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण १९६६.

^{५०८}विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण-२१, पृ.-४१ से ४२, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००.

तथा अनुयोग के आरम्भार्थ कायोत्सर्ग करे। तत्पश्चात् शिष्य गुरु के समक्ष सुखासन में बैठकर विधिपूर्वक वाचना ग्रहण करे। वाचना के बीच किन-किन कार्यों का निषेध किया जाना चाहिए, इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। इसके साथ ही वाचनाक्रम का भी वहाँ उल्लेख किया गया है। तदनन्तर वाचना के पश्चात् गुरु के साथ शिष्य स्वाध्यायप्रस्थापना करे तथा अनुयोग के प्रतिक्रमणार्थ कायोत्सर्ग करे। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि वाचनाक्रम में वाचना करते हुए संघट्टा (संस्पर्श) और आयम्बिल आदि कुछ भी न करे। साधुओं द्वारा प्रतिदिन यह क्रिया करनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय विभाग के बाईसवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में मुनि के वाचनाग्रहण-संस्कार के सदृश किसी संस्कार का उल्लेख प्रायः हमें नहीं मिलता है। यद्यपि वैदिक-परम्परा में उपनयन संस्कार में ही वेदाध्ययन का एक उपसंस्कार होता है, किन्तु उस परम्परा में मुनि/संन्यासी के अध्ययन सम्बन्धी किसी विशिष्ट विधि-विधान का कोई उल्लेख हमें देखने को नहीं मिला। दिगम्बर-परम्परा में मुनि के शास्त्र अध्ययन सम्बन्धी संस्कार का उल्लेख तो पुराणों में क्रिया के रूप में है, किन्तु उसकी पूरी प्रक्रिया का उल्लेख नहीं है।

श्वेताम्बर परम्परा के विधिमार्गप्रपा, पंचवस्तु आदि ग्रन्थों में इस संस्कार की चर्चा मिलती है। विधिमार्गप्रपा में इस संस्कार को वाचनादान के रूप में उल्लेखित किया गया है,^{५०६} जिसकी विधि लगभग आचारदिनकर में वर्णित वाचनाग्रहण-संस्कार की भाँति ही है। इन दोनों विधियों में जो आंशिक भिन्नता है, उसकी चर्चा हम यहाँ करेंगे। आचारदिनकर में वाचना ग्रहण करने वाले साधु को किस क्रम से आगमसूत्रों की वाचना दें, इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है, किन्तु विधिमार्गप्रपा में मुनि को किन-किन सूत्रों का अध्ययन कराएँ, इसका तो उल्लेख मिलता है, परन्तु किस क्रम से उनका अध्ययन कराएँ- इसका उल्लेख नहीं मिलता। वाचनादान में सूत्रों के क्रम का बहुत महत्व है। सर्वविरति चारित्र का पालन करने में जो सूत्र अत्यन्त उपयोगी हो, उन्हीं का अध्ययन सर्वप्रथम कराया जाता है, क्योंकि जब तक नींव मजबूत नहीं हो, तब तक उसका ढाँचा अपने

^{५०६} विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण-२१, पृ.-४१ से ४२, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००.

निर्धारित स्वरूप को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर पाता है। व्यवहार नामक छेदसूत्र में भी किस आगम को किस क्रम से और कितने वर्ष की दीक्षापर्याय के पश्चात् पढ़ाया जाए, इसकी विस्तृत चर्चा है, जिसका उल्लेख हमने योगोद्धहन-विधि में किया है।

आचारदिनकर में वाचना-ग्रहण करने के योग्य मुनि के लक्षण, वाचना-सामग्री का भी उल्लेख मिलता है, विधिमार्गप्रपा में इसका उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु दशाश्रुतस्कन्ध^{५१०} में वाचना के योग्य कौन मुनि होता है, इस संदर्भ में उल्लेख मिलता है।

वाचनाग्रहण विधि की कुछ क्रियाएँ ऐसी भी हैं, जिनकी चर्चा हमें विधिमार्गप्रपा में तो मिलती है, किन्तु आचारदिनकर में नहीं मिलती है, जैसे^{५११}-अनुयोग के आरम्भार्थ कायोत्सर्ग के बाद वाचना देने की आज्ञा प्राप्त करने हेतु एवं वाचना की आज्ञा को स्वीकार करने हेतु वाचनादाता आचार्य को खमासमणा देता है, इसी प्रकार आसन ग्रहण करने हेतु भी दो बार खमासमणा देना होते हैं।

आचारदिनकर में वाचनादान एवं वाचनाश्रवण के नियमों तथा वाचनाश्रवण से क्या लाभ होता है, इसकी चर्चा नहीं मिलती है, जबकि विधिमार्गप्रपा^{५१२} एवं पंचवस्तु^{५१३} में इस विषय की स्पष्ट चर्चा मिलती है। इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा के उपर्युक्त ग्रन्थों की इन विधियों में आंशिक समानता एवं भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

उपसंहार-

मुनि-जीवन में यह संस्कार अत्यन्त आवश्यक है, जिस प्रकार खदान में पड़े हुए हीरे को योग्य जौहरी तराशकर उसके मूल स्वरूप को प्रकट कर देता है, उसी प्रकार योग्य गुरु शिष्य को शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन कराकर उसके शुद्धात्मस्वरूप को प्रकट करने में सहायक होता है। वाचना-ग्रहण की विधि से मात्र शिष्य का ही श्रेय नहीं होता, वरन् गुरु के भी कर्तव्य का निर्वाह होता है, क्योंकि गुरु का भी यह कर्तव्य होता है कि वह अपनी शक्ति के अनुसार स्व-आश्रित शिष्यों का अनुग्रह करने के ध्येय से उन्हें वाचना अवश्य दे। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि वाचनादाता गुरु भी स्वयं की वाचना देने की

^{५१०} दशाश्रुतस्कन्ध, मधुकरमुनि, सूत्र-४/१०-१३, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९६२.

^{५११} विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण-२६, पृ.-६५, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००.

^{५१२} विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण-२६, पृ.-६५, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००.

^{५१३} पंचवस्तु, अनु.-राजशेखरसूरिजी, द्वार-गणानुज्ञाद्वार, पृ.-४५४ से ४५५, अरिहंत आराधक ट्रस्ट, बॉम्बे, द्वितीय संस्करण.

शक्ति का गोपन करके अन्य आराधना करता है, तो उसका ऐसा करना उचित नहीं है। कारण, शक्ति का गोपन किए बिना जो यत्न करता है, उसे ही यति कहते हैं।^{५१४} श्वेताम्बर-परम्परा में भद्रबाहु स्वामी द्वारा अपनी ध्यान साधना हेतु मुनियों को पूर्वो का अध्ययन कराने से निषेध करने पर उन्हें प्रायश्चित्त का अधिकारी बताया था, अतः ज्ञानी गुरु को कर्तव्य का निर्वाह करने हेतु भी यह संस्कार आवश्यक है।

मोक्ष की प्राप्ति में सहायक होने के कारण भी यह संस्कार उपयोगी है, क्योंकि प्रायः श्रुतधर्म से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। “सम्यक्त्व मोक्ष का बीज है, वह सम्यक्त्व स्वरूपतः सत्य जीवादि तत्त्वों के ज्ञान एवं श्रद्धास्वरूप और आत्मा के शुभ परिणामस्वरूप होता है। सम्यक्त्व प्रकट होते के साथ ही जीव को शुभाशय वाला बनाता है, जिससे जीव को पारमार्थिक सुख की प्राप्ति होती है। जीव जब परमार्थतः धर्म में प्रवृत्ति करता है, तो वह पारमार्थिक शुभ का अनुबंध करता है।^{५१५} इस प्रकार अनन्तर मोक्ष का हेतु होने के कारण भी यह संस्कार अत्यन्त उपयोगी है।

वाचनानुज्ञा (वाचनाचार्य) विधि

वाचनानुज्ञा विधि का स्वरूप-

वाचनानुज्ञा शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- वाचना+अनुज्ञा। वाचना शब्द का तात्पर्य अध्ययन करना और अध्ययन कराना- दोनों ही हैं, क्योंकि वाचना में वाचना देने वाला (गुरु) और वाचना लेने वाला शिष्य-दोनों ही अन्तर्गर्भित है। अनुज्ञा का तात्पर्य अनुमति प्रदान करना है। संक्षेप में अध्ययन कराने की अनुमति प्रदान करने की विधि को वाचनानुज्ञा की विधि कहते हैं। इस संस्कार के माध्यम से वाचना प्रदान करने के योग्य मुनि को वाचनाचार्य के पद पर नियुक्त किया जाता है। वाचनाचार्य के पद पर नियुक्त होने के बाद उस मुनि का यह कर्तव्य होता है, कि वह अपनी शक्ति के अनुरूप वाचना दें, अर्थात् अध्ययन कराए। वर्धमानसूरि ने वाचनाचार्य की विधि का वर्णन करते हुए कहा है कि गणानुज्ञा की भी यही विधि है।^{५१६} दोनों की विधियों में जो आशिक भिन्नता है, उसे भी ग्रंथकार ने आचारदिनकर में उल्लेखित किया है। दिगम्बर-परम्परा में

^{५१४} पंचवस्तु, अनु.-राजशेखरसूरिजी, द्वार-गणानुज्ञाद्वार, पृ.-४५३, अरिहंत आराधक ट्रस्ट, बॉम्बे, द्वितीय संस्करण.

^{५१५} पंचवस्तु, अनु.-राजशेखरसूरिजी, द्वार-गणानुज्ञाद्वार, पृ.-४६१, अरिहंत आराधक ट्रस्ट, बॉम्बे, द्वितीय संस्करण.

^{५१६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- तैईसवीं, पृ.-११२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

निर्दिष्ट गणोपग्रहण क्रियाविधि^{५१७} की तुलना हम आचारदिनकर में वर्णित वाचनानुज्ञा या गणानुज्ञा से कर सकते हैं। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई संस्कार हमें देखने को नहीं मिला।

वर्धमानसूरि के अनुसार आचार्य या उपाध्याय की अनुपस्थिति में वाचना देने हेतु अन्य योग्य मुनि को अनुमति प्रदान करने के उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है।^{५१८} आचार्य या उपाध्याय की अनुपस्थिति में निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी वाचना अर्थात् श्रुताध्ययन आदि कार्यों से वंचित न रह जाएं- इस प्रयोजन से यह संस्कार किया जाता है, क्योंकि मोक्षाभिलाषियों के लिए श्रुताध्ययन अत्यन्त अनिवार्य है, उसके अभाव में मोक्षार्थी अपने पथ से च्युत हो सकता है। अतः गच्छ के साधु-साध्वी समुदाय को आचार्य की अनुपस्थिति में भी वाचना मिलती रहे, अर्थात् उनका शास्त्राध्ययन होता रहे, इस दीर्घ दृष्टि से ही वाचनाचार्य की नियुक्ति की जाती है।

वर्धमानसूरि ने यह संस्कार किस माह, नक्षत्र आदि में करणीय है, इसका विस्तृत उल्लेख न करते हुए मात्र इतना ही उल्लेख किया है कि आचार्यपदयोग के आने पर शुभ दिन एवं शुभ लग्न में यह संस्कार करें, किन्तु मुनि को यह पद कितनी दीक्षापर्याय के पश्चात् दिया जाए- इस सम्बन्ध में आचारदिनकर में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। उसमें मात्र इस पद हेतु योग्य मुनि के लक्षण ही बताए गए हैं, जिसकी चर्चा आंशिक रूप से दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित गुरुस्थानाभ्युपगमक्रिया में भी मिलती है।^{५१९} इस प्रकार दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ आदिपुराण में वर्णित गुरुस्थानाभ्युपगम एवं गणोपग्रहण क्रिया का इस संस्कार में समावेश हो जाता है। सम्भवतः मुनि में इन योग्यताओं का प्रादुर्भाव होने पर ही उसे इस संस्कार से संस्कारित किया जाता होगा- ऐसा हम मान सकते हैं।

संस्कार का कर्ता-

संस्कार के कर्ता की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कारविधि आचार्य द्वारा ही सम्पन्न करवाई जाती

^{५१७} आदिपुराण, अनु.-डॉ. पन्नालालजी जैन, पर्व- अडतीसवाँ, पृ.-२५५, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{५१८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे प्रथम संस्करण १९२२.

^{५१९} आदिपुराण, अनु.- डॉ. पन्नालालजी जैन, पर्व-अडतीसवाँ, पृ.-२५४, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

है। दिगम्बर-परम्परा में भी गणोपग्रहण की क्रिया (आचार्य) द्वारा ही करवाने का निर्देश मिलता है।^{१२०}

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रस्तुत की है-

वाचनानुज्ञा-विधि-

वर्धमानसूरि ने इस विधि में सर्वप्रथम वाचनाचार्य पद के योग्य मुनि के लक्षणों का निरूपण किया है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि आचार्य-पदस्थापना के योग्य मुहूर्त, शुभ तिथि, वार, नक्षत्र, एवं लग्न में विशिष्ट वेश को धारण कर गुरु वाचनाचार्य पद के योग्य शिष्य को जिसने लोच एवं आयम्बल किया हुआ है, अपने पास में बुलाए। तत्पश्चात् समवसरण की रचना करवाकर शिष्य से तीन प्रदक्षिणा दिलवाए। तदनन्तर वाचना की अनुज्ञा हेतु नंदीविधि की क्रिया का क्रम चलता है। नंदीक्रिया के बाद गुरु शिष्य के सिर पर वासक्षेप करते हैं। तदनन्तर गुरु वर्धमानविद्या द्वारा वासक्षेप चूर्ण को अभिमंत्रित करके साधु-साध्वियों को दे। “अमुक मुनि वाचनाचार्य पद पर नियुक्त किए गए”- इस घोषणा के साथ सभी वाचनाचार्य के सिर पर वासक्षेप करें। तत्पश्चात् वाचनाचार्य समवसरण एवं गुरु की तीन प्रदक्षिणा करें। इसके बाद वाचनाचार्य कम्बल पर बैठकर देशना दे। तत्पश्चात् संघ के समक्ष गुरु वाचनाचार्य द्वारा करणीय कार्यों की अनुज्ञा प्रदान करते हैं। मंत्र की आराधना हेतु वर्धमान विद्यापट देते हैं। वाचनाचार्य विनयपूर्वक उस पट को ग्रहण करे तथा ज्येष्ठानुक्रम से साधुओं को वन्दन करे।

वाचनाचार्य-पदस्थापन-विधि के अन्तर्गत ही गणानुज्ञा (गणिपद प्रदान करने) की विधि भी निर्दिष्ट की गई है। इससे सम्बन्धित विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग के तेईसवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

वर्धमानसूरि ने वाचनाचार्य एवं गणनायक के जिन कार्यकलापों का निर्देश दिया है, प्रायः उन्हीं कार्यकलापों का निर्देश आदिपुराण में वर्णित गणोपग्रहणक्रिया में किया गया है, इसलिए हम इस संस्कार की तुलना गणोपग्रहणक्रिया से कर सकते हैं। वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इस संस्कार की विधि का विस्तार से उल्लेख किया है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा के पुराण आदि ग्रन्थों में हमें इस संस्कार

^{१२०} आदिपुराण, अनु.-डॉ. पन्नालालजी जैन, पर्व- अडतीसवाँ, पृ.- २५४-२५५, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

की कोई विशिष्ट विधि देखने को नहीं मिली। आदिपुराण में मात्र उनके कार्यों का ही उल्लेख किया गया है, जैसे^{५२१}- वह मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओं को समीचीन मार्ग में लगाता हुआ अच्छी तरह संघ का पोषण करे तथा शास्त्र-अध्ययन की इच्छा करने वाले को दीक्षा देकर शास्त्राध्ययन कराए और धर्मात्मा जीवों के लिए धर्म का प्रतिपादन करे। वह गणनायक सदाचार धारण करने वालों को प्रेरित करे। दुराचारियों को दूर हटाए और किए हुए स्वकीय अपराधरूपी मल को शोधता हुआ अपने आश्रितगण की रक्षा करे। वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में वाचनाचार्य एवं गणनायक के जो कार्य बताए हैं, उनका कार्यक्षेत्र आदिपुराण में वर्णित कार्यों की अपेक्षा व्यापक है। वर्धमानसूरि के अनुसार^{५२२} इस संस्कार से संस्कारित मुनि को वाचना देने, तप-विधान करवाने एवं दिशा अनुज्ञा के साथ-साथ व्रतारोपण, नंदी, योगोद्धहन, प्रतिष्ठा, शान्तिक एवं पौष्टिककर्म करवाने की भी अनुमति प्रदान की जाती है।

इस प्रकार दिग्म्बर एवं श्वेताम्बर-परम्परा में प्रचलित इन दोनों विधियों में आंशिक समानता एवं आंशिक भिन्नता है।

श्वेताम्बर-परम्परा के अन्य ग्रन्थों में भी इस संस्कार का उल्लेख मिलता है, जैसे- विधिमार्गप्रपा, सामाचारी, सुबोधासामाचारी आदि। विधिमार्गप्रपा एवं सामाचारी में यह विधि वाचनानुज्ञा (वाचनाचार्य) के नाम से ही विवेचित की गई है, किन्तु सुबोधासामाचारी में इस संस्कार का उल्लेख गणानुज्ञा के रूप में किया गया है। इस विधि को ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में भले ही भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया हो, किन्तु उनकी विधियाँ प्रायः एक समान ही है, कहीं-कहीं पर यत्किंचित् असमानता भी दृष्टिगोचर होती है। जैसे- आचारदिनकर में वाचनाचार्य या गणानुज्ञार्थ गणाचार्य (गणि) को वर्धमान स्तुतियों द्वारा चैत्यवन्दन करने के पश्चात् श्रुतदेवता, शान्तिदेवता आदि के आराधनार्थ कायोत्सर्ग एवं स्तुति करने का निर्देश दिया गया है,^{५२३} जबकि विधिमार्गप्रपा, सुबोधासामाचारी, सामाचारी आदि में चैत्यवन्दन के पश्चात् देवी-देवताओं के आराधनार्थ कायोत्सर्ग एवं स्तुति करने का उल्लेख नहीं मिलता है। इसी प्रकार इस पदारोपण-संस्कार के अवसर पर किन-किन द्वारा महोत्सव किया जाए, इसका उल्लेख आचारदिनकर में तो मिलता है, किन्तु विधिमार्गप्रपा, सुबोधासामाचारी, सामाचारी आदि में नहीं मिलता है। कुछ क्रियाएँ ऐसी भी हैं, जिनका उल्लेख आचारदिनकर में नहीं मिलता

^{५२१} आदिपुराण, अनु.- डॉ. पन्नालालजी जैन, पर्व-अडतीसवाँ, पृ.-२५४ से २५५, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{५२२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तेईसवाँ, पृ.-११२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे प्रथम संस्करण १९२२.

^{५२३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तेईसवाँ, पृ.-१११, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

है, किन्तु अन्य ग्रन्थों में मिलता है। जैसे- विधिमार्गप्रपा में वर्धमानविद्या-मंत्र का उल्लेख मिलता है^{५२४}, किन्तु आचारदिनकर में वर्धमानविद्या-मंत्र नहीं दिया गया है। वाचनाचार्य-पद प्रदान करते समय वाचनाचार्य पद धारण करने वाला शिष्य कौनसे तप का प्रत्याख्यान करे, इसका उल्लेख आचारदिनकर में मिलता है, किन्तु विधिमार्गप्रपा, एव सामाचारी में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। इसी प्रकार वर्धमानविद्या-मंत्रलेखन की विधि का उल्लेख सामाचारी^{५२५} में मिलता है, किन्तु आचारदिनकर में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

इस प्रकार यह संस्कार दोनों परम्पराओं में अपनी-अपनी गच्छ की मान्यता के अनुसार आज भी किया जाता है।

उपसंहार-

जैन-परम्परा में वाचना का बहुत महत्व है। नूतन मुनियों के दीक्षित होने के साथ ही उन्हें वाचना दी जाती है और उनके ज्ञान को परिपक्व बनाया जाता है, जिससे वे आगे चलकर उस परम्परा का निर्वाह कर सकें, किन्तु वाचना-ग्रहण करते समय यह आवश्यक नहीं है कि वाचना ग्रहण करने वाले सभी मुनि वाचना को सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर ही पाएं, क्योंकि ज्ञान के क्षयोपशम के कारण कोई अल्प मात्रा में उस वाचना को ग्रहण कर पाता है, तो कोई अधिक मात्रा में उस वाचना को ग्रहण कर पाता है। पुनः, वाचना ग्रहण करने के बाद भी यह आवश्यक नहीं, है कि वाचना ग्रहण करने वाले सभी मुनि वाचना प्रदान करने में समर्थ हो ही, क्योंकि कोई मुनि अपनी वाक् शैली एवं आगम युक्तियों से किसी को भी कोई विषय अच्छी तरह से समझा सकने में समर्थ होता है और कोई मुनि अपनी बात किसी को अच्छी तरह समझाने में समर्थ नहीं होता है। यह उनके ज्ञान के क्षयोपशम पर निर्भर है। अतः वाचना प्रदाता के रूप में सही व्यक्ति का चयन करना आवश्यक है। इस संस्कार के माध्यम से वाचना देने के योग्य, अर्थात् अध्यापन कराने के योग्य व्यक्ति का चयन करके उसे वाचनाचार्य के पद पर नियुक्त किया जाता है, जिससे कि वह अपने आश्रितों को सम्यक् ज्ञान दे सके, क्योंकि योग्य व्यक्ति ही अपने कार्यों को सही अंजाम दे सकता है।

यही गणानुज्ञा के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। कुशल एवं योग्य व्यक्ति ही गण का नेतृत्व भली प्रकार से कर सकता है। अकुशल व्यक्ति स्वयं तो कर्म

^{५२४} विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण-२७, पृ.-६६, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००.

^{५२५} सामाचारी, तिलकाचार्य विरचित, प्रकरण-३४, पृ.-४६, से ४७, सेठ डाह्याभाई भोकमचन्द, अहमदाबाद, वि.स. १९६०.

का बंधन करता ही है, साथ ही संघ में भी अव्यवस्था को फैलाता है; अतः गण के कुशल संचालन हेतु भी यह संस्कार आवश्यक है।

उपाध्याय पदप्रदान- विधि

उपाध्याय पदप्रदान विधि का स्वरूप-

उपाध्याय शब्द अध्याय के आगे उप उपसर्ग लगने से बना है। उप का अर्थ समीप तथा अध्याय का अर्थ-अध्ययन करना है, अर्थात् जिसके समीप बैठकर अध्ययन किया जाए, उसे उपाध्याय कहते हैं। भिक्षु आगम विषय कोश^{५२६} के अनुसार सूत्रार्थ के ज्ञाता तथा सूत्रवाचना द्वारा शिष्यों के निष्पादन में जो कुशल हो-उसे उपाध्याय कहते हैं। सामान्यतः श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार जो पठन-पाठन करवाए, उसे उपाध्याय कहते हैं। दिगम्बर-परम्परा में भी उपाध्याय शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि- जिसके पास जाकर अध्ययन किया जाए, उसे उपाध्याय कहते हैं।^{५२७} वैदिक-परम्परा में भी इस शब्द की यही व्याख्या की गई है, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि जैन-परम्परा में निर्ग्रन्थ उपाध्याय मात्र स्व-पर कल्याण के ध्येय से सिद्धांतों का पठन-पाठन करवाते हैं, जबकि वैदिक-परम्परा में उपाध्याय आजीविका का उपार्जन करने के लक्ष्य से शिष्यों को अध्ययन करवाते हैं। जैसा कि मनुस्मृति^{५२८} में कहा गया है कि- वेद के एक देश अथवा अंग को, जो वृत्ति के लिए अध्ययन कराता है, उसे उपाध्याय कहते हैं। भविष्य-पुराण के दूसरे अध्याय में भी उपाध्याय के सम्बन्ध में यही बात कही गई है। अतः जैन-परम्परा के उपाध्याय एवं वैदिक-परम्परा के उपाध्याय की अध्यापन दृष्टि में महत् अन्तर है।

उपाध्याय-पद के महत्व को समझते हुए वर्धमानसूरि ने इसे भी एक संस्कार के रूप में माना है, जबकि दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इसे संस्कार के रूप में नहीं माना है। यद्यपि वैदिक-परम्परा में यह पद होता तो है, लेकिन इस पद को प्रदान करने सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख उपलब्ध ग्रन्थों में देखने को नहीं मिला। विद्वज्जनों को यदि इस सम्बन्ध में कोई जानकारी हो, तो हमें अवश्य बताएं।^{५२९}

^{५२६} भिक्षुआगम विषयकोश (भाग-१), सम्पादक- आचार्य महाप्रज्ञ, पृ.- १५१, जैन विश्वभारती संस्थान, लाइनू, प्रथम संस्करण : २००५.

^{५२७} मूलाचार, सम्पादक-डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार-चतुर्थ, पृ.-११६, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद, प्रथम संस्करण १९६६.

^{५२८} हिन्दू धर्मकोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ.-१२३, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७८.

^{५२९} हुम्बुज श्रमण भक्तिसंग्रह, पृ.-४६६, श्रीसंतकुमार खण्डाका, खण्डाका जैन ज्वैलर्स, हस्तिदरों का रास्ता,

वर्धमानसूरि के अनुसार इस संस्कार का प्रयोजन शिष्यों को द्वादशांगी का सम्यक् रूपेण अध्यापन कराने हेतु मुनि विशेष की नियुक्ति करना है।^{६३०} सामान्य वाचनाओं के लिए तो योग्य वाचनाचार्यों की नियुक्ति की जाती है, किन्तु जिनवाणी के सारभूत द्वादशांगी का अध्ययन करवाने के उद्देश्य से उपाध्याय की नियुक्ति की जाती है। जिसे सम्यक् ज्ञान हो, वही शिष्यों को द्वादशांगी का परिपूर्ण अध्ययन करवा सकता है। इस प्रकार सम्यक् रूपेण सूत्रार्थ के अध्यापन के प्रयोजन से उपाध्याय-पद पर किसी मुनि की नियुक्ति की जाती है।

वर्धमानसूरि के अनुसार आचार्य-पद का योग, अर्थात् मुहूर्त होने पर यह संस्कार किया जाता है। ग्रन्थकर्ता ने इस संस्कार हेतु दीक्षा को महत्व न देते हुए मात्र उपाध्याय-पद की योग्यताओं का निरूपण किया है, अर्थात् जब व्यक्ति में उपाध्याय के पद के योग्य लक्षण प्रकट हो जाते हैं, तभी उसे उपाध्याय का पद प्रदान किया जाता है, किन्तु व्यवहार सूत्र में इस पद के लिए उपयुक्त योग्यताओं के साथ-साथ दीक्षापर्याय का भी निर्देश किया गया है। जैसे-^{६३१}

तिवास परियाए समणे निग्गंधे-आयार कुसले, संजम कुसले, पवयण कुसले, पण्णत्ति कुसले, संगह कुसले, उवग्गह कुसले, अक्खायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकितिट्ठायारे, बहुस्सुए बब्भागमे, जहण्णेणं आयारप्पकप्प-धरे, कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिदसित्ताए।

अर्थात् तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ-यदि आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल, और उपग्रह करने में कुशल हो, तथा अक्षत चारित्र वाला, अशबल चारित्र वाला और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हो और कम से कम आचार-प्रकल्प धारण करने वाला हो, तो उसे उपाध्याय का पद दिया जा सकता है।

उपर्युक्त योग्यताओं के अभाव में भले ही उसकी दीक्षापर्याय तीन वर्ष की भी हो, तो भी वह उपाध्यायपद के योग्य नहीं होता है। इसके सिवाय मध्यम या उत्कृष्ट किसी भी दीक्षापर्याय वाले एवं श्रुत-अध्यापन की योग्यता वाले किसी भी मुनि को यह पद दिया जा सकता है। इस प्रकार आगमसूत्रों में उपाध्याय के पद हेतु आवश्यक योग्यताओं के साथ-साथ उसके लिए जघन्य दीक्षापर्याय का भी निर्देश किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में भी उपाध्याय-पद के योग्य होने पर ही उसे उपाध्याय-पद से सुशोभित किया जाता है तथा वहाँ भी शुभ मुहूर्त आदि पर

जौहरी बाजार, जयपुर.

^{६३०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६३१} व्यवहारसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र.-३/३, पृ.-३११, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९६२.

विचार किया जाता है^{१३२}; यद्यपि वर्तमान में इन मानदण्डों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

संस्कार का कर्ता-

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार आचार्य द्वारा ही करवाया जाता है। वर्तमान में भी यह संस्कार आचार्य द्वारा ही करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी सामान्यतः यह संस्कार आचार्य (गुरु) द्वारा ही करवाया जाता है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इसकी निम्न विधि प्रवेदित की है-

उपाध्याय-पदस्थापन-विधि-

उपाध्याय-पदस्थापन की विधि आचार्य-पदस्थापन की विधि के सदृश ही है, किन्तु उपाध्याय-पदस्थापन की विधि में अक्षमुष्टि, वलय, गुरुवंदन, कालग्रहण की विधि, बृहत्नंदिपाठ, यव-वपन आदि क्रियाएँ नहीं होती हैं। बृहत्नंदिपाठ के स्थान पर वहाँ तीन बार लघुनंदि का पाठ बोला जाता है। उपाध्याय-पदस्थापनविधि के अन्तर्गत वर्धमानविद्यापट एवं वर्धमानविद्या प्रदान करने का भी उल्लेख है।

आचारदिनकर के चौबीसवें उदय में उपाध्याय-पदस्थापन की मात्र इतनी ही विधि का उल्लेख करते हुए वर्धमानसूरि ने इसकी विस्तृत जानकारी हेतु प्राचीन शास्त्रों में वर्णित आचार्य-पदस्थापन की विधि को देखने का निर्देश दिया है।

तुलनात्मक विवेचन-

यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में जो उपाध्याय पदस्थापना की विधि मिलती है, वह आचारदिनकर आदि श्वेताम्बर-पराम्परा के ग्रन्थों से एकदम भिन्न है। श्वेताम्बर-परम्परा की भाँति वहाँ नंदीक्रिया, कालग्रहण, बृहत्नंदिपाठ का श्रवण करना आदि कार्य नहीं किए जाते हैं। दिगम्बर-परम्परानुसार शुभमुहूर्त में दाता गणधरवलय एवं द्वादशांगी-श्रुत की पूजा करे। तत्पश्चात् श्रीखण्ड आदि के छीटे देकर अक्षत का स्वस्तिक करे तथा उस पर पट्ट को स्थापित कर उपाध्याय-पद के योग्य मुनि का पूर्वाभिमुख करके बैठाए। तदनन्तर आचार्य सिद्ध, श्रुत भक्ति का पाठ कर आह्वान आदि मंत्रोच्चारपूर्वक भावी उपाध्याय के सिर पर लौंग एवं पुष्प डाले। तत्पश्चात् मंत्रपूर्वक उसके सिर पर कपूरयुक्त चन्दन लगाकर शांति एवं समाधिभक्ति का पाठ करे। तदनन्तर नूतन उपाध्याय गुरुभक्ति कर उपाध्याय-पद

^{१३२} हुम्बुज श्रमण भक्तिसंग्रह, पृ.-४६६, श्रीसंतकुमार खण्डाका, खण्डाका जैन ज्वैलर्स, हल्दियों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर.

के दाता को नमस्कार करो। दाता भी प्रत्युत्तर में उसे आर्शीवाद प्रदान करो।^{५३३} यह उपाध्याय-पददान की विधि है। इस प्रकार श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में उपाध्याय-पदस्थापना की विधि में बहुत अन्तर दिखाई देता है। वैदिक-परम्परा में किस विधि से उपाध्याय पद पर नियुक्ति की जाती है; वैदिक-ग्रन्थों में उसकी विधि का अभाव होने से हम उसका तुलनात्मक अध्ययन नहीं कर सकते हैं। श्वेताम्बर-परम्परा के अनेक ग्रन्थों में इसकी विधि मिलती है। जैसे- विधिमार्गप्रपा, सामाचारी, सुबोधासामाचारी आदि।

इन सभी ग्रन्थों में प्रज्ञप्त विधि प्रायः समान ही है, किन्तु गच्छ-परम्परा के कारण उनमें आंशिक भिन्नता मिलती है, जिसकी चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं।

वर्धमानसूरि के अनुसार उपाध्याय-पदारोपण की विधि प्रायः आचार्य-पदस्थापन विधि के समान ही है। इसका तात्पर्य है कि आचार्यपद के योग्य लक्षण उपाध्याय पद के सन्दर्भ में भी जानना चाहिए। वर्धमानसूरि ने उपाध्याय-पद हेतु योग्यमुनि के लक्षणों का निरूपण बहुत ही विस्तार से किया है। आचारदिनकर के सदृश उपाध्याय-पद हेतु योग्यमुनि के लक्षणों की विस्तृत चर्चा उपर्युक्त ग्रन्थों में भी नहीं मिलती है। इन योग्यताओं से युक्त होने पर ही मुनि को उपाध्याय पद से विभूषित किया जाता है। इन गुणों से युक्त होने पर कदाचु शिष्य आहार-पानी की अपेक्षा किसको किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए-इन गुणों से रहित हो, तो भी उसे उपाध्याय-पद हेतु नियुक्त करना चाहिए। जैसा कि विधिमार्गप्रपा में कहा गया है^{५३४} -

*“नवरं उवज्झायपयं आसन्नलद्ध पइभत्तादिगुण रहियस्स विसमग्गसुतत्थ
गहण धारण*

*वक्खाणणगुणवंतस्स सतवायणे अपरिस्संतस्स पंसतस्स आयरियट्ठाण-
जोगस्सेव दिज्जइ।”*

अर्थात् जो शिष्य उपलब्ध आहार-पानी के सारणा-वारणा आदि गुणों से रहित होने पर भी समग्र सूत्रों के अर्थ के ग्रहण, धारण और व्याख्यान करने में गुणवंत है, उसे ही उपाध्याय-पद दिया जाना चाहिए।

वर्धमानसूरि के अनुसार नूतन उपाध्याय-पदारोपण-विधि में तीन बार लघुनंदी का पाठ बोला जाता है। विधिमार्गप्रपा के अनुसार

^{५३३} हुज्जुन श्रमण भक्तिसंग्रह, पृ.-४६६, श्रीसंतकुमार खण्डाका, खण्डाका जैन ज्वैलर्स, हल्दियों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर।

^{५३४} विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण-२८, पृ.-६६, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००।

उपाध्याय-पदस्थापन-विधि में मंत्रदान से पूर्व एक बार ही नंदी का पाठ बोला जाता है, जबकि सुबोध्यासामाचारी एवं सामाचारी में इस संस्कार की विधि में नंदीपाठ का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार नूतन उपाध्याय को चौकोर, अर्थात् चार द्वार वाला वर्द्धमानविद्यापट प्रदान किया जाता है। विधिमार्गप्रपा, सामाचारी एवं सुबोध्यासामाचारी में भी वर्धमानविद्या का उपदेश देते हैं, किन्तु वर्धमानविद्यापट्ट देने का उल्लेख नहीं मिलता है। विधिमार्गप्रपा में तो इस मंत्र को विधिपूर्वक सिद्ध करने का भी निर्देश दिया गया है, जबकि आचारदिनकर में हमें इस प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार उपाध्याय-पदस्थापन में अक्षमुष्टिवलय आदि नहीं होते हैं और गुरुवंदन भी नहीं करते हैं। कालग्रहण की विधि, बृहतूनंदीपाठ और यव आदि का वपन भी नहीं किया जाता है। सामाचारी में भी प्रायः उपाध्यायपद-विधि के सम्बन्ध में यही निर्देश मिलते हैं। यथा^{५३५}

“नवरं अक्खमुट्टीओ गुरुवंदणं च न देई कालग्गहण सत्तस्सइय
नंदिकह्वणं च न करेइ ति”

इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा के विधि-विधान से सम्बन्धित ग्रन्थों में वर्णित उपाध्याय-पद की विधि में आंशिक समानता और आंशिक भिन्नता दिखाई देती है।

उपसंहार:-

जिस गच्छ में अनेक साधु-साध्वियाँ हैं, जिनके अनेक संघाटक (संघाड़े) अलग-अलग विचरते हों, अथवा जिस गच्छ में नवदीक्षित बाल या तरुण साधु-साध्वियाँ हों, उनमें अनेक पदवीधरों का होना आवश्यक है, किन्तु कम से कम आचार्य एवं उपाध्याय-इन दो पदवीधरों का होना तो नितांत आवश्यक है। आचार्य गच्छ की संपूर्ण व्यवस्थाओं के उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है, तो उपाध्याय शिष्यों को आगमों का अध्ययन करवाकर अपने कर्तव्य को पूर्ण करता है। उपाध्याय का मुख्य उत्तरदायित्व अध्ययन कराने का है, किन्तु इसके साथ ही शिष्यों के अध्ययन सम्बन्धी सभी प्रकार की देख-रेख करना तथा उन्हें अनुशासित रखना भी उपाध्याय का ही दायित्व है। यह कार्य वही कर सकता है, जो स्वयं गीतार्थ हो, समयज्ञ हो, अनुशासित हो, क्योंकि जो स्वयं आगमों का ज्ञाता नहीं है

^{५३५} सामाचारी तिलकाचार्य विरचित, प्रकरण-३६, पृ.-५०, सेठ डाढ़ा भाई मोकमचन्द, अहमदाबाद, वि.सं. १९६०.

या अनुशासनप्रिय नहीं है, वह किस प्रकार से अपने आश्रित शिष्यों को आगम का ज्ञान प्रदान कर सकेगा, अथवा उन्हें अनुशासित कर सकेगा।

किसी भी गच्छ की सुदृढ़ व्यवस्था उपाध्याय पर ही निर्भर करती है। योग्य एवं कुशल उपाध्याय ही संघ एवं गच्छ को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा सकता है। अतः गच्छ एवं संघ की उन्नति हेतु यह संस्कार अत्यावश्यक है।

इस संस्कार की आवश्यकता विद्वानों ने इसलिए भी महसूस की होगी, कि संघ में कदाचित कोई आचार्य न हो, तो भी उसका नेतृत्व एक सफल एवं कुशल व्यक्ति के हाथ से हो, जिससे कि संघ में किसी प्रकार का वैर-विरोध उत्पन्न न हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह संस्कार जिनशासन की प्रभावना हेतु आवश्यक एवं उपयोगी है।

आचार्य-पदस्थापन विधि

आचार्य-पदस्थापन-विधि का स्वरूप-

आचार्य उन्हें कहते हैं, जो स्वयं आचार का पालन करते हैं तथा दूसरों से आचार का पालन करवाते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति^{५२६} में आचार्य की परिभाषा देते हुए कहा गया है-

पंचविहं आचारं आयरमाणा तहा पभासंता

आचारं दसंता आयरिया तेण वुच्चंति

अर्थात् जो पाँच प्रकार के आचारों-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का अनुपालन स्वयं करते हैं, उनके पालन हेतु उपदेश देते हैं और दूसरों को आचार की क्रियाओं का सक्रिय प्रशिक्षण देते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। दिगम्बर-परम्परा में भी आचार्य शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। इस-परम्परा में साधुओं को शिक्षा-दीक्षादायक, उनके दोषनिवारक तथा अन्य अनेक गुण विशिष्ट संघनायक को आचार्य कहा गया है। मूलाचार^{५३०} में कहा गया है कि जो सर्वकाल सम्बन्धी आचार को जानता हो, आचरण-योग्य का आचरण करता हो और अन्य साधुओं को आचरण कराता हो, उसे आचार्य कहते

^{५२६} भिक्षुआगम विषयकोश (भाग-१), सम्पादक- आचार्य महाप्रज्ञ, पृ.- ८६, जैन विश्वभारती संस्थान, लाङ्गू, प्रथम संस्करण १९६६.

^{५३०} देखें: जैनेन्द्र सिद्धांतकोश (भाग-१), जिनेन्द्रवर्णी, पृ.-२४१, भारतीय ज्ञानपीठ, छठा संस्करण- १९६८.

हैं। हिन्दू-परम्परा में भी आचार्य शब्द की यही व्याख्या दृष्टिगत होती है। हिन्दू-परम्परा के अनुसार^{५३८} -

आचिनोति हि शास्त्रार्थान् आचरते स्थापयत्यपि।

स्वयं आचरते यस्तु आचार्य सः उच्चते।।

अर्थात् जो शास्त्रों के अर्थों का चयन करता है और उनका आचार के रूप में कार्यान्वयन करता है तथा स्वयं भी उनका आचरण करता है, वह आचार्य कहा जाता है। इस प्रकार सभी मतों में की गई आचार्य शब्द की व्याख्या प्रायः समान ही है। आचार्य-पद पर स्थापन की क्रिया को ही आचार्य-पदस्थापन-विधि कहते हैं। वर्धमानसूरि ने आचार्य-पद की गरिमा को स्वीकार करते हुए इसे संस्कार के रूप में स्वीकार किया है। दिगम्बर-परम्परा में भी इस संस्कार का उल्लेख स्व-गुरुस्थानवाप्ति के रूप में किया गया है,^{५३९} किन्तु इस संस्कार से सम्बन्धित क्रियाओं का उल्लेख हमें दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में देखने को नहीं मिलता। अणगारधर्मांमृत में भी मात्र इतना ही उल्लेख मिलता है कि गुरु संघ के समक्ष यह कहकर कि- आज से आप प्रायश्चित्तशास्त्र के अध्ययन, दीक्षादान आदि आचार्य कार्य को करे, पिच्छिका समर्पित करते हैं और उसका ग्रहण ही आचार्य-पद का ग्रहण है।^{५४०} इसके अतिरिक्त वहाँ इस संस्कार के विधि-विधान सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं मिलते हैं। इस विधि का स्पष्ट उल्लेख हुम्बुज श्रमणभक्ति संग्रह में मिलता है, जिसकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे। वैदिक-परम्परा में भी हमें इस संस्कार की विधि का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में इसे संस्कार के रूप में नहीं माना गया है।

इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन जिनशासन की बागडोर को किसी सुव्यवस्थित हाथों में सौंपना है। जैन-परम्परा में आचार्य को राजा की उपमा दी गई है। जिस प्रकार राज्य संचालन का भार राजा पर होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण संघ-व्यवस्था का भार आचार्य पर होता है। संघ में क्या-क्या व्यवस्थाएँ करनी हैं, किस मुनि को कौनसा कार्य सौंपना है, किसे वाचनाचार्य, उपाध्याय या गणि आदि के पद पर नियुक्त करना है-यह सब कार्य आचार्य ही करता है। इस प्रकार इस संस्कार का प्रयोजन जिनशासन-व्यवस्था को दृढ़ बनाना है।

^{५३८} हिन्दू धर्मकोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ.-७५, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७८.

^{५३९} आदिपुराण, अनु.- डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२५५, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण : २०००.

^{५४०} अणगार धर्मांमृत, अनु.- पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, अध्याय- नवौं, पृ.-६७६, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण : १९७७.

वर्धमानसूरि के अनुसार यह विधि किस समय करें- इस सम्बन्ध में ज्योतिष सम्बन्धी निर्देश स्पष्ट रूप से दिए गए हैं, किन्तु मुनि को कितने वर्ष की दीक्षापर्याय के बाद में आचार्य-पद दिया जाना चाहिए-इस सम्बन्ध में हमें आचारदिनकर में कोई उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु श्वेताम्बर-परम्परा के आगमग्रन्थ व्यवहारसूत्र^{५४९} में आचार्य-पद देने हेतु जघन्य दीक्षा पर्याय का स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है। जघन्य रूप से पाँच वर्ष के दीक्षापर्याय एवं आचार्य-पद के योग्य लक्षणों से युक्त होने पर ही मुनि को आचार्य-पद पर स्थापित किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी आचार्य-पद देने हेतु दीक्षापर्याय का हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता है। उसमें हमें मात्र आचार्य-पद के योग्य मुनि के लक्षणों का ही उल्लेख मिलता है।

संस्कार का कर्ता-

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार आचार्य द्वारा ही करवाया जाता है। वर्तमान में भी यह संस्कार आचार्य द्वारा ही करवाया जाता है तथा उनकी अनुपस्थिति में संघ द्वारा भी यह पद प्रदान किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार आचार्य द्वारा करवाया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रज्ञप्त की है -

आचार्य-पदस्थापन-विधि

वर्धमानसूरि ने इस विधि के प्रारम्भ में आचार पद के योग्य लग्नादि की चर्चा की है। तत्पश्चात् इसमें आचार्य-पद के योग्यायोग्य मुनि के लक्षणों की विस्तृत चर्चा की गई है। तदनन्तर आचार्य-पदस्थापन से पूर्व श्रावकों द्वारा किए जाने वाले कार्यों, यथा-वेदिका बनाना, यववपन करना, महोत्सव करना आदि का उल्लेख किया गया है। तदनन्तर आचार्य-पदस्थापन की मूल विधि का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि लग्नदिवस की पूर्वसंध्या के समय गुरु आचार्य वेश को गणिविद्या द्वारा अभिमंत्रित कर रात्रि में एक स्थान पर रख दे तथा श्रावकगण उस वेश के समीप रात्रि जागरण करें। लग्न-दिन के आने पर भावी आचार्य ब्रह्ममुहूर्त में उठकर क्या-क्या क्रियाएँ करें- इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि आचार्य-पदस्थापन की क्रिया हेतु चैत्य में, या विशुद्ध पौषधशाला में, या तीर्थ में या मनोहर उद्यान में समवसरण की स्थापना कराए। तदनन्तर भावी आचार्य से समवसरण की तीन प्रदक्षिणा कराए। तत्पश्चात् आचार्य अक्षपोट्टलिका को प्रतिष्ठित एवं अभिमंत्रित करें। इसके बाद शिष्य द्वारा

^{५४९} व्यवहारसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र-३/५, पृ.-३१२, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९६२.

निवेदन करने पर गुरु अनुयोग के ज्ञापनार्थ सोलह मुद्राओं से अभिमंत्रित वासक्षेप प्रदान करते हैं तथा उसे नंदीक्रिया करवाते हैं। नंदीक्रिया में विशेष रूप से सप्तशती नंदी का पाठ सुनाया जाता है। नंदीक्रिया के पश्चात् लग्नवेला के आने पर पूर्व आचार्य भावी आचार्य को विधिपूर्वक सूरिमंत्र तथा अक्षपोट्टलिका प्रदान करते हैं। तदनन्तर गुरु नवीनाचार्य का नामकरण करते हैं। तत्पश्चात् संघ नवीनाचार्य पर सुगन्धित चूर्ण डालता है। समान पद के आख्यापनार्थ पूर्वाचार्य किस प्रकार से नूतनाचार्य को वंदन आदि करे, इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात् नूतनाचार्य देशना देते हैं। देशना के बाद पूर्वाचार्य नवीनाचार्य, अन्यमुनियों तथा नवीनाचार्य के शिष्यों को किस प्रकार से हितशिक्षा दे, इसका मूलग्रन्थ में विस्तृत उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् साधुवर्ग द्वारा नूतनाचार्य को उपकरण, पुस्तक आदि भेंट करने का तथा श्रावकों को महोत्सव आदि करने का निर्देश दिया गया है। तदनन्तर दोनों आचार्य अनुयोग के विसर्जनार्थ किस प्रकार से कायोत्सर्ग करें तथा नूतनाचार्य किस प्रकार से प्रत्याख्यान करें-इसका उल्लेख किया गया है। विस्तारभय से उसका उल्लेख हम यहाँ नहीं कर रहे हैं। एतदर्थ विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग के पच्चीसवें उदय को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में इस संस्कार की विधि का हमें उल्लेख नहीं मिलता है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में ही हमें इस संस्कार की विधि मिलती है। श्वेताम्बर-परम्परा में इस संस्कार के विधि-विधान से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। जैसे-विधिमार्गप्रपा, पादलिप्तसूरिकृत निर्वाणकलिका, पंचवस्तु, सुबोधासामाचारी आदि जिनकी तुलना हम वर्धमानसूरि द्वारा प्रज्ञप्त आचार्य-पदस्थापन-विधि से करेंगे।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{५४२} लतादि सप्तदोषों से रहित मुनि को दीक्षा प्रदान करने के मुहूर्त के समान ही आचार्य-पदस्थापन हेतु भी उपयुक्त नक्षत्रों में तथा शुभ वर्ष, मास दिन और लग्न में आचार्य-पदस्थापन की विधि करनी चाहिए। आचार्य-पदस्थापन के लग्न में ग्रहों की युति दीक्षा के समान तथा वर्ष, मास, दिन, नक्षत्र आदि की शुद्धि का विचार विवाह के समान करना चाहिए। विधिमार्गप्रपा, सामाचारी, सुबोधासामाचारी, पंचवस्तु, निर्वाणकलिका आदि में इन सब बातों का विस्तृत उल्लेख नहीं करते हुए, वहाँ मात्र इतना ही निर्देश दिया

^{५४२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-पच्चीसवाँ, पृ.-११२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

गया है कि प्रशस्त तिथि, करण, मुहूर्त, नक्षत्र, योग एवं शुभलग्न में इस विधि को किया जाना चाहिए। दिगम्बर-परम्परा में भी यह विधि शुभ मुहूर्त में की जाती है।

आचार्य-पद हेतु मुनि में किन-किन लक्षणों का होना आवश्यक है, इसका वर्धमानसूरि ने बहुत विस्तार से उल्लेख किया है। विधिमार्गप्रपा, सामाचारी आदि में हमें आचार्य-पद के योग्य मुनि के लक्षणों का इतना विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि विधिमार्गप्रपा में भी आचार्य-पद के योग्य मुनि के लक्षणों का उल्लेख मिलता है, किन्तु वह वर्णन बहुत संक्षिप्त है। इसके साथ ही वर्धमानसूरि ने आचार्य-पद के अयोग्य मुनि के जिन लक्षणों का निरूपण किया है, उनका भी विस्तृत उल्लेख हमें इन ग्रन्थों में नहीं मिलता है, किन्तु प्रवचनसारोद्धार में आचार्य-पद के अयोग्य मुनि के लक्षणों का उल्लेख अवश्य मिलता है।^{५४३} दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी आचार्य के गुणों का उल्लेख मिलता है, आचार्य-पदस्थापन-विधि से पूर्व श्रावकों द्वारा क्या-क्या कार्य किए जाने चाहिए, उनका भी उल्लेख आचारदिनकर में मिलता है। अन्यत्र इस प्रकार का उल्लेख हमें देखने को नहीं मिला।

आचारदिनकर में आचार्य-पदस्थापन की जो मूल विधि बताई गई, वह मूल विधि प्रायः उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में उपलब्ध आचार्य-विधि के सदृश ही है। लग्न के दिन कालग्रहण करना, स्वाध्याय-प्रस्थापन करना, आचार्य-पद प्रदान का मुहूर्त निकट आने पर प्रतिलेखित भूमि पर कम्बल आदि की प्रतिलेखना कर उसे आसनरूप में बिछाना, स्थापनाचार्य की स्थापना करना, गुरु द्वारा द्रव्य-गुण-पर्याय द्वारा अनुयोग के अनुज्ञार्थ नंदीक्रिया करना, चैत्यवंदन करना एवं वासक्षेप प्रदान करना, वासक्षेप को अभिमंत्रित करना, नंदीपाठ सुनाना, नवीनाचार्य को अनुयोग की अनुज्ञा प्रदान करना, सूरिमंत्र प्रदान करना, स्थापनाचार्य प्रदान करना, आदि सभी क्रियाएँ विधिमार्गप्रपा, सुबोधासमाचारी, सामाचारी आदि में भी मिलती हैं।

इन ग्रन्थों में वर्णित विधि में कहीं-कहीं आंशिक भिन्नता है। जैसे-आचारदिनकर में वासक्षेप को अभिमंत्रित करने हेतु सोलह मुद्राओं के नाम का उल्लेख किया है, जिसका उल्लेख हमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है।

आचार्य-पदस्थापन-विधि के समय प्रदान किए गए सूरिमंत्र की साधना विधि क्या है, साधना-विधि के समय साधक को किन नियमों का पालन करना

^{५४३} प्रवचनसारोद्धार, अनु.-हेमप्रभाश्रीजी, द्वार-११०, पृ.-४४०, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण : १९६६.

चाहिए, इस मंत्र की क्या महिमा है-इन सबका उल्लेख हमें आचारदिनकर में नहीं मिलता है, जबकि विधिमार्गप्रपा में इन सब विषयों का उल्लेख हमें मिलता है।

निर्वाणकलिका में आचार्य-पद के समय मण्डप, वेदिका एवं मण्डल आलेखन करने का भी निर्देश दिया गया है,^{४४४} जबकि विधि-विधान सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख देखने को नहीं मिला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में वर्णित आचार्य-पदस्थापन की विधियों में कहीं समानता मिलती है तो कहीं असमानता भी दिखाई देती है। दिगम्बर-परम्परा के हुम्बुज श्रमणभक्ति संग्रह^{४४५} में आचार्य-पदस्थापना की जो विधि दी गई है, वह श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में वर्णित आचार्य-पदस्थापन की विधि से भिन्न है। दिगम्बर-परम्परा में आचार्य-पददाता सुमुहूर्त में शक्ति के अनुसार शांतिक कर गणधर वलय की पूजा करता है, तत्पश्चात् उपाध्याय-पद की भाँति श्रीखंड आदि के छीटे देकर विधिपूर्वक संस्थापित किए गए पाठ पर आचार्य-पद के योग्य मुनि को बैठाते हैं। तदनन्तर सिद्ध, आचार्य का पाठ कर आचार्य मंत्रपूर्वक पंचामृत कलश से भावी आचार्य के पैरों को अभिसिंचित करे। तत्पश्चात् पंडिताचार्य निर्वेद सौष्टव इत्यादि महर्षिस्तवन का पाठ कर भावी आचार्य के दोनों पैरों को आगे लेकर गुणों का आरोपण करते हैं। तदनन्तर मंत्रपूर्वक आह्वान आदि कर भावी आचार्य के दोनों पैरों पर कपूरयुक्त चंदन का तिलक करे। इसके बाद शांति, समाधि, गुरु भक्ति आदि का क्रम चलता है। श्वेताम्बर-परम्परा की भाँति हमें वहाँ नंदीक्रिया, कालग्रहण, स्वाध्याय प्रस्थापन, गुरु द्वारा नूतन आचार्य को वन्दन करना, पूर्वाचार्य द्वारा नूतन आचार्यादि को उपदेश देना आदि अनेक क्रियाओं का उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे यह परिलक्षित होता है कि इन दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में वर्णित विधि प्रायः एक-दूसरे से एकदम भिन्न है, किन्तु इन सब विधियों का ध्येय आचार्य-पद के योग्यमुनि को अनुयोग की अनुज्ञा प्रदान कर आचार्य-पद पर स्थापित करना ही है।

उपसंहार-

मानव-जीवन में आचार का बहुत महत्व है। आचार के बिना व्यक्ति का जीवन मात्र औपचारिकताओं से ही भरा होता है, अतः जीवन को सही अर्थों में

^{४४४} निर्वाणकलिका, पादलिप्ताचार्यकृत, प्रकरण-४, पृ.-७ से ८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९८२.

^{४४५} हुम्बुज श्रमण भक्तिसंग्रह, पृ.-४६६ से ४६०, श्रीसंतकुमार खण्डाका, खण्डाका जैन ज्वैलर्स, हल्दियों का रास्ता, जयपुर.

जीने के लिए व्यक्ति के जीवन में आचार-नियमों का पालन अत्यन्त अनिवार्य है। व्यक्ति किन आचारों का आचरण करे, उनका निर्देश या दिशासूचन कौन करे? यह बहुत बड़ा प्रश्न है। आचार्य ही एक ऐसा व्यक्तित्व है, जो स्वयं तो आचारों का पालन करता ही है, दूसरों को भी उपदेश देकर उन आचारों का पालन करवाता है। शास्त्रकारों ने आचार्य को प्रज्वलित दीपक की उपमा दी है, जो स्वयं तो प्रकाशित होता है तथा उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य दीपकों को भी प्रकाशित करता है। जैसा कि कहा गया है^{५४६} -

जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दिप्पए दीवा।

दीव समा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति।।

अर्थात् एक दीप सैकड़ों दीपों को प्रदीप्त करता है और स्वयं भी प्रदीप्त रहता है। आचार्य भी अपने ज्ञान के आलोक से दूसरों को आलोकित करते हैं, और स्वयं भी प्रदीप्त रहते हैं।

इसके साथ ही संघ की व्यवस्थाओं को सुचारू रूप से निर्दिष्ट करने हेतु भी योग्य आचार्य का होना परमावश्यक है, क्योंकि योग्य आचार्य ही किस समय क्या करना चाहिए-इसका निर्णय ले सकता है। आचार्य अगर गीतार्थ हो, तो ही वह शिष्य के संसारनाशक प्रधान ज्ञानादि गुणों की वृद्धि में सहायक बनता है, क्योंकि अज्ञानी आचार्य शिष्यों के संसारनाशक प्रधान ज्ञानादि गुणों में वृद्धि नहीं कर सकता है। यदि ज्ञानादि की गुण-संपत्ति स्वयं के पास न हो, तो उसका आरोपण वह दूसरों में कैसे कर सकता है? दरिद्र व्यक्ति चाहे कि वह किसी को श्रीमंत बना दे, तो भी वह उसे श्रीमंत नहीं बना सकता है, क्योंकि वह स्वयं धनसम्पत्ति का धारक नहीं है; इसी प्रकार अज्ञानी आचार्य भी हेयोपादेय का ज्ञान होने से शिष्यों के ज्ञानादिगुणों की वृद्धि नहीं कर पाता। अतः शिष्यों के ज्ञानादिगुणों की अभिवृद्धि हेतु योग्य मुनि को आचार्य-पद प्रदान करना आवश्यक है।

प्रतिमोद्धहन की विधि

(यतियों की बारह प्रतिमाओं की उद्दहन-विधि)

यतियों की बारह प्रतिमाओं की उद्दहन-विधि का स्वरूप-

भाषा जगत् में प्रतिमा शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा- प्रतिबिम्ब, समानता, आकृति, समरूपता इत्यादि, किन्तु जैन-परम्परा में प्रतिमा शब्द का

^{५४६} भिक्षुआगम विषयकोश (भाग-१), सम्पादक- आचार्य महाप्रज्ञ, पृ.- ६०, जैन विश्वभारती संस्थान, लांडन, प्रथम संस्करण : १९६६.

तात्पर्य एक विशेषार्थ में लिया गया है। जैन-परम्परा में प्रतिमा शब्द का तात्पर्य प्रतिज्ञा, नियम या अभिग्रह से लिया गया है। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने भी स्थानांगसूत्र^{५४७} की वृत्ति में प्रतिमा को इसी अर्थ में ग्रहण किया है। हरिभद्रसूरि के अनुसार^{५४८} प्रतिमाएँ विशिष्ट क्रिया वाले साधु का प्रशस्त्र अध्यवसायरूपी शरीर है। विशिष्ट क्रिया वाले शरीर से तथाविध गुणों का योग होता है, जिनके कारण प्रतिमाधारी साधु अन्य साधुओं की अपेक्षा प्रधान हो जाते हैं। इसे सूचित करने के लिए शुभभावयुक्त साधु के शरीर को भी प्रतिमा कहा जाता है। आचारदिनकर में वर्णित यतियों की बारह प्रतिमाओं की उद्बहनविधि एक विशिष्ट साधना-पद्धति है। इस साधना पद्धति का वहन साधक किस प्रकार से करे- उससे सम्बन्धित विधि-विधानों का ही इसमें निरूपण किया गया है। श्वेताम्बर जैन-परम्परा में गृहस्थों की ग्यारह और यतियों की बारह प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु यति की बारह प्रतिमाओं का उल्लेख हमें वहाँ देखने को नहीं मिला। इसी प्रकार वैदिक-परम्परा में भी इस प्रकार की विधि हमें देखने को नहीं मिली।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{५४९} राग-द्वेष से ऊपर उठकर विषय परित्यागपूर्वक प्रतिमा का पूर्णतः पालन करने से साधु-साध्वियों को योगसिद्धि होती है। जैन-परम्परा में मन-वचन एवं काया के व्यापार को योग कहा गया है। इस संस्कार के माध्यम से मन-वचन एवं काया के व्यापारों को विराम मिल जाता है, क्योंकि यदि कोई साधक सम्यक् रूप से प्रतिमा की परिपालना करता है, तो वह निश्चित रूप से अपने परमलक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, और परमलक्ष्य को प्राप्त करने पर स्वतः ही मन-वचन एवं काया का व्यापार रुक जाता है। अतः योग-सिद्धि के उद्देश्य से ही यह संस्कार किया जाता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार साधक किन नक्षत्रों, वारों आदि में प्रतिमा का वहन करे- इसका तो उल्लेख मिलता है, किन्तु कौन-कितनी दीक्षापर्याय में प्रतिमाकल्प को स्वीकार करे-इसका उल्लेख आचारदिनकर में तो नहीं मिलता है, किन्तु दशाश्रुतस्कन्ध की मूल गाथाओं की टीका में इसका उल्लेख मिलता है। टीका के अनुसार^{५५०} भिक्षुप्रतिमा का आराधन करने के लिए प्रारम्भ के तीन संहनन, २० वर्ष की संयमपर्याय, २६ वर्ष की वय तथा जघन्यतः नवें पूर्व की वस्तु का

^{५४७} देखे: औपपातिकसूत्र, मधुकरमुनि, पृ.-३८, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण : १९६२.

^{५४८} पंचाशक प्रकरण, अनु.- दीनानाथ शर्मा, प्रकरण- अठारहवाँ, पृ.-३१३, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६७.

^{५४९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बाँम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{५५०} दशाश्रुतस्कन्ध, मधुकरमुनि, पृ.-६४, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण : १९६२.

ज्ञान होना आवश्यक है। हरिभद्रसूरि ने भी पंचाशक प्रकरण^{५५} में कहा है- “स्थविरकल्प के कर्तव्यों के पूर्ण होने के बाद ही प्रतिमाकल्प को स्वीकार करना चाहिए,” इससे पहले स्थविर को प्रतिमाकल्प का सेवन करना कल्प्य नहीं है। इसके साथ हरिभद्रसूरि ने दीक्षादान के समय भी प्रतिमाकल्प स्वीकार करने का स्पष्ट निषेध किया है। उनके अनुसार अभ्युद्यतमरण (समाधिमरण) और प्रतिमाकल्प-इन दो में से किसी एक को स्वीकार करने की इच्छा वाला गणि गुण और स्वलब्धि से युक्त साधु भी कल्प आदि को स्वीकार करते समय भी सर्वप्रथम दीक्षा लेने आने वाले योग्य जीव को दीक्षा दे। जो गणि गुण और स्वलब्धि से युक्त न हो, तो भी यदि लब्धियुक्त आचार्य की निश्चा वाला हो, तो सर्वप्रथम दीक्षा दें, उसके पश्चात् प्रतिमाकल्प आदि को धारण करे। संक्षेप में स्थविर को गच्छ के प्रति पूर्ण कर्तव्यों का निर्वाह करके ही प्रतिमाओं का वहन करना चाहिए।

संस्कार का कर्ता-

यह संस्कार किसके द्वारा करवाया जाता है-यह तो कहना संभव नहीं है, क्योंकि इस विधान में योगोद्भवहन, वाचनाग्रहण आदि के सदृश कोई विशेष क्रिया नहीं होती है। अतः प्रतिमा को मुनि स्वयं ही धारण करता है, किन्तु इस हेतु गुरु की आज्ञा अवश्य लेता है। प्रतिमाओं का उद्भवहण एवं उनसे सम्बन्धित आचारों का पालन तो स्वयं ही करना होता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्ररूपित की है-

यतियों की बारह प्रतिमाओं की उद्भवहण-विधि-

इस विधि में वर्धमानसूरि ने भिक्षुक की बारह प्रतिमाओं का नामोल्लेख करते हुए प्रतिमाओं के उद्भवहण के योग्य मुनि के लक्षणों का निरूपण किया है। तदनन्तर प्रतिमाओं के उद्भवहण की सामान्यचर्या में गच्छ का परित्याग करके साधुओं, पुस्तकों, पात्रों, वस्त्रों, और वसति आदि में निर्ममत्व भाव रखने का उल्लेख मूलग्रन्थ में हुआ है। इसके बाद प्रतिमा के प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में समुचित तिथि, नक्षत्र, वार आदि विचार किया गया है।

पहली प्रतिमा एक मास की होती है। इसमें मुनि आहार तथा पानी की एक-एक दत्ति लेता है। फिर दूसरी प्रतिमा से लेकर छठवीं प्रतिमा तक एक-एक दत्ति और एक-एक मास की उत्तरोत्तर वृद्धि की जाती है। सातवीं प्रतिमा में

^{५५} पंचाशक प्रकरण, अनु.- दीनानाथ शर्मा, प्रकरण- अठारहवाँ, पृ.-३२३-२४, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६७.

सात-सात दलितियाँ सात मास तक लेता है। आठवीं, नवीं और दसवीं प्रतिमा सात-सात अहोरात्र की होती है। आठवीं प्रतिमा में मुनि निर्जल उपवास और पारणे में एकभक्त करता है तथा कायोत्सर्ग के साथ उत्थित आसन में रहता है। मुनि नवीं प्रतिमा में पूर्वोक्त तप करते हुए उत्कटिक आसन या दण्डासन में तथा दसवीं प्रतिमा में गोदुहिका, वीरासन या कुब्जासन में स्थित रहता है। शेष विधि आठवीं से दसवीं प्रतिमा तक आठवीं प्रतिमा की तरह ही है। ग्यारहवीं अहोरात्रि की प्रतिमा में मुनि दो दिन के निर्जल उपवास में भुजाओं को प्रलम्बित कर कायोत्सर्ग करता है। बारहवीं एक रात्रि की प्रतिमा में मुनि निर्जल उपवास के तीसरे दिन निर्निमेष दृष्टिपूर्वक व्याघ्राञ्चित पाणिपाद की स्थिति में रहता है-इस प्रकार यति की बारह प्रतिमाएँ हैं। एतदर्थ विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग के छब्बीसवें उदय को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख दशाश्रुतस्कन्ध, औपपातिकसूत्र एवं हरिभद्रसूरिकृत पंचाशकप्रकरण में मिलता है। विधिमार्गप्रपा, सुबोधोपासामाचारी, निर्वाणकलिका, सामाचारी आदि विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थों में हमें प्रतिमावहन-विधि नहीं मिलती है।

वर्धमानसूरि ने प्रतिमावहन की विधि का उल्लेख करने से पूर्व प्रतिमा ग्रहण करने के योग्य मुनि के लक्षणों का निरूपण किया है।^{५२२} दशाश्रुतस्कन्ध में प्रतिमा वहन करने के योग्य मुनि के लक्षणों की चर्चा पृथक् से देखने को नहीं मिलती है। टीका में इनका संक्षिप्त विवेचन तो मिलता है, किन्तु मूलगाथाओं में इसका हमें कोई उल्लेख देखने को नहीं मिलता है। हरिभद्रसूरिकृत पंचाशकप्रकरण में इस विषय की चर्चा विस्तार से की गई है। यथा^{५२३}-संहननयुक्त (प्रथम तीन संघयण), धृतियुक्त, महासात्त्विक, भावितात्मा, सुनिर्मित, उत्कृष्ट से थोड़ा कम दसपूर्व और जघन्य से नवें पूर्व की तीसरी वस्तु तक का श्रुतज्ञानी, व्युत्सृष्टकाय, त्यक्तकाय, जिनकल्पी की तरह उपसर्ग सहिष्णु, अभिग्रहवाली एषणा लेने वाला, अलेप आहार लेने वाला और अभिग्रह वाली उपधि लेने वाला साधु ही गुरु से सम्यक् आज्ञा प्राप्त कर इन प्रतिमाओं को स्वीकार कर सकता है। ज्ञातव्य है कि वर्धमानसूरि ने प्रथम संघयण (विशेष शारीरिक संरचना) से युक्त मुनि को ही इन

^{५२२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-छब्बीसवाँ, पृ.-११७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{५२३} पंचाशकप्रकरण, अनु.- दीनानाथ शर्मा, प्रकरण- अठारहवाँ, पृ.-३१४, पार्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६७.

प्रतिमाओं के वहन करने योग्य बताया है, जबकि हरिभद्रसूरि एवं दशाश्रुतस्कन्ध की टीका में प्रथम तीन संघयणों से युक्त मुनि को इन प्रतिमाओं के वहन करने योग्य बताया गया है।

इसके बाद वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में प्रतिमाओं के उद्धहन की सामान्य चर्या का विवेचन किया है। आचारदिनकर में वर्णित इस सामान्य चर्या का वर्णन हमें दशाश्रुतस्कन्ध एवं पंचाशकप्रकरण जैसे प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है, किन्तु दूसरी ओर इन ग्रन्थों में वर्णित प्रतिमा आराधनाकाल के विशिष्ट नियमों एवं अभिग्रहों को वर्धमानसूरि ने अपने ढंग से विवेचित करने का प्रयत्न अवश्य किया है, क्योंकि आचारदिनकर में वर्णित कुछ चर्याओं का उल्लेख हमें दशाश्रुतस्कन्ध एवं पंचाशकप्रकरण में मिलता है और कुछ चर्याओं और अभिग्रहों का उल्लेख नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में प्रथम सात प्रतिमाओं में तप का जो विवेचन किया है, वैसा ही वर्णन हमें दशाश्रुतस्कन्ध, पंचाशकप्रकरण, आवश्यकचूर्णि आदि में भी मिलता है, किन्तु आठवीं, नवीं एवं दसवीं प्रतिमा की तपश्चर्या में आंशिक भेद दृष्टिगत होता है। वर्धमानसूरि के अनुसार आठवीं, नवमीं, दशमीं प्रतिमा में प्रथम दिन एक भक्त, दूसरे दिन निर्जल उपवास, तीसरे दिन एकभक्त, इस प्रकार सात दिन तक एकान्तर से निर्जल उपवास के पारणे में एकभक्त किया जाता है, जबकि दशाश्रुतस्कन्ध, पंचाशक प्रकरण, आवश्यकचूर्णि आदि में आठवीं, नवीं एवं दसवीं प्रतिमा में सात-सात दिन तक निर्जल उपवास के पारणे, आयम्बिल करने का उल्लेख मिलता है। शेष ग्यारहवीं एवं बारहवीं प्रतिमाओं सम्बन्धी तप की विवेचना सभी में एक जैसी मिलती है।

मासकल्प पूर्ण होने के बाद उस प्रतिमा-साधक की अनुमोदना किस प्रकार से करें- इसका वर्णन आचारदिनकर में नहीं मिलता है, किन्तु हरिभद्रसूरिकृत पंचाशक प्रकरण^{५४} की टीका में इस सम्बन्ध में निर्देश देते हुए कहा गया है-

“मासकल्प पूर्ण होने के बाद आराधक मुनि भव्यता के साथ स्वगच्छ में प्रवेश करे, जो इस प्रकार है-जिस गाँव या नगर में स्वगच्छ हो, उसके समीप के गाँव में वह साधु आए, आचार्य उसका परीक्षण करे और इसकी सूचना राजा को दें और तब उसकी प्रशंसा करते हुए नगर प्रवेश कराए।”

^{५४} पंचाशकप्रकरण, अनु.- दीनानाथ शर्मा, प्रकरण- अठारहवाँ, पृ.-३१८, पार्ष्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६७.

इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में प्रतिमावहन सम्बन्धी विधि-विधान में कहीं-कहीं आंशिक भिन्नता दिखाई देती है।

उपसंहार-

प्रत्येक जीव का यही लक्ष्य रहता है कि समस्त कर्मों का क्षय करके परमात्म दशा का साक्षात्कार करे एवं मोक्ष के परमसुख की प्राप्ति करे। इस लक्ष्य को केन्द्र में रखकर ही साधक अपनी साधना करता है, किन्तु मन में यह संशय हो सकता है कि कर्मव्याधि की प्रव्रज्यारूपी चिकित्सा को भाव से स्वीकार करने वाले साधु को इन प्रतिमाओं के वहन का निर्देश क्यों दिया गया है? साधु को इन प्रतिमाओं के वहन की क्या आवश्यकता है। इन प्रश्नों का समाधान करते हुए पंचाशकप्रकरण^{५५५} में कहा गया है-

“तं चावत्थंतर मिह जायइ तहा संकिलिट्ठकम्माओ।

पत्थुयनिवाहिदट्ठाइ जह तहा सम्मवसेयं।।

अहिगयसुंदर भावस्स विग्घजणगति संकिलिट्ठं च।

तह वेव तं खविज्जइ एत्तोच्चिय गम्मे एयं।।

अर्थात् जिस प्रकार लूतारोगग्रस्त राजा की सर्पदंश आदि के कारण अन्य भी विकृत अवस्थाएँ सम्भव होती हैं, उसी प्रकार प्रव्रजित साधु की साधना में अशुभ कर्मों के उदय से अन्य विकृतियाँ आना सम्भव है, जो प्रतिमा कल्परूप विशिष्ट चिकित्सा से ही ठीक होती है।

पूर्वकर्मजन्य विकृतियाँ सामान्य प्रव्रज्या में विघ्नकारक और संक्लिष्ट भावों का कारण होती हैं, इसलिए प्रतिमाकल्परूप शुभ भावों में रमण करके ही उन अशुभ कर्मों को दूर किया जा सकता है।

इस प्रकार पूर्व कर्मों का नाश करने हेतु प्रतिमाकल्प का वहन करना आवश्यक है। प्रतिमाओं का वहन सम्यक् रूप से करने पर साधना में एक ऐसी पराकाष्ठा आ जाती है कि जब साधक अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

^{५५५} पंचाशकप्रकरण, अनु.- दीनानाथ शर्मा, प्रकरण- अठारहवाँ, पृ.-३२८, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६७.

साध्वी को दीक्षा प्रदान करने की विधि

साध्वी को दीक्षा प्रदान करने की विधि का स्वरूप-

आचारदिनकर के सत्ताईसवें उदय (अध्याय) में स्त्री-दीक्षा की विधि का वर्णन किया गया है। सामान्यतया जिस प्रकार पुरुष को दीक्षा प्रदान की जाती है, उसी प्रकार स्त्रियों को भी दीक्षा प्रदान की जाती है। दोनों की दीक्षा-विधि में विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु पुरुष की अपेक्षा स्त्री को दीक्षा प्रदान करते समय जिन-जिन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए, इसका इस उदय में विशेष रूप से वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम यह बताया गया है कि कितने प्रकार की स्त्रियाँ दीक्षा ग्रहण करने के अयोग्य होती हैं, दीक्षा के पूर्व उन्हें किन-किन की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है-इन सबका बहुत संक्षिप्त, किन्तु सुन्दर विवेचन ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में किया है। श्वेताम्बर-परम्परा के अतिरिक्त दिगम्बर-परम्परा में भी स्त्रियों को साध्वी-आर्यिकादीक्षा प्रदान की जाती है, यह बात भिन्न है कि वे उनकी दीक्षा को उपचार-दीक्षा मानते हैं। उनके अनुसार स्त्री परमार्थतः महाव्रत ग्रहण करने की अधिकारिणी नहीं है, क्योंकि वह नग्न नहीं हो सकती है और दिगम्बर-परम्परा के अनुसार नग्न हुए बिना अपरिग्रह महाव्रत धारण नहीं किया जा सकता है, अतः स्त्री को व्रतारोपण उपचार से होता है, दिगम्बर-परम्परा में स्त्री की दीक्षाविधि का कोई अलग से उल्लेख हमें देखने को नहीं मिला, यद्यपि दिगम्बर-ग्रन्थों में अनेक स्त्रियों द्वारा साध्वी या आर्यिकादीक्षा ग्रहण करने के उल्लेख मिलते हैं। ज्ञातव्य है कि जैन-परम्परा की अचेल धारा का एक सम्प्रदाय, जिसे यापनीय सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है, स्त्री दीक्षा का स्पष्ट रूप से समर्थन करता है और स्त्री में महाव्रतारोपण भी स्वीकार करता है। वैदिक-परम्परा में नारियों के संन्यासाश्रम ग्रहण करने के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट विचार नहीं मिलते हैं। कुछ वैदिक-विद्वान् स्त्री द्वारा संन्यासाश्रम को स्वीकार करना उचित मानते हैं, तो कुछ विद्वान् उसे पाप समझते हैं।^{५५६} किन्तु हिन्दू-ग्रन्थों में अनेक साध्वियों या संन्यासिनियों के उल्लेख मिलते हैं, लेकिन स्त्री द्वारा संन्यासाश्रम ग्रहण करने की स्वतंत्र विधि हमें वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में भी देखने को नहीं मिली।

प्रत्येक विधि-विधान का कुछ न कुछ प्रयोजन होता है और उसी प्रयोजन से अभिभूत होकर जनसामान्य द्वारा वे विधि-विधान किए जाते हैं। भगवान् महावीर के जीवन के आरम्भिक काल में स्त्रियों को समाज में पूर्ण सम्मान का

^{५५६} धर्मशास्त्र का इतिहास, पांडुरंग वामन काणे (प्रथम भाग), अध्याय-२८, पृ.-४६७, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

दर्जा प्राप्त नहीं था, किन्तु महावीरस्वामी ने स्त्रियों को समाज और साधना के क्षेत्र में सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान किया। उन्होंने श्रावकसंघ के साथ श्राविकासंघ की और मुनिसंघ के साथ साध्वीसंघ की भी स्थापना की। इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों के महत्व को स्थापित किया। यद्यपि जैन-परम्परा में भी पुरुष की प्रधानता मानी गई है, किन्तु नारियाँ भी अपने को धर्म के क्षेत्र में समर्पित कर सकती हैं। स्त्री को कितने वर्ष की अवस्था में दीक्षा प्रदान करनी चाहिए, इसका उल्लेख हमें आचारदिनकर में नहीं मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परा के अन्य ग्रन्थों में भी विशेष रूप से स्त्रियों की दीक्षा के विषय में आयु सम्बन्धी कोई नियम हमें नहीं मिलता है। सामान्यतया जैन-आगमों में प्रव्रज्या योग्य जीवों को मुनिव्रत ग्रहण करने के लिए वय प्रमाण जघन्य से आठ वर्ष एवं उत्कृष्ट से अत्यन्त वृद्ध न हो, तब तक का कहा है।^{५५७} निशीथचूर्णि^{५५८} में भी कहा गया है कि “आदेसेण वा गम्भट्टमस्स दिक्खत्ति”, अर्थात् गर्भ के नौ मास सहित आठ वर्षीय बालक-बालिका को दीक्षा दी जा सकती है। दिगम्बर-परम्परा में भी सामान्यतः स्त्रीदीक्षा की वय के सम्बन्ध में यही अवधारणा होगी- ऐसा हम मान सकते हैं। बौद्ध-परम्परा में भिक्षुत्ति पाचिन्तिय नियम के अनुसार १२ वर्ष से कम की विवाहित शिक्षमाणा तथा २० वर्ष से कम की अविवाहिता शिक्षमाणा को उपसम्पदा देना निषिद्ध था, अर्थात् इससे कम उम्र में वह भिक्षुणी नहीं बन सकती है- इस प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी दीक्षा प्रदान करते समय आयु का ध्यान रखा जाता है।

संस्कार का कर्ता-

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार स्थविरमुनि या आचार्य द्वारा किया जाता है, किन्तु वेशदान अन्य साध्वी द्वारा किया जाता है।^{५५९} दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार आचार्य द्वारा ही किया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रस्तुत की है-

साध्वी को दीक्षा प्रदान करने की विधि-

इस विधि का प्रतिपादन करते हुए वर्धमानसूरि ने सर्वप्रथम दीक्षा ग्रहण करने के अयोग्य बीस प्रकार की स्त्रियों का उल्लेख किया है। तदनन्तर यह

^{५५७} पंचवस्तु, अनु.- आचार्य राजशेखरसूरीश्वरजी, प्रकरण-१, पृ.-३०, अरिहंत आराधक ट्रस्ट, बॉम्बे, द्वितीय संस्करण.

^{५५८} प्रवचनसारोद्धार, अनु.- हेमप्रभाश्रीजी, द्वार-१०७, पृ.-४३३, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण १९६६.

^{५५९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सल्लाईसर्वी, पृ.-११८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

बताया गया है कि कुमारी या विवाहिता के वैराग्यवासित होने पर उसके स्वजनों यथा- पति, पुत्र, पिता या बन्धुजनों से अनुज्ञा होने पर ही उसे प्रव्रजित करें। उसके बिना उसे दीक्षा लेना या देना नहीं कल्पता है। साध्वी की सम्पूर्ण दीक्षाविधि मुनिदीक्षा-विधि के समान ही है, मात्र शिखासूत्र का उपनयन आचार्य या गुरु के द्वारा नहीं होता है और वेशदान भी गुरु के हाथों से नहीं होता है। एतदर्थ विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग के सत्ताईसवें उदय को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक अध्ययन-

श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में साध्वियों को दीक्षा प्रदान करने सम्बन्धी किसी पृथक् विधि-विधान का वर्णन नहीं मिलता है। सामान्यतः पुरुष को दीक्षा प्रदान करने की जो विधि है, वही विधि स्त्रीदीक्षा के सम्बन्ध में भी प्रचलित रही है, जिसे स्वयं ग्रन्थकार ने भी स्वीकार किया है। दिगम्बर-परम्परा में साध्वी को दीक्षा प्रदान करने की विधि क्या रही है- इस सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन कार्य है, क्योंकि दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में साध्वी को दीक्षा प्रदान करने की किसी स्वतंत्र विधि का उल्लेख नहीं मिलता। दूसरे, दिगम्बर-परम्परा में साध्वी को महाव्रतों का आरोपण उपचार से माना जाता है, क्योंकि उसकी आर्थिकादीक्षा भी वस्त्र ही होती है। दिगम्बर-परम्परा का कहना है कि वस्त्र परिग्रह है अतः साध्वी को परमार्थतः अपरिग्रह महाव्रत नहीं होता है, किन्तु यापनीय-सम्प्रदाय में साध्वी के वस्त्र को संयमोपकरण मानकर उसे अपरिग्रह-महाव्रत परमार्थतः माना गया है। बौद्ध-परम्परा में भी स्त्रियों को दीक्षा प्रदान करने तथा उसकी विधि का उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार जैन-परम्परा में प्रारम्भ से ही स्त्रीदीक्षा के उल्लेख मिलते हैं, बौद्ध-धर्म में स्त्रियों का संघप्रवेश धर्म के संस्थापक की इच्छा के विपरीत तथा अनेक आशंकाओं के साथ हुआ था,^{५६०} जिसके परिणामस्वरूप प्रव्रज्या से पूर्व उन्हें आठ गुरुधर्मा, अर्थात् शर्तों के पालन का बन्धन था, किन्तु जैनधर्म में स्त्रियों के संघप्रवेश को किसी आशंका की दृष्टि से नहीं देखा गया था और न ही उनके लिए बौद्ध-परम्परा की भाँति कुछ शर्तों का पालन अनिवार्य माना गया, यद्यपि पुरुष को ज्येष्ठ मानकर स्थविर साध्वी भी नवदीक्षित मुनि को वंदन करे- यह-परम्परा दोनों में ही समान है।

जैन और बौद्ध-दोनों संघों में जाति, धर्म, रंग, रूप, लिंग, का ख्याल किए बिना प्रत्येक स्त्री-पुरुष को प्रवेश की अनुमति थी, तथापि संघ को सुचारु

^{५६०}जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, डॉ. अरूणप्रतापसिंह, अध्याय-१, पृ.-१२, पाश्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९८३.

रूप से चलाने के लिए एवं संघ की प्रतिष्ठा तथा सुरक्षा के लिए प्रवेश सम्बन्धी कुछ नियम थे। जैन-परम्परा के अनुसार बीस प्रकार के दोषों से युक्त स्त्रियों को दीक्षा के अयोग्य माना जाता था। स्थानांगटीका,^{५६१} प्रवचनसारोद्धार^{५६२} आदि में इन दोषों का वर्णन मिलता है, वर्धमानसूरि ने भी आचारदिनकर में इन्हीं दोषों का उल्लेख किया है। बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षुणीसंघ में प्रवेश सम्बन्धी अयोग्यताओं का उल्लेख किया है। बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षुणीसंघ में प्रवेश सम्बन्धी अयोग्यताओं का उल्लेख मिलता है।^{५६३} वहाँ शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से विकृत, रोगिणी एवं ऋणग्रस्त नारी को दीक्षा के अयोग्य माना जाता था।

वर्धमानसूरि के अनुसार स्त्री को दीक्षाग्रहण से पूर्व अपने संरक्षकों की अनुमति लेना अनिवार्य था। दिगम्बर एवं बौद्ध-परम्परा में भी स्त्री को दीक्षा प्रदान करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था। बिना अनुमति के संघ में प्रवेश देने से कटुता बढ़ती थी, अतः इस विवाद से बचने के लिए स्त्री को दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व उसके संरक्षकों की अनुमति लेना आवश्यक माना जाता था।

जैन एवं बौद्ध-परम्परा में स्त्री को दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व कुछ नियमों को सीखना आवश्यक था। जैन-परम्परा में स्त्री को दीक्षा से पूर्व क्षुल्लिका के रूप में उन नियमों का प्रशिक्षण दिया जाता था। इसी प्रकार बौद्ध-भिक्षुणीसंघ में भी नारी को श्रामणेरी के रूप में दस शिक्षापदों तथा शिक्षमाणा के रूप में कम से कम दो वर्ष तक षड्‌नियमों की जानकारी प्राप्त करना होती थी, तदुपरान्त उसकी उपसम्पदा होती थी।^{५६४} जैन-परम्परा के सामायिकचारित्र एवं छेदोपस्थापना चारित्र के समान ही बौद्ध-परम्परा में भी दीक्षा और उपसम्पदा की व्यवस्था है।

स्त्रीदीक्षा सम्बन्धी उपर्युक्त बातों में जैन-परम्परा एवं बौद्ध-परम्परा की विचारधाराओं में तो समानता दिखाई देती है, किन्तु उनकी दीक्षा-विधि आदि में कुछ भिन्नता भी दृष्टिगत होती है। बौद्ध-भिक्षुणीसंघ में उपसम्पदा प्राप्त करने के लिए शिक्षमाणा को लम्बी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता था। उस हेतु भिक्षु और भिक्षुणी-दोनों संघों की सहमति अनिवार्य थी। सर्वप्रथम भिक्षुणीसंघ में तत्पश्चात्

^{५६१}स्थानांगसूत्र, सम्पादक- मुनि श्री कन्हैयालालजी, सूत्र.-३/२०२, टीका पृ.- १५४ से १५५, आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव, राजस्थान.

^{५६२}प्रवचनसारोद्धार, अनु.-हेमप्रभाश्रीजी, द्वार-१०८, पृ.-४३७, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{५६३}जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, डॉ. अरूणप्रतापसिंह, अध्याय-१, पृ.-२०, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९८३.

^{५६४}जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, डॉ. अरूणप्रतापसिंह, अध्याय-१, पृ.-३०, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९८३.

भिक्षुसंघ में उपसम्पदा प्राप्त करने के लिए विज्ञप्ति तथा तीन बार अनुश्रावण की विधि की जाती थी तथा अन्त में धारणा द्वारा संघ की मौन सहमति से उसकी स्वीकृति की सूचना मिलती थी। जैनसाध्वी संघ में स्त्री को दीक्षा ग्रहण करने हेतु इतनी लम्बी प्रक्रिया से नहीं गुजरना पड़ता था। क्षुल्लिका या सामायिकचारित्र के रूप में प्रशिक्षण ग्रहण करने के बाद एक निश्चित कालावधि के पश्चात् उसे प्रव्रज्या प्रदान कर दी जाती थी।

बौद्ध-भिक्षुणीसंघ में उपसम्पदा प्रदान करने के पश्चात् भिक्षुणी को तीन निश्चय तथा आठ अकरणीय कर्म बतलाए जाते थे। जैनसाध्वियों के सन्दर्भ में इस प्रकार के निश्चय तथा अकरणीय कर्मों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, यद्यपि इनका पालन जैन-भिक्षुणीसंघ में भी होता था।^{५६५}

इस प्रकार जैन तथा बौद्ध-परम्परा में स्त्रीदीक्षा की विधि में कुछ समानताएँ एवं कुछ असमानताएँ दृष्टिगत होती हैं।

उपसंहार -

वर्धमानसूरि द्वारा वर्णित यह संस्कार स्त्रियों को दीक्षा प्रदान करने हेतु है। स्त्रियों को दीक्षा प्रदान करते समय निम्न दोषों का परिहार करना आवश्यक है
- ५६६

(१) बाल (२) वृद्ध (३) नपुंसक (४) स्त्रीक्लीब (५) जड्ड (६) व्याधिग्रस्त (७) स्तेन (८) राजापकारी (९) उन्मत्त (१०) अदर्शन (११) दास (१२) दुष्ट (१३) मूढ़ (१४) जुंगित (१५) अवबद्धक (१६) भृत्य (१७) ऋणार्त (१८) शैक्षनिस्फेटिका (१९) गर्भिणी एवं (२०) बालवत्सा।

इन दोषों से रहित स्त्री ही गृहीत व्रत का सम्यक् परिपालन कर सकती है, क्योंकि यदि स्त्री बालिका होगी, तो अपने चंचल स्वभाववश देशविरति या सर्वविरति ग्रहण नहीं कर सकेगी, वृद्ध होगी, तो ज्येष्ठ के प्रति भी विनय नहीं कर पाएगी, नपुंसक होगी, तो विषयभोग के आवेगों की तीव्रता के कारण गृहीत व्रतों का सम्यक् पालन नहीं कर पाएगी, इत्यादि। इन सब बातों का विचार करके ही स्त्री को दीक्षा दी जानी चाहिए, कदाचित् दीक्षा प्रदान करते समय इन दोषों का ध्यान नहीं रखा जाए, तो उससे साध्वी-समुदाय का अपयश तो होता ही है, उसके साथ ही जिनशासन की भी निन्दा होती है। यदि कोई आचार्य बिना किसी परीक्षण

^{५६५} जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, डॉ. अरुणप्रतापसिंह, अध्याय-१, पृ.-३१, पार्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९८३.

^{५६६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-उन्नीसवाँ, पृ.-७४, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

के गर्भिणी स्त्री को दीक्षा प्रदान कर दे और समय-प्रसार होने पर गर्भ के लक्षण प्रकट होने लगे, तो लोग उसे तो व्यभिचारिणी कहेंगे ही, साथ ही साथ जिनशासन की भी आलोचना करेंगे कि जैन साधु-साध्वी चरित्रहीन होते हैं; आदि। दीक्षा के समय इन दोषों का परिहार करने के साथ-साथ दीक्षार्थी के स्वजनों की अनुज्ञा प्राप्त करना भी आवश्यक है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह नियम अत्यन्त उपयोगी है। वर्तमान में हम देखते हैं कि कितने ही साधु-साध्वी माता-पिता या पति की अनुज्ञा के बिना ही स्त्री को दीक्षा प्रदान कर देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप लोगों में धर्म के प्रति आस्था कम होती जाती है और लोग धर्म से विमुख होते जाते हैं; अतः वर्धमानसूरि ने स्त्रियों को दीक्षा प्रदान करने हेतु जिन नियमों की चर्चा की है, वे अति आवश्यक हैं।

प्रवर्तिनी-पदस्थापन-विधि

प्रवर्तिनी-पदस्थापन-विधि का स्वरूप-

साध्वी-समुदाय का प्रवर्तन करने वाली साध्वी को प्रवर्तिनी कहते हैं। इनका मुख्य कार्य साध्वियों को वाचना प्रदान करने का होता है। जिस प्रकार मुनिसंघ में वाचनाचार्य का पद होता है, ठीक उसी प्रकार साध्वी-समुदाय में प्रवर्तिनी का पद होता है। यद्यपि वाचनाचार्य की अपेक्षा प्रवर्तिनी के अधिकार सीमित होते हैं, किन्तु दोनों का मुख्य कार्य तो उनके आश्रित शिष्य एवं शिष्याओं को वाचना देने का ही होता है। वाचनाचार्य-पद प्रदान करने की विधि का उल्लेख तो पूर्व में किया जा चुका है, यहाँ मात्र प्रवर्तिनी पद प्रदान करने की विधि का ही उल्लेख किया जा रहा है। किन-किन गुणों से युक्त साध्वी इस पद हेतु योग्य होती है, प्रवर्तिनी-पद पर आरूढ़ होने के बाद उसके द्वारा कौन-कौन से कार्य करणीय हैं तथा कौन-कौन से कार्य अकरणीय हैं-इन सबका विस्तृत विवेचन इस विधि में किया गया है। श्वेताम्बर-परम्परा में विधिमार्गप्रपा को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी इस विधि का उल्लेख हमें स्वतंत्र रूप से देखने को नहीं मिला। “विधिमार्गप्रपा” में भी ग्रन्थकार ने इस विधि का विस्तृत विवेचन नहीं करते हुए मात्र इतना ही निर्देश दिया है^{५६७} -

“सा य पवत्तिणीपयाभिलावेण वायणायरियपयट्ठवणातुल्ला, मंतो सो चेव, नवरं खंधकरणी लग्गवेलाए दिज्जइ। सेसं सव्वं निसिज्जाइ तहेव।”

^{५६७}विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, पृ.-७१, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००.

अर्थात् वह प्रवर्तिनी-पदस्थापन-विधि प्रवर्तिनी-पद के आलापक से, अर्थात् प्रवर्तिनी-पद के नामोच्चारणपूर्वक वाचनाचार्यपदस्थापन विधि के समान ही जाननी चाहिए और मंत्रदान भी वाचनाचार्यपदस्थापन-विधि के समान ही है। विशेष यह है कि लगन-समय में स्कन्धकरणी दी जाती है। शेष सभी आसनादि विधान वाचनाचार्यपदस्थापना-विधि की तरह ही समझना चाहिए।

दिगम्बर-परम्परा में आर्यिकाओं में इस पद की व्यवस्था नहीं होती है, वहाँ मात्र गणिनी (महत्तरा) पद की ही व्यवस्था हमें देखने को मिली, जिसकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे। वैदिक-परम्परा में भी हमें इस प्रकार के पद और उसके विधि-विधान का विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता है।

जैसा कि पूर्व में भी विदित है कि मुनिजीवन में वाचना का बहुत ही महत्व है, क्योंकि वाचना से न केवल प्रत्यक्षतः ज्ञान की अभिवृद्धि होती है, बल्कि परोक्षतः मोक्षसुख की भी प्राप्ति होती है। साधुओं की भाँति ही साध्वियों को भी अधिकाधिक वाचना का अवसर प्राप्त हो-इस उद्देश्य से साध्वी-समुदाय में योग्य साध्वी को प्रवर्तिनी-पद पर नियुक्त किया जाता है। यद्यपि वाचनाचार्य भी साध्वियों को वाचना देते हैं, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा उनकी भी कुछ मर्यादाएँ होती हैं- इस व्यवहार को ध्यान में रखते हुए ही वाचना प्रदान करने के लिए योग्य साध्वी को प्रवर्तिनी-पद पर नियुक्त किया जाता है, जिससे वह अधिक समय तक साध्वियों को वाचना प्रदान कर सके।

यह संस्कार कब किया जाना चाहिए, अर्थात् प्रवर्तिनी-पद प्रदान करते समय साध्वी किन-किन गुणों से युक्त हो, अर्थात् प्रवर्तिनी पद के योग्य साध्वी में क्या-क्या लक्षण होने चाहिए-इसकी विस्तृत चर्चा इस ग्रन्थ में मिलती है। यथा^{४६८}-

“वह इन्द्रियों को जीतने वाली हो, विनीता हो, कृतयोगिनी हो, आगम को धारण करने वाली हो, मधुरभाषी हो, स्पष्टवक्ता हो, करुणामयी हो, धर्मोपदेश में सदा निरत रहने वाली हो, गुरु एवं गच्छ के प्रति स्नेहशील हो, शान्त हो, विशुद्धशील वाली हो इत्यादि।”

संस्कार का कर्त्ता-

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार आचार्य अथवा उनकी अनुपस्थिति में महत्तरा द्वारा करवाया जाता है। आचार्य अपने गच्छ के सम्पूर्ण साधु-साध्वियों

^{४६८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय - अट्ठाईसवाँ, पृ.-१२०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

के धर्मशासक होते हैं, अतः उनका निर्णय साध्वीसंघ को भी स्वीकार करना होता है। वे ही योग्यता का परीक्षण कर किसी साध्वी को इस पद पर नियुक्त करते हैं, किन्तु व्यवहारसूत्र के अनुसार^{५६६} साध्वियाँ या प्रवर्तिनी आदि भी अन्य योग्य साध्वी को प्रवर्तिनी-पद पर नियुक्त कर सकती हैं।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रवेदित की है-

प्रवर्तिनी पदस्थापन की विधि-

वर्धमानसूरि ने इस विधि में सर्वप्रथम प्रवर्तिनी पद के योग्य साध्वी के लक्षणों की चर्चा की है। तदनन्तर प्रवर्तिनी-पदस्थापन की मूल विधि का उल्लेख किया गया है। वर्धमानसूरि के अनुसार गुणों से युक्त साध्वी को जिसने लोच तथा अल्पप्रासुक जल से स्नान किया हुआ है, प्रवर्तिनी पद प्रदान करने की विधि श्रावकजन को बड़े महोत्सव पूर्वक करना चाहिए। इसके लिए सर्वप्रथम समवसरण की स्थापना करें। तत्पश्चात् भावी प्रवर्तिनी समवसरण की तीन प्रदक्षिणा कर प्रवर्तिनी-पद प्रदान किए जाने हेतु नंदीक्रिया, वासक्षेप एवं चैत्यवन्दन की अनुज्ञा प्राप्त करने हेतु गुरु के समक्ष निवेदन करें। तत्पश्चात् गुरु वर्धमानविद्या से अभिमंत्रित वासक्षेप प्रदान कर उसे नंदीक्रिया एवं चैत्यवन्दन वगैरह कराए। तदनन्तर लग्नबेला के आने पर गुरु विधिपूर्वक प्रवर्तिनी को षोडशाक्षरी परमेष्ठीविद्यामंत्र तथा परमेष्ठीमंत्र का चक्रपट प्रदान करें। तत्पश्चात् उसे लघुनंदी का पाठ सुनाए। चतुर्विध संघ द्वारा वासक्षेप प्रक्षिप्त करने के पश्चात् गुरु उसे करणीय कार्यों की अनुज्ञा एवं अकरणीय कार्यों का निषेध करते हैं।

एतदर्थ विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग के अट्टाईसवें उदय को देखा जा सकता है।

उपसंहार-

सामान्यतः किसी भी कार्य के सफल संचालन हेतु एक निश्चित विधि का होना आवश्यक है। विधिपूर्वक किया गया कार्य निश्चित रूप से सिद्धि को प्राप्त करता है-इसमें कोई संदेह नहीं है। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति को किसी सामान्य पद पर नियुक्त करने के लिए उसे जनसामान्य के समक्ष प्रतिज्ञा करवाई जाती है तथा उस कार्य से सम्बन्धित दायित्व सौंपे जाते हैं, जिससे कि वह अपने कार्य के प्रति सजग रहे। जब सामान्य व्यवहार में भी इन सब बातों का ध्यान रखा जाता है, तो फिर प्रवर्तिनी जैसे प्रमुख पद पर तो इन सब

^{५६६}व्यवहारसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र - ५/१३-१४, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण, १९६२.

बातों का ध्यान रखना और भी आवश्यक है। धर्म में तो इनकी उपेक्षा करना उचित है ही नहीं। इन विधि-विधानों के कारण व्यक्ति अपने दायित्वों के प्रति पूर्ण रूप से सजग रहता है। साध्वी-समुदाय में प्रवर्तिनी का पद एक महत्वपूर्ण पद है। प्रवर्तिनी-पद पर स्थित साध्वी यदि योग्य हो और अपने दायित्वों के प्रति पूर्ण सजग हो, तो ही वह अपने आश्रित साध्वियों को सम्यक् ज्ञान प्रदान कर सकती है, इसलिए किसी योग्य साध्वी, जो कि सौंपे गए कार्य को भली-भाँति करने में सक्षम हो-उसे प्रवर्तिनी-पद पर नियुक्त किया जाना आवश्यक है।

प्रवर्तिनी-पद पर आरूढ़ होने के बाद उनके द्वारा कौन-कौन से कार्य करणीय हैं और कौन-कौन से अकरणीय हैं-इसका ज्ञान होना भी आवश्यक है। आचारदिनकर में इसका स्पष्ट रूप से निर्देश किया गया है, जिससे की वह करणीय कार्यों को आचरित कर सके और अकरणीय कार्यों का निषेध कर सके। इस प्रकार साध्वी-संघ की व्यवस्था हेतु यह संस्कार आवश्यक है।

महत्तरापदस्थापन-विधि

महत्तरा-पदस्थापन-विधि का स्वरूप-

महत्तरा-पदस्थापन-विधि का स्वरूप जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि महत्तरा किसे कहते हैं? महत्तरा शब्द का तात्पर्य है-प्रधान या मुखिया, अर्थात् जो साध्वी समुदाय में प्रधान हो, उसे महत्तरा कहते हैं। साध्वी को महत्तरा-पद पर किस विधि-विधान पूर्वक नियुक्त किया जाए- इसका इस विधि में वर्णन किया गया है। इस विधि में महत्तरा-पद के योग्य साध्वी के लक्षण, उनके द्वारा करणीय कार्यों आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। जैन-परम्परा में प्राचीनकाल से ही श्रमणीसंघ में इस पद की व्यवस्था रही है। इतिहास में याकिनी महत्तरा आदि के ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जो यह सूचित करते हैं कि प्राचीन समय में भी साध्वियों को महत्तरा-पद से विभूषित किया जाता था। वर्धमानसूरि ने भी इसी परम्परा का अनुकरण करते हुए इसे संस्कार के रूप में विवेचित किया है। दिगम्बर-परम्परा में भी गणिनी (महत्तरा) पद की व्यवस्था देखने को मिलती है, उसे वहाँ साध्वियों का गणधर कहा जाता है। किन्तु इसकी क्या विधि है? इसका उल्लेख हमें दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिला। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में महत्तरा-पद के योग्य साध्वी के लक्षण तथा उनके कार्यों आदि का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से इनके कार्यों आदि की विस्तृत चर्चा हमें दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी देखने को नहीं मिलती है। वैदिक-परम्परा में हमें इस संस्कार के समान किसी अन्य संस्कार का उल्लेख देखने को नहीं मिला।

इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन साध्वी-समुदाय का संचालन करने वाली साध्वी को साध्वी-प्रमुख के पद पर नियुक्त करना है। यद्यपि साध्वियाँ आचार्य के नेतृत्व में ही अपनी संयमयात्रा सम्पन्न करती हैं, किन्तु आचार्य साध्वियों के प्रत्येक कार्य की देख-रेख कर सके-यह सम्भव नहीं है, अतः उनका सम्यक् संचालन करने हेतु किसी योग्य साध्वी को महत्तरा-पद पर नियुक्त करने के प्रयोजन से यह संस्कार किया जाता है। महत्तरा का पद प्रवर्तिनी के अपेक्षा उच्च या श्रेष्ठ होता है।

यह संस्कार कब किया जाना चाहिए, अर्थात् कितनी दीक्षापर्याय वाली साध्वी को यह पद प्रदान करना चाहिए-इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख हमें आचारदिनकर में भी नहीं मिलता है, किन्तु महत्तरा-पद के योग्य साध्वी के क्या-क्या लक्षण हैं, उसका इसमें विस्तृत विवेचन मिलता है।^{५९०} जिस प्रकार मुनि-समुदाय में आचार्य, उपाध्याय आदि पदों पर आसीन होने के लिए योग्यताओं के साथ-साथ निश्चित दीक्षापर्याय का होना भी आवश्यक माना जाता है, उसी प्रकार का कोई निर्देश हमें प्रवर्तिनी या महत्तरा-पद के सम्बन्ध में देखने को नहीं मिलता है।

संस्कारकर्त्ता-

वर्धमानसूरि के अनुसार यह विधि आचार्य द्वारा ही करवाई जाती है। वर्तमान में यह संस्कार आचार्य की अनुपस्थिति में उनके निर्देशानुसार अन्य वरिष्ठ साध्वियों द्वारा भी किया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रवेदित की है-

महत्तरापद-स्थापना-विधि-

इस विधि में सर्वप्रथम महत्तरा-पद के योग्य साध्वी के लक्षणों को बताया गया है। तदनन्तर यह बताया गया है कि इस विधि हेतु शुभ नक्षत्र, तिथि, वार एवं लग्न आदि आचार्य पदस्थापना विधि के समान ही देखा जाता है। इस अवसर पर अमारि घोषणा करवाना आदि सभी क्रियाएँ आचार्य-पदस्थापन-विधि के समान ही की जाती हैं। महत्तरापद के योग्य साध्वी लोच करके लग्नदिन के आने पर प्रभातकाल का ग्रहण करे तथा स्वाध्याय प्रस्थापन करे। महत्तरा-पदस्थापन की विधि भी प्रवर्तिनी-पदस्थापन-विधि के सदृश ही है। मात्र इतना विशेष है कि वहाँ

^{५९०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- उन्तीसवाँ, पृ.-१२०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

“प्रवर्तिनीपद के अनुज्ञार्थ” आदि शब्दों के स्थान पर “महत्तरापद के अनुज्ञार्थ” आदि शब्द बोले जाते हैं तथा भावी महत्तरा पर गुरु पाँच मुद्राओं से अभिमंत्रित वासक्षेप निक्षिप्त करते हैं। तदनन्तर लग्नबेला के आने पर गुरु महत्तरा के कन्धे पर काम्बली रखते हैं और उसके हाथ में आसन देते हैं। तत्पश्चात् उसी लग्नबेला में गुरु विधिपूर्वक उसके दाएँ कान में सम्पूर्ण वर्धमानविद्या तीन बार बोलते हैं तथा वर्धमानविद्यापट प्रदान करते हैं। तत्पश्चात् भावी महत्तरा का नामकरण कर गुरु उसे आशीर्वाद प्रदान करते हैं तथा आवश्यक करणीय कार्यों का निर्देश देते हैं। तत्पश्चात् ‘नूतन महत्तरा गुरु को वंदन कर आयम्बिल के प्रत्याख्यान लेती है। तदनन्तर साध्वियाँ, श्रावक एवं श्राविका वर्ग महत्तरा को वंदन करते हैं। अन्त में महत्तरा धर्मोपदेश प्रदान करती है। विधि के अन्त में वर्धमानसूरि ने स्व एवं परगच्छ में महत्तरा-पद से सम्बन्धित प्रचलित अवधारणाओं को भी स्पष्ट किया है। स्थानाभाव के कारण उन सबकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। एतदर्थ विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग के उनतीसवें उदय के अनुवाद को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में महत्तरा-पद स्थापन-विधि का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थों में हमें इस विधि का उल्लेख मिलता है, जिनका तुलनात्मक अध्ययन हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर के अतिरिक्त महत्तरापद के योग्य एवं अयोग्य साध्वी के लक्षणों का विस्तृत विवेचन श्वेताम्बर परम्परा के विधि-विधान सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में यद्यपि गणिनी (महत्तरा) पद के योग्य आर्यिका के लक्षणों का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह उल्लेख बहुत ही संक्षिप्त रूप में मिलता है। इस सम्बन्ध में गच्छाचार पइन्ना^{५७} में मात्र इतना ही उल्लेख मिलता है कि शीलवती, सुकृत करने वाली, कुलीन और गम्भीर अंतःकरण वाली, गच्छ में मान्य आर्यिका महत्तरा-पद को प्राप्त करती है। इसके अतिरिक्त और कोई चर्चा हमें इस सम्बन्ध में वहाँ नहीं मिलती है।

^{५७}देखें: मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ. फूलचन्द्र जैन, अध्याय-५, पृ.-४२२ पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी., प्रथम संस्करण: १९६७.

वर्धमानसूरि के अनुसार आचार्य-पद की भाँति ही शुभ नक्षत्र, तिथि, वार एवं लग्न में साध्वी को महत्तरा-पद प्रदान करना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रायः विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थों के सभी ग्रन्थकारों का मतैक्य है।

आचारदिनकर में महत्तरा-पद प्रदान करने से पूर्व श्रावकों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं, यथा^{५७२} - अमारि घोषणा करना, वेदी बनवाना, ज्वारारोपण करना इत्यादि क्रियाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु विधिमार्गप्रपा, सामाचारी, सुबोधासामाचारी आदि में हमें श्रावकों द्वारा इन क्रियाओं के किए जाने का उल्लेख नहीं मिलता है।

महत्तरा पद प्रदान करने की मूल विधि प्रायः सभी ग्रन्थों में एक सदृश ही है। कहीं-कहीं अपनी-अपनी गुरु परम्परा के कारण आंशिक भिन्नता अवश्य दृष्टिगोचर होती है। आचारदिनकर के अनुसार महत्तरा-पद के अनुज्ञार्थ जो वासक्षेप अभिमंत्रित किया जाता है, उसे पाँच मुद्राओं, यथा^{५७३} - सौभाग्यमुद्रा, परमेष्ठीमुद्रा गरुडमुद्रा, मुद्गरमुद्रा एवं कामधेनुमुद्रा से अभिमंत्रित किया जाना चाहिए। विधिमार्गप्रपा, सामाचारी, सुबोधा सामाचारी में वासक्षेप को अभिमंत्रित करने का तो उल्लेख मिलता है, किन्तु उसे पाँच मुद्राओं से अभिमंत्रित करे-इसका उल्लेख नहीं मिलता है। इसी प्रकार आचारदिनकर में वर्द्धमानविद्या प्रदान करने के बाद महत्तरा साध्वी को वर्धमानविद्यापट देने का उल्लेख मिलता है, किन्तु विधिमार्गप्रपा, सामाचारी, सुबोधा सामाचारी आदि में महत्तरा-पद प्रदान करने के पश्चात् साध्वी को वर्धमानविद्यापट प्रदान करने का उल्लेख नहीं मिलता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने महत्तरा द्वारा करणीय एवं अकरणीय कार्यों का भी स्पष्ट निर्देश किया है, यथा^{५७४} - हे वत्स! साध्वियों को दीक्षा देना, गृहस्थों को व्रतों की अनुज्ञा देना, साधु एवं साध्वियों को अनुशासित करना, श्राविकावर्ग द्वारा द्वादशावर्त्तसहित वंदन करवाना, इत्यादि कार्य यथाविधि तुम सम्पन्न कर सकती हो, परन्तु तुम्हें मुनि दीक्षा देने एवं प्रतिष्ठा करवाने की अनुज्ञा नहीं है-इत्यादि”, किन्तु सामाचारी एवं सुबोधासामाचारी में महत्तरा के कार्यों सम्बन्धी विधि-निषेधों का निर्देश (उल्लेख) हमें नहीं मिलता है। विधिमार्गप्रपा

^{५७२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- उनतीसवाँ, पृ.-१२०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{५७३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- उनतीसवाँ, पृ.-१२०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{५७४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- उनतीसवाँ, पृ.-१२१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

में महत्तरा को शिक्षा प्रदान करते समय उसके कार्यों से सम्बन्धित कुछ दिशा-निर्देश अवश्य मिलते हैं।

आचारदिनकर में महत्तरा के कार्यों से सम्बन्धित निर्देश में हमें एक विशेषता देखने को मिली, वह यह है कि सामान्यतः महत्तरा का कार्य साध्वी-समुदाय को ही अनुशासित करने का होता है, किन्तु वर्धमानसूरि ने महत्तरापद पर विभूषित साध्वी को साधु एवं साध्वी-दोनों को ही अनुशासित करने का निर्देश किया है। विधिमार्गप्रपा में महत्तरा द्वारा मात्र साध्वियों को ही अनुशासित करने का निर्देश मिलता है^{५७५} और वर्तमान में भी यही परम्परा दृष्टिगत होती है, किन्तु वर्धमानसूरि ने महत्तरा के कार्यक्षेत्र को व्यापक करते हुए साध्वियों के साथ-साथ साधुओं को भी अनुशासित करने का उल्लेख किया है, यह अलग बात है कि व्यवहार में इसका प्रचलन नहीं है। यद्यपि गण या गच्छ में आचार्य या सुयोग्य साधु का अभाव होने पर महत्तरा इस दायित्व का निर्वाह करती होगी-ऐसा हम मान सकते हैं।

आचारदिनकर में महत्तरा-पद प्रदान करने सम्बन्धी अन्य गच्छों की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए वर्धमानसूरि ने स्वगच्छ की मान्यताओं का भी निरूपण किया है। उनके अनुसार अन्य सभी गच्छों में पूर्वदीक्षित, अर्थात् अधिक संयमपर्याय वाली, अथवा वृद्धा साध्वियों को महत्तरा-पद प्रदान किया जाता है, किन्तु ग्रन्थकार के स्वगच्छ में कम दीक्षा पर्याय और तरुणावस्था वाली साध्वी को महत्तरा-पद प्रदान किया जाता है। वर्तमान में तो प्रायः सभी गच्छों में पूर्वदीक्षित, अर्थात् अधिक संयमपर्याय वाली साध्वी को ही महत्तरा-पद प्रदान किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि विभिन्न ग्रन्थों में प्रज्ञप्त महत्तरापदस्थापना की विधियों में कहीं-कहीं कुछ असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

उपसंहार-

तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् इस संस्कार की उपादेयता एवं आवश्यकता के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। जैन-परम्परा में महत्तरा-पद का महत्वपूर्ण स्थान है। मुनिसंघ में जो स्थान आचार्य का होता है, वही स्थान साध्वीसंघ में महत्तरा का होता है, क्योंकि साध्वीवर्ग में परम्परागत आचार-विचार के पालन करवाने तथा स्व-आश्रित साध्वी-समुदाय एवं श्रावक-श्राविकाओं को नैतिक एवं उच्च आदर्शमय जीवन की आंतरिक प्रेरणा देने में महत्तरा की सदा अहं भूमिका रही है।

^{५७५}विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण- ३०, पृ.-७३, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००.

महत्तरा के पद पर योग्य साध्वी का चयन किया जाना परमावश्यक है। योग्य साध्वी ही अपने कार्यक्षेत्र को सम्यक् प्रकार से संभाल सकती है। साध्वीसंघ का संचालन करते समय ऐसे कितने ही प्रसंग उपस्थित होते हैं, जिनका निर्णय तत्काल लेना आवश्यक होता है और यह कार्य योग्य साध्वी ही कर सकती है, सिद्धांतवेत्ता, बुद्धिशाली एवं नीति में निपुण साध्वी ही संघ के हिताहित का विचार करके तत्काल निर्णय ले सकती है, अतः साध्वी-समुदाय के संचालन हेतु योग्य साध्वी को प्रमुख पद पर स्थापित किया जाना आवश्यक है। साध्वियों की सुरक्षा-व्यवस्था हेतु भी यह पद महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार परकोटा नगर की रक्षा करता है, उसी प्रकार महत्तरा साध्वी-समुदाय की रक्षा करती है।

कुछ समुदाय में एक ही आचार्य होता है, अतः यह सम्भव नहीं हो पाता है, कि वह आचार्य सभी जगह सभी कार्यों में अपनी उपस्थिति दे सके। अतः उन आचार्य के कुछ कार्यों का विभाजन करने हेतु भी यह पद आवश्यक है।

अहोरात्रिचर्या विधि

अहोरात्रिचर्या-विधि का स्वरूप-

अहोरात्रिचर्या शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- अहोरात्रि+चर्या अहोरात्रि का तात्पर्य है- दिवस एवं रात्रि तथा चर्या का तात्पर्य है- आचरण विधि। संक्षेप में अहोरात्रि चर्या का तात्पर्य दिवस एवं रात्रि सम्बन्धी दैनिक क्रियाओं की आचरण-विधि से है। प्रत्येक व्यक्ति की कुछ न कुछ दैनिक चर्या होती है, जिसे वह नियमित रूप से करता है। वह प्रतिदिन अपनी दैनिकचर्या को उसी प्रकार करे ही, यह उसके लिए आवश्यक नहीं वरन् ऐच्छिक होता है, किन्तु मुनि-जीवन की कुछ विशिष्ट चर्याएँ होती हैं, जिनका आचरण करना मुनि के लिए अनिवार्य होता है। मुनि-जीवन से सम्बन्धित दिवस-रात्रि की क्या-क्या चर्याएँ हैं, उनकी आचरणा मुनि कैसे एवं किस समय करे- इसका विवेचन इस विधि में किया गया है। विषय की प्रासंगिकता को देखते हुए ग्रन्थकार ने जिनकल्पी एवं स्थविरो के उपकरणों की भी चर्चा की है। उन उपकरणों का जघन्यतः, मध्यमतः एवं उत्कृष्टतः कितना परिमाण होना चाहिए? इसका भी इसमें विस्तृत उल्लेख किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में मुनि की अहोरात्रिचर्या के कुछ उल्लेख अवश्य मिलते हैं, किन्तु उसकी विधि का विस्तृत रूप हमें देखने को नहीं मिला। हाँ, आचारदिनकर में वर्णित दिवस-रात्रि सम्बन्धी विधि-विधानों के कुछ विषयों का दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में यत्र-तत्र उल्लेख अवश्य है। इसी प्रकार वैदिक-परम्परा में भी हमें संन्यासियों की दिवस एवं अहोरात्रि सम्बन्धी चर्या का कुछ वर्णन तो मिलता है, यथा-भिक्षाटन, भिक्षापात्र आदि से सम्बन्धित विषयों के

उल्लेख तो अवश्य मिलते हैं, किन्तु सम्पूर्ण दिवस-रात्रि की चर्या का उल्लेख एक स्थान पर एक ही ग्रन्थ या अध्याय के रूप में नहीं मिलता है, जैसा कि उत्तराध्ययन या आचारदिनकर आदि में है। जैन-परम्परा की भाँति बौद्ध-परम्परा में भी अहोरात्रि की चर्या का कोई क्रमबद्ध वर्णन प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि अध्ययन-अध्यापन तथा ध्यान आदि करने सम्बन्धी आवश्यक कृत्यों का उल्लेख हमें बौद्ध-परम्परा के ग्रन्थों में भी मिलता है, किन्तु इसके लिए दिन तथा रात्रि का कौनसा समय निश्चित था, इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

व्यक्ति जो भी क्रिया करता है, उसके पीछे कुछ न कुछ प्रयोजन होता है, बिना प्रयोजन के कोई भी क्रिया नहीं होती है। यह बात अलग है कि कुछ प्रयोजन मुख्य होते हैं और कुछ प्रयोजन गौण होते हैं। वर्धमानसूरि द्वारा प्रज्ञप्त इस विधि का मुख्य प्रयोजन साधुओं को उनकी दिनचर्या का बोध कराते हुए उन्हें संयममार्ग में स्थिर करना है। मुनि अपनी क्रियाओं को सम्यक् प्रकार से सम्पादित तभी कर पाएगा, जब वह उनके बारे में जान पाए। उसके अभाव में उसकी क्रिया सम्यक् नहीं हो सकती। महर्षियों का कथन है कि मुनि अपनी क्रियाओं को सम्यक् प्रकार से करे तो ही वह अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि मुनि की प्रत्येक क्रिया कर्म निर्जरा का कारण है, किन्तु मुनि उनके प्रति जरा सी भी असावधानी रखें तो वही क्रिया कर्मबंध का कारण बन सकती है। अतः मुनि सावधानी पूर्वक अपनी चर्याओं का पालन कर सके। इस प्रयोजन से ग्रन्थकार ने इस संस्कार का निरूपण किया है।

ग्रन्थकार के अनुसार मुनिजीवन की दिवस-रात्रि सम्बन्धी जो चर्या है, वह जिस दिन से साधक मुनिदीक्षा ग्रहण करता है, उसी दिन से उसकी ये सब क्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती है। संक्षेप में अगर हम यह कहें कि यह उसकी दैनिक विधि है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दिगम्बर-परम्परा में भी निर्ग्रन्थ मुनि के दैनिकचर्या का पालन दीक्षा ग्रहण करने के बाद से ही करना होता है।

संस्कार-विधि का कर्ता-

यह विधि मुनि को स्वयं करना होती है। यह बात भिन्न है कि वह दिवस-रात्रि सम्बन्धी अपनी प्रत्येक क्रिया के लिए गुरु या वरिष्ठतम मुनि से अनुज्ञा प्राप्त करे, किन्तु इन क्रियाओं का आचरण तो स्वयं ही करना होता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि निरूपित की है-

अहोरात्रिचर्या-विधि-

वर्धमानसूरि ने इस प्रकरण में साधु और साध्वियों की दिनरात की चर्या का उल्लेख करते हुए सर्वप्रथम संयम में सहायक धर्मोपकरणों की चर्या की है। इसके साथ ही यह भी कहा है कि पुस्तक, स्याही की दवात, लेखनी, पट्टिका (स्लेट), पुस्तकबन्ध मोरपिच्छी और प्रमार्जनी आदि ज्ञानोपकरण हैं। ज्ञान के साधनरूप इन ज्ञानोपकरणों एवं साधुओं के आगमविहित संयमोपकरणों से संयतियों के निष्परिग्रहव्रत का उपघात नहीं होता है। संयमोपकरणों की चर्या करते हुए उनकी क्या उपयोगिता है तथा उनका परिमाण कितना होना चाहिए? इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। तदनन्तर आचारदिनकर में साधु-साध्वी की दिनचर्या का उल्लेख किया गया है। साधु और साध्वी रात्रि के अन्तिम प्रहर में परमेष्ठीमंत्र के स्मरणपूर्वक उठकर यतनापूर्वक प्रस्रवणभूमि तक जाएं और लघुशंका का निवारण करें तथा पुनः संस्तारक के पास आकर गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करें। इस सब का विवेचन मूलग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया गया है। तदनन्तर कुःस्वप्न आदि के प्रायश्चित्त हेतु कायोत्सर्ग कर शय्या सम्बन्धी दोषों की आलोचना करें। तत्पश्चात् साधु-साध्वी रात्रि का एक मुहूर्त शेष रहने तक धीमे स्वर में स्वाध्याय आदि करें। तदनन्तर रात्रि-प्रतिक्रमण करें। तत्पश्चात् सूर्योदय होने पर गौतम गणधर स्तुतिपूर्वक अंग की, उपधि की एवं वसति की प्रतिलेखना करें। तदनन्तर स्वाध्याय, धर्माख्यान एवं साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविकाओं को अध्ययन-अध्यापन आदि कार्य करें। तत्पश्चात् प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर पोरसी की प्रतिलेखना करें। तत्पश्चात् साधु-साध्वी जिनचैत्य में जाकर देवदर्शन एवं चैत्यवन्दन करें। तत्पश्चात् स्थण्डिल भूमि पर जाकर मलमूत्र का उत्सर्ग करें। फिर विधिपूर्वक उपाश्रय में आकर साधु-साध्वियों को गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करनी चाहिए। तत्पश्चात् मूलग्रन्थ में प्रत्याख्यान पारणविधि एवं भिक्षाचर्या सम्बन्धी विधि-निषेधों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। तदनन्तर भिक्षाचर्या करते समय गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करने के पश्चात् गोचरचर्या के प्रतिक्रमण हेतु कायोत्सर्ग करें। तत्पश्चात् आहार करने से पूर्व साधु-साध्वी निर्दिष्ट गाथाओं का स्मरण करके आहार ग्रहण करें। आहार करने के पश्चात् पात्र-प्रक्षालन आदि किस प्रकार से करें, इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात् ईर्यापथिकी के दोषों की आलोचना कर शक्रस्तव का पाठ करें। तदनन्तर मुनिजन गुरु एवं अन्य साधुओं की वैयावृत्य करें तथा उपकरणों को व्यवस्थित करने का कार्य करें। तत्पश्चात् चौथें प्रहर में मुनि प्रतिलेखना एवं स्वाध्याय करें। कदाच बाल, ग्लान आदि हेतु पुनः भिक्षाटन करना पड़े, तो उसके लिए भी विधि-निषेध निर्दिष्ट किए गए हैं। तत्पश्चात् चतुर्थ प्रहर व्यतीत होने पर

मुनि विधिपूर्वक संधारा पोरसी करे। संधारा पोरसी करने के पश्चात् मुनि किस प्रकार से शयन करे तथा रात्रि का तृतीय प्रहर व्यतीत होने पर पुनः किस प्रकार से स्वाध्याय करे- इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। स्थानाभाव के कारण उसका विस्तृत उल्लेख हम यहाँ नहीं कर रहे हैं। एतदर्थ विस्तृत जानकारी के लिए मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग के तीसवें उदय को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

यद्यपि दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में आचारदिनकर के समान यति दिनचर्या का एक ही स्थान पर विधिवत् उल्लेख हमें देखने को नहीं मिला, किन्तु इनसे सम्बन्धित जिन-जिन विषयों का उल्लेख हमें इन परम्पराओं के ग्रन्थों में यत्र-तत्र प्रकीर्ण रूप से मिला है, उसका हम यथास्थान उल्लेख करेंगे। श्वेताम्बर-परम्परा में इस विधि से सम्बन्धित उल्लेख हमें उत्तराध्ययनसूत्र, यतिदिनकृत्य, यतिदिनचर्या, सामाचारी, पंचवस्तु आदि ग्रन्थों में तो मिलते ही हैं, इनके अतिरिक्त प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रन्थों में भी यतिदिनचर्या से सम्बन्धित क्रियाओं के उल्लेख मिलते हैं, जिनके आधार पर हम यहाँ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

वर्धमानसूरि ने मुनिजीवन की दिवस-रात्रि की चर्याविधि का उल्लेख करने से पूर्व सर्वप्रथम मुनि के उपकरणों की चर्या की है।^{५७६} इस विषय में उन्होंने जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, प्रत्येकबुद्ध एवं साध्वी के उपकरणों की संख्या, उपकरणों का परिमाण, उनकी उपयोगिता, जिनकल्पी की उपधि के सम्बन्ध में विभिन्न विकल्पों का, जिनकल्प का परीक्षण किस प्रकार से होता है, इसका तथा मुनियों द्वारा रखे जाने वाले दण्ड के प्रकार, परिमाण आदि का विस्तृत विवेचन किया है। मुनियों के उपकरणों आदि का ठीक ऐसा ही वर्णन ओघनिर्युक्ति^{५७७} एवं प्रवचनसारोद्धार^{५७८} में भी मिलता है। यतिदिनचर्या ग्रन्थ^{५७९} में भी स्थविर कल्पियों की उपधि की चर्या मिलती है। यतिदिनचर्या में मुनि के दंड के पर्व सम्बन्धी नियमों का भी उल्लेख मिलता है, अर्थात् दंड में कितने पर्व हों, तो उसके क्या

^{५७६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- तीसवाँ, पृ.-१२१-१२७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{५७७} ओघनिर्युक्ति, सं.- विजयजिनेन्द्रसूरी, सूत्र- ६६८-६८०, श्री हर्षपुष्पाभूत जैन ग्रन्थमाला, जामनगर, प्रथम संस्करण १९८६.

^{५७८} प्रवचन सारोद्धार, अनु.-हेमप्रभाश्रीजी, द्वार- ६०-६२, पृ.-२२०-२३८, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर,, प्रथम संस्करण १९६६.

^{५७९} यतिदिनचर्या, सं.-जिनेन्द्रसूरी, पृ.-६०-६४, श्री हर्षपुष्पाभूत जैनग्रन्थमाला, जामनगर, प्रथम संस्करण १९२२.

परिणाम होते हैं, उसका भी उसमें उल्लेख है। जैसे^{५८०}-दंड में एक पर्व हो, तो वह शुभ होता है; दंड में दो पर्व हों, तो वह कलहकारी होता है, तीन पर्व हो तो वह लाभदायक होता है, चार पर्व हो तो मरणान्तिक कष्ट देने वाला होता है-इत्यादि। संक्षेप में उसमें समसंख्या वाले पर्व से युक्त दण्ड को अशुभ माना गया है तथा विषम संख्या वाले पर्व से युक्त दंड को शुभ माना गया है, जबकि आचारदिनकर में हमें इस प्रकार की चर्चा देखने को नहीं मिलती। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी श्रमण के उपकरणों की चर्चा मिलती है, किन्तु उसमें दण्ड का उल्लेख नहीं है। मूलाचार^{५८१} के अनुसार श्रमण की उपधि चार प्रकार की होती है- (१) ज्ञानोपधि (२) संयमोपधि (३) शौचोपधि एवं (४) अन्य उपधि। शास्त्र ज्ञानोपधि हैं, पिच्छी संयमोपधि है, कमण्डलु शौचोपधि है, अन्य उपधि में चटाई-पाट आदि आते हैं, जो अल्पकाल के लिए गृहीत किए जाते हैं। दिगम्बर-परम्परा के श्रमणों को सामान्यतया पिच्छी, कमण्डलु एवं शास्त्र इन तीन उपधि के ही रखने का विधान किया गया है। वैदिक-परम्परा में संन्यासियों को अपने पास कुछ भी एकत्रित नहीं करने का निर्देश देते हुए कहा गया है कि वे मात्र जीर्ण परिधान, जलपात्र एवं भिक्षापात्र रख सकते हैं, किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार वे जल छानने का वस्त्र, पादुका, आसन, सर्दी से बचने के लिए कथरी तथा कमण्डलु आदि भी रख सकते हैं।^{५८२}

इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं में संयम के निर्वाह हेतु सहयोगी उपकरणों की चर्चा मिलती है।

संयम हेतु उपयोगी उपकरणों की चर्चा करने के बाद वर्धमानसूरी ने मुनि की दिन-रात की चर्याविधि का वर्णन किया है। यद्यपि यतिदिनचर्या एवं सामाचारी में वर्णित मुनि की अहोरात्रि की चर्या प्रायः समान ही है, किन्तु कहीं-कहीं गच्छ-परम्परा के कारण विषमता भी दृष्टिगत होती है। जैसे-वर्धमानसूरी के अनुसार^{५८३} साधु को रात्रि के अन्तिम प्रहर में परमेष्ठीमंत्र का स्मरण करते हुए संस्तारक का त्याग करना चाहिए और उसके बाद विधिपूर्वक मूत्र का त्याग

^{५८०} यतिदिनचर्या, सं.-जिनेन्द्रसूरी, पृ.-६३, श्री हर्षपुष्पामृत जैनग्रन्थमाला, जामनगर, प्रथम संस्करण १९६७.

^{५८१} मूलाचार, सं.-डॉ. फूलचन्द्र जैन, एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, सूत्र सं.-१/१४, भारतवर्षीय अनेकांत विच्छत् परिषद्, प्रथम संस्करण १९६६.

^{५८२} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पांडुरंग वामण काणे, अध्याय-२८, पृ.-४१३, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १९८०.

^{५८३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- तीसवीं, पृ.-१२७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

करना चाहिए, किन्तु यतिदिनचर्या के अनुसार^{१८४} साधु को परमेष्ठीमंत्र का स्मरण करते हुए चिन्तन करना चाहिए-

किं नायरामि किच्चं? किं कयमहियं? अभिग्गहो कोवा।

अप्पा परोऽवि पासइ किं महं? इय चित्तइ महप्पा।।

इस गाथा का चिन्तन करने के बाद उसे विधिपूर्वक मूत्र का विसर्जन करना चाहिए। सामाचारी^{१८५} में भी मुनि-दिनचर्या के सन्दर्भ में साधु को निद्रा का त्याग करके चिन्तन करने का निर्देश दिया गया है, यद्यपि सामाचारी में निर्दिष्ट गाथा यतिदिनचर्या ग्रन्थ में वर्णित गाथा से भिन्न है, किन्तु इसमें निहित भाव प्रायः समान ही हैं।

आचारदिनकर के अनुसार^{१८६} उपर्युक्त क्रिया करने के पश्चात् साधु को गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करके शक्रस्तव का पाठ करना चाहिए और उसके बाद कुस्वप्न-दुःस्वप्न के विशोधनार्थ कायोत्सर्ग करके-“इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए” से लेकर “राईओ अइआरो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कइं” का पाठ बोलकर शय्या सम्बन्धी दोषों की आलोचना करनी चाहिए और उसके बाद मुनि को रात्रि की एक घटिका शेष रहने तक शास्त्र का स्वाध्याय, स्तोत्रादि का पाठ, नमस्कारमंत्र का जाप या अन्य विद्या का धीमे-धीमे स्वर से पाठ करना चाहिए। यतिदिनचर्या ग्रन्थ के अनुसार^{१८७} मुनि को मूत्र का विसर्जन करने के पश्चात् ईर्यापथिकी सम्बन्धी दोषों की आलोचना, कुस्वप्न-दुःस्वप्न के विशोधनार्थ कायोत्सर्ग एवं मुनि-भगवन्तों को वन्दन करने के बाद स्वाध्याय करना चाहिए। सामाचारी में भी स्वाध्याय करने तक की यही विधि बताई गई है, किन्तु इस विधि में ग्रन्थकार ने गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करने के पश्चात् चैत्यवन्दन करने का भी निर्देश दिया है।^{१८८}

इस प्रकार गच्छ-परम्परा के अनुसार इन विधियों में कुछ अन्तर दिखाई देता है। यद्यपि यतिदिनचर्या सम्बन्धी अन्य क्रियाओं जैसे-रात्रिप्रतिक्रमण करना, स्वाध्याय करना, पात्र की प्रतिलेखना करना, चैत्यवन्दन करना, आहार-पानी की गवेषणा करना, आहार-पानी ग्रहण करने के बाद गमनागमन एवं पिण्डैषणा सम्बन्धी दोषों की आलोचना करना, गुरु के समक्ष भिक्षाचर्या का वर्णन करना,

^{१८४} यतिदिनचर्या, सं.-जिनेन्द्रसूरी, पृ.-२ से ३, श्री हर्षपुष्पाभूत जैन ग्रन्थमाला, जामनगर, प्रथम संस्करण १९६७

^{१८५} सामाचारी, तिलकाचार्यविरचित, प्रकरण-२१, पृ.- २६, सेठ डाह्याभाई मोकमचन्द, अहमदाबाद: १९६०.

^{१८६} आचारदिनकर, वर्षमानसुरिकृत, उदय- तीसर्वो, पृ.-१२७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{१८७} यतिदिनचर्या, सं.-जिनेन्द्रसूरी, पृ.-२-३, श्री हर्षपुष्पाभूत जैनग्रन्थमाला, जामनगर, प्रथम संस्करण १९६७.

^{१८८} सामाचारी, तिलकाचार्य विरचित, प्रकरण-२१, पृ.-२६, सेठ डाह्याभाई मोकमचन्द, अहमदाबाद: १९६०.

गोचरी करना, पात्र प्रक्षालन करना, पात्रों को विधिपूर्वक यथास्थान पर रखना, स्वाध्याय करना, पुनः प्रतिलेखना करना, संध्याकालीन आवश्यकक्रिया करना, रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करना, प्रथम प्रहर के व्यतीत होने पर संधारा पोरसी करके निद्राधीन होना आदि की विधि प्रायः आचारदिनकर, सामाचारी एवं यतिदिनचर्या ग्रन्थ में एक जैसी ही बताई गई है, फिर भी कुछ ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनका उल्लेख हमें आचारदिनकर में ही मिलता है, किन्तु सामाचारी एवं यतिदिनचर्या ग्रन्थ में नहीं मिलता है और कुछ महत्वपूर्ण बातें हमें आचारदिनकर में ही देखने को नहीं मिलती है, किन्तु सामाचारी आदि में देखने को मिलती है। जैसे-सामाचारी के अनुसार^{५८६} मुनि को गोचरी करने से पूर्व कुछ गाथाओं का स्वाध्याय करना चाहिए, इसका निर्देश दिया गया है तथा सामाचारी में हमें इन गाथाओं का उल्लेख भी मिलता है, किन्तु आचारदिनकर में हमें इस प्रकार का उल्लेख देखने को नहीं मिलता। इसी प्रकार भोजनमंडली में बैठने से पूर्व मुनि क्या क्रिया करे-उसका उल्लेख हमें सामाचारी में तो मिलता है, किन्तु आचारदिनकर में नहीं मिलता है।

दिगम्बर-परम्परा के मूलाचार^{५९०} ग्रन्थ में साधुओं को पूर्वाह्नकाल, अपराह्नकाल तथा रात्रि के उभयकाल में निरन्तर पठन-पाठन, व्याख्यानादिक स्वाध्याय करने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार मुनि की आंशिक दिनचर्या का भी उल्लेख मूलाचार की टीका में मिलता है, यथा^{५९१}-सूर्य उदय होते ही मुनि को देववंदना करनी चाहिए। तत्पश्चात् दो घड़ी व्यतीत होने पर श्रुतभक्ति एवं गुरुभक्ति करके स्वाध्याय करना चाहिए। दो प्रहर में दो घड़ी शेष रहने पर श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय सम्पूर्ण करना चाहिए। तत्पश्चात् संस्तर स्थान से दूर मूत्रपुरीषादिक की शंका का निवारण करके हस्तपादादि का प्रक्षालन करना चाहिए तथा पिच्छी एवं कमंडलु का ग्रहण करके मध्याह्न का देववंदन करना चाहिए। तत्पश्चात् ही उसे उदरपूर्ति के लिए भिक्षाचर्या के लिए अटन करना चाहिए.....

. इत्यादि। मुनि द्वारा प्रतिक्रमण आदि क्रिया करने सम्बन्धी उल्लेख भी मूलाचार में मिलते हैं, किन्तु आचारदिनकर में जिस प्रकार मुनि की अहोरात्रिचर्या का सुव्यवस्थित उल्लेख मिलता है, वैसा उल्लेख हमें दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता। वैदिक-परम्परा में भी मुनि सम्बन्धी अनिवार्य कार्यों,

^{५८६} सामाचारी, तिलकाचार्य विरचित, प्रकरण-२१, पृ.- २८, सेठ डाड्ढाभाई मोकमचन्द, अहमदाबाद: १९६०.

^{५९०} मूलाचार, सं.-डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं श्रीमती मुन्नी जैन, सूत्र सं.-५/७४, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण १९६६.

^{५९१} मूलाचार, सं.-डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं श्रीमती मुन्नी जैन, पृ.-११६, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण १९६६.

यथा^{५६२}-भिक्षा, जप, स्नान, ध्यान, शौच एवं देवार्चन का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उनका क्रमबद्ध विवेचन तो हमें वहाँ भी देखने को नहीं मिलता है।

आचारदिनकर में उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त, बालसाधु और चतुर्थ, छठवें, अष्टम भक्त के तपस्वी पुनः दूसरी बार कब एवं किस विधि से भिक्षाटन करके आहार प्राप्त करे, मुनियों को किन-किन स्थितियों में गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करनी चाहिए, साधु को आहार की गवेषणा हेतु एकांकी क्यों नहीं जाना चाहिए? इन सब बातों का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु सामाचारी, यतिदिनचर्या आदि में हमें इन बातों का उल्लेख नहीं मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र^{५६३} में अवश्य इस बात की चर्चा मिलती है कि आहार करने के छः कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर मुनि तृतीय प्रहर में भक्तपान की गवेषणा कर सकता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि यतिदिनचर्या एवं सामाचारी में मुनिदिनचर्या का वर्णन बहुत विस्तार से किया गया है। मुनि को कौनसी क्रिया किस प्रकार से और कैसे करनी चाहिए- इन सब बातों का इन ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन मिलता है। पंचवस्तु में भी मुनि की दिनचर्या सम्बन्धी क्रियाओं का उल्लेख बहुत विस्तृत मिलता है, किन्तु उसमें आचारदिनकर की भाँति क्रमपूर्वक विधि का उल्लेख नहीं मिलता है। उसमें मुनि की दिनचर्या को दस भागों में विभक्त करके उनसे सम्बन्धित क्रियाओं का वर्णन किया गया है। आचारदिनकर में यद्यपि मुनि की अहोरात्रिचर्या का संक्षिप्त ही उल्लेख मिलता है, फिर भी उसमें मुनि की चर्या का विधिवत् एवं सुव्यवस्थित प्रस्तुतिकरण किया गया है। ग्रन्थ का विस्तार न करते हुए ग्रन्थकार ने यथास्थान उन-उन क्रियाओं की सम्यक् जानकारी हेतु आगमग्रन्थों के सन्दर्भ भी दिए हैं, यथा^{५६४}-मुनि पिण्डनिर्युक्तिशास्त्रों में कही गई विधि के अनुसार आहार-पानी की गवेषणा करे, दशवैकालिकसूत्र के पिण्डैषणा नामक अध्ययन में कही गई विधि के अनुसार आहार-पानी आदि ग्रहण करके पुनः वसति में प्रवेश करे.....इत्यादि।

^{५६२}धर्मशास्त्र का इतिहास, पांडुरंग वामण काणे (प्रथम भाग), अध्याय-२८, पृ.-४६२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण १८६०

^{५६३}उत्तराध्ययनसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र सं.- २६/३२, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९६२.

^{५६४}आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तीसवीं, पृ.-१२८-१२८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में वर्णित मुनि की अहोरात्रिचर्याविधि में कहीं-कहीं परस्पर समानता दिखाई देती है, तो कहीं कुछ भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है।

उपसंहार-

आचारदिनकर में वर्णित मुनि की दिनचर्या सम्बन्धी विधि-विधानों की क्या उपयोगिता है, इस सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं, तो हमारे समक्ष कई महत्वपूर्ण तथ्य उभरकर सामने आते हैं। साधुजीवन में प्रवेश करने के बाद संयमी का यही लक्ष्य होता है कि वह सूत्र में कहे गए अनुसार चारित्र्य का पालन करके मोक्ष को प्राप्त करे, किन्तु जब तक संयमी को यह पता नहीं होगा कि संयमजीवन में साधु को अपनी दिनचर्या का पालन कैसे और किस क्रम से करना चाहिए, तो वह अपनी क्रिया सम्यक् प्रकार से नहीं कर पाएगा, क्योंकि ज्ञान के अभाव में मुनि अपनी दिनचर्या जैसी-तैसी भलें ही पूरी कर ले, किन्तु व्यवस्थित क्रम के अभाव में उसकी वह क्रिया सार्थक नहीं होती है। जैसा कि हरिभद्रसूरि ने भी शास्त्रोक्त आचरण से विपरीत आचरण का परिणाम बताते हुए कहा है^{५६५}:-

स्तोकोप्यत्रायोगो योगेन नियमेन विपाकदारूणो भवति।

पाक क्रियागतो यथा ज्ञातमिदं सुप्रसिद्धं तु॥

अर्थात् शास्त्र में कहे गए आचरण का अल्पमात्र अभाव, अथवा विपरीत आचरण का फल निश्चय ही दुःखदायी होता है। जैसे कि भोजन में नमक का अभाव या शक्कर के स्थान पर नमक का प्रक्षेप भोजन को बिगाड़ देता है, ठीक उसी प्रकार शास्त्र में कही गई विधि से विपरीत विधि का आचरण करने पर मुनि कर्मनिर्जरा के स्थान पर कर्म का बन्ध करने लगता है, इसलिए मुनिजीवन की दिनचर्या का सम्यक् रूप से पालन हो सके, इसके लिए मुनि को अहोरात्रिचर्या जानना आवश्यक है। इसके माध्यम से ही वह गृहीत व्रतों का पालन करते हुए संयम-जीवन का निर्वाह कर सकता है, जैसे कि स्वयं वर्धमानसूरि ने भी इस ग्रन्थ के उपसंहार में कहा है^{५६६}:-

व्रतिनीव्रतिनोर्यश्च दिनरात्रिस्थिति क्रमः।

सः संयमस्स निर्वाह हठौपायापघातनः॥

^{५६५} विशतिविशिका, सं.-धर्मरक्षित विजय, विशिका-१२, पृ.-६३, मुद्रकः ६८७/१, छीपापोल, कालुपुर, अहमदाबाद.

^{५६६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

अर्थात् साधु और साध्वियों की जो दिन-रात्रि की चर्या विधि कही गई है, वह संयम के निर्वाह तथा दुराग्रहों के निराकरण के लिए है। इस प्रकार संयम-जीवन में स्थित साधु-साध्वियों के लिए अपनी दिनचर्या का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

साधुओं की ऋतुचर्या-विधि

ऋतुचर्या-विधि का स्वरूप-

ऋतुचर्या शब्द का तात्पर्य ऋतु विशेष में की जाने वाली क्रियाओं की आचरण विधि से है, अर्थात् किन-किन ऋतुओं में मुनि को किस प्रकार से आहार-विहार आदि करना चाहिए-इसका इस विधि में वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त मुनियों को किन-किन ऋतुओं में प्रायः किन वस्त्रों का त्याग करना चाहिए तथा किन वस्त्रों को धारण करना चाहिए, विहार के लिए उपयुक्त एवं अनुपयुक्त क्षेत्र कौन-कौन से हैं, मुनि को एक स्थान पर अधिक से अधिक कितने समय तक रहना कल्प्य है, आदि-इन सब बातों का विस्तृत विवेचन इस विधि में किया गया है। विहार हेतु कौन-कौनसे वार, नक्षत्र शुभ माने गए हैं, कौनसे नक्षत्र में मुनि को किस दिशा में प्रयाण नहीं करना चाहिए, दिशाशूल, नक्षत्रशूल, योगिनीवास, पाशकाल, वत्स, शुक्राचार आदि ज्योतिष सम्बन्धी विषय का भी इस विधि में समावेश किया गया है। श्वेताम्बर-परम्परा के विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थों में आचारदिनकर ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें साधुओं की ऋतुचर्या का इतना विस्तृत उल्लेख मिलता है। यद्यपि दशवैकालिकसूत्र में भी साधुओं की ऋतुचर्या का उल्लेख मिलता है, किन्तु वह उल्लेख बहुत ही संक्षिप्त है। वर्धमानसूरि द्वारा वर्णित इस विधि में जिन-जिन विषयों का वर्णन मिलता है। उनका थोड़ा-थोड़ा वर्णन यत्र-तत्र अनेक ग्रन्थों में मिलता है, जिसकी चर्चा हम यथास्थान तुलनात्मक अध्ययन में करने का प्रयत्न करेंगे। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में हमें साधु की ऋतुचर्या के सदृश पृथक् से कोई संस्कार देखने को नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में इस विधि में वर्णित विषयों की अवश्य कुछ चर्चा मिलती है।

मन में संशय हो सकता है कि साधु के लिए योगोद्धवहन, प्रायश्चित्तविधि, आवश्यकविधि आदि निर्दिष्ट करने का कुछ प्रयोजन हो सकता है, किन्तु साधुओं की ऋतुचर्याविधि बताने का यहाँ क्या प्रयोजन होगा? इस संशय का निवारण करते हुए स्वयं वर्धमानसूरि ने इस ग्रन्थ के व्यवहार-परमार्थ प्रकरण में कहा है कि साधुओं की ऋतुचर्याविधि निर्दिष्ट करने का मूल प्रयोजन कषाय एवं

इन्द्रियों का निग्रह करना है।^{५६७} ऋतुओं के परिवर्तन होने से व्यक्ति के परिवेश में भी अनेक परिवर्तन होते हैं, जो मुनि-जीवन पर बहुत प्रभाव डालते हैं। बाहरी वातावरण के परिवर्तनों के बीच रहकर भी साधु अपने संयम का पूर्ण रूप से पालन कर सके-इस उद्देश्य से ग्रन्थकार ने इसे मुनि-जीवन सम्बन्धी विधिविधान के रूप में विवेचित किया है।

वर्धमानसूरि ने जिन-जिन ऋतुओं में जो-जो कार्य करने या नहीं करने के विधि-निषेध किए हैं, सम्भवतः उनके समय में उन-उन ऋतुओं में ही उन क्रियाओं का आचरण किया जाता होगा या नहीं किया जाता होगा-ऐसा हम मान सकते हैं। यद्यपि प्रकीर्णक साहित्य में विशेष रूप से गणिविज्जा एवं गच्छाचार में विहार के सम्बन्ध में इस बात का उल्लेख अवश्य मिलता है कि मुनि को किन-किन वारों, नक्षत्रों, तिथियों आदि में विहार करना चाहिए, किन-किन वारों, नक्षत्रों, तिथियों आदि में विहार नहीं करना चाहिए।

प्रव्रज्या, उपस्थापना, वाचनादान, योगोद्धहन आदि साधु-आचार सम्बन्धी विधि-विधानों को करवाने के सम्बन्ध में संस्कार करने वाले की चर्चा मिलती है, किन्तु ऋतुचर्या के सम्बन्ध में किसी विशेष कर्ता की चर्चा नहीं मिलती है, क्योंकि इस ऋतुचर्याविधि का वहन भी दिनचर्याविधि की भाँति स्वयं मुनि ही करता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने ऋतुचर्या की निम्न विधि प्रज्ञप्त की है-
साधुओं की ऋतुचर्या-विधि-

इस विधि के अन्तर्गत वर्धमानसूरि ने अलग-अलग ऋतुओं में साधुओं की आचार विधि किस प्रकार की होनी चाहिए? इसका वर्णन किया है। इस प्रकरण में वर्धमानसूरि ने सर्वप्रथम हेमन्तऋतु में साधु का आचार कैसा होना चाहिए, इसका उल्लेख किया गया है; जैसे-चातुर्मास के पश्चात् हेमन्तऋतु में साधु को प्रायः वस्त्रों का त्याग कर शीतपरिषह सहन करना चाहिए, अल्पनिद्रा एवं अल्प-आहार करना चाहिए, कभी भी तेल का मर्दन नहीं करना चाहिए, इत्यादि। तदनन्तर इस ऋतु में विहार की उत्तम विधि क्या है, इसका उल्लेख करते हुए सर्वप्रथम विहार करने के योग्य मुनि के लक्षणों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् विहार के लिए आवश्यक स्थितियाँ एवं वस्तुओं का भी उल्लेख किया गया है। तदनन्तर विहार के योग्य देशों एवं विहार के अयोग्य देशों के नाम बताए गए हैं। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि मुनिजनों के लिए सूर्योदय के पश्चात् प्रतिदिन दस मुहूर्त तक पाँच सौ धनुष की यात्रा करना शुभ है। तदनन्तर विहार

^{५६७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

हेतु शुभ नक्षत्र कौन-कौन से हैं, और कौन-कौन से नक्षत्र अशुभ हैं-इसका उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् दिग्द्वार, दिशाशूल, नक्षत्रशूल, किल, योगिनीवास, सम्मुख चन्द्रमा, रविविचार, पाशकाल, वत्स, शुक्राचार आदि ज्योतिष सम्बन्धी विषयों की विस्तृत चर्चा की गई है। तदनन्तर यह कहा गया है कि मुनि को तिथि, वार, लग्न, नक्षत्र, चन्द्रबल आदि को देखकर अनुकूल शकुन होने पर विहार करना चाहिए। मुनि को चातुर्मास के बाद पूर्णिमा के दिन विहार नहीं करना चाहिए, उससे पूर्व त्रयोदशी के दिन अवश्य विहार कर सकता है। तत्पश्चात् वसति या उपाश्रय में ठहरने हेतु मुनि को किन छः व्यक्तियों की अनुज्ञा लेनी होती है, उसका उल्लेख किया गया है। उनकी अनुज्ञा न लेने पर मुनि को अदत्तादान-व्रतभंग का दोष लगता है-यह मुनि की हेमन्तऋतु की चर्या है।

मुनि की शिशिरऋतु की चर्या भी हेमन्तऋतुचर्या के सदृश ही है। शिशिरऋतु में मुनि को श्लेष्म निगलना नहीं चाहिए। अधिक मात्रा में जल भी नहीं पीना चाहिए-यह शिशिर ऋतु की चर्या है। तत्पश्चात् बसन्तऋतु की चर्या का उल्लेख किया गया है। बसन्तऋतु में मुनि को विभूषा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। नीरस आहार करना चाहिए तथा अच्छे वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। बसन्तऋतु में ब्रह्मचर्यव्रत की सुरक्षा हेतु मुनि को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए। विशुद्धशिक्षा ग्रहण करते हुए प्रतिदिन विहार करना चाहिए, आदि। आश्विन मास और चैत्रमास-दोनों के नवरात्र के व्यतीत होने पर अस्वाध्याय के निवारण हेतु कल्पतर्पण की विधि करनी चाहिए। तदनन्तर मूलग्रन्थ में कल्पतर्पण की विधि का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। यह बसन्तऋतु की चर्या है।

मुनि को ग्रीष्मऋतु में कायोत्सर्ग में रहना चाहिए तथा सूर्यकिरणों की आतापना का सेवन करते हुए देहासक्ति का त्याग करना चाहिए। शीतल जल, शीतल स्थान एवं शीतल पेयपदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए, इत्यादि बातों का उल्लेख करते हुए मूलग्रन्थ में इस ऋतु से सम्बन्धित अन्य विधि-निषेधों का उल्लेख किया गया है।

तदनन्तर वर्षाऋतु की चर्या का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि साधुओं को कैसे स्थान पर रहना चाहिए, षट्काय आदि जीवों की रक्षा के लिए अपनी दैनिक चर्याओं को किस प्रकार से करना चाहिए, पयूर्षण-पर्व की आराधना किस प्रकार से करनी चाहिए, पयूर्षण में किस प्रकार से लोच करना चाहिए, लोच के कितने प्रकार हैं, वर्षावास से पूर्व मुनि को वस्त्रों का प्रक्षालन किस प्रकार से करना चाहिए, वर्षावास में अचित्त जल कितने समय तक प्रासुक रहता है, इत्यादि विषयों का विवेचन भी मूलग्रन्थ में किया गया है।

शरदकाल की चर्या भी वर्षाऋतु की चर्या के सदृश ही है। इसमें इतना विशेष है कि मुनि को इस ऋतु में नई वस्तुएँ नहीं लेनी चाहिए तथा आहार-पानी का यथासंभव त्याग करना चाहिए। तदनन्तर मूलग्रन्थ में व्याख्यान की विधि बताई गई है। व्याख्यान विधि के अन्तर्गत ही यह बताया गया है कि प्रवचन प्रदाता को द्वादश अंगआगमों तथा, उत्कालिक और कालिक अंगबाह्य आगमों की व्याख्या योगोद्भवहनपूर्वक ही करना चाहिए। साथ ही त्रिषष्टिशालाका पुरुषों के संपूर्ण चारित्र्य का व्याख्यान करना चाहिए। धर्मसाधना हेतु प्रेरणा देते समय मुनि को उनसे सम्बन्धित कथानकों का विस्तारपूर्वक विवेचन करना चाहिए तथा द्वादश भावनाओं की व्याख्या करनी चाहिए..... इत्यादि। तदनन्तर अध्ययन सम्बन्धी विधि-निषेधों का उल्लेख किया गया है। स्थानाभाव के कारण इसकी विस्तृत चर्चा हम यहाँ नहीं कर रहे हैं, इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग के एकतीसवें उदय को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में ऐसा कोई ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया, जिसमें आचारदिनकर की भाँति साधु की ऋतुचर्या का उल्लेख हुआ हो। यद्यपि आचारदिनकर में वर्णित इन विषयों की चर्चा हमें जैन-परम्परा के अनेक ग्रन्थों में देखने को मिलती है, जिसका तुलनात्मक अध्ययन निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{१६८} हेमन्तऋतु में साधुओं को प्रायः वस्त्रों का त्याग कर देना चाहिए। इस ऋतु में उन्हें निद्रा एवं आहार-दोनों अल्पमात्रा में लेना चाहिए। तेल का मर्दन नहीं करना चाहिए तथा बालों का गुच्छ भी नहीं रखना चाहिए, शीत के निवारणार्थ रूई की शय्या पर शयन और अग्नि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जिनसे रस उत्पन्न हो-ऐसे गर्म, तीक्ष्ण, खट्टे एवं मधुर आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। शिशिरऋतु में मुनि को अधिक मात्रा में जल नहीं पीना चाहिए तथा श्लेष्म नहीं निगलना चाहिए। बसंत ऋतु में मुनि को भूषा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। नीरस आहार का सेवन करना चाहिए तथा अच्छे वस्त्र धारण नहीं करने चाहिए। मुनि को इस ऋतु में ब्रह्मचर्यव्रत के प्रति विशेष रूप से सजग रहना चाहिए। अस्वाध्याय के निवारणार्थ कल्पतर्पण करना चाहिए। ग्रीष्मऋतु में मुनियों को कायोत्सर्ग में रत रहना चाहिए तथा आतापना लेनी चाहिए। शीतल जल, शीतल स्थान एवं पान (शीतल पेय पदार्थों) का सेवन नहीं

^{१६८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-इकतीसवें, पृ.-१२६/१३५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

करना चाहिए, स्नान नहीं करना चाहिए, परीषहों को सहन करना चाहिए तथा उबटन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। वर्षाऋतु में साधु को विहार नहीं करना चाहिए, एक स्थान पर ही रहना चाहिए, केशलुंचन एवं पर्यूर्णणपर्व जैसे आवश्यक कृत्य करने चाहिए। शरदकाल में साधुओं को विहार नहीं करना चाहिए, नई वस्तुओं का ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा आहार-पानी का यथासंभव त्याग करना चाहिए, इत्यादि। श्वेताम्बर-परम्परा के आगमग्रन्थ दशवैकालिकसूत्र में भी हमें साधुओं की ऋतुचर्या का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, यथा^{५९९} सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्मऋतु में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त ऋतु में खुले बदन रहते हैं और वर्षाकाल में प्रतिसंलीन होते हैं।

साधु संयम के सम्यक् परिपालन हेतु एक स्थान पर अधिक से अधिक कितने समय तक रह सकता है तथा पुनः उस स्थान पर कितने समय पश्चात् आए-इस सम्बन्ध में भी वर्धमानसूरि ने अपना मंतव्य प्रकट किया है। वर्धमानसूरि के अनुसार^{६००} मुनि को एक मास; एक ऋतु, अर्थात् दो मास; दो ऋतु; अर्थात् चार मास; तीन ऋतु, अर्थात्, छः मास या वर्ष के अन्त में अवश्य विहार करना चाहिए। सामान्यतः चातुर्मास को छोड़कर मुनि को एक मास तथा साध्वियों को दो मास तक ही एक स्थान पर रहना कल्प्य है। दशवैकालिक की विविक्तचर्या नामक दूसरी चूलिका में भी इसका उल्लेख है कि^{६०१} जिस गाँव में मुनि काल के उत्कृष्ट प्रमाण तक रह चुका हो, अर्थात् वर्षाकाल में चातुर्मास एवं शेषकाल में एक मास रह चुका हो, वहाँ दो वर्ष, अर्थात् दो चातुर्मास एवं दो मास का अन्तर किए बिना न रहे। इसका तात्पर्य यह है कि मुनि जहाँ एक मास रह चुका है, वहाँ दो मास अन्यत्र बिताए बिना नहीं आए। इसी प्रकार जहाँ चातुर्मास करे, वहाँ दो चातुर्मास अन्यत्र बिताए बिना पुनः चातुर्मास न करे। दिगम्बर-परम्परा में भी मुनि के लिए एक स्थान पर रुकने सम्बन्धी यही विधान होगा-ऐसा हम मान सकते हैं, क्योंकि दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती है। वैदिक-परम्परा के संन्यासी के लिए भी एक स्थान पर अधिकतम समय तक रुकने सम्बन्धी विधि-निषेधों का उल्लेख मिलता है। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य) द्वारा उद्धृत शंख के वचनानुसार^{६०२} संन्यासी वर्षाऋतु में एक स्थान पर केवल दो मास

^{५९९} दशवैकालिकसूत्र, सं.-मुनिनथमल, सूत्र-३/१३, जैन विश्वभारती, लाड़नू, द्वितीय संस्करण १९७४.

^{६००} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-इकतीसवाँ, पृ.-१२९, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६०१} दशवैकालिकसूत्र, सं.-मुनि नथमल, द्वितीय चूलिका सूत्र-११, जैन विश्वभारती, लाड़नू, द्वितीय संस्करण १९७४.

^{६०२} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पांडुरंग वामण काणे, अध्याय-२८, पृ.-४९१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १८९०.

तक रुक सकता है। इसी प्रकार कण्व के अनुसार^{६०३} संन्यासी एक रात्रि गाँव में या पाँच दिन नगर में (वर्षा-ऋतु को छोड़कर) रह सकता है। आषाढ़ पूर्णिमा से लेकर चार या दो महीनों तक वर्षा-ऋतु में एक स्थान पर रह सकता है, किन्तु संन्यासी यदि चाहे तो गंगा के तट पर सदा रह सकता है। बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षुओं को चातुर्मास के अतिरिक्त शेष आठ मास विहार करने का विधान है, किन्तु भिक्षु एक स्थान पर उत्कृष्ट कितने समय तक रह सकता है- इस सम्बन्ध में बौद्ध-परम्परा में हमें कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है।

मुनि को सामान्यतः किन क्षेत्रों में विहार करना चाहिए एवं किन-किन क्षेत्रों में विहार नहीं करना चाहिए, इस विषय की चर्चा करते हुए वर्धमानसूरि ने विहार के योग्य आर्यदेशों एवं विहार के अयोग्य अनार्यदेशों का नामोल्लेख किया है।^{६०४} श्वेताम्बर-परम्परा के बृहत्कल्पसूत्र^{६०५} की टीका में तथा प्रवचनसारोद्धार में भी इन नामों की चर्चा मिलती है। दिगम्बर-परम्परा में विहार के योग्य क्षेत्र की चर्चा करते हुए मात्र इतना ही कहा गया है कि संयमी को प्रासुकक्षेत्र और सुलभवृत्ति, अर्थात् जहाँ शुद्ध आहार-जल आदि सहजरूप में उपलब्ध हो, वह क्षेत्र स्वयं तथा अन्य मुनियों के संलेखना के योग्य समझना चाहिए, अर्थात् ऐसे क्षेत्र में विचरण करना चाहिए।^{६०६} आचारदिनकर की भाँति दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें योग्यायोग्य आर्य-अनार्य देशों के नामोल्लेख नहीं मिलते हैं। बौद्ध-परम्परा के ग्रन्थों में भी हमें विहार के योग्यायोग्य देशों के नामोल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं।

इसी प्रकार आचारदिनकर में विहार के सन्दर्भ में ज्योतिष सम्बन्धी विषय की भी विस्तृत चर्चा मिलती है। यद्यपि गणिविज्जा^{६०७} कल्याणकलिका^{६०८} आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी विहार के संदर्भ में ज्योतिष से सम्बन्धित आंशिक चर्चा मिलती है, किन्तु वे उल्लेख बहुत ही संक्षिप्त हैं। दिगम्बर, बौद्ध आदि परम्परा में हमें इस प्रकार की चर्चा देखने को नहीं मिली।

^{६०३} धर्मशास्त्र का इतिहास, पांडुरंग वामण काणे (प्रथम भाग), अध्याय-२८, पृ.-४६१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण १८६०.

^{६०४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-एकतीसवाँ, पृ.-१३०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६०५} बृहत्कल्पसूत्र, मधुकरमुनि, टीका पृ.-१५४, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६०६} मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ. फूलचन्द्र जैन, अध्याय-४, पृ.-२८६, पार्ष्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९८७.

^{६०७} गणिविज्जा, अनु.-डॉ. सुभाष कोठारी, पृ.-३ से ५, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, प्रथम संस्करण १९६४.

^{६०८} कल्याणकलिका, कल्याणविजय विरचित, पृ.-४४४ से ४४६, श्री क.वि. शास्त्र संग्रह समिति, जालौर, द्वितीय संस्करण १९८७.

आचारदिनकर में अस्वाध्याय के निवारण के लिए कल्पतर्पण (वस्त्र-प्रक्षालन) की विधि का भी उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में विधिमागप्रपा के अतिरिक्त कल्पतर्पण की विधि का उल्लेख हमें स्वतंत्र रूप से कहीं भी देखने को नहीं मिलता है। विधिमागप्रपा में इस विधि को स्वतंत्र रूप से विवेचित किया गया है, यह बात भिन्न है कि वहाँ ग्रन्थकार ने उसे कल्पत्रेप^{६०६} विधि के नाम से उल्लेखित किया है, किन्तु उसका प्रयोजन भी अस्वाध्याय का निवारण करना ही है। दिगम्बर-परम्परा में मुनि निर्वस्त्र होते हैं, अतः उनके लिए कल्पतर्पणविधि का कोई महत्व नहीं रह जाता और यही कारण है कि दिगम्बर-परम्परा में हमें कल्पतर्पण की विधि का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि आर्यिका सवस्त्र होती है, किन्तु उनके लिए कल्पतर्पण (वस्त्र-प्रक्षालन) की क्या प्रक्रिया है, उनके ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं होने के कारण उस सम्बन्ध में कुछ कह पाना संभव नहीं है। बौद्ध-परम्परा में भी वस्त्र-प्रक्षालन की विधि का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उस सम्बन्ध में कोई विशेष विधि-विधान वर्णित नहीं है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इस प्रकरण में अनेक ऐसे विषयों की चर्चा की है, जैसे- विहार के योग्य मुनि के लक्षण क्या हैं?^{६१०} एक मास तक एक स्थान पर स्थिर-वास करने हेतु मुनि को किन-किन की अनुज्ञा लेनी होती है?^{६११} आदि। इन बातों का उल्लेख हमें श्वेताम्बर दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में यत्र-तत्र तो मिल जाता है, किन्तु इसका सुव्यवस्थित विवेचन तो आचारदिनकर में ही मिलता है।

वर्धमानसूरि ने अन्य ऋतुओं की चर्चा की अपेक्षा वर्षाऋतु की चर्चा का अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचन किया है। आगमग्रन्थों, यथा-कल्पसूत्र^{६१२} वगैरह में भी अन्य ऋतुओं की अपेक्षा वर्षाऋतु की चर्चा का विस्तृत वर्णन मिलता है, क्योंकि मुनि को चार मास तक एक स्थान पर रहकर ही अपनी संयम की आराधना करनी होती थी। इन चार महीनों में भी मुनि संयम का सम्यक् परिपालन कर सके तथा गृहीत व्रतों का आचरण सम्यक् प्रकार से कर सके- इस प्रयोजन से इस प्रकरण में उस काल से सम्बन्धित आवश्यक बातों का विस्तृत विवेचन किया होगा-ऐसा हम मान सकते हैं। दिगम्बर-परम्परा के मूलाचार, अणगार धर्मामृत

^{६०६} विधिमागप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण-२५, पृ.-६४, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००.

^{६१०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-एकतीसवाँ, पृ.-१२६-१३०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६११} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-एकतीसवाँ, पृ.-१३१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६१२} कल्पसूत्र, अनु.-विनयसागर, वाचना- नवीं, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण १९६२.

आदि ग्रन्थों में हमें आचारदिनकर की भाँति वर्षामास सम्बन्धी विधि-निषेधों की विस्तृत चर्चा नहीं मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनि की ऋतुचर्या सम्बन्धी विधि-विधानों का ध्येय कषाय एवं इन्द्रियों का निग्रह करते हुए सुचारु रूप से संयमयात्रा का निर्वहन करना ही है।

उपसंहार-

जिस प्रकार मुनि को संयम की सम्यक् परिपालना के लिए अहोरात्रि की चर्या का ज्ञान होना आवश्यक है उसी प्रकार ऋतुचर्या का भी ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि उसके अभाव में उसकी संयम की परिपालना सम्यक् नहीं होगी।

मुनि-जीवन में प्रवेश करने के बाद मुनियों की अनेक ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनका ज्ञान होना आवश्यक है, जैसे- विहारचर्या श्रमणजीवन की एक अनिवार्य एवं महत्पूर्ण चर्या है, क्योंकि बिना किसी प्रयोजन के वे स्थायी रूप से किसी एक नियत स्थान पर निवास नहीं कर सकते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा गया है कि श्रमण को भारण्ड पक्षी की तरह ग्रामानुग्राम अनासक्त एवं अप्रमत्त भाव से निरन्तर विचरण^{६९३} करते हुए अपनी साधना में लीन रहना चाहिए, किन्तु जब तक मुनि को यह ज्ञान नहीं होगा कि मुनि को कब विहार करना चाहिए, कब विहार नहीं करना चाहिए, किन क्षेत्रों में विचरण करना चाहिए, किन क्षेत्रों में विचरण नहीं करना चाहिए, तब तक वह आगमानुसार विहारचर्या का पालन कैसे कर सकेगा? क्योंकि विहारचर्या के ज्ञानाभाव में यदि वह विपरीत विहारचर्या का अनुसरण करता है, तो उसका आचरण शास्त्रविरुद्ध कहलाता है तथा निशीथसूत्र के अनुसार^{६९४} वह प्रायश्चित्त का अधिकारी होता है। अतः आगमानुसार विहारचर्या का पालन करने हेतु उसका ज्ञान होना आवश्यक है।

इसी प्रकार ऋतु सम्बन्धी आचारों का ज्ञान भी मुनि के लिए आवश्यक है। किस ऋतु में मुनि को आतापना लेनी चाहिए, किस ऋतु में मुनि को खुले बदन रहना चाहिए, किस ऋतु में मुनि को एक क्षेत्र में स्थिरता रखना चाहिए आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का ज्ञान ऋतुचर्या के बिना होना अशक्य है। ऋतुचर्या का ज्ञान होने पर ही वह उन-उन ऋतुओं से सम्बन्धित चर्याओं का पालन करके राग-द्वेष के निमित्तों को दूर कर सकता है।

^{६९३} उत्तराध्ययनसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र सं.-४/१०, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९६२.

^{६९४} निशीथसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र सं.-१६/२५-२६, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९६२.

इस प्रकार संसार के परिभ्रमणरूप राग एवं द्वेष की जड़ों को कमजोर करने हेतु भी ऋतुचर्या का बोध आवश्यक है।

अंतिमसंलेखना की विधि

अंतिमसंलेखना-विधि का स्वरूप-

अंतिमसंलेखना शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- अंतिम और संलेखना। अंतिम शब्द का तात्पर्य है-जीवन के अन्त में, अर्थात् जीवन के अंतिम चरण में, तथा संलेखना शब्द का तात्पर्य है-शरीर और कषाय का कृशीकरण^{६१५}; अर्थात् मुनि अपने अंतिम समय में जिस आराधना से शरीर एवं कषाय का कृशीकरण करता है, उसे अंतिमसंलेखना या मरणांतिक संलेखना कहते हैं। इस प्रकरण में मुनि-आचार सम्बन्धी अंतिमसंलेखना-विधि का वर्णन किया गया है। मुनि को अपने अंतिम क्षणों में किस प्रकार से एवं किन क्रियाओं के द्वारा अपने शरीर एवं कषायों को कृश अर्थात् दुर्बल करना चाहिए, इसका इस विधि में विस्तृत विवेचन है। श्वेताम्बर-परम्परा में अंतिमसंलेखना सम्बन्धी प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। दिगम्बर-परम्परा में भी इस विधि से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का सर्जन हुआ है। वर्धमानसूरि की भाँति जिनसेनाचार्य ने भी इसे संस्कार के रूप में स्वीकार किया है।^{६१६} दिगम्बर-परम्परा में संलेखना की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि अतिवृद्ध या असाध्य रोग से ग्रस्त हो जाने पर अथवा अप्रतिकार्य मरणांतिक उपसर्ग आ जाने पर, अथवा दुर्भिक्ष्य आदि की स्थिति में साधक समभावपूर्वक अन्तरंग कषायों का सम्यक् प्रकार से निरसन करते हुए, भोजन आदि का त्याग करके धीरे-धीरे शरीर को कृश करते हुए इस शरीर का त्याग कर देते हैं, इसे ही मरणांतिक संलेखना या समाधिमरण कहते हैं। वैदिक एवं बौद्ध-परम्परा में मृत्युवरण के उल्लेख तो हैं, किन्तु उनमें तत्सम्बन्धी विधि-विधान का विस्तृत उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। यद्यपि वैदिक एवं बौद्ध-परम्परा में स्वेच्छा मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है, किन्तु डॉ. सागरमल जैन के अनुसार^{६१७} जैन और वैदिक तथा बौद्ध-परम्पराओं में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ वैदिक-परम्परा में जल एवं अग्नि में प्रवेश, गिरिशिखर से गिरना, विष या शस्त्रप्रयोग आदि विविध साधनों से मृत्यु का वरण मिलता है, वहाँ जैनपरम्परा में

^{६१५} भिक्षु आगम विषयकोश (भाग-१), प्रधान सं.-आचार्यमहाप्रज्ञजी, पृ.-६६० जैन विश्वभारती संस्थान, लाइन्स, प्रथम संस्करण: १९६६.

^{६१६} आदिपुराण, जिनसेनाचार्यकृत, अनु.- डॉ. पन्नालाल जैन, पर्व-अड़तीसवाँ, पृ.-२४५-४६, भारतीय ज्ञानपीठ, सातवाँ संस्करण २०००.

^{६१७} डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रबन्ध सम्पादक- डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय, खण्ड-पंचम, पृ.-४२१, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६८.

सामान्यतया केवल उपवास द्वारा देहत्याग का समर्थन मिलता है। जैन-परम्परा शस्त्र आदि से होने वाली तात्कालिक मृत्यु की अपेक्षा उपवास द्वारा होने वाली क्रमिक मृत्यु को ही अधिक प्रशस्त मानती है।

जन्म और मृत्यु जीवनरूपी श्रृंखला के दो छोर हैं, जिस व्यक्ति का जन्म होता है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है, किन्तु फिर भी जीव जीवन को शाश्वत मानकर आनंद मानता है और जब मौत उसके सामने आ खड़ी होती है, तो वह उससे भयासक्त होकर इधर-उधर दौड़ने लगता है और जीने की आकांक्षा करता है। जीवन में संयोग का सुख है, इस कारण जीना अच्छा लगता है, जबकि मृत्यु में वियोग का दुःख है, अतः वह अच्छी नहीं लगती है, फिर भी मृत्यु की अनिवार्यता या अपरिहार्यता से कोई इन्कार नहीं कर सकता है। मृत्यु अवश्यभावी है। जैसा कि आचारांगसूत्र^{६७८} में कहा गया है कि मृत्यु अनागम नहीं है। व्यक्ति कितना भी प्रयत्न करे, तो भी वह मृत्यु के चक्र से छूट नहीं सकता। जब व्यक्ति को मृत्यु को प्राप्त करना ही है, तो क्यों न वह अपनी आराधना इस प्रकार से करे, जिससे अंतिम समय में भी उसकी आत्मसमाधि बनी रहे, आत्मसमाधि के बिना जीव कर्मों का क्षय नहीं कर सकता, अतः अंतिम समय में भी मुनि अपनी साधना-आराधना द्वारा कर्मों का क्षय कर सके, इसी उद्देश्य से यह विधि की जाती है।

संस्कार का कर्त्ता-

वर्धमानसूरि के अनुसार यह संस्कार आचार्य, उपाध्याय वाचनाचार्य या निर्यापक मुनि किसी के भी द्वारा करवाया जा सकता है।^{६७९} दिगम्बर-परम्परा में निर्यापकाचार्य द्वारा यह संस्कार कराए जाने के उल्लेख मिलते हैं।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रवेदित की है:-

अंतिमसंलेखना-विधि-

वर्धमानसूरि ने इस विधि के अन्तर्गत सर्वप्रथम बारह वर्ष की उत्कृष्ट संलेखना-विधि का निरूपण किया है। सर्वप्रथम इसके अन्तर्गत इन बारह वर्षों में साधक को किस-किस प्रकार के तप करने चाहिए-इसका उल्लेख किया गया है। तदनन्तर यह बताया गया है कि संलेखना की साधना के इन बारह वर्षों के मध्य भी यदि साधु मृत्यु को प्राप्त कर लेता है, तो उसमें कोई दोष नहीं है। वह

^{६७८} आचारांगसूत्र, आचार्य श्री आत्मारामजी जैन, सू.सं.-१/४/२/१३४, प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना १६६३.

^{६७९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बत्तीसवाँ, पृ.-१३६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

संलेखनाव्रत का आराधक ही माना जाता है। शास्त्रानुसार व्रत का पालन करते हुए कदाचू पूर्वकर्मों के कारण उसे रोग या शरीर में पीड़ा उत्पन्न हो जाए, तो वह यथासंभव चिकित्सा की इच्छा न रखे, किन्तु साधक के व्यथित होने पर प्रधान मुनि का यह कर्तव्य है कि वह विषम उपायों से भी उसके उस रोग के उपशमन का प्रयास करें, क्योंकि उसके अभाव में जिनशासन साधकों से शून्य हो जाएगा। कदाचित् उपचार से भी रोग का निरोध न हो, तो मुनि को अपनी आयुष्य पूर्ण होने का समय जानकर अन्त्य-आराधना करनी चाहिए।

अन्त्य-आराधना हेतु ग्लान के समक्ष चतुर्विधसंघ को एकत्रित करे तथा ग्लान को जिनबिम्ब के दर्शन करवाकर उसे देववन्दन एवं श्रुतदेवता आदि की स्तुति तथा कायोत्सर्ग करवाएं। तत्पश्चात् ग्लान उत्तम आराधना हेतु वासक्षेप करने के लिए निवेदन करे। ऐसा कहे जाने पर आराधना कराने वाले आचार्य उसके सिर पर वासक्षेप निक्षिप्त करें। तदनन्तर ग्लानमुनि आलोचना करके समस्त जीवराशि से क्षमा याचना करे। इसके साथ ही ग्लानमुनि चतुर्विधसंघ से किस प्रकार से क्षमापना करे तथा किस प्रकार से अपने सम्यक्त्व को पुष्ट करे?—इसका भी उल्लेख मूलग्रन्थ में किया गया है। तत्पश्चात् निर्यापक आचार्य ग्लान मुनि को सर्वविरति सामायिक दण्डक एवं पंचमहाव्रतों के दण्डक का तीन बार उच्चारण कराए। तदनन्तर चार शरण स्वीकार करके ग्लानमुनि अठारह पापस्थानकों का पूर्ण रूप से त्याग करे तथा सागर या अनगर अनशन का प्रत्याख्यान करे। मूलग्रन्थ में इन दोनों प्रत्याख्यानों के पाठ भी दिए गए हैं। तदनन्तर आराधना कराने वाला आचार्य उसे किस प्रकार एवं कौनसा पाठ सुनाए—इसका उल्लेख किया गया है। इस पाठ के माध्यम से उसे संसार की असारता एवं अनित्यता का बोध कराया जाता है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि समाधिमरण होने पर श्रावकों को संघपूजादि महोत्सव करने चाहिए। तदनन्तर आचारदिनकर में मुनि के मृतदेह की परिष्ठापनिका विधि का उल्लेख किया गया है। इसके लिए सर्वप्रथम तीन प्रकार की स्थंडिल भूमि—(१) दूरस्थ (२) मध्यम दूरी की एवं (३) निकटस्थ की गवेषणा करें। ग्लानमुनि की मृत्यु कदाचित् रात में हो जाए, तो रात्रिजागरण करना चाहिए। रात्रिजागरण के समय बाल, कायर और अगीतार्थ मुनियों को मृतदेह के पास नहीं रहना चाहिए। उस समय कुशल और गीतार्थ मुनि को ही मृतदेह के समीप रहना चाहिए। रात्रि में यदि मृतदेह में कोई व्यंतर आदि देव का प्रवेश हो जाए, तो मुनि क्या क्रिया करे, इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। इसके साथ ही यह भी बताया गया है कि पैतालीस मुहूर्त के नक्षत्रों में मुनि का देहावसान हो, तो मृत साधु के शव के पास में साधुवेश सहित कुश के दो पुतले रखें। इसी प्रकार अन्य नक्षत्रों में ग्लान की मृत्यु होने पर क्या करना चाहिए

इसका भी उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है। मुनि की अंतिम क्रिया के पश्चात् अन्य मुनिजनों को किस प्रकार से देववन्दन करना चाहिए, मुनि की मृत्यु से कितने दिन का अस्वाध्यायकाल लगता है, इत्यादि बातों का भी उल्लेख आचारदिनकर में किया गया है। विस्तारभय से सबका उल्लेख यहाँ नहीं कर रहे हैं। एतदर्थ मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के द्वितीय भाग के बत्तीसवें उदय को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

जैन-परम्परा में संलेखना के उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य-इस प्रकार तीन भेद किए गए हैं। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार^{६२०} संलेखना उत्कृष्टतः बारह वर्ष, मध्यमतः एक वर्ष तथा जघन्यतः छः मास की होती है। सामान्यतः श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में प्रायः समाधिमरण सम्बन्धी विधियों में उत्कृष्ट संलेखना-विधि का ही उल्लेख मिलता है और यही कारण है कि स्वयं वर्धमानसूरि ने भी यहाँ उत्कृष्ट संलेखना-विधि को विवेचित किया है। दिग्म्बर-परम्परा के अनुसार भी संलेखना उत्कृष्टतः बारह वर्ष, जघन्यतः अन्तमुहूर्त तथा मध्यमतः इन दोनों के बीच का अन्तरवर्तीकाल की होती है।^{६२१}

वर्धमानसूरि ने मुनि की अंतिमसंलेखना के उत्कृष्टकाल में की जाने वाली तपस्या का उल्लेख किया है। आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने तप की जो विधि बताई है, वही विधि पंचवस्तु, संवेगरंगशाला आदि में भी मिलती है। यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र में भी संलेखना की विधि बताते हुए बारह वर्ष के दरम्यान किए जाने वाले तप का निर्देश दिया गया है, किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित विधि आचारदिनकर में निर्दिष्ट विधि से कुछ भिन्न है। उत्तराध्ययनसूत्र में^{६२२} साधक को प्रथम चार वर्ष विकृतियों का त्याग करने का निर्देश दिया गया है, दूसरे चार वर्षों में एकान्तर उपवास के पारणे आयम्बिल करने का, ग्यारहवें वर्ष के छः महीनों तक उत्कृष्ट तप नहीं करने का, पश्चात् के छः महीने विकृष्ट तप (तेला, चोला आदि तप) करने का तथा बारहवें वर्ष में कोटीसहित, अर्थात् निरन्तर आयम्बिल करके एक पक्ष या एक मास का अनशन करने का निर्देश दिया गया है, जबकि आचारदिनकर में चार वर्ष पर्यन्त विभिन्न प्रकार के तप करने का, द्वितीय चार वर्ष में विविध प्रकार के तप करते हुए विकृति पारणा करने का, दो वर्ष

^{६२०} उत्तराध्ययनसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र सं. ७३६/२५१, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९६२.

^{६२१} जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, जिनेन्द्रवर्णी, पृ.-३८८, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण १९७३

^{६२२} उत्तराध्ययनसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र सं.-३६/२५२-२५५, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण १९६२.

एकान्तरित आयंबिल सहित उपवास करने का, छः मास तक अपेक्षाकृत सामान्य तप करते हुए पारणे के दिन परिमित आहार लेकर आयंबिल करने का, छः मास तक विकृष्ट तप करने का तथा अंतिम बारहवें वर्ष में कोटिसहित आयंबिल करने का निर्देश दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र की भाँति आचारदिनकर में बारहवें वर्ष के पश्चात् एक पक्ष या एक मास के अनशन करने का भी उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि वर्धमानसूरी ने मतांतर से संलेखना की अन्य विधि का भी निरूपण किया है, किन्तु वह विधि भी उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित विधि से पूर्णतः सदृश नहीं है, दोनों में कुछ अन्तर है, जिसे हम निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं-

(१) उत्तराध्ययनसूत्र में दूसरे चार वर्षों में मात्र विकृतियों का ही त्याग करने का निर्देश दिया गया है, जबकि आचारदिनकर में प्रथम चार वर्षों में विभिन्न तप, अर्थात् बिना अन्तर के दो उपवास, तीन उपवास, चार उपवास, पाँच उपवास, आठ उपवास, पक्षक्षमण (पन्द्रहदिन के निरंतर उपवास) मासक्षमण (तीस दिन के निरन्तर उपवास) आदि के पारणे एकाशन करने का निर्देश दिया गया है।

(२) उत्तराध्ययनसूत्र में दूसरे चार वर्षों में विविध तप, अर्थात् उपवास, बेला, तेला आदि करने का उल्लेख मिलता है, किन्तु आचारदिनकर में द्वितीय चार वर्षों में एकान्तरित नीवि सहित उपवास करने का निर्देश दिया गया है।

(३) उत्तराध्ययनसूत्र में तीसरे दो वर्षों में एकान्तर उपवास के पारणे आयंबिल करने का निर्देश दिया गया है। आचारदिनकर में भी दो वर्षों में एकान्तर उपवास के पारणे आयंबिल करने का निर्देश मिलता है, किन्तु साधक चाहे, तो नीवि भी कर सकता है।

(४) उत्तराध्ययनसूत्र में ग्यारहवें वर्ष के छः महीनों तक उत्कृष्ट तप नहीं करने का निर्देश दिया गया है, जबकि आचारदिनकर में छः महीने तक उपवास या छट्ट के पारणे में ऊनोदरीयुक्त आयंबिल करने का सूचन दिया गया है।

(५) उत्तराध्ययनसूत्र में तत्पश्चात् छः मास तक विकृष्ट तप करने का निर्देश दिया गया है, जबकि आचारदिनकर में छः मास तक दशम तप के पारणे आयंबिल करने का निर्देश दिया गया है।

(६) उत्तराध्ययनसूत्र में अंतिम बारहवें वर्ष में कोटिसहित आयंबिल करने का निर्देश दिया गया है तथा अन्त में एक पक्ष या एक मास का अनशन करने का निर्देश दिया गया है, आचारदिनकर में भी कोटिसहित आयंबिल करने

का निर्देश तो दिया गया है, किन्तु इसके साथ ही अन्त में पर्वत-गुफा में जाकर पादोपगमन अनशन करने का भी निर्देश दिया गया है।

इस प्रकार आचारदिनकर एवं उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित संलेखना की तप-विधि में कुछ अन्तर दिखाई देता है। संवेगरंगशाला^{६२३} में वर्णित विधि में भी हमें एक विशेष बात देखने को मिली कि संलेखनाकाल के अंतिम बारहवें वर्ष के शेष चार मास में साधक को लम्बे समय तक मुख में तेल भरकर कुल्ला करने को कहा है-ऐसा करने से साधक का मुख वायु से बन्द नहीं होता है तथा मृत्युकाल में भी वह नमस्कार महांमत्र का स्मरण बिना किसी कष्ट के कर सकता है। आचारदिनकर में हमें इस बात का उल्लेख नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी हमें बारह वर्ष के दरम्यान इस प्रकार के विचित्र तप करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। भगवतीआराधना के अनुसार^{६२४} साधक प्रथम चार वर्ष नाना प्रकार के तप द्वारा काय एवं क्लेशों को क्षीण करने में व्यतीत करता है। बाद के चार वर्षों में वह भोजन में समस्त प्रकार के रसों का परित्याग करके शरीर को सुखाता है। यहाँ रसों के परित्याग से तात्पर्य दूध, घी, दही, मिठाई, नमकीन आदि समस्त प्रकार के सरस पदार्थों का परित्याग करना है। शेष चार वर्षों में से दो वर्ष कांजी और सरस व्यंजन आदि से रहित भोजन खाकर व्यतीत करता है, बाद के दो वर्ष में से एक वर्ष केवल कांजी का आहार लेता है। अंतिम बारहवें वर्ष के प्रथम छः महीने मध्यम तप तथा अंतिम छः महीने उत्कृष्ट तप करते हुए व्यतीत करता है।

इस प्रकार दोनों परम्पराओं में बारह वर्ष तक विचित्र तप द्वारा शरीर एवं कषाय को कृश किया जाता है।

आगम में कहे गए अनुसार व्रतों का पालन करते हुए कदाचित् पूर्वकर्म के कारण उसे रोग या शरीर में पीड़ा उत्पन्न हो जाए, तो उस समय साधक को एवं निर्यापकाचार्य को क्या करना चाहिए-इसका भी वर्धमानसूरि ने स्पष्ट उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि “रोग के उत्पन्न होने पर साधक को यथासंभव, जब तक हो सके, तब तक वेदना को सहन करना चाहिए, चिकित्सा नहीं करवानी चाहिए, किन्तु साधक के व्यथित होने पर निर्यापक मुनि का यह कर्तव्य है कि वह विषम उपायों से, अर्थात् अपवादमार्ग का आश्रय लेकर भी उसकी रक्षा करे।

^{६२३} संवेगरंगशाला, जिनचन्द्रसूरिकृत, गाथा-४०१२-४०१६, पण्डित बाबूभाई सववंद ६५५/अ, मनसुखभाई पोल, कालुपुर, अहमदाबाद, वि.सं.-१२५०.

^{६२४} भगवतीआराधना, सं.-कैलाशचन्द्र शास्त्री, गाथा -२५५-२५६, बाल ब्र. श्री हीरालाल खुशालचंद दोशी, फलटण, ई.सं.-१९६०.

चिकित्सा करने पर भी यदि रोग का निरोध न हो, तो निर्यापक मुनि योगशास्त्र के पंचमप्रकाश में वर्णित बाह्य चिह्नों एवं आभ्यन्तर साधनों से मृत्यु को निकट जानकर मुनि को आराधना कराए।^{६२५} सामान्यतया: श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें संलेखना के अन्तर्गत रोगोपचार कराने के उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं; मृत्यु के निकट आने पर अन्त्य-आराधना करने सम्बन्धी उल्लेख अवश्य प्राप्त होते हैं। वर्धमानसूरि ने यहाँ अपवादमार्ग में चिकित्सा की बात कही है, वह परिस्थिति विशेष का विचार करके कि क्षपक को विकलता न हो, समाधि न टूटे-इस दृष्टि से कही है।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{६२६} मृत्यु का समय निकट जानकर ग्लानमुनि के समक्ष चतुर्विधसंघ को एकत्रित करके एवं जिनबिम्ब को लाकर उसको अन्तिम आराधना करवानी चाहिए। अन्तिम आराधना की विधि में ग्लान को किस प्रकार से देववन्दन करवाना चाहिए, किन-किन देवताओं के आराधनार्थ कायोत्सर्ग एवं स्तुति करनी चाहिए, ग्लान को वासक्षेप किस प्रकार से प्रक्षेपित करना चाहिए, पूर्वकृत दुष्कृत्यों की गहाँ ग्लान को किस प्रकार से करनी चाहिए, चतुर्विधसंघ एवं सर्वजीवों से किस प्रकार क्षमायाचना करनी चाहिए..... इत्यादि, इन सब बातों का विस्तृत विवेचन आचारदिनकर में मिलता है।

इसके साथ ही इस विधि में ग्लान को पुनः सर्वविरतिदण्डक एवं महाव्रतों के उच्चारण करवाने का भी निर्देश दिया गया है।^{६२७} श्वेताम्बर-परम्परा के अन्य ग्रन्थों, जैसे- विधिमार्गप्रपा में भी इस विधि का उल्लेख मिलता है।^{६२८} विधिमार्गप्रपा में वर्णित विधि प्रायः आचारदिनकर में वर्णित विधि के सदृश ही है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें इस प्रकार की विधि का उल्लेख तो देखने को नहीं मिलता है, किन्तु उसमें भी पुनः महाव्रतारोपण, सर्वजीवराशि से क्षमायाचना एवं दुष्कृत्यों की आलोचना के उल्लेख हैं।

ग्लान की मृत्यु के पश्चात् उसके मृतशरीर की परिष्ठापन-क्रिया किस प्रकार से करें? इसका भी आचारदिनकर में सम्यक् प्रकार से विवेचन किया गया है। साधु के प्राण निकल जाने पर उसके शरीर के विसर्जन की क्रिया सभी मुनिजन करते हैं। इसके लिए मुनिजन सर्वप्रथम तीन प्रकार की स्थंडिलभूमि की गवेषणा करते हैं। तत्पश्चात् मृत मुनि की क्या-क्या क्रियाएँ करनी चाहिए, मुनि

^{६२५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बत्तीसवाँ, पृ.-१३६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६२६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बत्तीसवाँ, पृ.-१३६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६२७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- बत्तीसवाँ, पृ.-१३७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६२८} विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण-३२, पृ.-७७, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००.

की मृत्यु रात्रि में हुई हो, तो अन्य मुनियों को क्या करना चाहिए, मुनि की मृतदेह में यदि किसी व्यंतरदेव का प्रवेश हो जाए, तो क्या करना चाहिए-इसका भी आचारदिनकर में वर्णन किया गया है।^{६२६} विधिमार्गप्रपा में भी मुनि की परिष्ठापनिका-विधि का उल्लेख मिलता है। विधिमार्गप्रपा में हमें एक विशेष बात देखने को मिली कि कदाचित् मृतदेह में किसी व्यंतरदेव का प्रवेश होने से वह देह उठे, तो मुनि को उस क्षेत्र का त्याग कर देना चाहिए (अर्थात् वसती में मृतदेह उठे, तो वसती का त्याग कर देना चाहिए)-इसका विस्तृत उल्लेख हमें विधिमार्गप्रपा में ही देखने को मिला,^{६३०} आचारदिनकर में हमें इस विषय की चर्चा नहीं मिलती है। दिगम्बर-परम्परा में भगवती आराधना और उसकी अपराजिताटीका में भी हमें इस प्रकार की कुछ क्रियाओं का उल्लेख नहीं मिलता है। सामान्यतः जो मुनि मृत्यु को निकट जानकर स्वयं ही किसी निर्जन स्थान पर पादोपगमनमरण को स्वीकार कर लेता है, उनके लिए इन सब क्रियाओं की आवश्यकता नहीं होती। मृतमुनि की देह को वहीं विसर्जित कर निर्यापकमुनि वापस आ जाता है, किन्तु यदि किसी मुनि का वसति में ही देहावसान हो जाए, तो उस समय क्या क्रिया करनी चाहिए, उस अपेक्षा से ही वर्धमानसूरि ने यहाँ परिष्ठापनक्रिया का विवेचन किया है-यह सब विवेचन प्रकारान्तर से मरणविभक्ति, आराधनापताका आदि प्राचीन श्वेताम्बर ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{६३१} मुनि की मृत्यु के समय नक्षत्रों का विचार करते हुए ही मृतदेह का विसर्जन करना चाहिए। विशाखा, रोहिणी, उत्तरात्रय और पुनर्वसु-इन नक्षत्रों में यदि साधु की मृत्यु हुई हो, तो मृत साधु के पास दो कुश के पुतले बनाकर उनके हाथ में लघु रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका रखना चाहिए तथा मृतक साधु के बाएँ हाथ की तरफ मुनि के स्वयं के उपकरणों को एवं इन कुशमय पुतलों को डोरी से बांधना चाहिए। इसी प्रकार अन्य नक्षत्रों से सम्बन्धित विधि-विधानों की भी चर्चा ग्रन्थकार ने विस्तार से की है। निशीथचूर्ण, विधिमार्गप्रपा आदि में भी हमें इस प्रकार की चर्चा देखने को मिलती है। दिगम्बर-परम्परा की भगवतीआराधना में हमें इस प्रकार का उल्लेख कुछ प्रकारान्तर से देखने को मिलता है।

^{६२६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बत्तीसवाँ, पृ.-१३८-१३९ निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६३०} विधिमार्गप्रपा, जिनप्रभसूरिकृत, प्रकरण-३३, पृ.-७८, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण २०००.

^{६३१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बत्तीसवाँ, पृ.-१३८-१३९, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

मुनि की मृतदेह का विसर्जन करने के पश्चात् साधु-साध्वी को किस प्रकार से चैत्यवन्दन करना चाहिए, वसति की शुद्धि किस प्रकार से करनी चाहिए तथा श्रावकों द्वारा क्या-क्या किया जाना चाहिए-इन सबका उल्लेख भी हमें आचारदिनकर में मिलता है।^{६३२} वर्तमान में भी श्वेताम्बर परम्परा के मूर्तिपूजकसंघ में यह विधि मुनिजनों द्वारा की जाती है और मृतदेह का अग्निसंस्कार श्रावकों द्वारा किया जाता है। ज्ञातव्य है प्राचीनकाल के श्वेताम्बर और दिगम्बर-ग्रन्थों में मुनि के मृतदेह को निर्जन वन या पर्वत पर मुनियों द्वारा ही विसर्जित करने का उल्लेख है।

आचारदिनकर में यह कहा गया है कि मुनिजनों द्वारा मृतदेह का विसर्जन करने के पश्चात् शव की शेष क्रिया श्रावकों द्वारा की जाती है। इस बात का उल्लेख करते हुए अन्त में ग्रन्थकार ने लिखा है कि साधु-साध्वियों की मृत्यु होने पर सूतक, पिण्डदान, शोक आदि नहीं किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित अन्त्य-संस्कार की विधि तथा आचारदिनकर में वर्णित अंतिमसंलेखना-विधि में आंशिक समानता और कहीं आंशिक भिन्नता दृष्टिगत होती है। उन्होंने आचारदिनकर में प्राचीन विधि के साथ-साथ अपने समय में प्रचलित विधि से समन्वय किया है।

उपसंहार-

इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् इस विधि की उपयोगिता एवं आवश्यकता के सन्दर्भ में विचार करना आवश्यक है। संसार में आने के बाद प्रत्येक जीव नवीन कर्मों का बंध कर जन्म-मरण के चक्र में फंसा रहता है, किन्तु आराधना से जीव अपने पूर्वकृत कर्मों को क्षय करके इस जन्म को सार्थक कर सकता है। जैसा कि पंचवस्तु^{६३३} में कहा गया है कि-आराधक जीव अन्तिम आराधना से प्रमाद के कारण बंधे हुए ज्ञानावरणीय वगैरह अशुभ कर्मों का क्षय करके भवांतर में जाति-कुल आदि की अपेक्षा से विशुद्ध जन्म को प्राप्त करता है और उसे पुनः सम्यक् चारित्र्य का योग प्राप्त होता है।

^{६३२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-बतीसवाँ, पृ.-१३६-१३६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६३३} पंचवस्तुक, आचार्य राजशेखर सूरिश्वर, प्रकरण- संलेखनाद्वार, पृ.-६६७, अरिहंत आराधना ट्रस्ट, मुंबई, द्वितीय आवृत्ति.

यदि जीव अपने अन्तिम क्षणों में भी सम्यक् आराधना करता है, तो निश्चित रूप से निकट भविष्य में मोक्ष को प्राप्त करता है। जैसा कि^{६३४} संवेगरंगशाला में भी कहा गया है कि पण्डितमरण प्राप्त करके यह जीव उसी भव में, अथवा देवगति का एक भव करके पुनः श्रावककुल में जन्म लेकर शुद्धचारित्र पालकर तीसरे भव में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, अधिकतम आठवें भव में तो मुक्त हो ही जाता है।

इस जगत् में चिन्तामणि मणिरत्न, कामधेनु और कल्पवृक्ष द्वारा भी जिसकी प्राप्ति दुःसाध्य है, उसे प्राप्त कराने में पण्डितमरण ही समर्थ है,^{६३५} अतः यह साधना अत्यन्त अनिवार्य है।

वर्धमानसूरि के अनुसार कर्मों के क्षय के लिए तथा शुभध्यान के लिए भी यह संस्कार आवश्यक है,^{६३६} क्योंकि अन्तिम आराधना करते समय जीव के परिणाम इतने निर्मल हो जाते हैं जिससे वह नए कर्मों का बंध नहीं कर पाता है। सामान्यतः जीव जब मृत्यु के निकट पहुँचता है, तो उसके मन में अनेक प्रकार के शुभाशुभ संकल्प-विकल्प प्रारम्भ हो जाते हैं और उन शुभाशुभ विचारों में वह कर्मों का बन्ध कर लेता है। अन्तिम समय की आराधना से जीव संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है, क्योंकि आराधना करते समय उसे इतना अवकाश ही नहीं मिलता है कि वह कोई संकल्प-विकल्प कर सके, अतः शुभाशुभ कर्मों के बंध को अटकाने के लिए भी यह संस्कार महत्वपूर्ण है।

मुनि की मृत्यु के समय नक्षत्रों का विचार करके उनसे सम्बन्धित विधि-विधान करना भी मुनिसंघ के लिए आवश्यक होता है, क्योंकि उसके अभाव में मुनिसंघ पर विपत्ति आ सकती है। अतः किन नक्षत्रों में क्या करना चाहिए, इसका ज्ञान होना भी मुनिजनों के लिए आवश्यक है।

संक्षेप में कृत कर्मों का क्षय करने के लिए तथा शुभध्यान की प्राप्ति के लिए यह संस्कार आवश्यक ही नहीं, वरन् उपयोगी भी है।



^{६३४} संवेगरंगशाला, जिनचन्द्रसूरिकृत, गाथा- ३७१२-३७१४, पण्डित बाबूभाई सवचंद ६५५/अ, मनसुखभाई पोल, कालपुर, अहमदाबाद, वि.सं.-१२५०.

^{६३५} संवेगरंगशाला, जिनचन्द्रसूरिकृत, गाथा-३७३६, पण्डित बाबूभाई सवचंद ६५५/अ, मनसुखभाई पोल, कालपुर, अहमदाबाद, वि.सं.-१२५०.

^{६३६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

अध्याय-६

आचारदिनकर में वर्णित सामान्य आठ संस्कार

प्रस्तुत अध्याय में आचारदिनकर में वर्णित आठ सामान्य संस्कारों की चर्चा की गई है। गृहस्थ एवं मुनि- इन दोनों सम्बन्धित आठ संस्कारों के सम्बन्ध में वैदिक एवं दिगम्बर-परम्परा में क्या अवधारणा है? उनमें परस्पर क्या समानता है एवं क्या भिन्नता है? इसका भी यहाँ विवेचन किया गया है।

आचारदिनकर में वर्णित आठ संस्कारों में- (१) प्रतिष्ठा-विधि (२) शान्तिक-कर्म (३) पौष्टिक-कर्म (४) बलि-विधान (५) प्रायश्चित्त-विधि (६) आवश्यक-विधि (७) तप-विधि एवं (८) पदारोपण-विधि में से हमें कुछ विधियों की चर्चा दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में मिलती है, जैसे प्रतिष्ठा-विधि, शान्तिक-कर्म, बलि-विधान, तप-विधि आदि, किन्तु वहाँ इन्हें संस्कारों के रूप में न मानकर एक धार्मिक कृत्य के रूप में माना गया है। यद्यपि दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में ये विधियाँ प्रकारान्तर रूप में प्रचलित हैं, और उनका उद्देश्य प्रायः आचारदिनकर में वर्णित आठ संस्कारों के अभिप्राय से मिलता है।

दिगम्बर-परम्परा में आचारदिनकर की ही भाँति प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख मिलता है, किन्तु वहाँ प्रायश्चित्त की विधि कुछ भिन्न है, जिसका विवेचन हम प्रसंग आने पर करेंगे।

इस प्रकार इन तीनों परम्पराओं की इन संस्कारों के सम्बन्ध में क्या-क्या अवधारणाएँ हैं, इसका विश्लेषण हम आगामी पृष्ठों में करेंगे।

प्रतिष्ठा-विधि

प्रतिष्ठा-विधि का स्वरूप-

भाषा-जगत् में प्रतिष्ठा शब्द के उनके अर्थ हैं- ठहरना, रहना, स्थिति, स्थायित्व, उच्चपद, प्रमुखता, ख्याति, यश इत्यादि। यहाँ पर प्रतिष्ठा शब्द का

तात्पर्य पूज्यता से लिया गया है। जैसा कि वर्धमानसूरि ने स्वयं कहा है,^{६३७} किसी व्यक्ति और वस्तु को पूज्यता प्रदान करने के लिए जो क्रिया की जाती है, उसे प्रतिष्ठा-विधि कहते हैं। जैसा मुनि आचार्यपद या अन्य योग्य पद से, ब्राह्मण वेद-संस्कार से, क्षत्रिय राज्य में किसी महत्वपूर्ण पद पर अभिसिक्त होने से, वैश्य श्रेष्ठिपद से, शूद्र राजसम्मान से, एवं शिल्पी शिल्पसम्मान से प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, उसी प्रकार पाषाण से या अन्य किसी वस्तु से निर्मित जिनेश्वर एवं अन्य देवों की प्रतिमाओं को भी मंत्र-क्रियाओं द्वारा प्रतिष्ठित किया जाता है, अर्थात् उन्हें पूजनीय बनाया जाता है। परमात्मा आदि की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कैसे एवं किन मंत्रों से की जाए? इसी का इस विधि में विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रसंगवश इस अध्ययन में नंदावर्त महापूजन, बृहत्स्नात्रविधि आदि का वर्णन किया गया है, इसके साथ ही इसमें जिन-प्रतिष्ठा के काम में आने वाले ३६० क्रियाणकों की सूची भी दी गई है। श्वेताम्बर-परम्परा में जिन-प्रतिष्ठा सम्बन्धी प्राचीन-अर्वाचीन अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, यथा- प्रतिष्ठाकल्प, निर्वाणकलिका, सामाचारी, विधिमार्गप्रपा, कल्याणकलिका, प्रतिष्ठाविधि समुच्चय आदि। इन सभी ग्रन्थों में वर्णित विधि प्रायः समान ही है। यद्यपि आचार्य हरिभद्र के पंचाशक प्रकरण में भी जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है, किन्तु वहाँ मंत्रोच्चार एवं उसके विस्तृत विधि-विधान का उल्लेख नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में भी जिनबिम्ब आदि की प्रतिष्ठा सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, यथा- माघनन्दीकृत प्रतिष्ठाकल्प, वसुनन्दीकृत प्रतिष्ठासार संग्रह, जयसेनाचार्य कृत प्रतिष्ठापाठ, आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धार, प्रतिष्ठातिलक आदि। हिन्दू-परम्परा में भी विष्णु, शिव एवं अन्य देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा की जाती है, उसमें भी प्रतिष्ठामहोदधि, प्रतिष्ठा मयूख, अग्निपुराण, प्रतिष्ठार्णव आदि अनेक ग्रन्थ मिलते हैं।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{६३८} अचेतन प्रतिमा में मंत्रादि द्वारा देवता का प्रवेश करवाने के लिए प्रतिष्ठा-विधि निष्पन्न की जाती है। प्रतिष्ठा-विधि के दरम्यान जो क्रियाएँ की जाती हैं, वे सभी किसी प्रयोजन से ही की जाती हैं। जैसे-^{६३९} प्रतिष्ठा में वेदी, दीपक, मुद्रा, कल्पकर्म आदि से सम्बन्धित जो विधि-विधान किए जाते हैं, वे सब देव गृह एवं देवप्रतिमा आदि की रक्षा के लिए किए जाते हैं। इसी प्रकार कंकण बंधन की क्रिया भी रक्षा के उद्देश्य से ही की जाती है। तीन सौ साठ क्रियाणकों द्वारा जिनबिम्ब की जो पूजा की जाती है, वह

^{६३७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- तैत्तिरीयसौं पृ.-१४१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६३८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.- ३९२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६३९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३९२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

बिम्ब के प्रभाव को बढ़ाने के उद्देश्य से की जाती है, इत्यादि। संक्षेप में इस विधि का प्रयोजन पाषाण आदि से निर्मित प्रतिमा को पूजनीय बनाकर विभिन्न क्रियाओं द्वारा उसका संरक्षण, उपद्रवों का शमन एवं बिम्ब के प्रभाव में वृद्धि करना है।

यह विधि कब की जानी चाहिए? इस सम्बन्ध में वर्धमानसूरि ने ज्योतिष सम्बन्धी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार^{६४०} मूला, पुनर्वसु, स्वाति, अनुराधा, हस्त, श्रवण, रेवती, रोहिणी और उत्तरात्रय नक्षत्र प्रतिष्ठा एवं दीक्षा हेतु श्रेष्ठ कहे गए हैं। शास्त्रों में कहे गए सात दोषों का त्याग करके इन नक्षत्रों में प्रतिष्ठा-विधि की जानी चाहिए। सिंहस्थ गुरु के वर्ष को छोड़कर तथा मंगलवार को छोड़कर शुभ वर्ष, मास, नक्षत्र, वार की शुद्धि देखकर ही प्रतिष्ठा का कार्य किया जाना चाहिए। तीर्थंकर परमात्मा के जन्म नक्षत्र में तथा मघा, विशाखा, ज्येष्ठा, धनिष्ठा और पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र में प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार दूसरे ग्रहों से ग्रसित ग्रह, उदित एवं अस्तगत ग्रह-नक्षत्र में एवं क्रूर तथा उग्र ग्रहों से आक्रान्त नक्षत्रों में भी प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिए। विधिमार्गप्रपा, पंचाशकप्रकरण आदि में हमें प्रतिष्ठा मुहूर्त के सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। वास्तुसार प्रकरण, कल्याणकलिका में अवश्य इससे सम्बन्धित विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। दिगम्बर-परम्परा में प्रतिष्ठा-विधि कब की जाए? इससे सम्बन्धित उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रतिष्ठापाठ के अनुसार^{६४१} निमित्त ज्ञानी ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता द्वारा निर्दिष्ट दिन में प्रतिष्ठा-विधि की जानी चाहिए। प्रतिष्ठाकार्य में मंगलवार, शनिवार एवं रविवार का त्याग करना चाहिए। सिद्ध, अमृत आदि योग की योजना करके तथा अमावस्या का त्याग करके की गई प्रतिष्ठा कर्ता के लिए सुखकारी होती है। इसी प्रकार जिस तिथि में जिस परमात्मा का जो कल्याणक हुआ हो, उस कल्याणक-तिथि में की गई प्रतिष्ठा शुभ होती है। उत्तरात्रय, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, श्रवण- ये नक्षत्र तथा रेवती, रोहिणी और अश्विनी नक्षत्र में यदि शुभयोग हो, तो ये भी प्रतिष्ठा हेतु ग्राह्य हैं। चित्रा, मघा, स्वाति, भरणी, मूल नक्षत्रों को केवल अपरिहार्य-परिस्थिति में अंगीकार किया जा सकता है, इत्यादि। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में भी हमें विष्णु, ब्रह्मा, शिव आदि देवों के प्रतिष्ठा सम्बन्धी काल का उल्लेख मिलता है। जैसा कि प्रतिष्ठा महोदधि में कहा गया है^{६४२}- पूर्वाषाढ़ा; उत्तराषाढ़ा मूल, उत्तरात्रय, ज्येष्ठा, श्रवण, रोहिणी,

^{६४०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- तैत्तिरीय, पृ.-१४३-१४५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६४१} प्रतिष्ठापाठ, जयसेनाचार्य विरचित, पृ.-४५-४८, सेठ हीरालाल नेमचंद डोशी, मंगलवार पेठ, शोलापुर, वी. सं. २४५२

^{६४२} प्रतिष्ठामहोदधि, स्व. प. श्री वायुनंदन मिश्र, पृ.-१, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पंचम संस्करण २००५.

पूर्वाभाद्रपदा, हस्त, अश्विनी, रेवती, पुष्य, मृगशीर्ष, अनुराधा, तथा स्वाती नक्षत्र प्रतिष्ठा हेतु श्रेष्ठ कहे गए हैं। प्रतिष्ठा कार्य में चर राशि के लग्न का त्याग करना चाहिए तथा स्थिर राशि के लग्न को ग्रहण करना चाहिए, इत्यादि। इस प्रकार प्रतिष्ठाकाल के सम्बन्ध में सबके अपने अपने मतव्य हैं।

संस्कार का कर्ता :-

वर्धमानसूरि के अनुसार यह विधि गृहस्थ-विधिकारक एवं आचार्यादि या स्थविर मुनियों द्वारा संयुक्त रूप से करवाई जाती है। वर्तमान में भी यह विधि श्वेताम्बर-परम्परा में विधिकारक एवं आचार्य या स्थविर मुनियों द्वारा ही करवाई जाती है। दिगम्बर-परम्परा में प्रतिष्ठा-विधि श्रावकों द्वारा करवाने के उल्लेख मिलते हैं। पण्डित आशाधरजी के अनुसार^{६४३} वानप्रस्थ और भिक्षु को प्रतिष्ठा कराने का निषेध है। दूसरी जगह ऐसा भी कहा गया है कि चौथी प्रतिमा से आठवीं प्रतिमा तक पाँच प्रतिमा वालों में कोई भी हो, वही प्रतिष्ठा करवाने का अधिकारी है, किन्तु वर्तमान में नेत्रोन्मीलन एवं मंत्रदान का कार्य आचार्य या स्थविर मुनि द्वारा किया जाता है। यदि आचार्य या मुनि न हो, तो उस समय प्रतिष्ठाचार्य को भी जिनलिंग को धारण करके ही ये दोनों क्रियाएँ करनी चाहिए। प्रतिष्ठापाठ में भी प्रतिष्ठा करने हेतु आवश्यक अधिकारियों का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम सूरिमंत्र के दातार आचार्य का उल्लेख किया गया है।^{६४४} सम्भवतः यहाँ निर्ग्रन्थ आचार्य के लिए ही निर्देश दिया गया होगा। वैदिक-परम्परा में कर्मकांड विशारद आचार्य द्वारा प्रतिष्ठा करवाने के उल्लेख संप्राप्त होते हैं।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रवेदित की है-

प्रतिष्ठा-विधि -

वर्धमानसूरि ने प्रतिष्ठा-विधि के अन्तर्गत जिनबिम्ब, चैत्य, कलश, ध्वज, परिकर, शासनदेवता, क्षेत्रपाल आदि की प्रतिष्ठा की विधियाँ प्रतिपादित की हैं। इसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि किस आकार-प्रकार की प्रतिमाओं की किस स्थान पर प्रतिष्ठा करनी चाहिए। फिर इस ग्रन्थ में प्रतिष्ठा का मुहूर्त जानने हेतु नक्षत्र, राशि, तिथि, वार, लग्नशुद्धि, आदि का विचार किया गया है। उसके पश्चात् किस प्रकार के पत्थर, धातु अथवा काष्ठ की प्रतिमा बनाई जाती है,

^{६४३} प्रतिष्ठासरोद्धार, पं. आशाधर जी, अध्याय-१, पृ.-१३, पं. मनोहरलाल शास्त्री, श्री जैन ग्रंथ उद्धारक कार्यालय, बोम्बे, प्रथम संस्करण : १९७४.

^{६४४} प्रतिष्ठापाठ, जयसेनाचार्य विरचित, पृ.- १२, सेठ हीरालाल नेमचंद डोशी, मंगलवार पेठ, शोलापुर, वि. सं. : २४६२

इसका उल्लेख किया है और यह बताया गया है, कि शुद्ध भूमि से प्राप्त पत्थर, धातु या काष्ठ की प्रतिमा बनानी चाहिए। ज्ञातव्य है कि यहाँ मिट्टी एवं गोबर से भी लेप्य प्रतिमा बनाने का उल्लेख हुआ है।

प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधि-विधान में सर्वप्रथम क्षेत्रशुद्धि का विचार किया गया है और यह बताया गया है कि आवश्यकता के अनुरूप सौ धनुष, पचास धनुष या पच्चीस धनुष या सौ हाथ क्षेत्र की शुद्धि करके उसे गौमूत्र एवं गोबर आदि से लिप्त करें। उसके पश्चात् राजा को उपहार देकर अमारी अर्थात् हिंसा-निषेध की घोषणा कराएँ तथा उनसे प्रतिष्ठा की अनुज्ञा प्राप्त करें। इसी अवसर पर मूर्ति या चैत्य निर्माता को वस्त्र, मुद्रिका आदि से सम्मानित करें और पचास योजन की परिधि में रहे हुए चतुर्विधसंघ को आमन्त्रित करें।

प्रतिष्ठा-विधि के प्रारंभ में दिक्पालों की पूजा की जाती है। इस पूजा हेतु जल के कलश और वेदिका की रचना की जाती है और सभी दिशाओं में अखण्डित पात्रों में नाना प्रकार के पकवान रखे जाते हैं एवं चारों दिशाओं को धूप से सुवासित किया जाता है। ये पकवान किस प्रकार बनाए जाएँ, उन्हें कौन बनाएँ, सूखे एवं गीले- किस प्रकार के फल रखे जाएँ? इसकी विस्तृत चर्चा मूलग्रन्थ में की गई है। इसी अवसर पर अंजनशलाका हेतु नेत्रांजन बनाने की विधि का उल्लेख हुआ है। तदनन्तर पूर्व स्थापित बिम्ब की स्नात्र विधि से पूजा एवं आरती की जाती है तथा आत्मरक्षा हेतु सकलीकरण किया जाता है। तदनन्तर विभिन्न देवी-देवताओं के निमित्त कायोत्सर्ग और स्तवन का क्रम चलता है और शुचिविद्या का आरोपण किया जाता है। तत्पश्चात् नवीन बिम्ब पर पुष्पांजलि अर्पित करते हैं, रौद्रदृष्टि से तर्जनी मुद्रा बताते हैं और बाएँ हाथ में जल लेकर बिम्ब पर छीटते हैं। यह क्रिया दुष्ट देवताओं के उपशमन हेतु की जाती है। फिर वज्रमुद्रा, गरुड़मुद्रा आदि मुद्राओं से बिम्ब के सम्पूर्ण शरीर की रक्षा की जाती है और बलि-विधान किया जाता है। तदनन्तर पंचरत्न की पोट्टलिका बिम्ब की अंगुली में बांधी जाती है। उसके बाद हिरण्योदक, रत्नोदक और उदुम्बर वर्ग की छाल आदि सर्वौषधियों से वासित जल से विभिन्न छदों को बोलते हुए नौ अभिषेक करवाए जाते हैं और फिर आचार्य विभिन्न मुद्राओं से विभिन्न प्रतिष्ठाकर देवताओं का आह्वान करते हैं। किस जल के द्वारा, किस मंत्र से बिम्ब का अभिषेक किया जाए? इसकी भी विस्तृत चर्चा वर्धमानसूरि ने मूलग्रन्थ में की है। इसी क्रम में बीच-बीच में चन्दनपूजा, पुष्पपूजा, धूपपूजा की जाती है तथा दर्पण में बिम्ब के प्रतिबिम्ब को मंत्र के उच्चारण पूर्वक देखा जाता है। तदनन्तर एक सौ आठ शुद्ध जल के कलशों से बिम्ब का अभिषेक किया जाता है और कंकण-बंधन की क्रिया की जाती है।

नवीन बिम्ब की प्रतिष्ठा के इस अवसर पर नंदावर्त के आलेखन एवं उसके पूजन का भी विधान वर्धमानसूरि ने विस्तार से बताया है। नंदावर्त में आठ पदों एवं विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा के अनन्तर बिम्ब का नेत्रोन्मीलन, अर्थात् अंजनशलाका एवं स्थिरीकरण किया जाता है। सर्वसंघ उसकी महापूजा करते हैं एवं बिम्ब की आरती करके नैवेद्य आदि चढ़ाकर भूतबलि दी जाती है। फिर यह बिम्ब सुप्रतिष्ठित रहे- ऐसी कामना की जाती है। तदनन्तर इस प्रतिष्ठा-महोत्सव में कार्य करने वालों को वस्त्राभूषण आदि प्रदान किए जाते हैं।

इस प्रकार बिम्ब की प्रतिष्ठा सम्पन्न होने पर उसकी प्रतिदिन स्नात्रपूजा की जाती है। स्नात्रपूजा को विभिन्न क्रियाओं एवं उनके मंत्रों का उल्लेख भी यहाँ वर्धमानसूरि ने किया है। फिर प्रतिष्ठा-विधि के अन्त में दिक्पाल एवं ग्रहों के विर्सजन की विधि बताई गई है और तीन, पाँच, सात या नौ दिन के बाद प्रतिमा के कंकणमोचन की क्रिया करें- इसका उल्लेख किया गया है। साथ ही कंकणमोचन के अवसर पर क्या-क्या क्रियाएँ करें? इसका भी उल्लेख किया गया है।

मूलग्रन्थ में बिम्बप्रतिष्ठा के अतिरिक्त चैत्यप्रतिष्ठा, कलशप्रतिष्ठा, ध्वजप्रतिष्ठा, बिम्ब के परिकर की प्रतिष्ठा, देवीप्रतिष्ठा, क्षेत्रपालप्रतिष्ठा, गणेश आदि देवों की प्रतिष्ठा, सिद्धमूर्ति की प्रतिष्ठा, देवतावसर समवसरण की प्रतिष्ठा, मंत्रपटप्रतिष्ठा, पितृमूर्तिप्रतिष्ठा, यतिमूर्तिप्रतिष्ठा, नवग्रहप्रतिष्ठा, चतुर्निकायदेवप्रतिष्ठा, गृहप्रतिष्ठा, वापी, सरोवर आदि जलाशयों की प्रतिष्ठा, वृक्षप्रतिष्ठा, अट्टालिका आदि भवनप्रतिष्ठा, दुर्ग प्रतिष्ठा एवं भूमि अधिवासना आदि विधियों का भी उल्लेख वर्धमानसूरि ने किया है। विस्तार भय से हम उसका विवेचन यहाँ नहीं कर रहे हैं, उसे आचारदिनकर के प्रतिष्ठाविधान नामक उदय एवं उसके मेरे द्वारा किए गए अनुवाद में देखा जा सकता है।

तुलनात्मक अध्ययन-

वर्धमानसूरि ने इस विधि में सर्वप्रथम बिम्बप्रतिष्ठा की चर्चा करते हुए गृहचैत्य एवं चैत्य में प्रतिष्ठित की जाने वाले प्रतिमा के परिमाण, उसकी संरचना तथा वास्तुसार से विपरीत प्रतिमा की आकृति होने पर उससे क्या-क्या हानियाँ होती हैं- उसका विशद वर्णन किया है। जैसे^{६४५}-चैत्य में विषम अंगुल या हस्तपरिमाण वाले बिम्ब को ही स्थापित करें, सम अंगुल परिमाण वाले बिम्ब को

^{६४५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तैत्तिरीयों, पृ.-१४२-१४३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १६२२.

स्थापित न करें। बारह अंगुल से कम परिमाण वाले बिम्ब को सर्व साधारण लोगों के लिए निर्मित चैत्य में स्थापित नहीं करना चाहिए। गृह चैत्य में एक अंगुल से लेकर ग्यारह अंगुल परिमाण की प्रतिमा पूजा हेतु स्थापित करें। अधिक या कम परिमाण वाली, विषम अंग वाली और अप्रतिष्ठित प्रतिमा अमंगलकारक होती है- इत्यादि प्रतिमा सम्बन्धी विस्तृत चर्चा इस विधि में की गई है। इसके साथ ही वर्धमानसूरि ने जिनप्रासाद में कौनसे भाग में किसकी प्रतिमा स्थापित करें तथा गृहचैत्य के बिम्ब के क्या लक्षण होने चाहिए? इसकी भी चर्चा उन्होंने अपने इस प्रकरण में की है। वास्तुसारप्रकरण^{६४६} में भी प्रतिष्ठा-निर्माण सम्बन्धी विस्तृत जानकारी मिलती है। इसी प्रकार विवेकविलास में भी तत्सम्बन्धी यत्किंचित् सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। दिग्म्बर-परम्परा के प्रतिष्ठासारोद्धार आदि में भी हमें प्रतिमा के लक्षण आदि की चर्चा मिलती है, यथा^{६४७} - अपने घर के चैत्यालय में एक विस्तृति से अधिक परिमाण वाली प्रतिमा नहीं रखें, उसे सार्वजनिक जिन मंदिर में ही रखकर पूजें। ऐसी प्रतिमा प्रतिष्ठा के योग्य नहीं होती है, जो कि पहले प्रतिष्ठित हो, जिनलिंग के सिवाय दूसरा आकार हो, पहले शिव आदि आकार बना हो, फिर फोड़ कर जिनदेव का आकर किया हो, इत्यादि। इसी प्रकार वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों, यथा- अग्निपुराण, प्रतिष्ठामयूख में विष्णु, कृष्ण, ब्रह्म, आदि की प्रतिमाओं के लक्षणों की चर्चा मिलती है, किन्तु शिल्पशास्त्र के कुछ ग्रन्थों में विष्णु, शिव आदि की प्रतिमा के साथ जिनप्रतिमा के भी लक्षण दिए गए हैं। फिर भी वर्धमानसूरि ने जितनी विस्तृत चर्चा इस सम्बन्ध में की है, उतनी विस्तृत चर्चा हमें अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती है।

जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठा से पूर्व कितने-कितने क्षेत्र की शुद्धि करनी चाहिए- इसका उल्लेख करते हुए वर्धमानसूरि ने क्षेत्र का जघन्यतः, मध्यमतः एवं उत्कृष्टतः परिमाण बताया है। उनके अनुसार प्रतिष्ठा से पूर्व उतने क्षेत्र की विधिपूर्वक शुद्धि करनी चाहिए। राजा से अमारि घोषणा करवानी चाहिए। राजा या नगर के अधिपति को प्रचुर मात्रा में भेट देकर प्रतिष्ठा की अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। सोमपुरा, अर्थात् मन्दिर या मूर्ति के निर्माता को वस्त्र, मुद्रिका आदि स्वर्णाभूषण दान में देने चाहिए तथा अपने स्थान से पचास योजन की परिधि में स्थित आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं को आमंत्रित करना

^{६४६} वास्तुसार प्रकरण, अनु.- पं. भगवानदास जैन, प्रकरण-२, पृ.-७३-६५, राजराजेंद्र, प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९८६.

^{६४७} प्रतिष्ठा सारोद्धार, पं. आशाधरजी, अध्याय-१, पृ.-६, पं. मनोहरलाल शास्त्री, श्री जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९७४.

चाहिए। पंचाशकप्रकरण^{६४८} में भूमि शुद्धि करने का तो विधान मिलता है, किन्तु अन्य बातों का उल्लेख नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा के प्रतिष्ठापाठ^{६४९} आदि में भी क्षेत्रशुद्धि, प्रतिष्ठा हेतु राजानुज्ञा, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाओं को निमंत्रित करने आदि के उल्लेख मिलते हैं। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में भी मंडपार्थ भूशुद्धि आदि की चर्चा करने के पश्चात् प्रतिष्ठा एवं प्रतिष्ठा हेतु उपयोगी सामग्रियों की विस्तृत चर्चा है। श्वेताम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों यथा-वास्तुसारप्रकरण, कल्याण कलिका आदि में भी जिनप्रतिमाप्रतिष्ठा के मुहूर्त आदि की इतनी ही विस्तृत चर्चा मिलती है, किन्तु प्रतिष्ठा हेतु उपयोगी सामग्री का इतना विस्तृत उल्लेख हमें श्वेताम्बर परम्परा के विधि-विधान सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है, यद्यपि परवर्ती ग्रन्थों में इनका उल्लेख अवश्य मिलता है। आचारदिनकर में ही हमें इन दोनों विषयों की विस्तृत जानकारी मिलती है। दिगम्बर-परम्परा के प्रतिष्ठापाठ^{६५०} नामक ग्रन्थ में भी प्रतिष्ठा उपयोगी सामग्री एवं प्रतिष्ठा-मुहूर्त सम्बन्धी सूचनाएँ उपलब्ध है। प्रतिष्ठासारोद्धार में हमें इन विषयों की चर्चा नहीं मिलती है। वैदिक-परम्परा के अति प्राचीन ग्रन्थों अग्निपुराण आदि में तो हमें इससे सम्बन्धित कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होते है, किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में प्रतिष्ठा उपयोगी सामग्री एवं प्रतिष्ठा-मुहूर्त के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख मिलते है, जैसे कि प्रतिष्ठामयूख^{६५१} में रत्नाष्टक, धात्वाष्टक (हरितालादि), बीजाष्टक, धात्वाष्टक (सुवर्णादि), सप्तमृत्तिका, सर्वौषधी, सप्त धान्य, आदि प्रतिष्ठा उपयोगी सामग्री का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि प्रतिष्ठा हेतु उपयोगी इन सामग्री की सूची आचारदिनकर में भी वर्णित है।

आचारदिनकर के अनुसार^{६५२} जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा हेतु पहले शुद्धिसंस्कार से युक्त लघुबिम्ब को चैत्यगृह में पूजा हेतु लाएं। तत्पश्चात् स्थिरबिम्ब को पंचरत्न तथा कुम्भकार के चक्र की मृत्तिका सहित स्थापित करें तथा चलबिम्ब के नीचे पवित्र नदी की बालू एवं मूल सहित एक बालिशत मात्र दर्भ रखकर बिम्ब को स्थापित करें। फिर निर्दिष्ट जलाशयों की विधिपूर्वक पूजा करके जलाशयों का जल लाएं। ग्रन्थकार ने यहाँ जलाशय-पूजा के मंत्र का भी

^{६४८} पंचाशकप्रकरण, अनु.- डॉ. दीनानाथ शर्मा, प्रकरण-८, पृ.-१३७, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६७.

^{६४९} प्रतिष्ठापाठ, जयसेनाचार्यकृत, पृ.- ४६-५२, सेठ हीराचंद नेमचंद डोशी, मंगलवार पेठ, शोलापुर, वी.सं.- २४५२

^{६५०} प्रतिष्ठापाठ, जयसेनाचार्यकृत, पृ.-११, सेठ हीराचंद नेमचंद डोशी, मंगलवार पेठ, शोलापुर, वी.सं.- २४५२

^{६५१} प्रतिष्ठामयूख, अनु.- डॉ. महेशचन्द्र जोशी, पृ.- ७-१०, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६६.

^{६५२} आचारदिनकर, वर्षमानसूरिकृत, उदय-तैतीसवाँ, पृ.-१५०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

उल्लेख किया है। तत्पश्चात् मण्डप के मध्य में वेदिका की रचना करें, इत्यादि। जिनबिम्ब के स्थापन से पूर्व की भूमिका की वर्धमानसूरि ने विस्तार से चर्चा की हैं दिगम्बर-परम्परा में भी जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा से पूर्व उपर्युक्त विधि-विधान करने के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु स्थिरबिम्ब को पंचरत्न तथा कुम्भकार के चक्र की मृत्तिका सहित स्थापित करने तथा चलबिम्ब के नीचे पवित्र नदी की बालू एवं मूल सहित दर्भ रखने का उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में भी मण्डप आदि बनाने के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु अग्निपुराण में जो प्रतिष्ठा-विधि दी है, उसमें शिव आदि देवों की प्रतिमा के नीचे दूब आदि रखने का उल्लेख नहीं मिलता है। हाँ, प्रतिष्ठा के समय स्वर्ण एवं चाँदी आदि धातुओं से निर्मित वस्तुओं के रखने सम्बन्धी उल्लेख अवश्य मिलते हैं।

आचारदिनकर^{६५३} में बिम्ब-प्रतिष्ठा से पूर्व दिक्पालों की स्थापना, उनकी पूजा करना, चारों दिशाओं में भूतबलि देना, स्नात्रकारों, विधिकारक एवं आचार्य के देह की रक्षा एवं सकलीकरण करना, चैत्यवन्दन करना, देवी-देवताओं के आराधनार्थ कायोत्सर्ग एवं स्तुति करना, लघुस्नात्रपूजा करना, बिम्ब पर पुष्पांजलि अर्पण करना, मुद्राओं द्वारा बिम्ब की रक्षा करना, दसों दिशाओं का दिग्बन्ध करना, विभिन्न औषधियों आदि के माध्यम से जिन बिम्ब का अभिषेक करना, कंकण-बंधन करना, दस वलयों से युक्त नंदावर्त का आलेखन पूर्वक उसकी विस्तार से पूजा करना, तथा पंचपरमेष्ठी एवं रत्नत्रय को छोड़कर नंदावर्त में स्थित सभी देवी-देवताओं एवं जिन के माता एवं पिता आदि को आहूति प्रदान करना, वेदिका सम्बन्धी विधि-विधान करना, बिम्ब-प्रतिष्ठा का समय नजदीक आने पर चौबीस हाथ परिमाण चन्दन से वासित एवं पुष्पों से युक्त सदश नवीन श्वेत वस्त्र से प्रतिमा आदि आच्छादित करना आदि, ऐसे अनेक कार्य किए जाते हैं। इन सब कार्यों के बाद गुरु अधिवासनामंत्र से जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करते हैं, स्नात्रकार सप्तधान्यों से युत जल से बिम्ब का स्नान आदि कराते हैं। बिम्ब की अंजनशलाका किस प्रकार से एवं किस समय करें- इसका भी विधिवत् वर्णन आचारदिनकर में किया गया है। आचार्य किस प्रकार से बिम्ब के दाएँ कर्ण में मंत्र बोले, प्रतिमा का स्थिरीकरण किस प्रकार से करे, मुद्रा पूर्वक मंत्र का सर्वांगों पर किस प्रकार से न्यास करे? पुनः चैत्यवन्दन देवी-देवताओं के आराधनार्थ कायोत्सर्ग किस प्रकार से करे, किस प्रकार से मंगलपाठ बोले, देशना दे, आदि कार्यों का भी आचारदिनकर में विस्तृत वर्णन मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में भी प्रकारान्तर से इनमें से कुछ विधि-विधानों का उल्लेख मिलता है। जैसे-

^{६५३}अग्निपुराण, सं.- प. श्रीराम शर्मा, प्रकरण- १४४, पृ.-२३८, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९८७.

सकलीकरण करना, दस दिक्पालों का आह्वान एवं पूजा करना, जिनप्रतिमा की जिनमंत्र से सात बार मंत्रित करके शुद्धि करना, जिनप्रतिमा का अभिषेक करना, सर्वौषधि द्वारा अभिषेक करके प्रतिमा की शुद्धि करना, कंकणबंधन करना, शुद्ध वस्त्र से प्रतिमा को आच्छादित करना, नेत्रोन्मीलन करना, यागमंडल की स्थापना एवं पूजा करना, सोलह विद्या देवियों की पूजा करना, जिन माताओं, चौबीस यक्षों, चौबीस यक्षिणियों, द्वारपाल एवं दिक्पालों की पूजा विधि आदि का भी उल्लेख मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में १६ विद्यादेवियों, २४ जिनमाताओं, २४ यक्ष-यक्षिणियों एवं द्वारपाल की पूजा के उल्लेख तो हैं, किन्तु रत्नत्रय, जिनपिता, चौसठ इन्द्राणियों आदि की पूजा का उल्लेख हमें वहाँ नहीं मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में बत्तीस इन्द्रों की पूजा विधि का निर्देश है^{६५४}, किन्तु आचारदिनकर में बत्तीस की जगह चौसठ इन्द्रों की स्थापना एवं पूजा विधि करने का उल्लेख मिलता है।^{६५५} इसी प्रकार दिगम्बर-परम्परा में दस वलय वाले नंदावर्त मंडल के स्थान पर नौ वलय से युक्त यागमंडल के आलेखन एवं पूजन करने का विधान है तथा इन वलयों में स्थापित किए जाने वाले पंचपरमेष्ठी आदि की विधि में भी अन्तर है। इसके साथ ही आचारदिनकर में निर्दिष्ट नंदावर्त में वर्तमान चतुर्विंशति जिन के स्थापन एवं पूजन का उल्लेख मिलता है,^{६५६} जबकि दिगम्बर-परम्परा के यागमंडल में अतीत, अनागत एवं वर्तमान- इन तीनों काल के २४ तीर्थकरों एवं बीस विहरमान के स्थापन एवं पूजन का उल्लेख मिलता है।^{६५७}

आचारदिनकर में बृहत्स्नात्रविधि, नंदावर्त-विसर्जन की विधि आदि का भी उल्लेख मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में इन विधियों का उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में आचारदिनकर की भाँति नंदावर्त-पूजन एवं जिनबृहत्स्नात्र-विधि आदि का उल्लेख नहीं मिलता है- यह स्वाभाविक भी है। यद्यपि वैदिक-परम्परा में प्रतिष्ठा के समय सर्वतोभद्रमण्डल की स्थापना एवं उसमें स्थापित ब्रह्मादि देवों का आज्य से होम करने का उल्लेख मिलता है।^{६५८} शिवादि की प्रतिष्ठा के समय द्वारपालों, दिग्पालों के पूजन, अभिषेक, कलशस्थापन, बलि-विधान, यागमण्डप आदि का उल्लेख मिलता है। जैन-परम्परा एवं

^{६५४} प्रतिष्ठासारोद्धार, पं. आशाधरजी, अध्याय-३, पृ.-६०, पं. मनोहरलाल शास्त्री, श्री जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९७४.

^{६५५} आचारदिनकर, वर्धमानसुरिकृत, उदय-तैत्तिरीयों, पृ.-१५६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६५६} आचारदिनकर, वर्धमानसुरिकृत, उदय-तैत्तिरीयों, पृ.-१५६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६५७} प्रतिष्ठापाठ, जयसेनाचार्यकृत, पृ.- १५४-१८२, सेठ हीराचंद नेमचंद डोशी, मंगलवार पेठ, शोलापुर वी.सं.- २४५२

^{६५८} प्रतिष्ठासूत्र, अनु.- डॉ. महेशचन्द्र जोशी, पृ.- ३१३, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६६.

वैदिक-परम्परा की मान्यताओं में मतभेद होने के कारण इनके मंत्रों आदि में जो अन्तर हैं, वह स्वाभाविक है।

आचारदिनकर के अनुसार^{६५९} चैत्य की स्थापना, नवग्रहों की स्थापना और धातु, काष्ठ, पाषाण एवं हाथीदाँत से निर्मित जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा-विधि एक जैसी ही है, किन्तु लेप्यमय, अर्थात् मिट्टी आदि से बनी प्रतिमा की प्रतिष्ठा में इतना विशेष है कि लेप्यमय प्रतिमा पर स्नात्रविधि न करके उसके समक्ष स्थित दर्पण में जो प्रतिबिंब गिरता है, उसकी स्नात्रविधि करनी चाहिए, शेष सर्वविधि पूर्ववत् ही की जाती है। गृह चैत्य में पूजनीय बिम्बों की जहाँ प्रतिष्ठा की गई हो, चाहे उन्हें उसी गृह या नगर में प्रतिष्ठित करना हो, तो भी पूर्व प्रतिष्ठित बिम्बों की कंकणमोचन-विधि की जाती है। यदि बिम्ब को अन्य किसी गृह में, अन्य गाँव में या अन्य देश में स्थापित करना हो तो वहाँ ले जाकर प्रवेश महोत्सवपूर्वक कंकणमोचन करना चाहिए।^{६६०} दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में हमें इस प्रकार के कंकणमोचन का उल्लेख देखने को नहीं मिला। दिगम्बर-परम्परा के प्रतिष्ठासारोद्धार में इतना उल्लेख अवश्य मिलता है कि चित्राम आदि की अभिषेक-विधि उसके दर्पण में प्रतिबिंबित बिम्ब की करनी चाहिए। वैदिक-परम्परा के प्रतिष्ठा-मयूख में भी कहा गया है कि- 'लेपयुक्त मूर्ति, भित्ति तथा पट आदि में निर्मित मूर्ति के स्नान आदि कृत्यों को दर्पण में करना चाहिए और उनका पूजन जल से रहित पुष्पों से करना चाहिए।'

आचारदिनकर में चैत्यप्रतिष्ठा की विधि का भी उल्लेख मिलता है। वर्धमानसूरि के अनुसार बिम्ब प्रतिष्ठा के शुभलग्न में, अर्थात् उस लग्न में जिसमें बिम्ब की प्रतिष्ठा हुई हो, अथवा अन्य दिन, मास, पक्ष या वर्ष व्यतीत होने पर उसी लग्न में संघ को एकत्रित करना चाहिए।^{६६१} चैत्य की चारों दिशाओं में चार वेदिका बनाकर चौबीस तन्तु सूत्रों से अन्दर की तरफ एवं बाहर की तरफ लपेट कर शान्तिमंत्र द्वारा चैत्य की रक्षा करनी चाहिए। चैत्य की प्रतिष्ठा में वे ही सब क्रियाएँ होती हैं, जो बिम्ब-प्रतिष्ठा के समय की जाती है। यथा- स्नात्रकारों एवं औषधि-पेषण का कार्य करने वाली स्त्रियों को आमंत्रित करना, बृहत्स्नात्रविधि से पूजा करना, सात प्रकार के धान्य चढ़ाना तथा रक्षाबन्धन करना, रौद्रदृष्टि पूर्वक दोनों मध्य अंगुलियों को खड़ी करके बाएँ हाथ में स्थित जल से चैत्य को अभिसिंचित करना, चैत्य के ऊपर वस्त्र ढकना, नंदावर्त-पूजन करना, इत्यादि;

^{६५९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तैतीसर्वाँ, पृ.-२०१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६६०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तैतीसर्वाँ, पृ.-२०१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६६१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तैतीसर्वाँ, पृ.-२०१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

किन्तु चैत्यप्रतिष्ठा के समय सुरमा एवं शहद से रसांजन बनाने की क्रिया नहीं होती है। फिर लग्नबेला के आने पर जिनप्रतिष्ठामंत्र एवं वास्तुदेवता का मंत्र बोलकर वासक्षेप पूर्वक चैत्य की देहली, तोरण एवं शिखर की प्रतिष्ठा की जाती है तथा पुनः बिम्ब की बृहत्सनात्रविधि से पूजा करना, चैत्य के ऊपर से वस्त्र उतारकर महोत्सव करना, नंदावर्त का विसर्जन करना आदि सब क्रियाएँ जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा की भाँति ही की जाती है। दिगम्बर-परम्परा में हमें चैत्य-प्रतिष्ठा की विधि का उल्लेख नहीं मिला। वैदिक-परम्परा के अग्निपुराण में यद्यपि प्रासाद-प्रतिष्ठा का उल्लेख अवश्य मिलता है^{६६२}, किन्तु आचारदिनकर में निर्दिष्ट कार्यों का हमें वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिला। प्रतिष्ठामयूख के प्रासादाधिवासन प्रकरण में हमें उपर्युक्त कृत्यों में से कुछ कृत्यों की चर्चा मिलती है। जैसे- प्रासाद का अभिषेक करना, प्रासाद को सूत्र से वेष्टित करना, पताका आदि लगाकर उसकी पूजा करना इत्यादि।^{६६३} वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में वर्णित प्रासाद-अधिवासना सम्बन्धी कुछ विधानों का जैसे- ८१ कलशों की स्थापना करना^{६६४}, प्रासाद को लीपना,^{६६५} विष्णुगायत्री को पढ़ते हुए चार गायों को दुहना, उस दूध में विष्णुगायत्रीमंत्र से चरु को पकाकर स्थाप्य देवता को निवेदन करके बारह ब्राह्मणों को भोजन कराकर 'विष्णु प्रीयताम'- ऐसा कहना, याजमान आचार्यों को गायों का दान देना,^{६६६} इत्यादि उल्लेख हमें आचारदिनकर में नहीं मिलते हैं।

जिनचैत्य-प्रतिष्ठा की विधि के पश्चात् आचारदिनकर में कलशप्रतिष्ठा, ध्वज प्रतिष्ठा, राजध्वज की प्रतिष्ठा, जिनबिम्ब के परिकर की प्रतिष्ठा, जलपट्ट (फलक) की प्रतिष्ठा, तोरण की प्रतिष्ठा, प्रासाददेवी, संप्रदायदेवी- कुलदेवी की प्रतिष्ठा, क्षेत्रपाल की प्रतिष्ठा, गणपति आदि की प्रतिष्ठा, माणुधन आदि कुल देवों की प्रतिष्ठा, सिद्धमूर्ति की प्रतिष्ठा, देवतावसर समवसरण की प्रतिष्ठा, मंत्रपट्ट की प्रतिष्ठा, पितृमूर्ति की प्रतिष्ठा, यति (साधु-साध्वी) मूर्ति की या स्तूप की प्रतिष्ठा, नवग्रहों की प्रतिष्ठा, चतुर्निकाय देवों की प्रतिष्ठा, गृह आदि की प्रतिष्ठा, जलाशयों

^{६६२} अग्निपुराण, सं.- श्री राम शर्मा, प्रकरण-१४६, पृ. २५५, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९८७.

^{६६३} प्रतिष्ठामयूख, अनु.- डॉ. महेशचन्द्र जोशी, पृ.- २०५-६, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण: १९६६.

^{६६४} प्रतिष्ठामयूख, अनु.- डॉ. महेशचन्द्र जोशी, पृ.- २०१-२, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण: १९६६.

^{६६५} प्रतिष्ठामयूख, अनु.- डॉ. महेशचन्द्र जोशी, पृ.- २०३, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{६६६} प्रतिष्ठामयूख, अनु.- डॉ. महेशचन्द्र जोशी, पृ.- २०६-७, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण: १९६६.

की प्रतिष्ठा, वृक्ष की प्रतिष्ठा, अट्टालिकादि की प्रतिष्ठा, दुर्ग की प्रतिष्ठा तथा गृहोपयोगी अन्य सामग्रियों की अधिवासना आदि की विधि का विस्तृत उल्लेख मिलता है। दिगम्बर-परम्परा के प्रतिष्ठापाठ आदि ग्रन्थों में उपर्युक्त विधियों का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु प्रतिष्ठासारोद्धार में श्रुतदेवता की प्रतिष्ठा, आचार्य (मूर्ति) की प्रतिष्ठा, यक्षादि मूर्ति की प्रतिष्ठा के उल्लेख मिलते हैं।^{६६७} वैदिक-परम्परा में इनमें से कुछ विधियों का उल्लेख अग्निपुराण आदि में अवश्य मिलता है। यथा- सूर्यप्रतिष्ठा, द्वारप्रतिष्ठा, गौरप्रतिष्ठा, कूप, वापी, तड़ाग आदि की प्रतिष्ठा, देवता सामान्यप्रतिष्ठा, वास्तुप्रतिष्ठा आदि।

अन्त में ग्रन्थकार ने सभी प्रतिष्ठाओं की प्रतिष्ठा दिन शुद्धि की विधि का उल्लेख किया है जैसे- स्वनक्षत्र, तिथि, और वारों में कृष्ण पक्ष के शुभलग्न में चन्द्रमा एवं तारों का बल देखकर उन देवों की स्थापना करनी चाहिए, पुष्य, श्रवण, अभिजित नक्षत्र में ऐश्वर्य से परिपूर्ण कुबेर और कार्तिकेय की प्रतिष्ठा करनी चाहिए, अनुराधा तिग्मरुच, हस्त एवं मूल नक्षत्र में दुर्गादि की प्रतिष्ठा करनी चाहिए, इत्यादि।^{६६८} दिगम्बर-परम्परा के हमारे पास जो ग्रन्थ हैं, उनमें इस प्रकार का उल्लेख देखने को नहीं मिला। वैदिक-परम्परा के कुछ ग्रन्थों प्रतिष्ठामयूख, श्रीप्रभुविद्या प्रतिष्ठाणव में हमें उपर्युक्त विषय की आंशिक चर्चा मिलती है, जैसे- श्रीप्रभुविद्या प्रतिष्ठाणव में कहा गया है कि सब देवताओं की प्रतिष्ठा वैशाख, ज्येष्ठ एवं फाल्गुन मास में करनी चाहिए। विष्णु को छोड़कर अन्य सब देवताओं की प्रतिष्ठा माघ मास में करनी चाहिए, मातृ, भैरव, वाराह, नरसिंह तथा त्रिविक्रम की प्रतिष्ठा दक्षिणायन में करनी चाहिए, इत्यादि।^{६६९}

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों परम्पराओं में प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधियों में कहीं-कहीं समानता दिखाई देती है, तो कहीं विषमता दृष्टिगत होती है।

उपसंहार-

इस तुलनात्मक विवेचन के पश्चात् इस संस्कार की आवश्यकता के विषय में हम कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहेंगे। पाषाण से निर्मित प्रतिमा की प्रतिष्ठा करने से क्या मतलब है, क्योंकि जो स्वयं पाषाण है, निर्जीव है, वह दूसरे का क्या उपकार कर सकती है? ऐसी पाषाण की प्रतिमा या अन्य किसी वस्तुओं से निर्मित प्रतिमा की प्रतिष्ठा या अधिवासना करने की क्या आवश्यकता है?

^{६६७} प्रतिष्ठासारोद्धार, पं. आशाधरजी, अध्याय-६, पृ.-१३०-१३३, पं. मनोहरलाल शास्त्री, श्री जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९७४.

^{६६८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तैत्तिरीय, पृ.-२१८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६६९} श्री प्रभुविद्या प्रतिष्ठाणव, पं. दौलतराम गौड़, पृ.- ३, सावित्री ठाकुर प्रकाशन, २००४.

इसका प्रत्युत्तर देते हुए वर्धमानसूरि ने स्वयं आचारदिनकर में कहा है^{६७०} कि प्रतिष्ठा-विधि द्वारा मूर्ति को विशिष्ट नाम देकर पूज्यता प्रदान की जाती है। इस विधि द्वारा ही मूर्ति में प्रभावक शक्ति उत्पन्न होती है, क्योंकि जिस प्रकार गृह, कुएँ, बावड़ी आदि की प्रतिष्ठा-विधि से उनकी प्रभावकता में वृद्धि होती है, उसी प्रकार सिद्ध तथा अरिहंत परमात्मा की प्रतिमा की भी प्रतिष्ठा-विधि से उसके प्रभाव में अभिवृद्धि होती है। उस प्रतिष्ठा-विधि से सम्यग्दृष्टि देव तथा अधिष्ठायक देव मूर्ति के प्रभाव में अभिवृद्धि करते हैं, जिससे पूजक वांछित फल को प्राप्त करता है।

प्रतिष्ठा-विधि हेतु ग्रह, नक्षत्र आदि की स्थिति का ज्ञान होना भी आवश्यक है, क्योंकि शुभलग्न में की गई प्रतिष्ठा मंगलकारी होती है। अशुभ लग्न में की गई प्रतिष्ठा न केवल प्रतिष्ठाकर्ता के लिए ही, वरन् श्रीसंघ के लिए भी अमंगलकारी होती है, जैसा कि स्वयं वर्धमानसूरि ने कहा है कि^{६७१} प्रतिष्ठालग्न में चन्द्रमा यदि मंगल एवं सूर्य से युक्त हो, अथवा चन्द्र पर उक्त ग्रहों की दृष्टि पड़ती हो, तो अग्नि का भय रहता है, चन्द्रमा यदि शनि से युक्त या दृष्ट हो, तो मरणभयकारक होता है। प्रतिष्ठालग्न में सूर्य बलहीन हो, तो प्रतिष्ठा करने वाले का और चन्द्र बलहीन हो, तो उसकी पत्नी का, शुक्र बलहीन हो, तो धन का एवं गुरु बलहीन हो, तो निश्चित रूप से सुख का नाश करता है। सूर्य और शनि वक्री हो, तो प्रासाद का विनाश करता है। मंगल, शनि, राहु, रवि, केतु, शुक्र- ये ग्रह कुंडली के सातवें स्थान में हों, तो प्रतिष्ठा करवाने वाले का तथा प्रतिमा का भी शीघ्र विनाश होता है, इत्यादि उल्लेख आचारदिनकर के अतिरिक्त कल्याणकलिका में भी मिलते हैं।

प्रतिष्ठा-विधि के दरम्यान अनेक धार्मिक उत्सव किए जाते हैं। इन धार्मिक उत्सवों में धर्मात्मा लोगों के एकत्रित होने से जनसमूह में धर्म की महती प्रभावना होती है। धर्म के प्रति लोगों में उत्साह प्रकट होता है, जिससे धार्मिकजनों के पापों का प्रक्षालन होता है, इसलिए विधि-विधानपूर्वक प्रतिष्ठा संपन्न करना कर्मों की निर्जरा का हेतु भी है।

^{६७०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तैत्तिरीयों, पृ.-१४१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६७१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-तैत्तिरीयों, पृ.-१४१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

शान्तिकर्म-विधि

शान्तिकर्म-विधि का स्वरूप-

शान्तिकर्म का तात्पर्य है- संकट को दूर करने के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान,^{६७२} अर्थात् जिस क्रिया से संकटों का निवारण हो, उनका उपशमन हो, उसे शान्तिकर्म कहते हैं। इस प्रकार शान्तिकर्म एक ऐसा अनुष्ठान है, जो व्यक्ति को अमन-चैन प्रदान करता है। वैदिक-परम्परा के हिन्दू शब्दकोश में भी कहा गया है^{६७३}- “वे सभी कर्म शान्तिकर्म कहलाते हैं, जिनसे आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उपद्रव शान्त होते हैं। यद्यपि आगे चलकर ज्योतिष की व्यापकता बढ़ जाने पर ग्रह-शान्ति कर्मकाण्ड का प्रधान अंग बन गया, किन्तु प्राचीनकाल में शान्तिकर्म का क्षेत्र व्यापक था और शान्तिकर्म का तात्पर्य उन सभी क्रियाओं से लिया जाता था, जो व्यक्ति को सुख-शान्ति प्रदान करे। वर्धमानसूरि ने इस प्रकरण में उन सभी अनुष्ठानों का उल्लेख किया है, जो सामान्यतया शान्तिकर्म के रूप में लोकप्रचलित रहे हैं। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी शान्तिकर्म सम्बन्धी विधि-विधानों के उल्लेख मिलते हैं।

शान्तिकर्म विघ्नों के उपशमन हेतु किया जाता है। जैसा कि स्वयं वर्धमानसूरि ने भी व्यवहार परमार्थ में कहा है^{६७४} कि “शान्तिकर्म विघ्नों के शमन हेतु किया जाता है। इसमें चतुर्निकाय देवों की पूजा करके उनको प्रसन्न किया जाता है, उनके प्रसन्न होने से सर्वविघ्नों का विनाश हो जाता है। शान्तिकर्म करने से अनिष्टकारी उपद्रव एवं दावानल भी शान्त हो जाते हैं। जिनस्नात्रविधि से प्राप्त जल से सर्वदोषों का निवारण होता है तथा शान्तिपाठ के उद्घोष से दुष्ट, अर्थात् अनिष्टकारी शक्तियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं।” इस प्रकार शान्तिकर्म किए जाने का मुख्य प्रयोजन अनिष्ट शक्तियों को शक्तिहीन करके सुख-शान्ति को प्राप्त करना है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में भी विघ्नों का उपशमन करने के उद्देश्य से ही शान्तिकर्म किया जाता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{६७५}- “सूतक एवं मृत्यु को छोड़कर गृहस्थ के सभी संस्कारों में, सभी प्रतिष्ठाओं में, छः मास या एक वर्ष में, किसी भी महाकार्य के प्रारम्भ में, उपद्रव दिखाई देने पर या होने पर, रोग, दोष, महाभय, या संकट की स्थिति में गृहस्थ, विधिकारकों के द्वारा यह क्रिया करवाई जानी

^{६७२} संस्कृत-हिन्दीकोश, वामन शिवराम आँटे, पृ.- १०११, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६.

^{६७३} हिन्दू शब्दकोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ.- ६२६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७८.

^{६७४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.-३६३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण, १९२२.

^{६७५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चौतीसवाँ, पृ.-२२५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

चाहिए।” दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें यह उल्लेख तो नहीं मिलता है कि शान्तिक-विधान कब किया जाना चाहिए, किन्तु सामान्यतया वहाँ भी मांगलिक कार्यों के प्रारम्भ में यह विधान किया जाता है। प्रतिष्ठा सारोद्धार में अग्रिम विघ्नों की अनुत्पत्ति एवं पूर्व विघ्नों की शांति के लिए यह विधान करने का उल्लेख मिलता है।^{६७६} वैदिक-परम्परा में अनेक प्रकार की शान्तियों का उल्लेख मिलता है- जो उनसे सम्बन्धित कार्यों से पूर्व की जाती थी। धर्मशास्त्र के इतिहास के अनुसार^{६७७} जब राजा विजयी होना चाहता है या जब उस पर आक्रमण होता है, या जब उसे भय होता है कि उस पर माया की गई है, या जब वह शत्रुओं का नाश करना चाहता है या जब उस पर महाभय आ जाता है, तब उसे अभयशान्ति करनी चाहिए।” इसी प्रकार मत्स्यपुराण में वर्णित अठारह प्रकार की शान्तियाँ कब या किस समय की जानी चाहिए, उसके भी उल्लेख हमें वहाँ मिलते हैं। उनका अवलोकन करने से हमें ज्ञात होता है कि सामान्यतया वैदिक-परम्परा में भी उपद्रवों की शान्ति हेतु एवं मांगलिक कार्यों के प्रारम्भ में यह विधान किया जाता था। शान्ति-सम्पादन के काल के विषय में सामान्य नियम है कि यह कभी भी अवसर पड़ने पर होता है। यथा-स्वप्न में देखे गए शकुनों से निर्देशित दुष्ट फलों के निवारण, ग्रहों के दुष्ट या बुरे फलों, उत्पादों आदि से सुरक्षा पाने आदि के लिए। सूर्य के उत्तरायण, शुक्ल पक्ष आदि के लिए प्रतीक्षा नहीं की जाती है।^{६७८} इस प्रकार तीनों ही परम्परा में यह विधान मांगलिक कार्यों के पूर्व तथा उपद्रवों के उपस्थित होने पर उनके निवारणार्थ किया जाता था।

संस्कार का कर्ता :-

यह विधि-विधान गृहस्थ गुरु (विधिकारक) द्वारा करवाया जाता है। आचारदिनकर में भी यह विधि-विधान गृहस्थ गुरु द्वारा ही करवाने का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में यह संस्कार किसके द्वारा करवाया जाता है, इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता है, फिर भी सामान्यतया वहाँ ये विधान भट्टारकों या जैन ब्राह्मणों के द्वारा करवाए जाते हैं। वैदिक-परम्परा में यह विधान सामान्यतया कर्मकाण्ड में विशारद ब्राह्मणों द्वारा करवाया जाता है।

^{६७६} प्रतिष्ठासारोद्धार, पं. आशाधर जी, अध्याय-२, पृ.-३२, पं. मनोहरलाल शास्त्री, श्री जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, बोम्बे, प्रथम संस्करण १९७४.

^{६७७} धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय- २०, पृ.- २५१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७३.

^{६७८} धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२१, पृ.- २५८, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७३.

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रवेदित की है—
शान्तिक-कर्म—

वर्धमानसूरि के अनुसार शान्तिककर्म हेतु सर्वप्रथम बृहत्स्नात्रविधि करें। इसके लिए सर्वप्रथम स्नात्रपीठ पर शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिमा स्थापित करें। तदनन्तर अर्हत्कल्पविधि से परमात्मा की पूजा करें। तत्पश्चात् बृहत्स्नात्रविधि के अनुसार कुसुमांजलि अर्पण करें। तदनन्तर परमात्मा के समक्ष उत्तम धातु के सात पीठों को स्थापित करके उन पर क्रमशः पंचपरमेष्ठी, दस दिक्पाल, बारह राशियों, अट्ठाईस नक्षत्रों, नवग्रहों, सोलह विद्यादेवियों तथा गणपति-कार्तिकेय-क्षेत्रपाल-पुरदेवता एवं चतुर्निकाय देवों की स्थापना करें तथा विधिपूर्वक उनकी पूजा करें। सातों ही पीठों की पूजा किन-किन मंत्रों से करें? इनका उल्लेख मूलग्रन्थ में किया गया है। तत्पश्चात् इन सप्तपीठों से सम्बन्धित देवी-देवताओं को संतुष्ट करने हेतु हवन करें। हवन हेतु आहुति तथा समिधाएँ किस प्रकार की होनी चाहिए, इसका भी वहाँ उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् बृहत्स्नात्र विधि के अनुसार स्नात्रपूजा करें। तदनन्तर स्नात्रजल को एकत्रित कर उसमें सर्व तीर्थों के जल को मिलाकर विधिपूर्वक शान्तिकलश भरें। शान्तिकलश भरने के पश्चात् गृहस्थ गुरु उस शान्तिकलश को शान्तिदण्डक के पाठ से आभिमंत्रित करें। तत्पश्चात् शान्ति कलश के उस जल से शान्तिककर्म करवाने वाले को तथा उसके परिवार को अभिसिंचित करें। तत्पश्चात् दिक्पाल आदि का विसर्जन करें। यह शान्तिककर्म की विधि है। तदनन्तर शान्तिककर्म कब-कब किया जाना चाहिए तथा शान्तिककर्म करने से क्या फल मिलता है, इसका उल्लेख आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने किया है।

तत्पश्चात् ग्रह एवं नक्षत्र शान्ति की विधि बताई गई है। इसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि ग्रह एवं नक्षत्र शान्ति कब करनी चाहिए। तदनन्तर नक्षत्र-शान्ति की विधि बताई गई है। इस विधि में प्रत्येक नक्षत्र के स्वामी की स्थापना कर उनकी विधि पूर्वक पूजा तथा हवन किया जाता है। इस विधि में विशेष रूप से मूल एवं आश्लेषा नक्षत्र की शान्ति का वर्णन हुआ है। तदनन्तर लोकाचार के अनुसार स्नानादि द्वारा की जाने वाली नक्षत्र-शान्ति की विधि बताई गई है। इसमें भी किस नक्षत्र की शान्ति हेतु किन-किन वस्तुओं से वासित जल से स्नान करें, इसका निर्देश दिया गया है। जैसे- अश्विनी नक्षत्र की शान्ति के लिए मदयन्ती, गन्ध, मदनफल, वच एवं मधु से वासित जल से स्नान करना चाहिए, भरणी नक्षत्र की शान्ति के लिए सफेद सरसों, चीड़ के वृक्ष एवं वच से वासित जल से स्नान करेंइत्यादि।

तदनन्तर ग्रहशान्ति की विधि बताई गई है-इसमें सर्वप्रथम पूजा, पाठ एवं हवन द्वारा की जाने वाली शान्ति का उल्लेख किया गया है। तदनन्तर लोकाचार के अनुसार ग्रहशान्ति हेतु स्नानविधि बताई गई है। विधि के अन्त में किस ग्रह की शान्ति हेतु कौन-कौन से रत्न धारण करने चाहिए, इसका भी उल्लेख किया गया है। विस्तारभय के कारण हम इन सब बातों का उल्लेख यहाँ नहीं कर रहे हैं। एतदर्थ विस्तृत जानकारी मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के तृतीय भाग के चौतीसवें उदय से प्राप्त की जा सकती है।

तुलनात्मक विवेचन-

वर्धमानसूरि के अनुसार^{६७९} शान्तिकर्म करने हेतु सर्वप्रथम स्नात्रपीठ पर शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिमा को स्थापित करना चाहिए। कदाचू शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिमा उपलब्ध न हो, तो अन्य तीर्थंकर परमात्मा की प्रतिमा को शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिमा मानकर, अर्थात् मंत्र एवं वासक्षेपपूर्वक अन्य जिनप्रतिमा में शान्तिनाथ भगवान् की धारणा करके उसकी स्थापना करें, तत्पश्चात् अर्हत्कल्पविधि से परमात्मा की पूजा करके बृहत्स्नात्र विधि से कुसुमांजलि अर्पण करें। फिर बिम्ब के आगे उत्तम धातुओं के सात पीठों की स्थापना करके उन पर क्रमशः पंचपरमेष्ठी, दिक्पालों, राशियों, नक्षत्रों, नवग्रहों, विद्या देवियों एवं गणपति-कार्तिकेय-क्षेत्रपाल तथा चतुर्निकाय देवों की स्थापना करें। इन सातों पीठों की विधिपूर्वक पूजा करके उनको सन्तुष्ट करने हेतु हवन करें। तत्पश्चात् बृहत्स्नात्र विधि से प्राप्त जल को संचित करके विधिपूर्वक स्थापित शान्तिकलश में शान्तिदण्डक पूर्वक कुश से डालते हैं। तीन बार शान्तिकदण्डक से अभिमंत्रित उस शान्तिकलश के जल से शान्तिकर्म करवाने वाले को तथा उसके परिवारजनों को अभिसिंचित करते हैं तथा अन्त में सर्वदेवों का विसर्जन करते हैं। दिग्म्बर-परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थों में हमें शान्तिकर्म-विधान देखने को नहीं मिला। प्रतिष्ठासारोद्धार में प्रतिष्ठा-विधि की जलयात्रा-विधि के प्रसंग में हमें शान्तिविधान के कुछ उल्लेख मिलते हैं। प्रतिष्ठासारोद्धार के अनुसार^{६८०} शान्तिकर्म आरंभ करने के लिए सरोवर के किनारे पुष्पांजलि निक्षेपित करके मंत्रपूर्वक सरोवर को जल से अर्घ्य देते हैं। तत्पश्चात् मंडल की पूर्वादि चारों दिशाओं में सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधुओं का स्थापन करते हैं तथा विदिशाओं में मंगल, लोकोत्तम, एवं शरण- इन तीनों को लिखते हैं। सिद्धों के ऊपर अत्यन्त

^{६७९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चौतीसवाँ, पृ.-२२०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६८०} प्रतिष्ठासारोद्धार, पं. आशाधर जी, अध्याय-२, पृ.-२२-२३, पं. मनोहरलाल शास्त्री जी, जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९७४.

महिमावान् धर्म को स्थापित करते हैं तथा आठ पत्रों पर जयादि आठ देवियों, दस दिशाओं में दिक्पालों को तथा सोमद्वारपाल के ऊपर के भाग में सूर्यादि नौ ग्रह को स्थापित करते हैं, इत्यादि। इस प्रकार शांतिमंडल की स्थापना की जाती है। तत्पश्चात् उनकी पूजा की जाती है, किन्तु आचारदिनकर की भाँति हमें वहाँ जिनप्रतिमा के स्थापन, बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा की स्नात्रपूजा आदि करने का उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में भी हमें इस प्रकार के उल्लेख देखने को नहीं मिलें।

शान्तिकर्म-विधि बताने के पश्चात् ग्रन्थकार ने नक्षत्र शान्ति की विधि बताई है। इसमें २७ नक्षत्रों की विधिपूर्वक शान्ति करने का निर्देश देते हुए प्रत्येक नक्षत्र की शान्ति की विधि प्रज्ञप्त की है, जैसे^{६८१} - अश्विनी नक्षत्र की शान्ति के लिए अश्विनीकुमार की दो मूर्ति स्थापित करके उनकी विधिवत् पूजा करें तथा घी, मधु एवं गुग्गुल सहित सर्वौषधि से आहुति दें। नक्षत्र-शान्ति की विधि बताते हुए वर्धमानसूरि ने मूल एवं आश्लेषा नक्षत्र की शान्तिक का विशेष रूप से वर्णन किया है। इसके साथ ही मूल नक्षत्र में यदि बालक का जन्म हो, तो उसका परिजन धन आदि पर क्या दुष्प्रभाव पड़ता है, इसका भी उसमें उल्लेख किया गया है। तीन पुत्रों के पश्चात् कन्या हो, तीन कन्याओं के पश्चात् पुत्र हो, जुड़वाँ कन्या हो या हीनाधिक अंगोपांग वाले शिशु का जन्म होने पर भी वर्धमानसूरि ने मूलस्नान करने के लिए कहा है।^{६८२} दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें प्रायः इस प्रकार का उल्लेख देखने को नहीं मिला, किन्तु उसमें शान्तिकर्म की विधि प्रचलित है। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में भी हमें नक्षत्र-शान्ति के विधान मिलते हैं। वहाँ भी मूल और आश्लेषा नक्षत्र में बालक का जन्म होने पर नक्षत्र-शान्ति का विधान बताया गया है। वैदिक-परम्परा के मदनरत्न^{६८३} ग्रन्थ में नक्षत्र-शान्ति का विस्तृत वर्णन मिलता है, किन्तु यह प्रति अप्राप्त होने के कारण इस विषय में ज्यादा कुछ कह पाना संभव नहीं है, फिर भी धर्मशास्त्र के इतिहास में वर्णित इस ग्रन्थ की विषयवस्तु से इतना तो स्पष्ट है कि इसमें नक्षत्रों की शान्ति, की विधि दी गई है। वर्तमान में भी बालक यदि मूल या आश्लेषा नक्षत्र में जन्मता है, तो उससे सम्बन्धित विधि-विधान किए जाने का रिवाज है।

^{६८१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- चौतीसवाँ, पृ.- २२५-२२६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६८२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- चौतीसवाँ, पृ.- २२०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६८३} देखें: धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२०, पृ.- ३४७-४८, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७३.

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने लोकप्रचलित स्नानादि द्वारा की जाने वाली नक्षत्र शान्ति की विधि का भी उल्लेख किया है, जिसके अन्तर्गत उन्होंने अमुक द्रव्यों से वासित जल से स्नान करने का निर्देश दिया है, जैसे-:^{६८४} अश्विनी नक्षत्र की शान्ति के लिए मदयन्ति, गन्ध, मदनफल, वच एवं मधु से वासित जल से स्नान करना चाहिए। भरणी नक्षत्र की शान्ति के लिए सफेद सरसों, चीड़ का वृक्ष एव वच से वासित जल से स्नान करना चाहिए, कृतिका नक्षत्र की शान्ति के लिए बरगद, सिरस एवं पीपल के पत्रों तथा गन्ध से वासित जल से स्नान करना चाहिए.....इत्यादि। इस प्रकार उन्होंने २७ नक्षत्रों की शान्ति के लिए अमुक वस्तुओं से वासित जल से स्नान करने की विधि बताई है। दिग्म्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें नक्षत्र की शान्ति करने हेतु इस प्रकार की स्नानविधि का उल्लेख नहीं मिलता। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में हमें नक्षत्रों की शान्ति हेतु उपर्युक्त स्नानविधि का उल्लेख मिलता है। योगयात्रा एवं हेमाद्रि^{६८५} ने अश्विनी से रेवती तक के नक्षत्रों एवं उनके देवताओं की पूजा तथा धार्मिक स्नानों का तथा तज्जनित कतिपय लाभों का उल्लेख किया है। आथर्वण परिशिष्ट में^{६८६} भी कृतिका से भरणी तक के नक्षत्रों में स्नान का विधान पाया जाता है। इस प्रकार वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में हमें नक्षत्रों की शान्ति हेतु धार्मिक स्नानों का विधान मिलता है।

नक्षत्रों की शान्ति के पश्चात् वर्धमानसूरि ने ग्रहशान्ति की विधि का उल्लेख किया है।^{६८७} इसके लिए सर्वप्रथम विधिवत् पूजित तीर्थकर की प्रतिमा के आगे गोबर से लिप्त शुद्ध भूमि पर चन्दन से लिप्त श्रीखण्ड (चन्दन) या श्रीपर्णी के पीठ पर स्व-स्व वर्णानुसार ग्रहों को स्थापित करना चाहिए। इन नवग्रहों की स्थापना किस विधि से करें? इसका भी वहाँ विस्तृत विवेचन किया गया है, यथा- चावल से मध्य में गोल आकृति बनाकर सूर्य की, आग्नेय कोण में चतुष्पाकार बनाकर चन्द्र की, दक्षिण दिशा में त्रिकोणाकार बनाकर मंगल की, ईशान कोण में बाण के सदृश आकृति बनाकर बुध की, उत्तर दिशा में आयताकार बनाकर गुरु की, पूर्व दिशा में पंचकोण आकृति बनाकर शुक्र की, पश्चिम दिशा में धनुषाकार

^{६८४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- चौतीसवें, पृ.- २२८-२२९, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{६८५} देखें: धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२१, पृ.- ३६४, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७३.

^{६८६} देखें: धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२१, पृ.- ३६४, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७३.

^{६८७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- चौतीसवें, पृ.- २३०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

बनाकर शनि की, नैऋत्य में शूर्पाकार बनाकर राहु की एवं वायव्य कोण में ध्वजाकार बनाकर केतु की स्थापना करनी चाहिए। तत्पश्चात् उनकी विधिवत् पूजा करनी चाहिए। सूर्य आदि नवग्रहों की शान्ति के लिए किस चीज से हवन करें, हवन में किन वृक्षों की समिधाओं का उपयोग करें तथा किस वस्तु का दान दें- इसका भी इसमें वर्णन किया गया है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रंथों में भी हमें नवग्रह-शांतिविधान देखने को मिलता है, किन्तु इसकी विधि आचारदिनकर में वर्णित विधि से कुछ भिन्न है। जैन-संस्कार विधि के अनुसार^{६८८} सर्वप्रथम सर्वग्रहों की शान्ति करने हेतु चतुर्विंशति तीर्थकरों की स्थापना की जाती है, तत्पश्चात् मंत्रपूर्वक उनकी अष्टप्रकारी, जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल एवं अर्घ्यपूजा की जाती है। इसके बाद उसमें नवग्रहों की शान्ति के लिए नवग्रहों से सम्बन्धित तीर्थकरों की स्थापना कर अष्टप्रकारी पूजा करने की विधि बताई गई है, उसमें सूर्यग्रह की शान्ति के लिए पद्मप्रभु की, चंद्रग्रह की शान्ति के लिए चंद्रप्रभु की, मंगलग्रह की शान्ति के लिए वासुपूज्य की, बुधग्रह की शान्ति के लिए विमलनाथ आदि आठ जिन की, गुरुग्रह की शान्ति के लिए ऋषभदेव आदि आठ जिन की, शुक्रग्रह की शान्ति के लिए नेमिनाथ एवं केतु की शान्ति के लिए मल्लिनाथ एवं पार्श्वनाथ की स्थापना करके उनकी अष्टप्रकारी पूजा करने का निर्देश दिया गया है। इसके साथ ही वहाँ नवग्रह की शान्ति हेतु मंत्रजाप का भी उल्लेख मिलता है। वैदिक-परम्परा के ग्रंथों में भी नवग्रहों की शान्ति के विधान का उल्लेख मिलता है। वैदिक-परम्परा में भी आचारदिनकर की भाँति ही नवग्रहों की स्थापना की जाती है तथा उनसे सम्बन्धित आकृति बनाई जाती है।^{६८९} नवग्रहों की शान्ति हेतु सर्वग्रहों हवन के लिए सामान्य रूप से पीपल, बरगद एवं प्लक्ष की समिधाओं का उल्लेख न करते हुए वहाँ मात्र प्रत्येक ग्रह हेतु अलग-अलग समिधाओं का ही उल्लेख किया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार^{६९०} सूर्य से लेकर केतु तक के लिए हवन की समिधा क्रमशः अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पीपल, उदुम्बर, शमी, दुर्वा, एवं कुश की होनी चाहिए। याज्ञवल्क्य द्वारा उल्लेखित यह सूची आचारदिनकर में वर्णित सूची के सदृश ही है। वैदिक-परम्परा में आचारदिनकर की भाँति प्रत्येक ग्रह के हवन हेतु पृथक्-पृथक् सामग्रियों का उल्लेख नहीं मिलता है। हाँ, नवग्रह की शान्ति हेतु किन-किन वस्तुओं का दान

^{६८८} जैनसंस्कार विधि, पं. नाथूलाल जैन शास्त्री अध्याय-८, पृ.- ६३-६५ श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन, समिति, गोम्पटगिरी, इन्दौर, पंचम आवृत्ति १९६८.

^{६८९} देखें: धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय- २१, पृ.- ३५४, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७३.

^{६९०} देखें: धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय- २१, पृ.- ३५५, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७३.

देना चाहिए, इसका उल्लेख अवश्य मिलता है, जैसे^{६६१} - सूर्य के लिए बाँस से बने पात्र में चावल, कपूर, मोती, श्वेतवसन, घृतपूर्णघड़ा बैल.....इत्यादि। आचारदिनकर की अपेक्षा वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में इस विषय की चर्चा विस्तार से की गई है।

वर्धमानसूरि ने प्रकारान्तर से की जाने वाली अन्य नवग्रह शान्ति की पूजाविधि का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त ग्रहशान्ति हेतु लोकप्रचलित स्नानविधि का भी उन्होंने आचारदिनकर में उल्लेख किया है तथा अन्त में कौनसे ग्रह की शान्ति के लिए किस रत्न या धातु को धारण करें- इसका इसमें उल्लेख किया गया है।^{६६२} दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थों में हमें यह उल्लेख नहीं मिलता है कि किस ग्रह की शान्ति के लिए कौनसे रत्न या धातु को धारण करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों ही परम्पराओं में शान्तिकर्म सम्बन्धी विधानों में आंशिक समानता एवं आंशिक भिन्नता दृष्टिगत होती है। जहाँ तक मेरा विचार है, आचारदिनकर में वर्णित शान्तिकर्म-विधान वैदिक-परम्परा के विधि-विधानों से प्रभावित रहा है, क्योंकि इस प्रकरण में कुछ ऐसी वस्तुओं का भी उल्लेख है, जो आगमसम्मत नहीं हैं और जिसे जैन-परम्परा स्वीकार नहीं करती है।

उपसंहार-

शान्तिक कर्म करने की क्या आवश्यकता है? जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तो हमारे सामने अनेक तथ्य उभरकर आते हैं। सामान्यतया निर्विघ्न फल की प्राप्ति एवं उत्पातों के अशुभ प्रभावों को दूर करने के लिए शान्तिकर्म आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति के जीवन पर ग्रहों, नक्षत्रों एवं राशियों का बहुत प्रभाव पड़ता है। कब, कौनसा ग्रह किस पर कैसा प्रभाव डालता है, यह व्यक्ति की जन्म के समय के ग्रहों की स्थिति एवं गोचर के ग्रहों की स्थिति पर निर्भर करता है। इन दोनों स्थितियों में कभी कोई ग्रह व्यक्ति पर अशुभ प्रभाव डालता है, तो कोई ग्रह व्यक्ति पर शुभ प्रभाव डालता है। व्यक्ति के जीवन पर जो ग्रह अशुभ प्रभाव डालते हैं, सामान्यतया उन्हीं की शान्ति के लिए शान्तिकविधान किया जाता है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति तो यह जान नहीं सकता है कि कौनसे ग्रह

^{६६१} देखे: धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय- २१, पृ.- ३५६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७३.

^{६६२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चौतीसवाँ, पृ.-३३४-३३५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

उसके लिए अशुभ फल देने वाले है- अतः इस समस्या के निराकरण हेतु समस्त ग्रहों एवं नक्षत्रों की शांति की जाती है।

शांतिकविधान करने से व्यक्ति के संकटों का निवारण ही नहीं होता है, वरन् उससे सुख-शान्ति की प्राप्ति भी होती है। शांतिक विधान करने से व्यक्ति अपने चारों तरफ कवच का निर्माण कर लेता है, जो दैविक उपसर्गों से उसकी रक्षा करता है। मत्स्य पुराण में भी कहा गया है कि^{६३} जिस प्रकार बाणों से रक्षा के लिए कवच होता है, उसी प्रकार शान्तिकर्म दैवोपघातों से रक्षा करता है। इसके अभाव में मनुष्य को भयंकर कष्ट उठाने पड़ते हैं, क्योंकि प्रत्येक ग्रह अपना-अपना प्रभाव बताते ही है। जैसा कि स्कन्धपुराण में भी कहा गया है कि शनि की प्रतिकूल दृष्टि के कारण सौदास को मांस खाना पड़ा, राहू के कारण नल को पृथ्वी पर घूमना पड़ा, मंगल के कारण राम को वनगमन करना पड़ा, चन्द्र के कारण हिरण्यकश्यप की मृत्यु हुई, सूर्य के कारण रावण का पतन हुआ, बृहस्पति के कारण दुर्योधन की मृत्यु हुई, बुध के कारण पाण्डवों को उनके अयोग्य कर्म करना पड़ा तथा शुक्र के कारण हिरण्याक्ष को युद्ध में मरना पड़ा। इस प्रकार ग्रहों एवं नक्षत्रों के अशुभ प्रभाव को कम करने के लिए शान्तिकर्म आवश्यक है।

अन्त में वर्धमानसूरि ने ग्रहों की शांति हेतु जो धातु या रत्न धारण करने का निर्देश दिया है, वह भी युक्तिसंगत ही है, क्योंकि वर्ण का भी व्यक्ति गहरा असर पड़ता है, जैसे- व्यक्ति यदि श्वेतवर्ण को देखता है, तो उसे शान्ति की अनुभूति होती है। यही नहीं, चिकित्सा प्रणाली में भी कर्ण के महत्व को स्वीकारा गया है, अतः ग्रहों की शांति हेतु उन-उन ग्रहों से सम्बन्धित रत्नों को धारण करना भी आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति के अमन-चैन हेतु शान्तिकर्म भी एक आवश्यक विधान है।

पौष्टिककर्म-विधि

पौष्टिक-कर्म का स्वरूप-

पौष्टिककर्म शब्द का तात्पर्य है, वृद्धि कारक कल्याण कारक, पोषण करने वाला, पुष्टिकारक, बलवर्द्धक, इत्यादि।^{६४} इस प्रकार भाषा जगत् में पौष्टिक शब्द के अनेक अर्थ हैं, किन्तु यहाँ पौष्टिक शब्द का तात्पर्य पुष्टिकारक शब्द से लिया गया है। वैदिक-परम्परा में भी पौष्टिक शब्द की व्याख्या करते हुए कहा

^{६३} देखें: धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय- २१, पृ.- ३५६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७३.

^{६४} संस्कृत हिन्दीकोश, वामन शिवराम आण्टे, पृ.- ६३८, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६.

गया है, कि जीवन की पुष्टि के लिए जो धार्मिक कृत्य किया जाता है, उसे पौष्टिककर्म कहते हैं।^{६६} वर्धमानसूरि ने इस प्रकरण में पौष्टिककर्म की विधि बताई है। व्यक्ति को अपने जीवन में आनन्द एवं प्रताप की वृद्धि कैसे करनी चाहिए, अर्थात् इसके लिए उसे क्या अनुष्ठान करना चाहिए? इसका इस विधि में विस्तृत वर्णन किया गया है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में पौष्टिककर्म-विधान का उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। वैदिक-परम्परा में पौष्टिककर्म का विधान शान्तिकर्म के साथ-साथ ही देखने को मिलता है, क्योंकि वैदिक-परम्परा में ये दोनों ही कर्म यज्ञ-याग से सम्बन्धित माने जाते हैं, किन्तु इन दोनों कृत्यों में अन्तर है। वैदिक-परम्परा के अनुसार^{६६} पौष्टिक कार्यों में होम, यज्ञ, यागादि कृत्य आते हैं, जो दीर्घायु की प्राप्ति हेतु किया जाता है। शान्तिक कृत्यों होमादि का आयोजन दुष्ट ग्रहों के प्रभाव को दूर करने तथा असाधारण घटनाओं जैसे पुच्छलतारे के उदय, भूकम्प अथवा उल्काओं के पतन से होने वाले अनिष्ट के निवारणार्थ किया जाता है, किन्तु आचारदिनकर की भाँति वहाँ पौष्टिककर्म से सम्बन्धित किसी विशेष विधि का उल्लेख हमें देखने को नहीं मिला। प्रतिष्ठामयूख^{६७} में इतना उल्लेख अवश्य मिलता है, कि पौष्टिककर्म हेतु पौष्टिक मंत्रों से पलाश, उदुम्बर, अश्वत्थ, अपामार्ग और शमी में से प्रत्येक की बारह हजार या छः हजार या तीन हजार अथवा एक हजार आठ अथवा एक सौ आठ समिधाएँ “हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे.” इत्यादि मंत्र का पाठ करते हुए कुण्ड के समीप रखवाकर अपने सहयोगी ऋत्विजों के साथ यथा संख्य आहुतियों से हवन करें। इसके अतिरिक्त हमें पौष्टिक विधान सम्बन्धी और कोई जानकारी नहीं मिली, जिसके साथ हम आचारदिनकर में वर्णित पौष्टिक विधान की तुलना कर सकें। विद्वज्जनों से निवेदन है कि यदि उन्हें इस सम्बन्ध में कोई जानकारी हो, तो हमें अवश्य ज्ञात कराएँ।

पौष्टिककर्म करने का क्या उद्देश्य है, इसके किए जाने के पीछे क्या रहस्य है? ऐसे अनेक प्रश्न स्वाभाविक रूप से मन-मस्तिष्क में उभरकर आते हैं, किन्तु जब हम इस शब्द के अर्थ के बारे में विचार करते हैं, तो स्वतः ही हमारे प्रश्न का समाधान हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति कार्य का आरम्भ करने से पूर्व अपने मन में यही कामना करता है कि मेरा यह कार्य सिद्धि को प्राप्त करे और

^{६६} हिन्दू धर्मकोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ.- ४१६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण : १९७८

^{६६} हिन्दू धर्मकोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ.- ४१६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण : १९७८.

^{६७} प्रतिष्ठामयूख, अनु.- डॉ. महेशचन्द्र जोशी, पृ.- १६८, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६६.

इसी कामना से अभिभूत होकर वह इस प्रकार के विधि-विधान करता है, जो उसके कार्य को पुष्टता प्रदान करें, अर्थात् उसके कार्य में अभिवृद्धि करें। इस प्रकार पौष्टिककर्म कार्य की सिद्धि करने हेतु किया जाता है।

वर्धमानसूरि के अनुसार^{६६८} सूतक एवं मृत्यु को छोड़कर गृहस्थ के सभी संस्कारों में दीक्षाग्रहण के पूर्व, किसी व्रत को ग्रहण करने के पूर्व, सभी प्रकार की प्रतिष्ठाओं में, राज्य एवं संघ में किसी पदारोपण के समय, सभी शुभ कार्यों में, सभी पर्वों में, महोत्सव के सम्पूर्ण होने पर, महाकार्य के सम्पूर्ण होने पर पौष्टिककर्म किया जाना चाहिए। वैदिक-परम्परा में यह अनुष्ठान कब किया जाना चाहिए? इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भवतः वहाँ यह कृत्य कभी भी किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ पौष्टिक कर्म को जीवन की पुष्टि हेतु किया जाने वाला धार्मिक कृत्य माना गया है,^{६६९} इस अपेक्षा से व्यक्ति अपने जीवन की पुष्टि के लिए कभी भी यह विधान कर सकता है। उसके लिए किन्हीं विशेष परिस्थितियों का होना आवश्यक नहीं है।

संस्कार का कर्त्ता-

आचारदिनकर के अनुसार यह विधान गृहस्थ गुरु अर्थात् विधिकारक द्वारा करवाया जाता है। यद्यपि यह कृत्य मुनि एवं गृहस्थ के लिए सामान्य रूप से बताया गया है, किन्तु इसका विधि-विधान गृहस्थ गुरु द्वारा ही करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में सामान्यतया यह विधान यज्ञ-यागादि के विशारद पण्डितों द्वारा करवाया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रज्ञप्त की है-

पौष्टिककर्म-विधि

वर्धमानसूरि के अनुसार पौष्टिककर्म हेतु चंदन से लिप्त पीठ के ऊपर आदिनाथ भगवान् की प्रतिमा को स्थापित कर विधिपूर्वक उसकी पूजा करें। तत्पश्चात् जिनप्रतिमा के समक्ष उत्तम धातु के पाँच पीठ स्थापित कर उन पर क्रमशः चौसठ इन्द्र, दस दिक्पाल, क्षेत्रपाल सहित नवग्रहों, सोलह विद्यादेवियों एवं षट्द्रह देवियों की स्थापना करें। तत्पश्चात् उनके मंत्रों से विधिपूर्वक पूजा करें तथा उन्हें संतुष्ट करने हेतु अष्टकोण के अग्निकुंड में आम्रवृक्ष की समिधाओं सहित

^{६६८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- पैतीसवाँ, पृ.- २३८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{६६९} हिन्दू धर्मकोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ.- ४१६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण : १९७८.

इक्षुदण्ड, खजूर, द्राक्ष, घृत, एवं दूध से हवन करें। तत्पश्चात् बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक जिनबिम्ब की स्नात्रपूजा करें। तत्पश्चात् स्नात्र जल एवं सर्व तीर्थों के जल से पौष्टिककलश भरें। तदनन्तर आचारदिनकर में पौष्टिक-कलश की विधि तथा पौष्टिकदण्डक (मूलपाठ) का उल्लेख हुआ है। पौष्टिककलश भरकर कर्म करवाने वाला कुश द्वारा उस जल से अपने गृह को अभिसिंचित करे तथा कलश को अच्छी तरह से अपने घर में ले जाकर हमेशा उस जल से छिड़काव करे। तत्पश्चात् चौसठ इन्द्र, दस दिक्पालों आदि का विसर्जन करे। तदनन्तर साधुओं को प्रचुरमात्रा में वस्त्र एवं चतुर्विध आहार का दान करे तथा सभी प्रकार की पूजा-सामग्री से गुरु की पूजा करे। विधि के अन्त में यह भी बताया गया है कि यह कर्म कब किया जाना चाहिए तथा इस कर्म को करने से क्या लाभ होता है। यहाँ हम इस सब की विस्तृत चर्चा नहीं करेंगे। एतदर्थ मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के तृतीय भाग में पैतीसवें उदय को देखा जा सकता है।

उपसंहार-

उपर्युक्त चर्चा करने के पश्चात् पौष्टिककर्म की उपयोगिता एवं आवश्यकता के सम्बन्ध में हमें अपने विचार प्रस्तुत करना चाहेंगे। सर्वकार्यों के आरम्भ में पौष्टिककर्म करना आवश्यक है, क्योंकि कार्य के आरम्भ में किया गया पौष्टिककर्म पुष्टि को प्रदान करता है तथा देवों की सम्यक् प्रकार से पूजा करने से नियत कार्य की सिद्धि होती है^{७००}, इसलिए कार्य के आरम्भ में पौष्टिककर्म अवश्य किया जाना चाहिए। पौष्टिककर्म के प्रभाव से आधि, व्याधि, दुराशयी, दुष्टों, शत्रुओं एवं पापों का नाश होता है, देवता प्रसन्न होते हैं, यश बुद्धि एवं संपत्ति की प्राप्ति होती है, आनंद एवं प्रताप में वृद्धि होती है तथा प्रयत्नपूर्वक आरम्भ किए गए महाकार्यों में विशेष सफलता मिलती है।^{७०१}

इस प्रकार पौष्टिककर्म के महत्व को देखकर पौष्टिककर्म की आवश्यकता महसूस होती है। महामंगलकारी कार्यों, यथा-प्रतिष्ठा आदि विधानों में तो यह कर्म अवश्य ही किया जाना चाहिए। क्योंकि शुभ कार्यों में अनेक विघ्न आने की आशंका बनी रहती है। कहा भी गया है कि “श्रेयांसे बहुविघ्नानि”, अर्थात् कल्याणकारी कार्यों में अनेक विघ्न आते हैं। अतः उन विघ्नों के निवारणार्थ एवं कार्य की सिद्धि के लिए पौष्टिककर्म किया जाना महत् आवश्यक है।

^{७००} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.- ३६३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

^{७०१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-पैतीसवीं, पृ.- २३८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण १९२२.

बलि-विधान-विधि

बलि-विधान का स्वरूप-

बलि विधान का स्वरूप जानने से पहले यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि बलि शब्द यहाँ किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैसे तो बलि शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा^{७०२} - आहुति, भेंट, चढ़ावा, दैनिक आहार में से कुछ अंश का सब जीवों को उपहार देना, पूजा, आराधना, देवता को नैवेद्य अर्पण करना, इत्यादि। प्रस्तुत प्रसंग में बलि शब्द का आशय देवताओं को संतुष्ट करने हेतु उन्हें नैवेद्य अर्पित करना है। आचारदिनकर में बलि शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि देवताओं के संतर्पण के लिए उन्हें जो नैवेद्य (भोज्य पदार्थ) अर्पित किया जाता है, उसे बलि कहते हैं।^{७०३} दिगम्बर-परम्परा में बलि शब्द का तात्पर्य पूजा से लिया गया है।^{७०४} यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में भी अरिहंत परमात्मा एवं प्रतिष्ठा आदि कार्यों में देवी-देवताओं के समक्ष नैवेद्य चढ़ाया जाता है, किन्तु वहाँ इस क्रिया के लिए बलि शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है। वहाँ इसके लिए नैवेद्य शब्द ही प्रयुज्य हुआ है। वैदिक-परम्परा में बलि शब्द का अर्थ नैवेद्य की वस्तु है। प्राचीनकाल में राजा द्वारा नियमित रूप से उत्पादन का एक भाग लिया जाता था और जिसके बदले में प्रजावर्ग सुरक्षा प्राप्त करता था, उसे भी बलि कहा जाता था। इसी प्रकार देवों द्वारा किए गए महान् अनुग्रह का देय 'कर' समझकर उन्हें बलि प्रदान की जाती थी। देवताओं को संतुष्ट करने हेतु वह बलि किस प्रकार से दी जाए- इस विषय का इस प्रकरण में प्रतिपादन किया गया है। वैदिक-परम्परा में देवताओं को नैवेद्य अर्पित करने के सन्दर्भ में 'वैश्वदेव' शब्द का भी प्रयोग हुआ, जो प्रायः बलि का ही एक रूप है।

बलि-विधान करने का मुख्य प्रयोजन देवताओं को नैवेद्य अर्पित करके उन्हें संतुष्ट करना है। इस विधान को किए जाने के पीछे क्या प्रयोजन है? इसका स्पष्टीकरण स्वयं वर्धमानसूरि ने भी आचारदिनकर में किया है। उनके अनुसार^{७०५} मुक्ति को अप्राप्त देवों को संतुष्ट करने के लिए तथा मंगल के हेतु बलिकर्म-विधान किया जाता है। इस कथन से मन में यह संशय हो सकता है कि अरिहंत परमात्मा तो मुक्त देव हैं, फिर उनको क्यों बलि (नैवेद्य) प्रदान की जाती

^{७०२} संस्कृत हिन्दीकोश, वामनशिवराम आपटे, पृ.- ७०६, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६.

^{७०३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- छत्तीसवाँ, पृ.- २३८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७०४} परमात्मप्रकाश, योगिन्दुदेवविरचित, सूत्र-२/१३६, पृ.- १७६, मनुमाई भ. मोदी, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, बोरिया (गुजरात), तृतीय संस्करण : १९६२.

^{७०५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.- ३६३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

है? इस समस्या का समाधान भी स्वयं ग्रन्थकार ने इसी प्रकरण में करते हुए कहा है कि अरिहंत परमात्मा न तो किसी पर तुष्ट ही होते हैं और न ही किसी पर रुष्ट, किन्तु फिर भी भक्तजन अपने मानसिक संतोष और चित्त की शान्ति के लिए अरिहंत परमात्मा को बलि प्रदान करते हैं।

बलि-विधान कब किया जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में हमें आचारदिनकर में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है। सामान्यतया प्रतिष्ठा, शान्तिकर्म, पौष्टिककर्म आदि में यह विधान किया जाता है। श्वेताम्बर जैन-परम्परा में वर्तमान में भी यह कृत्य प्रतिष्ठा-विधि, शान्तिक-कर्म, महापूजन आदि में किया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी सामान्यतया यह कृत्य प्रतिष्ठाविधि, शांतिक कर्म आदि में किया जाता है। यद्यपि वैदिक-परम्परा में भी यह कृत्य उपर्युक्त पँसगों पर तो किया ही जाता है, किन्तु इसके साथ ही उस परम्परा में प्रतिदिन भी यह बलि-विधान किया जाता है। दक्ष^{१०६} के अनुसार दिन के पाँचवें भाग में गृहस्थ को अपनी सामर्थ्य के अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों, यहाँ तक कि कीड़ों-मकोड़ों को भोजन देना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-परम्परा में तो किन्हीं अवसर विशेष पर ही बलि-विधान किया जाता है, जबकि वैदिक-परम्परा में प्रतिदिन भी इसे किए जाने के उल्लेख मिलते हैं।

संस्कार का कर्ता-

श्वेताम्बर जैन-परम्परा में यह संस्कार गृहस्थ गुरु (विधिकारक) द्वारा करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में भी यह संस्कार प्रतिष्ठाध्वार्य या पण्डित द्वारा करवाया जाता है। वैदिक-परम्परा में यह विधान ब्राह्मण पण्डितों द्वारा करवाया जाता है।

वर्धमानसूरी ने आचारदिनकर में इसकी निम्न विधि निरूपित की है-

बलिकर्म विधान-

देवताओं के संतर्पण के लिए उन्हें किस प्रकार से नैवेद्य अर्पित करें- इसकी विधि का प्रतिपादन करते हुए वर्धमानसूरी ने सर्वप्रथम जिनप्रतिमा के समक्ष चढ़ाए जानी वाली नैवेद्य विधि का उल्लेख किया है। इसके लिए भविकजन, गृह-आचार के अनुसार जो भी भोज्य पदार्थ बनाए गए हैं, उनमें से तेल से

^{१०६} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२०, पृ.- ४०४, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०.

निर्मित आहार तथा कांजी को छोड़कर शेष तत्काल निर्मित भोज्य-सामग्री के अग्रपिण्ड को पवित्र पात्र में रखकर उसी दिन जिन प्रतिमा के समक्ष चढ़ाए तथा हाथ जोड़कर परमेष्ठीमंत्र एवं बलि (नैवेद्य) मंत्र बोलें- यह जिनबिम्ब को दी जाने वाली बलि की विधि है।

तदनन्तर यह बताया गया है कि अन्य देवी-देवताओं को किस प्रकार से बलि दें, जैसे विष्णु और शिव को गृहस्थ के द्वारा अपने या उनके निमित्त बनाए गए आहार में से बलि देना कल्पता है। पितरों को बगीचे के कन्दों एवं फलों से संतर्पित करें तथा उनके मनोवांछित भोजन का स्वगुरु या विप्रों को दान करें। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि अपनी-अपनी आम्नाय विशेष के अनुसार देवी की पूजा की जाती है, उसमें परिकर प्रतिष्ठा विधि की भाँति ही बलि दें। देवी के पूजन में नाना प्रकार के पकवानों, करम्भ एवं सप्त धान्य के बकुलों की बलि दें। गणपति को ताजे मोदकों से बलि दें, इत्यादि। इसके साथ ही नंदावर्त्तपूजन में दी जाने वाली बलि का भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। तदनन्तर शाकिनी, भूत, वेताल आदि को तथा निधि देवता को किस प्रकार से बलि प्रदान करें, इसका उल्लेख किया गया है। तदनन्तर यह बताया गया है कि विद्वज्जनों को जिनेश्वर शिव एवं विष्णु को छोड़कर प्रायः सभी देवताओं की पूजा उनके वर्णानुसार गन्ध एवं पुष्पों से करनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के तृतीय भाग के छत्तीसवें उदय को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक अध्ययन-

वर्धमानसूरि ने इस प्रकरण में सर्वप्रथम यह चर्चा की है कि देवताओं को किन वस्तुओं की बलि दी जानी चाहिए। आचारदिनकर के अनुसार^{१०९} देवताओं को नाना प्रकार के खाद्य, पेय, चूष्य एवं लेह्य पदार्थ- जो अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम- इन चार प्रकार के आहारों में समाविष्ट हैं, की बलि दी जानी चाहिए, अर्थात् ये वस्तुएँ देवता को अर्पित करनी चाहिए। देवता विशेष की वृत्ति या रुचि के अनुसार बलि के पदार्थों में भी भेद होता है। गृह-आचार के अनुसार जो भी भोज्य पदार्थ बनाए गए हैं, उनमें से तेल से निर्मित आहार तथा कांजी को छोड़कर शेष तत्काल निर्मित पदार्थ अग्रपिण्ड के रूप में पात्र में रखकर उसी दिन जिनप्रतिमा के समक्ष चढ़ाना चाहिए। दिगम्बर-परम्परा में भी प्रतिष्ठा-विधि आदि

^{१०९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-छत्तीसवाँ, पृ.- २३८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

के समय परमात्मा के समक्ष पक्वान्न रखने की विधि प्रचलित है। प्रतिष्ठासारोद्धार के अनुसार^{७०८} उत्तम वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, आभूषण, सातिया, खीर आदि अनेक पक्वान्न दूध, घी, दही, मिश्री, उत्तम फूल, फल, पत्ते, दीप, धूप आदि भोगों की सामग्री सोने के पात्र में रखकर प्रभु की प्रतिमा के समक्ष शिला पर नैवेद्य के रूप में रखने का विधान है। वैदिक-परम्परा में विष्णु आदि देवों के समक्ष नैवेद्य रखने के उल्लेख मिलते हैं, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

ज्ञातव्य है कि जैन-परम्परा में बासी आहार परमात्मा के समक्ष नहीं चढ़ाया जाता है और न ही परमात्मा के निमित्त विशेष रूप से आहार ही बनाया जाता है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए स्वयं वर्धमानसूरि नै आचारदिनकर में कहा है^{७०९} कि भगवान् ने अपने आयुष्यकाल में महाव्रत ग्रहण करने के बाद अपने लिए बनाए गए आहार से शरीर का पोषण नहीं किया था, अतः उनके लिए अलग से कोई नैवेद्य नहीं बनाया जाता है। वैदिक-परम्परा में ऐसी कोई अवधारणा हमें देखने को नहीं मिली। वैदिक-परम्परा में देवों के निमित्त बनाए गए आहार में से बलि देना कल्प्य है। वर्धमानसूरि ने भी इस कथन की पुष्टि करते हुए कहा है^{७१०} - “विष्णु और शिव को गृहस्थ के द्वारा अपने या उनके निमित्त बनाए गए आहार में से बलि देने का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उसके साथ ही देवों के निमित्त बनाए गए आहार में से भी बलि देने का उल्लेख मिलता है। “धर्मशास्त्र के इतिहास के अनुसार भविकजन भलें ही उस दिन स्वयं भोजन किसी कारण से न करें, किन्तु उन्हें बलि तो देनी ही चाहिए। इस प्रकार जैन-परम्परा एवं वैदिक-परम्परा की मान्यताओं में आंशिक भेद दिखाई देता है।

वैदिक-परम्परा में तो बलि के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा गया है^{७११} - “यदि किसी दिन वैश्वदेव (बलि) का भोजन किसी कारण वशात् न बन सके, तो गृहस्थ को एक रात और दिन तक उपवास करना चाहिए। जो व्यक्ति बिना वैश्वदेव के स्वयं खा लेता है, वह नरक में जाता है।” जैन-परम्परा में हमें बलि के सम्बन्ध में इस प्रकार की अवधारणा का उल्लेख नहीं मिलता है।

^{७०८} प्रतिष्ठासारोद्धार, पं. आशाधरजी विरचित, अध्याय-४, पृ.- १००, पं. मनोहरलाल शास्त्री, श्री जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९७३.

^{७०९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-छत्तीसवाँ, पृ.- २३८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७१०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-छत्तीसवाँ, पृ.- २३६, निर्णयसागर मुद्रालय बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७११} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२०, पृ.- ४०५, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०.

वर्धमानसूरि ने इस प्रकरण में इस विषय का भी उल्लेख किया है कि देवी को, गणपति को, क्षेत्रपाल आदि को किन-किन वस्तुओं से बलि देनी चाहिए तथा नंदावर्त- महापूजन में देवी-देवता आदि को किस प्रकार से बलि दी जाती है। दिगम्बर-परम्परा में इनमें से कुछ बातों का उल्लेख मिलता है, जैसे- शातिविधान में नवग्रह आदि को नैवेद्य के रूप में बलि प्रदान की जाती है। इसी प्रकार बत्तीस इन्द्रों, सोलह विद्यादेवियों आदि को भी नैवेद्य प्रदान करने के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु गणपति आदि को किन-किन वस्तुओं से बलि प्रदान करें- इसका उल्लेख हमें वहाँ नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में नंदावर्त-पूजन में से कुछ देवी-देवताओं, जिनमाता एवं पिता को छोड़कर शेष सभी को किन वस्तुओं से एवं कैसे बलि प्रदान करें? इनका हमें उल्लेख मिलता है, जैसे- बौधायनगृह्यसूत्र^{७१२} में गणेश को अपूप एवं मोदक की आहूति (बलि) प्रदान करने के लिए कहा गया है।

शाकिनी, भूत, वेताल, ग्रह, योगिनियों, प्रेत, पिशाच, राक्षस आदि को कहाँ एवं किन वस्तुओं की बलि दें? इसका भी आचारदिनकर में उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही वहाँ निधि (खजाना) प्राप्त होने की दशा में निधिदेवता को भी उचित बलि देने का निर्देश दिया गया है। निधि देवता द्वारा अपने माध्यम से विशेष बलि वस्तु न मांगने पर किस प्रकार से निधि ग्रहण करें- इसका भी इसमें उल्लेख किया गया है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें इस प्रकार का उल्लेख देखने को नहीं मिला। वैदिक-परम्परा में भूतादि को बलि देने के उल्लेख मिलते हैं। प्रतिष्ठामयूख^{७१३} में हमें इस सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलता है, वह इस प्रकार है- “इस लोक में बलि की आकांक्षा करने वाले जो भी भूतादि यहाँ आए हुए हैं, उन्हें बार-बार नमस्कार करके बलि देता हूँ,” किन्तु वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में हमें यह उल्लेख देखने को नहीं मिला कि निधि प्राप्त होने की दशा में निधि देवता को किस प्रकार बलि दें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बलिविधान के सम्बन्ध में तीनों परम्पराओं की अपनी-अपनी अवधारणा है, जिनके फलस्वरूप हमें आशिक वैविध्य दिखाई देता है।

^{७१२} धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.- १८६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण : १९८०.

^{७१३} प्रतिष्ठामयूख, अनु.- डॉ. महेशचन्द्र जोशी, पृ.- ३०, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६६.

उपसंहार-

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह संशय होना स्वाभाविक है कि बलि-विधान की क्या आवश्यकता है? इस विधान की क्या उपयोगिता है? यद्यपि जैन-सिद्धांत की दृष्टि से संस्कार की इतनी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि व्यक्ति कर्माधीन है, सुख या दुःख की प्राप्ति तो व्यक्ति के स्वकर्म पर आश्रित है। किसी देवी-देव को बलि प्रदान करने से न तो पूर्वबद्ध कर्म ही बदल सकते हैं और न ही शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। तो फिर बलि विधान क्यों किया जाता है?

जब हम इस पर गहराई से विचार करते हैं, तो हमारे सारे संशय स्वतः ही मिट जाते हैं। बलि-विधान क्या है- बलि विधान एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें गृहस्थ को अपने सामर्थ्य के अनुसार देवताओं, पितरों आदि को भोजन का एक अंश देना होता है। यह प्रक्रिया मनुष्य को त्याग करना सिखाती है। जैसे तो व्यक्ति अपने स्वजनों के लिए खूब त्याग करता है, किन्तु इस विधान के माध्यम से उसके दायरे को विस्तृत करके परोपकार की वृत्ति का सर्जन किया जाता है। इस विधान के माध्यम से ही व्यक्ति में त्याग की भावना प्रगाढ़ होती है और एक समय ऐसा आता है, कि जब उसे संसार का त्याग करना होता है, तब उसके मन में लेशमात्र भी दुःख या आर्तता का भाव नहीं आता है। इस प्रकार त्याग की वृत्ति को प्रबल करने हेतु यह संस्कार उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी है।

प्रायश्चित्त विधि

प्रायश्चित्त-विधि का स्वरूप-

वैदिक विधानों ने प्रायश्चित्त शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ इस प्रकार से किया है, प्रायः- तप, चित्त- दृढ़संकल्प, अतः प्रायश्चित्त का तात्पर्य हुआ, तप करने का दृढ़संकल्प। याज्ञवल्क्यस्मृति की बालम्भट्टी टीका^{११४} में एक श्लोकार्द्ध उद्धृत है, जिसके अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति प्रायः पाप, चित्त- शुद्धि अर्थात् पाप की शुद्धि से बताई गई है। इसके अतिरिक्त भी प्रायश्चित्त के कई अर्थ हैं, यथा^{११५}- परिशोध, पापनिष्कृति, क्षतिपूर्ति, संतोष, सुधार, पाप से निस्तार पाने के लिए धार्मिक साधना इत्यादि। यहाँ याज्ञवल्क्यस्मृति की बालम्भट्टी टीका में उल्लेखित प्रायश्चित्त शब्द की व्याख्या ही युक्तिसंगत प्रतीत होती है। अभिधान राजेन्द्रकोश के अनुसार-“पापं छिन्नीतीति पापच्छिम्”, अतः जो पापों का छेदन करे उसे

^{११४} हिन्दूधर्मकोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ.-४३०, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७८.

^{११५} संस्कृत हिन्दीकोश, वामनशिवराम आपटे, पृ.- ६६१, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६.

प्रायश्चित्त कहते हैं।^{७९६} अपराध का अर्थ प्रायः कहलाता है और चित्त का अर्थ शोधन है। जिस प्रक्रिया से अपराध की शुद्धि हो, वह प्रायश्चित्त कहलाता है।

जैनेन्द्र शब्दकोश^{७९७} में प्रायश्चित्त शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है- प्रति समय लगने वाले अन्तरंग व बाह्य दोषों की निवृत्ति करके अन्तःशोधन करने के लिए किया गया पश्चात्ताप या दण्ड के रूप में उपवास आदि का ग्रहण प्रायश्चित्त कहलाता है। आचारदिनकर में प्रायश्चित्त को प्रमादवश किए गए पापों की विशुद्धि के हेतु माना है।^{७९८} विद्वज्जनों ने भले ही प्रकारान्तर से प्रायश्चित्त की अनेक परिभाषाएँ दी हो, किन्तु उन सभी का मूल लक्ष्य पापों की विशुद्धि करना ही है। वर्धमानसूरि ने इस प्रकरण में पापों की विशुद्धि के हेतुभूत प्रायश्चित्त की विधि का वर्णन किया है। ग्रन्थकार ने इस प्रकरण में मूलाधार जीतकल्पभाष्य, यतिजीतकल्प आदि का लिया है। दिगम्बर-परम्परा में प्रायश्चित्त सम्बन्धी अवधारणा आचारदिनकर की भाँति ही हैं, अर्थात् वहाँ भी हमें प्रायश्चित्तों के दस प्रकारों आदि का उल्लेख मिलता है, किन्तु वैदिक-परम्परा की प्रायश्चित्त-विधि सम्बन्धी अवधारणा कुछ इससे भिन्न है, वहाँ हमें प्रायश्चित्त के इन प्रकारों की चर्चा नहीं मिलती है।

इस विधि का मुख्य प्रयोजन प्रमादवश किए गए पापों की शुद्धि करना है, क्योंकि विशुद्धि उन पापों की ही हो सकती है, जो प्रमादवश किए गए हों, अहंकारपूर्वक किए गए पापों की शुद्धि प्रायश्चित्त से नहीं हो सकती है। प्रायश्चित्त-विधि के माध्यम से व्यक्ति में पापभीरुता, सजगता, सरलता आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि प्रायश्चित्त वह व्यक्ति कर सकता है, जो पापभीरु हो, सजग हो, सरल हो। इस प्रकार प्रकारान्तर से प्रायश्चित्त-विधि का प्रयोजन व्यक्ति में सहजता, सजगता आदि गुणों को विकसित करना है।

प्रायश्चित्त कब किया जाना चाहिए? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। वर्धमानसूरि के अनुसार पक्ष में, चातुर्मास में, वर्ष में, प्रमादवश किए गए पापों के अन्त में, गीतार्थ गुरु का संयोग होने पर, तीर्थ में, तप विशेष के आरम्भ में एवं किसी महोत्सव के आरम्भ में या अंत में प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। वर्धमानसूरि द्वारा प्रज्ञप्त प्रायश्चित्त का यह काल विशिष्ट अपराधों के सम्बन्ध में ही बताया गया होगा- ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि जैन-परम्परा में तो साधु एवं

^{७९६} अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग-५, पृ.- ८५६.

^{७९७} जैनेन्द्र शब्दकोश (भाग-१), जिनेन्द्रवर्णी, पृ.- १५७, भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय संस्करण: १९८७.

^{७९८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-सैतीसवाँ, पृ.- २४०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

श्रावक को आलोचना एवं प्रतिक्रमण के माध्यम से प्रतिदिन प्रायश्चित्त करने का निर्देश दिया गया है। पंचाशकप्रकरण में भी आचार्य हरिभद्र ने कहा है^{१९}— जिनेन्द्रदेव ने आलोचना का काल पक्ष, चातुर्मास आदि कहा है। पूर्वाचार्य भद्रबाहु आदि ने भी इसे इसी प्रकार कहा है। सामान्य आलोचना तो प्रतिक्रमण के रूप में सुबह-शाम की जाती है। पक्षादि काल प्रायः विशेष आलोचना का है। कोई विशिष्ट अपराध हुआ हो, तो उसकी समय विशेष में आलोचना करें। बीमारी से उठा हो, लम्बा विहार किया हो, आदि कारणों से पक्षादि में भी आलोचना की जाती है। वैदिक-परम्परा में प्रतिदिन आलोचना करने का विधान हमें देखने को नहीं मिला। वहाँ पर सामान्यतः पाप लगने पर ही प्रायश्चित्त करने के उल्लेख मिलते हैं।

प्रायश्चित्त-विधि में मुख्य रूप से प्रायश्चित्त-प्रदाता गुरु ही होते हैं। यद्यपि प्रायश्चित्त का ग्रहण साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका द्वारा किया जाता है, किन्तु उसकी ये सम्पूर्ण प्रक्रिया निर्ग्रन्थ गुरु द्वारा ही करवाई जाती है। वैदिक-परम्परा में प्रायश्चित्त किनके द्वारा प्रदान किया जाता है, इसका हमें उल्लेख नहीं मिलता है। उसमें परम्परागत रूप से तो किसी ब्राह्मण पण्डित से ही प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि अंकित की है:-

प्रायश्चित्त-विधि-

आचारदिनकर में प्रायश्चित्त-विधि के अन्तर्गत सर्वप्रथम यह बताया गया है कि प्रमाद के वशीभूत होकर या अज्ञानदशा में किए गए पापकर्मों की विशुद्धि प्रायश्चित्त द्वारा होती है, किन्तु यदि तीव्र कषायों से प्रेरित होकर कोई पापकर्म किया जाता है, तो उसका फल भोगना ही होता है। पाप-प्रवृत्तियों के कर्ता की चैतसिक स्थितियों के आधार पर अनेक स्तर होते हैं। कौनसा पापकर्म किस प्रकार के मनोभावों के आधार पर किया गया है, यह तो केवल ज्ञानी ही जान सकता है; फिर भी देश, काल, स्थिति और व्यक्ति की प्रकृति के आधार पर गीतार्थ मुनि द्वारा किञ्चित् रूप से किसी कार्य के प्रायश्चित्त के स्वरूप को बताया जा सकता है, इसलिए वर्धमानसूरि का कथन है कि प्रायश्चित्त करने के इच्छुक मुनि को सर्वप्रथम दूर-दूर के क्षेत्रों में गीतार्थ मुनि की गवेषणा करनी चाहिए। फिर उन्होंने प्रायश्चित्त-विधि के सन्दर्भ में प्रायश्चित्त देने वाले और प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले के लक्षणों की विवेचना की है। तदनन्तर प्रायश्चित्त ग्रहण करने

^{१९} पंचाशक प्रकरण, अनु. डॉ. दीनानाथ शर्मा, प्रकरण- पन्द्रहवें, पृ.- २६०, पाष्वर्वाण्य विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६७.

के योग्य देश, काल आदि का विचार किया गया है। अन्त में प्रायश्चित्त न करने से क्या हानि और क्या लाभ होते हैं, इसकी चर्चा की गई है। तत्पश्चात् वर्धमानसूरि ने प्रायश्चित्त ग्रहण करने की विधि का उल्लेख किया है। प्रायश्चित्त के मुहूर्त के सन्दर्भ में वर्धमानसूरि का कथन है कि मृदु, ध्रुव, चर और क्षिप्र नक्षत्रों में तथा मंगलवार एवं शुक्रवार को प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं करना चाहिए। शेष नक्षत्रों और वारों में प्रायश्चित्तदायक तथा प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले का चंद्रबल देखकर प्रायश्चित्त-विधि करनी चाहिए। इस विधि के अन्तर्गत सर्वप्रथम सर्व चैत्यों में चैत्यवन्दन और सभी साधुओं को वन्दन करके प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला मुनि आयम्बिल तप करे। यदि प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला गृहस्थ हो, तो उसे सबसे पहले बृहत्सनात्रविधि से परमात्मा की महापूजा और साधर्मिकवात्सल्य करना चाहिए। साथ ही साधुओं को चतुर्विध आहार, वस्त्र और ज्ञान के उपकरणों का दान करना चाहिए। फिर शुभलग्न में प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला गीतार्थ गुरु की प्रदक्षिणा करके ईर्ष्यापथिकी की आलोचना करे तथा चार स्तुतियों से चैत्यवन्दन करे। तदनन्तर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके सभी मुनियों को द्वादशावर्त वन्दन करे। पुनः गुरु के सम्मुख मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर और उन्हें वन्दन कर आत्मशुद्धि के हेतु आलोचना करने की आज्ञा मांगे। गुरु की आज्ञा प्राप्त होने पर आत्मशुद्धि के निमित्त कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके विनयपूर्वक मुख को मुखवस्त्रिका से आच्छादित कर तथा हाथ जोड़कर जो भी दृष्टकृत किए हों, तथा जिनकी स्मृति हो, उन सब दृष्टकृत्यों का गीतार्थ गुरु के समक्ष कथन करे, कुछ भी छिपाएँ नहीं। गीतार्थ गुरु उन दृष्टकृत्यों को सुनकर देश, काल और परिस्थिति के अनुसार जिस प्रकार के प्रायश्चित्त के वह योग्य हो, वह प्रायश्चित्त प्रदान करे- यह प्रायश्चित्त ग्रहण करने की संक्षिप्त विधि है।

इसके पश्चात् आचारदिनकर में दस प्रकार के प्रायश्चित्तों तथा कौनसा अपराध किस प्रायश्चित्त के योग्य होता है- इसकी बहुत ही विस्तृत चर्चा की है। मूलग्रन्थ में यह विषय अतिविस्तार के साथ वर्णित है। विस्तारभय से उस सबकी चर्चा करना यहाँ संभव नहीं है। जिन्हें इस सम्बन्ध में विस्तार से जानने की इच्छा हो, वे मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के तृतीय भाग का सैतीसवाँ उदय देख सकते हैं।

प्रायश्चित्त सम्बन्धी यह विस्तृत विवेचन व्यवहारसूत्र, यतिजीतकल्प और जीतकल्प भाष्य के आधार पर किया गया है। जीतकल्प आदि ये भाष्यग्रन्थ केवलमुनियों की आचार-व्याख्या से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों का ही कथन करते हैं, किन्तु आचारदिनकर में न केवल मुनियों की अपितु श्रावकों की प्रायश्चित्त-विधि का भी उल्लेख है। श्रावकों की प्रायश्चित्त-विधि के सन्दर्भ में आचारदिनकर में दो

ग्रन्थों को आधार माना गया है- (१) लघुजीतकल्प एवं (२) श्राद्धजीतकल्प। लघुजीतकल्प मुनियों और श्रावकों-दोनों के ही प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में विचार करता है, जबकि श्राद्धजीतकल्प में मात्र श्रावकों के अणुव्रतों आदि के अतिचारों की शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख किया गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वर्धमानसूरि ने प्रायश्चित्त-विधि की विवेचना करते हुए आचारदिनकर में जीतकल्पभाष्य, लघुजीतकल्प, यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प आदि ग्रन्थों को पूर्णतया उद्धृत कर दिया है। इस कारण से प्रायश्चित्त सम्बन्धी यह सैंतीसवाँ उदय अति विस्तृत हो गया है। सम्पूर्ण विषय का विस्तारपूर्वक समावेश करना इस शोध ग्रन्थ में समुचित नहीं था, क्योंकि जैनधर्म के प्रायश्चित्तविधान को लेकर एक स्वतंत्र शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है, इतनी सामग्री आचारदिनकर में है। अतः यहाँ हमें विवशता में ही प्रायश्चित्त-विधि का संक्षेप में उल्लेख करना पड़ रहा है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सर्वप्रथम तो गृहस्थ और मुनियों के अपराधों की संख्या ही हजारों में हो सकती है, किन्तु मूलग्रन्थ में भी ज्ञानातिचार, दर्शनातिचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार- इन पाँच प्रकारों के अतिचारों के साथ-साथ मुनि और श्रावक के जो विविध क्रिया-कलाप हैं, उनसे सम्बन्धित अपराधों की एवं उनके प्रायश्चित्तों की चर्चा की गई है। जिन्हें इस सम्बन्ध में गहराई से जानने की रुचि हो, वे बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि आगमों के साथ-साथ मेरे द्वारा अनुदित आचारदिनकर के तृतीय भाग के सैंतीसवें उदय को देखने की कृपा करें।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में छः छेदसूत्र माने गये हैं यथा- (१) दशाश्रुतस्कन्ध, (२) बृहत्कल्प, (३) व्यवहार, (४) निशीथ, (५) महानिशीथ तथा (६) जीतकल्प। इनकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण आदि में भी प्रायश्चित्त सम्बन्धी विषय चर्चित है।

तुलनात्मक विवेचन-

किन-किन पापों का नाश प्रायश्चित्त से होता है, प्रायश्चित्त-विधि हेतु गुरु कैसे होने चाहिए, आदि उल्लेख करते हुए वर्धमानसूरि ने पापरुपी शल्य-उद्धरण, अर्थात् प्रायश्चित्त के निमित्त से गीतार्थ की गवेषणा हेतु क्षेत्र एवं काल की उत्कृष्ट मर्यादा का उल्लेख किया है। कदाच प्रायश्चित्त हेतु जीवनपर्यन्त योग्य गुरु की खोज में लगा मुनि सामान्य मुनि की सेवा करते हुए यदि कालधर्म को प्राप्त कर लेता है, तो भी उसे आलोचना का फल प्राप्त होता है, क्योंकि यदि जीवन रहता, तो गीतार्थ गुरु का योग होने पर आलोचना पूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण

करता। आचारदिनकर की भाँति ही प्रवचनसारोद्धार^{७२०} में भी हमें आलोचनादाता की गवेषणा के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। वहाँ भी शल्योद्धार के लिए गीतार्थ की खोज उत्कृष्टतः क्षेत्र की अपेक्षा से सात सौ योजन तक एवं काल की अपेक्षा से बारह वर्ष पर्यन्त कहा गया है। पंचाशकप्रकरण में आलोचना प्रदाता गुरु के लक्षणों का उल्लेख मिलता है।^{७२१} विधिमार्गप्रपा में भी उपर्युक्त विषय की चर्चा नहीं मिलती है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में हमें इस प्रकार का उल्लेख देखने को नहीं मिला।

प्रायश्चित्त ग्रहण करने योग्य साधक के क्या लक्षण हैं, प्रायश्चित्त नहीं करने के क्या दोष हैं एवं प्रायश्चित्त करने से क्या लाभ होता है? इसका भी उल्लेख वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में किया है। पंचाशकप्रकरण में भी हमें उपर्युक्त विषयों की चर्चा मिलती है, यथा-आलोचना में अज्ञानता आदि के कारण दुष्कृत्य का सेवन करने पर भी संसार के भय से उस दुष्कृत्य के लिए पश्चाताप होता है, अतः आलोचना सार्थक है।^{७२२} पंचाशकप्रकरण में हरिभद्रसूरि ने कहा है कि तीर्थकरों ने संविग्न (संसार से भयभीत) माया रहित, विद्वान्, कल्पस्थित, अनाशंसी, प्रज्ञापनीय, श्रद्धालु, आज्ञावान्, दुष्कृत्य, तापी, आलोचना-विधि-समुत्सुक और अभिग्रह आसेवना आदि लक्षणों से युक्त साधु को आलोचना के योग्य माना है इत्यादि,^{७२३} किन्तु ये विवेचन आचारदिनकर की अपेक्षा संक्षिप्त है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें प्रायश्चित्त न करने के दोषों का तो उल्लेख मिलता है, किन्तु वहाँ हमें प्रायश्चित्त ग्रहण करने के योग्य साधक के लक्षण एवं प्रायश्चित्त करने से क्या-क्या लाभ होते हैं- इसका उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में हमें इस सम्बन्ध में यत्किंचित् उल्लेख मिलते हैं। स्मृतियों, पुराणों एवं मध्यकालीन ग्रन्थों के अनुसार प्रायश्चित्त न करने से पापी को पापों का दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। याज्ञवल्क्य^{७२४} के अनुसार पापकृत्य के फलस्वरूप सम्यक् प्रायश्चित्त न करने से परम भयावह एवं कष्टकारक

^{७२०} प्रवचनसारोद्धार, अनु.- हेमप्रभाश्रीजी, द्वार- १२६, पृ.- ३६, प्राकृतभारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण : २०००.

^{७२१} पंचाशकप्रकरण, अनु.- डॉ. दीनानाथ शर्मा, प्रकरण- पन्द्रहवाँ, पृ.- २६२, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६७.

^{७२२} पंचाशकप्रकरण, अनु.- डॉ. दीनानाथ शर्मा, प्रकरण- पन्द्रहवाँ, पृ.- २५८, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६७.

^{७२३} पंचाशकप्रकरण, अनु.- डॉ. दीनानाथ शर्मा, प्रकरण- पन्द्रहवाँ, पृ.- २६१, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६७.

^{७२४} धर्मशास्त्र का इतिहास (तृतीय भाग), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-६, पृ.- १०६७, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७५.

नरक-यातना सहनी पड़ती है इत्यादि, किन्तु वहाँ हमें प्रायश्चित्त ग्रहण करने योग्य साधक के लक्षणों का उल्लेख नहीं मिलता है।

उपर्युक्त चर्चा करने के पश्चात् वर्धमानसूरि ने प्रायश्चित्त ग्रहण करने की विधि का वर्णन किया है। वर्धमानसूरि के अनुसार^{७२५} शुभ मुहूर्त में गुरु और शिष्य के चंद्रबल में आलोचनाग्राही साधु को सर्वचैत्यों में चैत्यवन्दन, सर्व साधुओं का वन्दन तथा आयम्बिल-तप करना चाहिए। यदि आलोचनाग्राही गृहस्थ है, तो उसे सर्वचैत्यों में बृहत्तन्त्रविधि से पूजन, साधर्मिकवात्सल्य, संघपूजन, साधुओं को वस्त्र, अन्नपात्र आदि का दान, ज्ञानपूजा, मण्डलपूजा करनी चाहिए। तत्पश्चात् शुभवेला के आने पर प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला साधु या श्रावक गुरु को प्रदक्षिणा देकर गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करे और देववन्दन करे। फिर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना एवं सर्व साधुओं को द्वादशावर्तवन्दन करके गुरु के आगे मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। इसके बाद खमासमणासूत्रपूर्वक प्रायश्चित्त-विधि की आज्ञा लेकर प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करने हेतु कायोत्सर्ग करे, कायोत्सर्ग में साधक चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे तथा कायोत्सर्ग पूर्ण करके पुनः प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तव बोले। तत्पश्चात् गुरु के समक्ष तीन बार परमेष्ठीमंत्र एवं आलोचना की गाथा बोले। फिर विनयपूर्वक आसन में गुरु के समक्ष बैठकर निष्कपट भाव से ज्ञात दुष्कृतों की आलोचना करे। गुरु भी समभावपूर्वक शिष्य के दुष्कृत्यों को सुनकर उसे परिस्थिति के अनुसार उसके योग्य आलोचना आदि दसविध प्रायश्चित्त को करने का आदेश दे। दिगम्बर-परम्परा में इस प्रकार की प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख देखने को नहीं मिला, यद्यपि वहाँ भी गुरु के समक्ष ही प्रायश्चित्त करने के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु खमासमणासूत्रपूर्वक गुरु की आज्ञा प्राप्त करना, प्रायश्चित्त-विधि हेतु कायोत्सर्ग करना, आदि क्रियाओं का उल्लेख हमें वहाँ देखने को नहीं मिला। वैदिक-परम्परा में भी उक्त विधि का उल्लेख नहीं मिलता है और यह स्वाभाविक है।

प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख करने के बाद वर्धमानसूरि ने दसविध प्रायश्चित्तों^{७२६} - (१) आलोचना (२) प्रतिक्रमण (३) उभय (४) विवेक (५) कायोत्सर्ग (६) तपयोग्य (७) छेदयोग्य (८) मूलयोग्य (९) अनवस्थाप्ययोग्य और (१०) पाराचिकयोग्य का उल्लेख करते हुए किन-किन दोषों

^{७२५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैतीसवाँ, पृ.- २४१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७२६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैतीसवाँ, पृ.- २४१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

में कौन-कौन सा प्रायश्चित्त देना चाहिए? इसका विस्तृत उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी प्रायश्चित्त के दस प्रकारों का उल्लेख मिलता है, किन्तु इन प्रकारों में आंशिक भेद दिखाई देता है। दिगम्बर-परम्परा में मूलयोग्य प्रायश्चित्त तक के प्रकारों का तो यथावत् उल्लेख मिलता है, किन्तु अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त को परिहारविशुद्धि-प्रायश्चित्त के रूप में विवेचित करके पारांचिक-प्रायश्चित्त को इसी में समाहित कर लिया गया है और उसकी जगह उसमें श्रद्धान^{७२७} नामक प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है। अन्तिम इन दो प्रकारों की अवधारणा के सम्बन्ध में भी इन दोनों परम्पराओं में कुछ मतभेद दिखाई देता है। स्थानाभाव के कारण हम उनका उल्लेख यहाँ नहीं कर रहे हैं। दिगम्बर-परम्परा में भी प्रायश्चित्तों के दस प्रकारों के साथ ही हमें यह भी उल्लेख मिलता है कि किस दोष के लगने पर कौनसा प्रायश्चित्त करना चाहिए, जैसे^{७२८}- आचार्य से पूछे बिना आतापना आदि करने पर, दूसरे के परोक्ष में उसके पुस्तक पीछी आदि उपकरण ले लेने पर, प्रमाद से आचार्य आदि का कहा न करने पर, संघ के स्वामी से पूछे बिना किसी काम से कहीं जाकर लौट आने पर, दूसरे संघ से पूछे बिना अपने संघ में जाने पर, देश और काल के नियम से अवश्य कर्तव्य विशेष व्रत का धर्मकथा आदि के व्यासंग से भूल जाने पर, किन्तु पुनः उसको कर लेने पर, इसी प्रकार के अन्य भी अपराधों में आलोचनामात्र ही प्रायश्चित्त है।^{७२९} इस प्रकार धर्माभूत अनगार में प्रारम्भ के छः प्रकार के प्रायश्चित्त के दोषों का एक साथ उल्लेख किया गया है, संग्रह ग्रन्थ के छेदपिण्ड^{७३०} में भी हमें ठीक इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः पं. आशाधरजी ने धर्माभूत अनगार में इस प्रकरण को वहीं से उद्धृत किया होगा, किन्तु आचारदिनकर की अपेक्षा यह विवरण बहुत ही संक्षिप्त है। आचारदिनकर में इन छहों प्रायश्चित्तों का विस्तृत वर्णन है। इन प्रायश्चित्तों में भी तर्परूप प्रायश्चित्त का विवेचन तो विशेष रूप से किया गया है। इस प्रायश्चित्त में उन्होंने चौदह प्रकार के तर्पों के सांकेतिक नामों के साथ-साथ दसविध प्रत्याख्यानों की नवकारमंत्र के साथ परस्पर संकलना भी की है।^{७३०} इसके साथ ही गुरुव्रत एवं लघुव्रत सम्बन्धी विधि-निषेधों का भी उल्लेख किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में हमें इन बातों की चर्चा नहीं मिलती है।

^{७२७} धर्माभूत अनगार, अनु.-पं. कैलाशचन्द्र शास्त्रीजी, अध्याय-सातवाँ, पृ.- ५१३, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण : १९७७.

^{७२८} धर्माभूत अनगार, अनु.-पं. कैलाशचन्द्र शास्त्रीजी, अध्याय-सातवाँ, पृ.- ५१९, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण : १९७७.

^{७२९} छेदपिण्ड, इन्द्रनन्दियोगिन्द्र विरचित, पृ.-३८, माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, मुंबई नं.-४, १९७८.

^{७३०} आचारदिनकर, वर्धमानसुरिकृत, उदय-सैंतीसवाँ, पृ.- २४३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

वैदिक-परम्परा में आचारदिनकर की भाँति दसविध प्रायश्चित्तों का विधान देखने को नहीं मिलता है।

तपयोग्य प्रायश्चित्त में वर्धमानसूरि ने पंचाचार- ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार में लगने वाले दोषों का उल्लेख किया हुआ है। इनमें भी चारित्राचार में लगने वाले दोषों का उल्लेख विस्तृत रूप से हुआ है- इसमें उन्होंने न केवल चारित्र जीवन में लगने वाले दोषों का ही वर्णन किया है, वरन् पिण्डैषणा सम्बन्धी सैतालीस दोषों के प्रायश्चित्तों का भी विस्तृत विवेचन किया है, जैसे^{७३१}- कर्म औद्देशिकपिण्ड, परिवर्तितपिण्ड, स्वग्रह पाखण्ड मिश्रपिण्ड, बादर प्राभृतिक पिण्ड, सत्प्रत्यवायाहतपिण्ड के ग्रहण करने पर, अथवा लोभवश अतिमात्रा में पिण्ड का ग्रहण करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। प्रत्येक वनस्पतिकाय या अनंत वनस्पतिकाय से निक्षिप्त पिण्ड के ग्रहण करने पर भी उपवास का प्रायश्चित्त आता है, इत्यादि। दिगम्बर-परम्परा में हमें पंचाचार में लगने वाले दोषों के प्रायश्चित्तों का उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि वहाँ पिण्डैषणा सम्बन्धी दोषों का उल्लेख मिलता है^{७३२}, किन्तु उनके लिए वहाँ प्रायश्चित्त का क्या विधान है, उसका हमें उल्लेख नहीं मिला है। वैदिक-परम्परा में भी हमें उक्त दोषों की प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख नहीं मिलता है।

वर्धमानसूरि ने जीतकल्पसूत्र का आश्रय लेते हुए आचार्य को प्रायश्चित्त देने के सम्बन्ध में कहा है^{७३३} कि आचार्य को छेदप्रायश्चित्त आता हो, तो भी उसे तपयोग्य प्रायश्चित्त ही देना चाहिए। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है।

विशिष्ट छेद प्रायश्चित्त चार मास या छः मास का होता है। बुधजनों द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष और प्रतिसेवना, अर्थात् जिस रूप में उस दोष का आचरण किया है, उसको सम्यक् प्रकार से ध्यान में रखकर अधिक या कम प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है। इसके साथ ही वर्धमानसूरि ने शास्त्रों में वर्णित चार प्रकार की पुरुष प्रतिसेवना^{७३४}- (१) आवृत्ति (२) प्रमाद (३) दर्प एवं (४)

^{७३१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैतीसवीं, पृ.- २४४, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७३२} मूलाचार, सं.-डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार-पंचम, भारत वर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७३३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैतीसवीं, पृ.- २४६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७३४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैतीसवीं, पृ.- २४६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

कल्प का विचार करते हुए इनसे सम्बन्धित प्रायश्चित्तों का भी उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में छेद प्रायश्चित्त की इस जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति का एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष एवं प्रतिसेवना के आधार पर प्रायश्चित्त देने का उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में हमें प्रायश्चित्त के इस भेद (प्रकार) का उल्लेख नहीं मिलता है।

उपर्युक्त चर्चा करने के बाद वर्धमानसूरि ने छेदप्रायश्चित्त मूलप्रायश्चित्त एवं पारांचित के योग्य दोषों की चर्चा की है तथा यह भी उल्लेख किया है कि अनवस्थाप्य तपकर्म और पारांचित- ये दोनों प्रायश्चित्त अन्तिम चौदह पूर्वधर भद्रबाहु के समय से विच्छेद है। शेष प्रायश्चित्त जब तक जिन शासन है, तब तक रहेंगे।^{७३५} दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी हमें छेद, मूल, अनवस्थाप्य (परिहार) एवं पारांचित (परिहार प्रायश्चित्त का एक भेद) के योग्य दोषों की चर्चा मिलती है, किन्तु वहाँ इनका वर्णन आचारदिनकर की अपेक्षा संक्षिप्त है।

वर्धमानसूरि ने यहाँ तक जिन प्रायश्चित्तों की चर्चा की है, वे सब मुनिजीवन से सम्बन्धित हैं। इसके बाद उन्होंने श्राद्धजीतकल्प के अनुसार बारह व्रतधारी श्रावकों की तपस्वरूप प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख किया है। वहाँ मुनि की भाँति श्रावकों हेतु दस प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान नहीं है। मन से जिनेश्वर परमात्मा के वचनों में शंका होने पर, अन्य धर्म की इच्छा रखने पर, धर्मकरणी के फल में संदेह रखने पर, मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करने पर तथा उनके साथ परिचय रखने पर आयम्बिल तप का प्रायश्चित्त आता है तथा उससे अधिक तीव्र भाव से इन दोषों का सेवन करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है, इत्यादि।^{७३६} श्रावक के दर्शन, ज्ञान आदि में लगने वाले दोषों की चर्चा एवं उनके प्रायश्चित्तों का वर्णन भी हमें आचारदिनकर में मिलता है। इसके अतिरिक्त श्रावक के बारह व्रतों के अतिचारों की प्रायश्चित्त-विधि का भी वहाँ उल्लेख हुआ है। दिगम्बर-परम्परा के प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थों, यथा- छेदपिण्ड, छेदशास्त्र, एवं प्रायश्चित्त आदि में हमें व्रतधारी श्रावक एवं सामान्य श्रावक की प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख मिलता है, जैसे- छेदशास्त्र^{७३७} में कहा गया है कि मुनियों के लिए प्रायश्चित्त का जो विधान है, वही विधान श्रावकों के लिए भी है। उत्तम श्रावक को मुनि की अपेक्षा आधा प्रायश्चित्त, दिया जाना चाहिए। उसका आधा प्रायश्चित्त

^{७३५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैंतीसवाँ, पृ.- २४८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७३६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैंतीसवाँ, पृ.- २४८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७३७} छेदशास्त्र, अज्ञातकर्ता, पृ.- १०१, माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थ माला, हीराबाग, मुम्बई : १९७८.

ब्रह्मचारी को, उससे आधा प्रायश्चित्त मध्यम श्रावक को, उससे आधा प्रायश्चित्त जघन्य श्रावक को दिया जाना चाहिए। पंचमहापातक करने पर विशेष शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त के अतिरिक्त जिनपूजा करने का निर्देश देना चाहिए, इत्यादि। वैदिक-परम्परा में हमें बारह व्रतधारी श्रावक की प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख नहीं मिलता है।

इसी प्रकरण में वर्धमानसूरि ने अन्य जीतकल्पों यथा लघुजीतकल्प, व्यवहार एवं जीतकल्प का आश्रय लेकर पुनः साधु एवं श्रावकों की प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख किया है, जिसका उल्लेख स्थानाभाव के कारण हम यहाँ नहीं कर रहे हैं। उसे आचारदिनकर के मेरे द्वारा किए गए अनुवाद में देखा जा सकता है।

इसके बाद वर्धमानसूरि ने प्रायश्चित्त-विधि के एक अन्य प्रकार, अर्थात् प्रकीर्णक-प्रायश्चित्त एवं भावप्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख किया है। इसमें साधु एवं श्रावकों की छोटे-छोटे से दोषों की प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख हुआ है, जैसे मुनि यदि लोच की पीड़ा से चलायमान हो जाए, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। बाईस परीषहों को सहन न कर पाए, तो भी उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अध्यापन कराते समय श्रावक एवं शिष्य आदि को मारने पर इन दोनों दोषों की शुद्धि प्रतिक्रमण से होती है। मुमुक्षु यदि सद्गुरु की आज्ञा का विधिपूर्वक पालन न करे, अर्थात् उनकी आज्ञा का उल्लंघन करे, तो उसे निर्विकृत का प्रायश्चित्त आता है,^{७३८} इत्यादि। इसी प्रकार श्रावकों द्वारा लज्जादि के कारण अन्य परम्पराओं के देवताओं तथा साधुओं को नमस्कार करने पर उसकी शुद्धि जिनपूजा से होती है। बलात्कारपूर्वक सब व्रतों का भंग करने पर मुनियों एवं गृहस्थों को दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है^{७३९}, इत्यादि। दिगम्बर-परम्परा के प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थों में भी हमें साधु एवं श्रावकों के प्रकीर्णक दोषों के प्रायश्चित्तों का उल्लेख मिलता है, किन्तु आचारदिनकर में वर्णित कुछ प्रकीर्णक दोषों का उल्लेख हमें वहाँ नहीं मिलता है, जैसे- मुनि यदि लोच की पीड़ा से चलायमान हो जाए, तो क्या प्रायश्चित्त आता है। इसके स्थान पर हमें इस बात का उल्लेख अवश्य मिलता है कि मुनि चातुर्मास में लोच न कराए, तो एक उपवास का प्रायश्चित्त आता है। एक वर्ष में भी यदि लोच न कराए, तो निरन्तर दो उपवास का और पाँच वर्ष में भी यदि लोच न कराए, तो “पंचकल्याण” का

^{७३८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैतीसवाँ, पृ.- २५७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७३९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैतीसवाँ, पृ.- २५७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

प्रायश्चित्त आता है।^{७४०} सम्भवतः वर्धमानसूरि ने इसी बात को प्रकारान्तर से कहने का प्रयत्न किया होगा। वैदिक-परम्परा में यद्यपि कुछ दोषों के प्रायश्चित्तों का उल्लेख मिलता है, जैसे- घास, ईधन, वृक्ष, सूखे भोज्य पदार्थ, वस्त्र, खाल एवं मांस की चोरी के प्रायश्चित्त के लिए तीन दिनों का उपवास करना चाहिए^{७४१}, किन्तु वहाँ उपवास का अर्थ अन्न जल के सम्पूर्ण त्याग से नहीं लिया गया है, वरन् थोड़ी मात्रा में हल्का भोजन करने से लिया गया है। इस प्रकार जैन एवं वैदिक-परम्परा की मान्यताओं में काफी अन्तर दिखाई देता है।

वर्धमानसूरि ने भावप्रायश्चित्त के साथ ही द्रव्यप्रायश्चित्त की विधि का भी उल्लेख किया है। पाँच प्रकारों^{७४२} - (१) स्पर्श (२) कृत्य (३) भोजन (४) दुर्नय एवं (५) विमिश्रण के दोषों के लगने पर बाह्यशुद्धि हेतु- (१) स्नान के योग्य (२) करनेयोग्य (३) तपयोग्य (४) दानयोग्य एवं (५) विशोधनयोग्य- इन पाँच प्रायश्चित्तों की विधियों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। दिगम्बर-परम्परा में हमें इस प्रकार की प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में हमें इस प्रकार की प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख अवश्य मिलता है, जैसे- स्नानयोग्य प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में गौतमसूत्र^{७४३} में कहा गया है कि पतित, चाण्डाल, सूतिका, रजस्वला, शव, स्पृष्टि, तत्स्पृष्टि को छूने पर वस्त्र के साथ स्नान करना चाहिए। इसी प्रकार का उल्लेख हमें याज्ञवल्क्य एवं मनुस्मृति में भी मिलता है। करणीय प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में पाराशर^{७४४} ने कहा है कि चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण की हत्या करने वाले को रामेश्वर जाना चाहिए, इत्यादि। इसी प्रकार तपयोग्य, दानयोग्य एवं विशोधनयोग्य प्रायश्चित्तों का भी वहाँ उल्लेख मिलता है। सम्भवतः आचारदिनकर की स्नानादि के योग्य प्रायश्चित्त की यह विधि वैदिक-परम्परा से प्रभावित रही होगी-ऐसा हम माने, तो कोई गलत नहीं होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों परम्पराओं में प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उनमें परस्पर भिन्नता दृष्टिगत होती है।

^{७४०} छेदशास्त्र, अज्ञातकर्ता, पृ.- ६१, माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, मुंबई-४ : १९७८.

^{७४१} धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-तृतीय), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२, पृ.- १०४१, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७५.

^{७४२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैतीसवाँ, पृ.- २५८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७४३} धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-तृतीय), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-४, पृ.- १०७२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७५.

^{७४४} धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-तृतीय), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२, पृ.- १०४२, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७५.

उपसंहार-

धार्मिक जीवन एवं सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था हेतु प्रायश्चित्त-विधि आवश्यक है। इससे न केवल देह की बाह्यशुद्धि ही होती है, वरन् आन्तरिक शुद्धि भी होती है। प्रायश्चित्त करने से जीव पापकर्म की विशुद्धि करता है और निरतिचार हो जाता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला जीवमार्ग (सम्यक्त्व) और मार्गफल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और आचारफल (मुक्ति) की आराधना करता है।^{७४५} प्रायश्चित्त-विधि की आवश्यकता पर जोर देते हुए वर्धमानसूरि^{७४६} ने भी कहा है- अज्ञानतावश नाना प्रकार के भोगों को भोगते हुए या दूसरों के आदेशवश या भयवश या हास्यवश, अथवा नृपादि के बल के कारण, किंवा प्राण की रक्षा के लिए या गुरु तथा संघ की बाधाओं को दूर करने के लिए या परवशता में मिरगी, दुर्भिक्ष्य आदि संकटों में किए गए पापों का क्षय गीतार्थ सद्गुरु के समक्ष उनकी आलोचना करके एवं प्रायश्चित्त-विधि का सम्यक् आचरण करके ही हो सकता है। इस प्रकार आत्मा को विशुद्ध करने हेतु प्रायश्चित्त अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि प्रायश्चित्त करने से जीव के अध्ववसाय निर्मल हो जाते हैं और वह पुनः पापकर्म करने हेतु प्रेरित नहीं होता है।

व्यक्ति यदि अपने दृष्टकृत्यों की आलोचना नहीं करता है, तो सतत् उसके जीवन में दोषों का आश्रव चालू ही रहता है और एक समय ऐसा आता है कि वह महान् दोषों का घर बन जाता है। जैसा कि पं. आशाधरजी^{७४७} ने कहा है- “प्रमाद से चारित्र में लगे दोषों की बाढ़ रुक नहीं सकती। एक बार मर्यादा टूटने पर यदि रोका न गया, तो वह मर्यादा फिर रह नहीं सकती, इसलिए प्रायश्चित्त अत्यन्त आवश्यक है। कहा भी गया है- “यह महातपस्वपी तालाब गुणरूपी जल से भरा है। इसकी मर्यादारूपी तटबन्दी में थोड़ी सी भी क्षति की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। थोड़ी सी भी उपेक्षा करने से जैसे तालाब का पानी बाहर निकलकर बाढ़ ला देता है, वैसे ही उपेक्षा करने से महातप में भी दोषों की बाढ़ आने का भय रहता है। इस कथन से न केवल व्यक्ति के आन्तरिक शोधन हेतु ही प्रायश्चित्त की उपयोगिता सिद्ध होती है वरन् सामाजिक परिवेश हेतु भी

^{७४५} भिक्षुआगम विषयकोश, सम्पादक-आचार्यमहाप्रज्ञ, पृ.- ४६५, जैन विश्वभारती संस्थान, लाइन्स, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७४६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- सैतीसवाँ, पृ.- २३६-२४०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७४७} धर्माभूत अनगर, अनु.-पं. कैलाशचन्द्र शास्त्रीजी, अध्याय-सातवाँ, पृ.-५१२, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण : १९७७.

इसकी महत्ता सिद्ध होती है। जिस प्रकार बाढ़ से न केवल तालाब को ही नुकसान होता है, वरन् समूचा जीवन भी अस्त-व्यस्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रायश्चित्त से रहित दुर्गुणी व्यक्ति समाज में असंतोष एवं अशान्ति के वातावरण का सर्जन कर देता है। अतः समाज की सुव्यवस्था हेतु भी प्रायश्चित्त-विधि आवश्यक है।

आवश्यक विधि

आवश्यक विधि का स्वरूप :-

अवश्य करणीय सामायिक आदि षट् क्रिया अनुष्ठान को आवश्यक कहते हैं। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र- इन तीनों का प्रसाधक है और प्रतिनियतकाल में अनुष्ठेय योग परम्परा का आसेवन है, वह आवश्यक है। मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना से प्रारम्भ कर सम्पूर्ण दिन-रात में करणीय क्रमिक सामाचारी का आचरण आदि समस्त क्रियाएँ आवश्यक कहलाती हैं।^{७४८} जैनेन्द्र शब्दकोश^{७४९} के अनुसार व्याधि, रोग, अशक्तता, इत्यादि विकार जिसमें हैं, ऐसे व्यक्ति को अवश्य कहते हैं- ऐसे व्यक्ति को जो क्रियाएँ करना योग्य है, उनको आवश्यक कहते हैं, जैसे- “आशुगच्छतीत्यश्वः”, अर्थात् जो शीघ्र दौड़ता है, उसको अश्व कहते हैं। व्याघ्र आदि कोई भी प्राणी, जो शीघ्र दौड़ सकते हैं, वे सभी अश्व शब्द से संगृहित होते हैं, परन्तु अश्व शब्द प्रसिद्धि के वश होकर इस अर्थ में घोड़ा ही रूढ़ है। वैसे अवश्य करने योग्य जो कोई भी कार्य है, वह आवश्यक शब्द से कहा जाना चाहिए, जैसे- सोना, करवट बदलना, किसी को बुलाना, इत्यादि कर्तव्य अवश्य करने पड़ते हैं, परन्तु आवश्यक शब्द यहाँ सामायिक षट्क्रियाओं में ही प्रसिद्ध है। आवश्यक शब्द का प्राकृत रूप आवासक- ऐसा मानकर “आवासयन्ति रत्नत्रयमपि इति आवासकाः”, अर्थात् जो आत्मा में रत्नत्रय का निवास कराते हैं, उनको आवासक कहते हैं। विशेषावश्यकभाष्य^{७५०} में कहा है- अवश्य करने योग्य वह क्रिया जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के अधीन करे तथा आत्मा को ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रादि गुणों से आवासित, अनुरंजित अथवा आच्छादित करे, वह आवश्यक है। इस प्रकार अवश्य करने योग्य षट् कृत्य को क्रमशः करने की प्रक्रिया को आवश्यक-विधि कहते हैं। आवश्यक-विधि जैन-परम्परा की सभी

^{७४८} भिक्षुआगम विषयकोश, प्र.सम्पादक- आचार्य महाप्रज्ञ, पृ.-१२४-१२५, जैन विश्व भारती संस्थान, लाइनू, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७४९} जैनेन्द्र शब्दकोश (भाग-१), जिनेन्द्रवर्णी, पृ.- २७६-२८०, भारतीय ज्ञानपीठ, छठवाँ संस्करण: १९६८.

^{७५०} विशेषावश्यकभाष्य (भाग-१), अनु.- शाहचुनीलाल हकमचन्द, सू.-८७३, भद्रकर प्रकाशन, ४६/१, महालक्ष्मी सोसायटी, अहमदाबाद, तृतीय संस्करण : वि.सं.-२०५३.

शाखाओं की अपनी विशेषता है। आचारदिनकर में वर्णित इस विधि का मूलाधार ग्रन्थ आवश्यकसूत्र है। वैदिक-परम्परा में हमें इस प्रकार की आवश्यक-विधि का उल्लेख नहीं मिलता है।

आवश्यक-विधि क्यों की जानी चाहिए? इस विधि के करने का क्या प्रयोजन है? इसके सम्बन्ध में वर्धमानसूरी कहते हैं कि दिवस, रात्रि, पक्ष, मास एवं वर्ष भर के पापों की विशुद्धि के लिए सम्मिलित रूप से जो षडावश्यक किए जाते हैं, वे आवश्यक क्रियाएँ कर्मों के घात के तथा शुभध्यान की प्राप्ति के हेतु की जाती है। इस प्रकार इस विधि का मुख्य प्रयोजन जीव को अष्टकर्मों से मुक्त कर शुक्ल ध्यान में स्थित करना है। इसके साथ ही श्रावक एवं साधु अपने आचरण के प्रति सजग रहे, इसी प्रयोजन से यह क्रिया-विधि यहाँ प्रज्ञप्त की गई है।

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार^{७५} साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं को यह विधि प्रतिदिन प्रातः एवं संध्या के समय करनी चाहिए। साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं के लिए यह क्रिया प्रतिदिन आवश्यक रूप से करणीय है, किन्तु यदि श्रावक-श्राविका कारणवशात् प्रतिदिन यह क्रिया दोनों समय न कर सके, तो उसे यह क्रिया पक्ष में करनी चाहिए। पक्ष में भी नहीं कर सके, तो चातुर्मास में करनी चाहिए और चातुर्मास में भी कर पाना संभव न हो, तो संवत्सर में तो अवश्यमेव यह विधि श्रावक-श्राविकाओं को करनी ही चाहिए। श्रावक-श्राविकाओं हेतु इस प्रकार की छूट (अपवादमार्ग) तो पूर्व में कहा गया है, वही है। दिगम्बर-परम्परा में साधु एवं श्रावकों के लिए भी यह विधि प्रतिदिन दोनों समय करने का विधान है, किन्तु वर्तमान में दिगम्बर श्रावक-श्राविकाओं में प्रायः यह विधि प्रचलन में नहीं है।

यह क्रिया साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविकाओं को स्वयं करनी होती है। यद्यपि यह विधि करते समय बीच-बीच में गुरु या आचार्य से आज्ञा लेनी होती है, किन्तु मूलतः यह विधि कर्त्ता को स्वयं ही करनी होती है। दिगम्बर-परम्परा में भी यह क्रिया कर्त्ता को स्वयं को करनी होती है, क्योंकि ये सब क्रियाएँ आत्मसाधना हेतु की जाती है और आत्मसाधना स्वयं को ही करना होती है।

^{७५} विशेषावश्यकभाष्य (भाग-१), अनु.- शाहचुनीलाल हकमचन्द, सू.-८७५, भद्रकर प्रकाशन, ४६/१, महालक्ष्मी सोसायटी, अहमदाबाद, तृतीय संस्करण : वि.सं.-२०५३.

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रतिपादित की है-
आवश्यक-विधि-

वर्धमानसूरि ने षडावश्यकों के नामों का उल्लेख करते हुए क्रमशः षडावश्यकों में उन-उन से सम्बन्धित मूलसूत्र एवं उसकी टीका की भी व्याख्या की है। इन षडावश्यकों में सर्वप्रथम सामायिक का स्वरूप एवं उससे सम्बन्धित सूत्रों की व्याख्या की गई है। सामायिक-सूत्रों के अन्तर्गत देशविरति एवं सर्वविरति सामायिकदण्डक, नमस्कार-महामंत्र सूत्रों की व्याख्या की गई है तथा प्रसंगवश इसमें सामायिक का क्या फल है, स्वाध्याय कितने प्रकार का कहा गया है, एवं नमस्कारमंत्र की क्या महिमा है- इसका उल्लेख करते हुए महामंत्र के प्रभाव को बताने के लिए पाँच दृष्टांत भी दिए गए हैं।

चतुर्विंशतिस्तव नामक दूसरे आवश्यक में वन्दनक के १६८ विकल्पों (भंगों) का उल्लेख करते हुए उनका विस्तृत विवेचन किया गया है। इन १६८ विकल्पों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार किया गया है- मुहपत्ति की प्रतिलेखना, शरीर की प्रतिलेखना और आवश्यक क्रिया- इन सबके पच्चीस-पच्चीस विकल्प हैं। इच्छा आदि छः स्थान, छः गुण, छः छंदेण आदि रूप गुरु के छः वचन, वंदन करने के पाँच अधिकारी, वंदन के पाँच अनधिकारी, वंदन की पाँच निषेधावस्थाएँ, एक अवग्रह, वन्दन के पाँच नाम तथा वन्दन के पाँच दृष्टांत, गुरु की तैतीस आशातना, वन्दन के बत्तीस दोष, वन्दन के आठ कारण एवं अवन्दन के छः दोष- इस प्रकार वन्दन-विधि के १६८ स्थान, अर्थात् प्रकार होते हैं। तदनन्तर ग्रन्थकार ने वंदनसूत्र की व्याख्या की है।

प्रतिक्रमण नामक आवश्यक में प्रतिक्रमणसूत्रों, यथा- इरियावाहिसूत्र, तस्स उत्तरीसूत्र, देवसिक-आलोचना के सूत्र, साधु के रात्रिकआलोचना के सूत्र, साधु के दैवसिक-आलोचना के सूत्र, श्रावक के दिवस एवं रात्रि सम्बन्धी आलोचनासूत्र, साधु के लघुदण्डकसूत्र, प्रतिक्रमण के मध्य साधुओं के अतिचारों की आलोचना करने का सूत्र, श्रावकों के अतिचारों की गाथाएँ, गुरुक्षामणासूत्र, संघ आदि से सम्बन्धित क्षमापनासूत्र, पाक्षिक क्षामणा सम्बन्धितसूत्र, श्रमणसूत्र, यति सम्बन्धित पाक्षिकसूत्र, श्रुतदेवता की स्तुति एवं श्रावकसूत्र की व्याख्या की गई है।

तदनन्तर कायोत्सर्ग आवश्यक में कायोत्सर्ग के स्वरूप को बताते हुए अन्नत्थसूत्र की व्याख्या की गई है। प्रसंगवश कायोत्सर्ग के अपवादों एवं दोषों का भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। सभी कायोत्सर्ग में साधकों को चन्देसु निम्मलयरा

गाथा तक चतुर्विंशति का चिन्तन एवं नमस्कारमंत्र के चिन्तन में नवपद का चिन्तन करना चाहिए।

तत्पश्चात् प्रत्याख्यान आवश्यक में प्रत्याख्यान के प्रकारों मूलगुण प्रत्याख्यान एवं उत्तरगुण प्रत्याख्यान का विवेचन हुआ है। साधुओं एवं श्रावकों के लिए मूलगुण प्रत्याख्यान एवं उत्तरगुण प्रत्याख्यान कौन-कौन से है? उनका उल्लेख करते हुए मूलग्रन्थ में सर्वउत्तरगुण प्रत्याख्यान के अनागत आदि दस भेदों का तथा उनसे सम्बन्धित प्रत्याख्यानसूत्रों, जैसे- नवकारसहित प्रत्याख्यानसूत्र, पौरुषीसूत्र, पूर्वार्द्धसूत्र, एकाशन प्रत्याख्यानसूत्र, एकस्थानसूत्र, आयम्बिलसूत्र आदि का भावार्थसहित विस्तृत विवेचन मूलग्रन्थ में हुआ है। इसी प्रकरण में प्रत्याख्यान शुद्धि के छः प्रकारों का भी उल्लेख हुआ है। तदनन्तर प्रत्याख्यान के फल को बताते हुए प्रत्याख्यान के १४७ भागों (विकल्पों) पर भी वहाँ विचार किया गया है।

तत्पश्चात् इन आवश्यकों की विधि का उल्लेख किया गया है। सर्वप्रथम सामायिक की विधि का उल्लेख किया गया है। “मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, नमस्कारमंत्र, सामायिक का पाठ, ईर्यापथ-प्रतिक्रमण (इरियावही), आसन की प्रतिलेखना, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान एवं गुरु-साधुओं को वंदन करना”- यह सामायिक-विधि का कथन किया गया है। इस प्रकरण के अन्त में पौषधविधि का उल्लेख हुआ है।

तदनन्तर चैत्यवंदन की विधि का उल्लेख हुआ है। चैत्यवंदन के पूर्व क्या करना चाहिए, साधुओं एवं श्रावकों को दिन में कितनी बार चैत्यवंदन करना चाहिए- इसका उल्लेख करते हुए, चैत्यवंदन की विधि के तीन प्रकारों की चर्चा की गई है। नमस्कार पाठ द्वारा जघन्य, पाँच दंडक एवं स्तुतियुगल द्वारा मध्यम, पाँच दंडक, चार स्तुति, स्तवन एवं प्रणिधानों द्वारा उत्कृष्ट चैत्यवंदन होता है। पुनः मूलग्रन्थ में इन प्रकारों की विस्तार से चर्चा की गई है।

इसके बाद वन्दन विधि का उल्लेख हुआ है। कब-कब द्वादशावर्त्त-विधि की जानी चाहिए? इसका उल्लेख करने के बाद इसकी विधि बताई गई है। इसके अतिरिक्त मूलग्रन्थ में प्रतिक्रमण-विधि, कायोत्सर्ग-विधि एवं प्रत्याख्यान-विधि का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु विस्तारभय के कारण उनका उल्लेख हम यहाँ नहीं कर रहे हैं। इसकी विस्तृत जानकारी के लिए मेरे द्वारा किए गए आचारदिनकर के तृतीय भाग के अनुवाद को देखा जा सकता है। इस विधि के अन्त में नृप, मंत्री, परसेवक एवं बहुव्यवसायी आदि की आवश्यक-विधि का भी उल्लेख हुआ है। अन्त में यह भी बताया गया है कि यदि कभी किसी प्रज्ञावान् को सामायिक एवं प्रत्याख्यानदण्डक का मुख्य पाठ न आता हो तो उसे मन से ग्रहण करे। तदनन्तर

सामायिक एवं प्रत्याख्यान का भंग होने पर क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए? इसका भी इसमें उल्लेख हुआ है।

तुलनात्मक अध्ययन-

वर्धमानसूरि ने इस विधि में षडावश्यकों का नामोल्लेख जिस क्रम से किया है, ठीक उसी प्रकार के क्रम का उल्लेख हमें दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता है। वर्धमानसूरि ने कायोत्सर्ग के बाद प्रत्याख्यान का उल्लेख किया है, जबकि दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में प्रत्याख्यान के बाद कायोत्सर्ग का उल्लेख हुआ है।

श्वेताम्बर परम्परा की भाँति हमें दिगम्बर-परम्परा में आवश्यक विधि से सम्बन्धित सभी सूत्रों का उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा के यापनीय सम्प्रदाय में हमें श्वेताम्बर-परम्परा के आवश्यक सूत्र की भाँति ही “प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी” ग्रन्थ मिलता है, जो कि श्वेताम्बर-परम्परा के आवश्यकसूत्र के सूत्र-पाठ से बहुत ही सन्निकटता रखता है^{७५२}, किन्तु यह पुस्तक अनुपलब्ध होने के कारण इस विषय में हम ज्यादा कुछ कहने में समर्थ नहीं हैं। दिगम्बर-परम्परा के मूलाधार ग्रन्थ के षडावश्यक सम्बन्धी अधिकार में जो उल्लेख मिले हैं, उन्हीं को आधार मानते हुए उसकी तुलना हम यहाँ आचारदिनकर में वर्णित आवश्यक-विधि से करेंगे।

वर्धमानसूरि^{७५३} के अनुसार सामायिक के दो भेद हैं—(१) सर्वविरति सामायिक और (२) देशविरति सामायिक। दिगम्बर-परम्परा में भी सामायिक के इन दोनों भेदों का उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही दिगम्बर-परम्परा में हमें सामायिक के (१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य (४) क्षेत्र (५) काल एवं (६) भाव इन छः भेदों का उल्लेख भी मिलता है।^{७५४} कहीं-कहीं इनमें से चार भेदों का उल्लेख मिलता है। वर्धमानसूरि ने सामायिक आवश्यक में करेमिभंतेसूत्र एवं परमेष्ठीमंत्र का अन्तर्भाव किया है तथा उनकी विस्तृत व्याख्या भी की है। दिगम्बर-परम्परा में सामायिक आवश्यक में किन-किन सूत्रों का अन्तर्भाव किया गया है, इसका हमें उल्लेख नहीं मिलता है।

^{७५२} जैनधर्म में यापनीय सम्प्रदाय, लेखक- डॉ. सागरमल जैन, पृ.- १६०, पार्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७५३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- अड़तीसवाँ, पृ.- २६१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७५४} मूलाचार, सम्पादकद्वयः डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.-३३४, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९६६.

वर्धमानसूरि ने इसी आवश्यक में स्वाध्याय के प्रकारों का वर्णन भी किया है, किन्तु ये भेद श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों से कुछ हटकर हैं। वर्धमानसूरि ने स्वाध्याय के (१) वाचना (२) पृच्छना (३) आम्नाय एवं (४) आगम- ये चार भेद बताए हैं^{७५५}, जबकि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में स्वाध्याय के पाँच प्रकारों का उल्लेख मिलता है। अनुप्रेक्षा स्वाध्याय को वर्धमानसूरि ने स्वाध्याय के प्रकार के रूप में उल्लेखित नहीं किया है।

तदनन्तर वर्धमानसूरि ने चतुर्विंशति आवश्यक के स्वरूप एवं उनके अन्तर्निहित सूत्रों का उल्लेख किया है। इसके अन्तर्गत वर्धमानसूरि ने नमुत्थुणसूत्र, लोगस्ससूत्र, अर्हत् चैत्यस्तव, श्रुतस्तव, सिद्धस्तव, वैयावृत्यकर कायोत्सर्गसूत्र, चैत्य- साधुस्मरणसूत्र, एवं जयवीयरायसूत्र का समावेश किया है।^{७५६} दिगम्बर-परम्परा में लोगुज्जोययरे (लोगस्स) सूत्र का उल्लेख थोस्सामिदण्डक के रूप में मिलता है^{७५७} किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य सूत्रों का उल्लेख हमें वहाँ देखने को नहीं मिला। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा की भाँति ही दिगम्बर-परम्परा में भी चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक का तात्पर्य अर्हत् परमात्मा की स्तुति करना ही माना है। दिगम्बर-परम्परा में सामायिक की भाँति ही स्तव के भी छः भेद माने हैं।^{७५८} श्वेताम्बर-परम्परा में हमें इन भेदों का उल्लेख नहीं मिलता है।

वन्दन आवश्यक के अन्तर्गत वर्धमानसूरि ने वन्दन के १६८ विकल्पों का उल्लेख करते हुए उनका विस्तृत विवेचन किया है^{७५९} तथा उनसे सम्बन्धित सूत्रों का उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें इन १६८ विकल्पों में निहित कुछ विषयों का ही उल्लेख मिलता है, जैसे- वर्धमानसूरि ने वन्दन के पाँच नाम बताए हैं। दिगम्बर-परम्परा में भी हमें वन्दन के पाँचों नामों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि वहाँ स्पष्ट रूप से तो (१) कृति (२) चितिकर्म (३) पूजाकर्म एवं (४) विनयकर्म- इन चार नामान्तरों का ही उल्लेख हुआ है,^{७६०}

^{७५५} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- अड़तीसवाँ, पृ.- २६४, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७५६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अड़तीसवाँ, पृ.- २६७-२७१, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७५७} मूलाचार, सम्पादकद्वयः डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.-३३५, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७५८} मूलाचार, सम्पादकद्वयः डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.-३३४, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७५९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अड़तीसवाँ, पृ.- २७२, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७६०} मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, लेखक- डॉ. फूलचन्द्र जैन, अध्याय-२, पृ.-१०२, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, प्रथम संस्करण : १९८७.

किन्तु वन्दन भी स्वयं एक नाम है- इस अपेक्षा से वहाँ भी वन्दन के पाँच प्रकारों का उल्लेख हुआ है- ऐसा हम मान सकते हैं। इसी प्रकार हमें वहाँ वन्दन के अधिकारी, वन्दन के अनाधिकारी, वन्दन के पच्चीस आवश्यकों में से कुछ आवश्यक, वन्दन के बत्तीस दोष आदि के उल्लेख भी मिलते हैं, किन्तु इस आवश्यक में किन-किन सूत्रों को समाविष्ट किया गया है, इसका उल्लेख हमें दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिला।

प्रतिक्रमण आवश्यक में वर्धमानसूरि ने ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण अतिचार, आलोचना, क्षामणा एवं प्रतिक्रमण सम्बन्धी सूत्रों का उल्लेख किया है। इसके अन्तर्गत उन्होंने श्रावक एवं श्रमण के प्रतिक्रमण सम्बन्धी सभी सूत्रों, यथा- इरियावहीसूत्र, तस्सउत्तरीसूत्र, देवसिक आलोयणासूत्र, श्रमण एवं श्रावक सम्बन्धित आलोचनासूत्र, गुरुक्षामणासूत्र, संघ आदि से क्षामापना करने का सूत्र, पाक्षिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी क्षामणासूत्र, श्रमणसूत्र, श्रावकसूत्र, पाक्षिकसूत्र आदि सूत्रों का उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा में प्रतिक्रमण आवश्यक में किन-किन सूत्रों को समाविष्ट किया गया है, उनके प्रतिक्रमणसूत्र की पुस्तक के अनुपलब्ध होने से इसकी तुलना हम नहीं कर पाए हैं। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में भी प्रतिक्रमण का तात्पर्य पापों से पीछे हटना ही है, किन्तु ये क्रिया किन सूत्रों के माध्यम से की जाए, इसका हमें मूलाचार में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भावना है कि प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी जैसी वहाँ प्रतिक्रमण की पुस्तकें रही होंगी।

कायोत्सर्ग आवश्यक का स्वरूप बताते हुए वर्धमानसूरि ने कायोत्सर्ग आवश्यक में सन्निहित सूत्रों का उल्लेख किया है। वर्धमानसूरि के अनुसार काया की गतिविधियों को संयमित करना और काया के प्रति ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।^{७६१} दिगम्बर-परम्परा में भी कायोत्सर्ग का अभिप्राय परिमितकाल हेतु शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करना ही है^{७६२}, किन्तु वर्धमानसूरि ने इस आवश्यक के प्रारम्भ में जिस अन्नत्थसूत्र का उल्लेख किया है, उसका उल्लेख हमें मूलाचार ग्रन्थ में देखने को नहीं मिला। आचारदिनकर में कायोत्सर्ग के उन्नीस दोषों का उल्लेख मिलता है, किन्तु मूलाचार में बत्तीस दोषों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि आचारदिनकर में वर्णित उन १६ दोषों का उल्लेख मूलाचार में भी

^{७६१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- अइतीसवीं, पृ.- ३११, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७६२} मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, लेखक- डॉ. फूलचन्द्र जैन, अध्याय-२, पृ.-१२६, पार्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, प्रथम संस्करण : १९८७.

मिलता है, किन्तु इनके अतिरिक्त १४ अन्य दोषों का भी उल्लेख मूलाचार में है।^{७६३}

प्रत्याख्यान आवश्यक में वर्धमानसूरि ने (१) मूलगुणप्रत्याख्यान एवं (२) उत्तरगुण प्रत्याख्यान- इन दो भेदों का उल्लेख करते हुए उत्तरगुणप्रत्याख्यान में दस प्रकार के प्रत्याख्यानों का उल्लेख किया है। तदनन्तर अन्तिम अद्धाप्रत्याख्यान के पुनः नवकारसी आदि दस प्रत्याख्यानों का उल्लेख कर उनके प्रत्याख्यानसूत्रों का उल्लेख किया है।^{७६४} दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी हमें मूलगुणप्रत्याख्यान एवं उत्तरगुणप्रत्याख्यान के साथ-साथ दस प्रकार के उत्तरगुणप्रत्याख्यानों का उल्लेख मिलता है, किन्तु वर्धमानसूरि ने प्रत्याख्यान के जिन दस प्रकारों का उल्लेख किया है, उनमें से अन्तिम दो प्रत्याख्यानों-सांकेतप्रत्याख्यान एवं अद्धाप्रत्याख्यान के स्थान पर हमें मूलाचार में अध्वानमत एवं सहेतुक प्रत्याख्यान का उल्लेख मिलता है।^{७६५} वर्धमानसूरि ने अद्धाप्रत्याख्यान के जिन १० प्रत्याख्यानों का तथा उनके सूत्रों का उल्लेख किया है, उसका उल्लेख हमें मूलाचार में नहीं मिलता है। आचारदिनकर में हमें प्रत्याख्यानशुद्धि के छः प्रकारों (१) श्रद्धाशुद्धि (२) ज्ञानशुद्धि (३) विनयशुद्धि (४) अनुभाषणशुद्धि (५) अनुपालनशुद्धि एवं (६) भावशुद्धि का भी उल्लेख मिलता है।^{७६६} दिगम्बर-परम्परा के मूलाचार ग्रन्थ में हमें ज्ञानशुद्धि को छोड़कर शेष पाँच शुद्धियों का ही उल्लेख मिलता है।

तदनन्तर आचारदिनकर में इन षडावश्यकों की विधियों का उल्लेख हुआ है। इस श्रृंखला में सर्वप्रथम उन्होंने सामायिक विधि का उल्लेख किया है। इसमें उन्होंने सर्वविरति एवं देशविरति-सामायिक की विधि के सम्बन्ध में मात्र निर्देश देकर श्रावकों द्वारा जो अवश्य करणीय हैं, ऐसे सामायिक आवश्यक का उल्लेख किया है। आचारदिनकर के अनुसार^{७६७} सामायिक की संक्षिप्त विधि इस प्रकार है- सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें। फिर क्रमशः नमस्कारमंत्र, सामायिक का पाठ एवं इरियावही करें। फिर आसन की प्रतिलेखना, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान एवं

^{७६३} मूलाचार, सम्पादकद्वय- डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.-३६५-६७, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७६४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय- अइतीसवाँ, पृ.- ३१२-३१३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७६५} मूलाचार, सम्पादकद्वय- डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.-३८२-८३, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७६६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अइतीसवाँ, पृ.- ३१७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७६७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अइतीसवाँ, पृ.- ३१६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

गुरु तथा साधुओं को वन्दन करें। आचारदिनकर में सामायिक की इस संक्षिप्त विधि का उल्लेख करके वर्धमानसूरि ने पुनः इसकी विस्तृत व्याख्या भी की है तथा इसके साथ ही पौषधविधि का तथा सामायिक पारने के सूत्र का भी उल्लेख किया है। मूलाचार में हमें सामायिक की विधि के सम्बन्ध में इतना ही उल्लेख मिलता है कि श्रमण को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धिपूर्वक अंजुलि को मुकुलित करके स्वस्थ बुद्धि से स्थित होकर अथवा एकाग्रमनपूर्वक तथा आकुलतारहित मन से आगमानुसार क्रमपूर्वक सामायिक करना चाहिए।^{७६८} इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में हमें वहाँ और कोई सूचना उपलब्ध नहीं होती है। पौषध ग्रहण करने की विधि का दिग्म्बर-परम्परा के ग्रन्थों में उल्लेख नहीं मिलता है। सागारधर्माभूत में वर्णित पौषध की विधि भी मात्र पौषध सम्बन्धी दिवस-रात्रि की क्रिया को ही उल्लेखित करती है। उसमें पौषध ग्रहण करने और उसके पारण की विधि नहीं दी गई है।

तदनन्तर वर्धमानसूरि ने चतुर्विंशतिस्तव की विधि का उल्लेख किया है। इसके अन्तर्गत उन्होंने सर्वप्रथम स्थापनाचार्य में भगवान एवं गुरु की कल्पना करने तथा स्थापनाचार्य का जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट कितना परिमाण होना चाहिए? इसका उल्लेख करते हुए चैत्यवन्दन-विधि के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। आचारदिनकर के अनुसार नमस्कार-पाठ द्वारा किया जाने वाला जघन्य, पाँचदंडक एवं स्तुतियुगल द्वारा मध्यम एवं पाँचदंडक, चारस्तुति, स्तवन एवं प्रणिधानों द्वारा उत्कृष्ट चैत्यवन्दन होता है।^{७६९} इतना उल्लेख करने के बाद वर्धमानसूरि ने इन तीनों विधियों का विस्तार से उल्लेख किया है। दिग्म्बर-परम्परा के मूलाचार ग्रन्थ में हमें स्तव की मात्र इतनी ही विधि मिलती है- शरीर, भूमि और चित्त की शुद्धिपूर्वक दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद खड़े होकर अंजुलि जोड़कर सौम्यभाव से स्तवन करना चाहिए^{७७०} तथा यह चिन्तन करना चाहिए कि अर्हत् परमेष्ठी जगत् को प्रकाशित करने वाले उत्तम क्षमादि धर्मतीर्थ के कर्ता होने से तीर्थकर कीर्तनीय हैं और केवलज्ञान से युक्त उत्तम बोधि देने वाले हैं^{७७१},

^{७६८} मूलाचार, सम्पादकद्वय: डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.-३३३-३४, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९९६.

^{७६९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अड़तीसवाँ, पृ.- ३२४, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७७०} मूलाचार, सम्पादकद्वय: डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.- ३५०, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९९६.

^{७७१} मूलाचार, सम्पादकद्वय: डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.- ३३५, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९९६.

भगवान् एवं गुरु के रूप में स्थापनाचार्य की स्थापना आदि करने का उल्लेख हमें मूलाचार में नहीं मिलता है।

तत्पश्चात् आचारदिनकर में द्वादशावर्त्त वन्दन की विधि का उल्लेख हुआ है। साधक को वन्दन आवश्यक की विधि कब-कब करना चाहिए? इसका उल्लेख करते हुए वर्धमानसूरि ने वन्दन की विधि बताई है। द्वादशावर्त्तवन्दन के लिए सर्वप्रथम सामान्य वन्दन करें। तत्पश्चात् उत्कृष्ट चैत्यवन्दन तथा मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्तवन्दन करें। तदनंतर “इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसियं आलोएमि”- इस प्रकार कहकर पुनः द्वादशावर्त्तवन्दन करें। तत्पश्चात् “इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसियं खामेमि”- इस प्रकार क्षमापना करें। पुनः द्वादशावर्त्त वन्दन करके प्रत्याख्यान करें। तत्पश्चात् आचार्य, उपाध्याय, गुरु एवं अन्य साधुओं को वन्दन करें।^{७७२} इस विधि में द्वादशावर्त्तवन्दन की विधि तीन बार क्यों की जाती है, इसके कारणों का भी वहाँ हमें उल्लेख मिलता है। मूलाचार में वन्दन की विधि इस प्रकार से बताई गई है- सर्वप्रथम जिस आचार्यादि ज्येष्ठ श्रमणों की वन्दना की जाती है, उनमें तथा वन्दनकर्त्ता के मध्य एक हाथ अन्तराल रखकर फिर अपने शरीरादि के स्पर्श से देव का स्पर्श या गुरु को बाधा न करते हुए कटि आदि अंगों का पिच्छिका से प्रतिलेखन करें। तब वन्दना करने की अनुमति प्राप्त करें- “मै वन्दन करना चाहता हूँ”। उनकी स्वीकृति मिलने पर इच्छाकार पूर्वक वन्दन करना चाहिए।^{७७३} इस विधि के अतिरिक्त हमें वन्दन की अन्य किसी विधि या सूत्रों का उल्लेख नहीं मिलता है।

इसके बाद वर्धमानसूरि ने चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक की विधि का उल्लेख किया है। इस प्रकरण में सर्वप्रथम इस बात की जानकारी दी है कि गमनागमन का प्रतिक्रमण कहाँ-कहाँ करना चाहिए। तत्पश्चात् प्राभातिक-प्रतिक्रमण की विधि निर्दिष्ट की है- इरियावही, कुस्वप्न-विशुद्धि हेतु कायोत्सर्ग, गुरुवन्दन, अतीत का प्रतिक्रमण, शक्रस्तव, खड़े होकर सामायिकदण्डक बोलना, पुनः कायोत्सर्ग करना, चतुर्विंशतिस्तव बोलना, पुनः कायोत्सर्ग करना, श्रुतस्तव बोलना, पुनः कायोत्सर्ग करना, सिद्धस्तव बोलकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करना, वन्दन कर आलोचनासूत्र, संस्तारकसूत्र, वन्दन, क्षमापनावन्दन, सामायिकदण्डक, कायोत्सर्ग, चतुर्विंशतिस्तव, मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, वन्दन, स्तुतित्रिक, फिर उत्कृष्ट

^{७७२} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अड़तीसवाँ, पृ.- ३२४-३२५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७७३} मूलाचार, सम्पादकद्वयः डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.-३६८, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९६६.

देववन्दन एवं शक्रस्तव बोलना- यह प्राभातिक प्रतिक्रमण की विधि है।^{७७४} प्राभातिक प्रतिक्रमण की संक्षिप्त विधि प्रस्तुत करके उन्होंने पुनः उसकी विस्तृत व्याख्या की है। प्रसंगवश यहाँ ग्रन्थकार ने मुनि की दिवस सम्बन्धी चार प्रहर की विभिन्न क्रियाओं का भी उल्लेख किया है। प्राभातिक-प्रतिक्रमण-विधि का उल्लेख करने के बाद वर्धमानसूरि ने क्रमशः दैवसिक, पाक्षिक एवं सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण की विधि का भी विस्तार से उल्लेख किया है। इन विधियों में थोड़ा-बहुत अन्तर भी है। स्थानाभाव के कारण हम उनकी यहाँ चर्चा नहीं कर रहे हैं, किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि वर्धमानसूरि ने इनकी भी विधि पृथक् से आचारदिनकर में उल्लेखित की है। मूलाचार में हमें प्रतिक्रमण के ७ भेदों का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु वहाँ इनके लिए पृथक् से किसी विधि का सूचन नहीं किया गया है। मूलाचार में सामान्य रूप से प्रतिक्रमण की जिस विधि का उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है^{७७५} - सर्वप्रथम विनयकर्म करके शरीर, आसन आदि का पिच्छका से प्रमार्जन व नेत्र से देखभाल कर शुद्धि करें। इसके बाद ऋद्धि आदि गौरव तथा जाति आदि सभी तरह के मान छोड़कर अंजुलि जोड़कर व्रतों में हुए अतिचारों का गुरु के समक्ष निवेदन करें। आलोचनाभक्ति करते समय कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमणभक्ति करने में कायोत्सर्ग, वीरभक्ति में कायोत्सर्ग और चतुर्विंशति तीर्थकर भक्ति में कायोत्सर्ग-प्रतिक्रमणकाल में ये चार कृतिकर्म करने का विधान है।^{७७६} छोटे अपराध के समय यदि गुरु समीप न हो, तब वैसी अवस्था में- 'मैं फिर ऐसा कभी नहीं करूंगा, मेरा पाप मिथ्या हो'- इस प्रकार का प्रतिक्रमण करना चाहिए।^{७७७} मूलाचार में प्रतिक्रमण की हमें यही विधि मिलती है। यद्यपि दैवसिक, पाक्षिक, चातुमार्सिक, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग की संख्या कितनी होनी चाहिए? इसका उल्लेख हमें अवश्य कायोत्सर्ग आवश्यक में मिलता है। बाकी इस सम्बन्ध में और कोई सूचना हमें वहाँ उपलब्ध नहीं होती है।

प्रतिक्रमण आवश्यक के बाद वर्धमानसूरि ने कायोत्सर्ग आवश्यक की विधि का उल्लेख किया है। वर्धमानसूरि के अनुसार^{७७८} जिनचैत्य, श्रुत, तीर्थ,

^{७७४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अइतीसवाँ, पृ.- ३२५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७७५} मूलाचार, सम्पादकद्वय: डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.-३७३, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७७६} मूलाचार, सम्पादकद्वय: डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ.-३६२, भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७७७} मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, लेखक- डॉ. फूलचन्द्र जैन, अध्याय-२, पृ.- ११६, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, प्रथम संस्करण : १९८७.

^{७७८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-अइतीसवाँ, पृ.-३३०, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

ज्ञान, दर्शन, चारित्र-इन सबकी पूजा एवं आराधना करने के लिए “वन्दणवर्तियाएँ” का पाठ बोलकर कायोत्सर्ग करना चाहिए। प्रायश्चित्त-विशोधन, उपद्रव-निवारण, श्रुतदेवता के आराधन एवं समस्त चतुर्विंशतिकाय देवों के आराधन हेतु “वन्दणवर्तियाएँ” पाठ की जगह मात्र अन्नत्थसूत्र बोलकर ही कायोत्सर्ग करें। गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना हेतु हमेशा चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करना चाहिए। इसी प्रकार प्रायश्चित्त के विशोधन आदि के लिए कितनी-कितनी बार चतुर्विंशतिस्तव या नमस्कारमंत्र का स्मरण करना चाहिए? इसका भी वर्धमानसूरि ने स्पष्टीकरण किया है कि साधक को बाहुयुगल नीचे करके दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद एवं निश्चल खड़े होकर^{७९} मन से शरीर के प्रति ममत्वबुद्धि की निवृत्ति कर लेना चाहिए।^{८०} द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से कायोत्सर्ग अनेक स्थानों में शक्ति की अपेक्षा अनेकविध होते हैं। उन अनेक प्रकारों की चर्चा भी मूलाचार में मिलती है, किन्तु कायोत्सर्ग के समय कौनसा सूत्र बोलना चाहिए। इसका उल्लेख हमें मूलाचार में नहीं मिलता है।

अन्त में वर्धमानसूरि ने अद्धाप्रत्याख्यान के दस भेदों के प्रत्याख्यानसूत्रों का उल्लेख किया है, अर्थात् उनकी विधि (योजना) बताई है। मूलाचार में हमें प्रत्याख्यानविधि के रूप में इन सूत्रों की चर्चा नहीं मिलती है। सम्भवतः वहाँ मन की धारणा से ही इस आवश्यकविधि को सम्पन्न किया जाता होगा। यद्यपि प्रत्याख्यानशुद्धि के प्रकारों की चर्चा वहाँ अवश्य मिलती है, किन्तु नवकारसी आदि प्रत्याख्यान किन सूत्रों से करें? इसका हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

इस आवश्यकविधि के अन्त में वर्धमानसूरि ने अतिव्यस्त नृप, मंत्री, श्रेष्ठी आदि हेतु भी प्रतिक्रमण-विधि का निरूपण किया है। दिग्म्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें इस प्रकार अलग से इस प्रतिक्रमण-विधि का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर-परम्परा के ग्रन्थों में वर्णित षडावश्यकों की विधि में काफी कुछ अन्तर है, किन्तु इन षडावश्यकों के स्वरूप के सम्बन्ध में दोनों ही परम्पराओं का मत एक समान है। श्वेताम्बर-परम्परा के अन्य ग्रन्थों, यथा- विधिमार्गप्रपा, सामाचारी, सुबोधासामाचारी

^{७९} मूलाचार, सम्पादकद्वयः डॉ. फूलचन्द्र जैन एवं डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, अधिकार- सातवाँ, पृ. ३२८, भारतवर्षीय अनेकाल विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{८०} भगवती आराधना, सं.-पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ.- ३२९, बाल ब्र. श्री हीराताल खुशालचंद दोशी, फलटण, (बाखरीकर), प्रथम संस्करण : १९६०.

प्रवचनसारोद्धार में भी हमें इन षडावश्यकों में से कुछ आवश्यकों की विधियों का उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थों में वर्णित विधियाँ भी आचारदिनकर में वर्णित विधि के सदृश ही हैं, किन्तु गच्छपरम्परा में भेद होने के कारण कहीं-कहीं आंशिक भेद दिखाई देता है।

उपसंहार-

विराट विश्व के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं। आचारांगसूत्र^{१०८} में श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है- “सव्वे पाण पियाउआ सुहसाया दुक्ख पडिकूला“, समस्त प्राणी चाहे वह चींटी हो या कुंजर (हाथी), द्ररिद्र मानव हो या स्वर्गाधिपति इन्द्र, सभी सुख चाहते हैं। दुःख कोई नहीं चाहता है, लेकिन इस सुख की प्राप्ति कैसे हो? सुख कोई वस्तु तो नहीं? जिसे बाजार से खरीद लिया जाए। यदि ऐसा होता, तो सब धनवान् सुखी होने चाहिए। उन्हें किसी प्रकार की कोई दुःख की अनुभूति होनी ही नहीं चाहिए, क्योंकि उनके पास तो धन है, और वे धन से सब कुछ खरीद सकते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। सुख अपने ही भीतर से प्रकट होता है। आत्मा ही दुःख-सुख का कर्ता है, कोई भी परवस्तु उसे दुःखी या सुखी नहीं बना सकती है। इस प्रकार आत्मा में ही सुख-दुःख के बीज छिपे हुए हैं। उस सुख को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यकविधि अत्यन्त अनिवार्य है। जीवित रहने के लिए जिस प्रकार श्वास लेना अनिवार्य है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन के विकास हेतु आवश्यक विधि भी जरूरी है। आगम ग्रन्थों में भी कहा गया है^{१०८२} -

“भव्वस्स मोक्खमग्गाहिलासिणो ठियगुरुवरएसस्स।

आईए जोग्गमिणं बालगिलाणस्स वाऽऽहारं।।“

जैसे बाल और ग्लान के लिए आहार आवश्यक है, वैसे ही गुरु आज्ञा के अनुपालक और मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों के लिए आवश्यक का अनुष्ठान आवश्यक है। इस प्रकार यह विधि बहुत ही उपयोगी एवं आवश्यक है।

^{१०८} आचारांगसूत्र, सं.- मुनि श्री समदशीजी, सू.- १/६३, पृ.- २३६, आचार्य श्री आत्मारामजी, जैनागम प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम संस्करण : १९६३.

^{१०८२} भिक्षुआगम विषयकोश, प्र.सम्पादक- आचार्य महाप्रज्ञ, पृ.- १२६, जैन विश्व भारती संस्थान, लांडनू, प्रथम संस्करण : १९६६.

तप-विधि

तप-विधि का स्वरूप-

जिस क्रिया द्वारा शरीर का रस, रूधिर आदि सात प्रकार की धातुओं की विशुद्धि हो, अथवा कर्मसमूह की निर्जरा हो, उसे तप कहा जाता है।^{७८३} दशवैकालिक की जिनदासकृत चूर्ण^{७८४} में तप की परिभाषा देते हुए कहा गया है- “तवोणाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठिं नासेतित्ति बुत्तं भवइ”, अर्थात् जो आठ प्रकार की कर्मग्रन्थियों को तपाता है, उसका नाश करता है, उसे तप कहते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र की बृहद्वृत्तिपत्र^{७८५} में भी तप की परिभाषा को विवेचित करते हुए कहा गया है- “तपति पुरोपात्तकर्माणि क्षपणेनेति तपो”, अर्थात् जो पूर्व उपार्जित कर्मों को क्षीण करता है, उसे तप कहते हैं। इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में तप की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में तप की परिभाषा देते हुए कहा गया है- “कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः”^{७८६}, अर्थात् कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है, वह तप कहलाता है। राजवार्तिक^{७८७} में तप की परिभाषा कुछ इस प्रकार से दी गई है- “कर्मदहनातपः”, अर्थात् जो कर्म को भस्म करे, उसे तप कहते हैं। पं. आशाधरजी^{७८८} के अनुसार मन, इन्द्रियाँ और शरीर के तपने से, अर्थात् इनका सम्यक् रूप से निवारण करने से सम्यग्दर्शन आदि को प्रकट करने के लिए इच्छा के निरोध को तप कहते हैं। वैदिक-परम्परा में तप का अर्थ आत्मशोधन एवं तपस्या है।^{७८९} इस प्रकार तप की व्युत्पत्तिपरक अनेक परिभाषाएँ समय-समय पर विद्वानों ने दी हैं। वर्धमानसूरि ने कर्म के निर्जराभूत तप की विधि का इस प्रकरण में वर्णन किया है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में तप को संस्काररूप नहीं, साधनारूप माना गया है। इन दोनों परम्पराओं में हमें विविध तप सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं, जिनकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे।

^{७८३} तपरत्नाकर, अनु.-चौदमलसीपाणी, पृ.- ७, अशोक कुमार गोलेछा, कपड़े के व्यापारी, सुभाष चौक, कटनी, प्रथम संस्करण : १९७९.

^{७८४} भिक्षुआगम शब्दकोश (प्रथम भाग), प्रधान सं.- आचार्य महाप्रज्ञ, पृ.- २६५, जैन विश्वभारती संस्थान, लाङ्गनू-प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७८५} भिक्षुआगम शब्दकोश (द्वितीय भाग), प्रधान सं.- आचार्य महाप्रज्ञ, पृ.- २६५, जैन विश्वभारती संस्थान, लाङ्गनू, प्रथम संस्करण : १९६६.

^{७८६} जैनेन्द्र शब्दकोश (भाग-२), जिनेन्द्रवर्णी, पृ.- ३५८, भारतीय ज्ञानपीठ, पाँचवाँ संस्करण: १९६७.

^{७८७} जैनेन्द्र शब्दकोश (भाग-२), जिनेन्द्रवर्णी, पृ.- ३५८, भारतीय ज्ञानपीठ, पाँचवाँ संस्करण: १९६७.

^{७८८} अनगार धर्माभूत, अनु.- पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, अध्याय-७, पृ.- ४६२, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पाँचवाँ संस्करण: १९७७.

^{७८९} हिन्दूधर्मकोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ.-२६५, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७८.

इस विधि के आलेखन का मुख्य प्रयोजन कर्मों की निर्जरा^{७६०} में हेतुभूत तप-विधि का वर्णन करना है। जीव कर्म तो कर लेता है, किन्तु उनका क्षय कैसे हो? इसके लिए उसे क्या करना चाहिए- इसका इस विधि में स्पष्टीकरण किया गया है। तप करने से मन दुष्कर्मों की तरफ प्रवृत्त नहीं होता है तथा आत्मा अपने मूल शुद्धस्वरूप को प्राप्त करती है। दूसरा कारण यह भी है कि चार ज्ञान के धनी तीर्थंकर परमात्मा जिनका नियत मोक्ष होने वाला है, वह भी यह जानते हुए कि मेरा मोक्ष निश्चित है, तप का आचरण करते हैं, इसलिए भी तप का आचरण किया जाना उचित है। कर्मों का नाश करने के लिए आप्त-पुरुषों ने जिस आचार का पालन किया है, उसका सर्वजीव भी आचरण करें- इस उद्देश्य से यहाँ तप-विधि का कथन किया गया है।

सामान्यतः तप करने हेतु किसी काल का प्रतिबंध नहीं है। कोई भी तप कभी भी किया जा सकता है, किन्तु दीर्घावधि वाले तप निर्विघ्न रूप से पूर्ण हो, इस अपेक्षा से भविक जन शुभमुहूर्त में तप का प्रारम्भ करते हैं। आचारदिनकर में भी कहा गया है^{७६१} कि प्रतिष्ठा और दीक्षा में जो काल त्याज्य बताया गया है, उस काल में छःमासी तप, वर्षी तप तथा एक मास से अधिक समय वाले तप प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। प्रथमविहार, तप, नंदी और आलोचना में मृदु, ध्रुव, चर, क्षिप्र संज्ञा वाले नक्षत्र तथा मंगल एवं शनिवार को छोड़कर शेष सभी वार शुभ माने गए हैं। कुछ तप ऐसे भी हैं, जो तिथि विशेष से सम्बन्ध रखते हैं, अतः उन तपों का प्रारम्भ उन तिथियों से किया जाना चाहिए। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में हमें तप के प्रारम्भ के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती है। हाँ, जो तप जिन तिथियों से सम्बन्धित हैं, उन-उन तिथियों में वह तप करने के उल्लेख अवश्य मिलते हैं।

संस्कार का कर्ता-

यद्यपि तप का वहन कर्ता स्वयं ही करता है, किन्तु कुछ तपों की विधि निर्ग्रन्थ मुनियों द्वारा करवाई जाती है, जैसे- उपधानतप का वहन तो श्रावक करता है, किन्तु उसकी क्रिया निर्ग्रन्थमुनि द्वारा करवाई जाती है। इसी प्रकार योगोद्बहनतप का वहन योगवाही शिष्य द्वारा ही किया जाता है, तथापि उसकी क्रिया आचार्य आदि द्वारा करवाई जाती है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें इस

^{७६०} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.- ३६३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७६१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-उनचालीसवाँ, पृ.- ३३५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं मिलता है, पर यह तो निश्चित है कि तप का वहन तो तपवाही द्वारा ही किया जाता है।

आचारदिनकर में वर्धमानसूरि ने इसकी निम्न विधि प्रस्तुत की है-

तप-विधि-

वर्धमानसूरि ने इस प्रकरण में सर्वप्रथम तप का माहात्म्य बताते हुए इस सम्बन्ध में शिवकुमार का दृष्टान्त दिया है और कहा है कि जो व्यक्ति शिवकुमार की तरह गृहस्थाश्रम में रहकर भी तपस्या का आचरण करता है, वह देवसभा में भी कांति, महत्ता और स्फूर्ति को प्राप्त करता है। इसी सन्दर्भ में नंदिषेण का भी दृष्टान्त दिया गया है। तदनन्तर बारह प्रकार के तप में से छः प्रकार के तपों का उल्लेख करते हुए उन्हें तीन भागों में विभक्त किया है, जिनमें योगोपधान आदि तपों का समूह केवली द्वारा भाषित है, कल्याणक आदि तप गीतार्थ मुनियों द्वारा भाषित है एवं रोहिणी आदि तप का समूह ऐहिक या लौकिक फल की अपेक्षा वाले तप कहे गए हैं। तत्पश्चात् साधु-साध्वी एवं सम्यक्त्वी श्रावक को ऐहिक फल की अपेक्षा वाले तप को करने का निषेध किया है। इसी प्रसंग में तप करने के योग्य तपवाही के लक्षणों का भी निरूपण हुआ है। तपस्या का आरम्भ कब करना चाहिए, तप करते समय बीच में यदि पर्व तिथि का तप आता हो, तो क्या करना चाहिए, अनाभोग आदि कारणों से तप का भंग होने पर क्या करना चाहिए एवं तिथि की मुख्यता वाले तप में कौनसी तिथि लेना श्रेष्ठ है- इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। तदनन्तर अनशन आदि छः प्रकार के बाह्य तपों, नवकारसी आदि प्रत्याख्यानों का उल्लेख करते हुए इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता को दर्शाया गया है। तप का प्रारम्भ करने से पूर्व वर्धमानसूरि ने जिनेश्वर परमात्मा की अष्टप्रकारी पूजा करने, विधिपूर्वक पौष्टिककर्म करने तथा साधु भगवन्त को पुस्तक, पात्र आदि का दान देने का निर्देश दिया है। मूल ग्रन्थ में योगोद्बहन आदि तपों में नंदि की स्थापना करने तथा अन्य तपों में शक्रस्तव बोलकर आवश्यकदि की वाचना की विधि करने का निर्देश दिया है तथा इसके साथ उद्यापन की महत्ता को बताते हुए तप का उद्यापन करने का भी निर्देश दिया है। तदनन्तर ६६ तपों का नामोल्लेख करते हुए उनकी विधि का उल्लेख किया है। उपधान तप, गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमा तप, बारह यतिप्रतिमा तप एवं सिद्धान्तयोगतप (योगोद्बहनतप) की विधि का उल्लेख इसी ग्रन्थ के अन्य प्रकरणों में किया जा चुका है, इसलिए इनके अतिरिक्त अन्य कुल ६२ प्रकार तप विधियों का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है, जैसे- पाँच इन्द्रियजय तप-पूर्वाद्ध, एकासन, नीवि, आर्यबिल और उपवास- इस प्रकार पाँच दिन क्रमशः इन पाँच तपों को करने से एक इन्द्रियजय का तप होता

है। इस तरह पांचों इन्द्रियों के जय के लिए पांच अवली करने से पच्चीस दिन में यह तप पूरा होता है। इस तप के उद्यापन में जिनेश्वर परमात्मा के समक्ष पच्चीस-पच्चीस फल, नैवेद्य आदि रखने चाहिए। इसके साथ ही मूलग्रन्थ में इस तप से सम्बन्धित कोष्टक भी दिया गया है। इसी प्रकार अन्य सभी तपों, यथा- कषायजयतप, योगशुद्धितप, धर्मचक्रतप, अष्टाह्निकातपद्वय, कर्मसूदनतप, कल्याणतप, ज्ञानदर्शनचारित्रतप, चांद्रायणतप, वर्धमानतप, परमभूषणतप, जिनदीक्षा-ज्ञान-निर्वाणतप, अनोदरिकातप, संलेखनातप, सर्वसंख्या महावीरतप, कनकावलीतप, रत्नावलीतप, मुक्तावलीतप, लघु एवं बृहद सिंह निष्क्रीडिततप, भद्रतप, महाभद्रतप, भद्रोत्तरतप, सर्वतोभद्रतप, गुणरत्न संवत्सरतप, ग्यारह अंगतप, संवत्सरतप, नंदीश्वरतप, पुंडरीकतप, माणिक्य प्रस्तारिकातप, पदमोत्तरतप, समवसरणतप, वीरगणधरतप, अशोकवृक्षतप, एक सौ सत्तर जिनतप, नवकारतप, चौदह पूर्वतप, चतुर्दशीतप, एकावलीतप, दशविध यतिधर्मतप, पंचपरमेष्ठीतप, लघुपंचमीतप, बृहत्पंचमीतप, चतुर्विध संघतप, धनतप, महाधनतप, वर्गतप, श्रेणीतप, पाँच मेरूतप, बत्तीस कल्याणकतप, च्यवनतप, जन्मतप, सूर्यायणतप, लोकनालीतप, कल्याणक अष्टाह्नकतप, आर्यबिल वर्धमानतप, माघमालातप, महावीरतप, लक्ष प्रतिपदतप, सर्वांगसुन्दरतप, निरूज शिखतप, सौभाग्यकल्पवृक्षतप, दमयंतीतप, आयतिजनकतप, अक्षयनिधितप, मुकुटसप्तमीतप, अम्बातप, श्रुतदेवीतप, रोहिणीतप, मातृतप, सर्वसुखसंपत्तितप, अष्टापदपावडीतप, मोक्षदण्डतप, अदुःखदर्शी तपद्वय, गौतमपडघातप, निर्वाणदीपतप, अमृताष्टमीतप, अखण्डदशमीतप, परत्रपालीतप, सोपानतप, कर्मचतुर्थतप, नवकारतप (छोटा) अविधवा दशमीतप, बृहद्गंधावर्त तप एवं लघुगंधावर्त की विधि का भी उल्लेख मूलग्रन्थ में किया गया है, किन्तु स्थानाभाव के कारण हम उनका उल्लेख नहीं कर रहे हैं। कौनसा तप आगाढ़ या अनागाढ़ है तथा कौन-कौन से तप साधु के द्वारा एवं कौनसे तप श्रावक द्वारा करणीय है- इसका भी वहाँ उल्लेख हुआ है। अन्त में साधुओं के तप का उद्यापन भी करने का निर्देश दिया गया है और कहा गया है कि जिन तपों में उद्यापन क्रिया होती है उन तपों को साधुओं एवं श्रावकों को एक साथ करना चाहिए, ताकि साधुओं के तप का उद्यापन भी श्रावक अपने साथ कर सकें।

तुलनात्मक विवेचन-

श्वेताम्बर-परम्परा में हमें तप-विधान के उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं, यथा- अन्तकृत्तदशांग, औपपातिकसूत्र, पंचाशकप्रकरण प्रवचनसारोद्धार, विधिमार्गप्रपा, तिलकाचार्य -विरचित सामाचारी आदि। इन सभी ग्रन्थों में हमें उन-उन तपों की विधि का विस्तृत विवरण मिलता है तथा इन सब में वर्णित तपविधि एक जैसी ही है, मात्र हमें अन्तकृत्तदशांग एवं औपपातिकसूत्र में वर्णित

कनकावली एवं रत्नावलीतप की विधि में कुछ भेद दिखाई दिया, वह यह है कि-प्रवचनसारोद्धार, आचारदिनकर आदि में रत्नावली के नाम से विवेचित तपविधि को वहाँ कनकावली तप के नाम से एवं कनकावलीतप को रत्नावली तप के नाम से विवेचित किया है।^{७६२} मात्र इतना ही भेद हमें इन विधियों में दृष्टिगत हुआ। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी हमें आचारदिनकर में उल्लेखित कुछ तपविधियों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनकी तपविधि में कुछ भिन्नता है, यद्यपि नाम एक जैसे ही हैं। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में वर्णित तप जैन परम्परा की तपविधियों से बहुत भिन्न है। वहाँ हमें जैन परम्परा के सदृश कोई तप देखने को नहीं मिला। हाँ, वहाँ हमें चांद्रयाण तप के रूप में यवमध्यचांद्रयाणतप एवं वज्रमध्यचांद्रयाणतप का उल्लेख अवश्य मिलता है।^{७६३} उसमें भी कवल का वही परिणाम है, जो श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में वर्णित है, किन्तु उस तप में वहाँ होम आदि करने का भी उल्लेख मिलता है, जो हमें जैन-परम्परा के ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता है।^{७६४}

वर्धमानसूरि ने तप-विधि का उल्लेख करते हुए तप के माहात्म्य को बताया है कि जो अत्यन्त दुःसाध्य हैं, जो दुःख-कष्टसाध्य हैं तथा जो दूरस्थ हैं-वे सब वस्तुएँ तपस्या के द्वारा ही साध्य होती हैं। इसी प्रसंग में वर्धमानसूरि ने शिवकुमार एवं नंदीषेण ब्राह्मण का दृष्टांत भी दिया है, जिन्होंने तप के प्रभाव से देवों में महत्ता को प्राप्त किया। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी हमें तप के माहात्म्य का उल्लेख मिलता है। भगवती आराधना के अनुसार^{७६५} निर्दोष तप से जो प्राप्त न होगा, ऐसा पदार्थ जगत् में नहीं है, अर्थात् तप से पुरुष को सर्व उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। जैसे प्रज्वलित अग्नि तृण को जलाती है, वैसे ही तपरूप अग्नि कर्मरूप तृण को जलाती है। उत्तम प्रकार से किया गया और कर्मास्रवरहित तप का फल-वर्णन करने में हजार जिह्वावाले शेषादि देव भी समर्थ नहीं है। वैदिक-परम्परा में भी तप के माहात्म्य को स्वीकार किया गया है।

^{७६२} अन्तकृतदशांगसूत्र सं.- ८/१/२-८/२/५, मधुकरमुनि, आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.), द्वितीय संस्करण : १९६०.

^{७६३} धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-तृतीय), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-५, पृ.- १०८४, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७५.

^{७६४} धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-चतुर्थ), पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-१३, पृ.- १२६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७३.

^{७६५} भगवती आराधना, अनु.-पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, सूत्र सं.-१४६७-६८, बाल.ब्र. श्री हीरालाल, खुशालचन्द्र दोशी, फलटण (वाखरीकर), प्रथम संस्करण : १९६०.

इसके बाद वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर^{७६६} में वर्णित ६६ विधियों को तीन विभागों- (१) केवलीप्ररूपित तप (२) गीतार्थ मुनिवरों द्वारा प्रज्ञप्त तप एवं (३) ऐहिकफल की प्राप्ति हेतु किए जाने वाले तप में विभक्त करके कौन से तप साधु-साध्वियों द्वारा किए जाने चाहिए एवं कौन से तप श्रावक-श्राविकाओं द्वारा किए जाने चाहिए- इसका उल्लेख किया है। इसके साथ ही वहाँ तपवाही के लक्षणों का भी निरूपण किया गया है। दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में हमें इस प्रकार के उल्लेख देखने को नहीं मिले।

तप करते समय बीच में यदि पर्वतिथि का तप आता हो, तो उस बड़े तप को न करके उस पर्वतिथि के तप को करना चाहिए या पूर्व से आराधित उस बड़े तप को करना चाहिए? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि एक तप के मध्य में यदि दूसरा तप भी करणीय हो, तो ऐसी स्थिति में जो तप बड़ा हो, वही करना चाहिए।^{७६७} यहाँ कौनसे तप से कौनसा तप बड़ा है, इसका उल्लेख भी वर्धमानसूरि ने प्रसंगानुसार किया है। अनाभोगादि कारणों से यदि तप का भंग हो जाए, तो उसकी आलोचना कैसे करें तथा तिथि की मुख्यता वाले तप में कौनसी तिथि को तप करें? इसका भी हमें वहाँ विस्तृत उल्लेख मिलता है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें इन तपों के विधि-विधान के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती, किन्तु अनेक सन्दर्भों में वहाँ भी तप की विधि प्रतिपादित है। तिथि से सम्बन्धित तपों में से भी कुछ तपों के उल्लेख मिलते हैं। वैदिक-परम्परा में हमें तिथि के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख अवश्य मिलते हैं, किन्तु वहाँ भी वैदिक-विद्वानों में इस सम्बन्ध में परस्पर मतभेद देखा जाता है। विस्तारभय से वह सभी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

तत्पश्चात् वर्धमानसूरि ने तप से पूर्व क्या-क्या किया जाना चाहिए तथा तप का उद्यापन किस प्रकार से किया जाना चाहिए और उद्यापन का क्या महत्व है? इसका उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा में हमें तप प्रारम्भ करने से पूर्व जिनेश्वर परमात्मा की अष्ट प्रकारी पूजा, पौष्टिक-कर्म, साधु-साध्वियों को दान देने का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में तपों के उद्यापन करने सम्बन्धी उल्लेख अवश्य मिलते हैं।^{७६८}

^{७६६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-उनचालिसवाँ, पृ.- ३३५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७६७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-उनचालिसवाँ, पृ.- ३३५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{७६८} क्रियाकोष, अनु.- पं. पन्नालाल जैन, पृ.- २०-२१, मनुभाई मोदी, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बोरिया, प्रथम संस्करण : १९८५.

तदनन्तर वर्धमानसूरि ने विभिन्न तपों की विधियाँ प्रज्ञप्त की हैं। आचारदिनकर में वर्णित तपविधियों में से अनेक तप के उल्लेख हमें दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में मिलते हैं, जैसे-^{७६६} रत्नत्रयव्रत, अक्षयनिधिव्रत, एकावलीतप, रत्नावलीतप, कनकावलीतप, मुक्तावलीतप, मुकुटसप्तमीतप, सिंहनिष्क्रीडिततप, पंचकल्याणकतप आदि। दिगम्बर-परम्परा में वर्णित इन तपों के नामोल्लेख तो आचारदिनकर में वर्णित नामों के सदृश ही हैं, किन्तु इनकी विधियों में अन्तर भी दृष्टिगत है। कुछ विधियाँ ऐसी भी हैं, जो आचारदिनकर में वर्णित विधि की भाँति हैं, जैसे-चन्द्रायणतप (यवमध्यचान्द्रायणतप) की विधि आचारदिनकर में वर्णित यवमध्यचान्द्रायण की भाँति ही है वहाँ मात्र इतना फर्क है कि प्रारम्भ में अमावस्या के दिन उपवास किया जाता है^{८००} तथा अंत में अमावस्या के दिन पारणा आता है, जबकि आचारदिनकर में अमावस्या के दिन उपवास करने का उल्लेख नहीं मिलता है। इस प्रकार कुछ तपविधियाँ ऐसी हैं, जो हमें दोनों परम्पराओं के मध्य आंशिक भेद को ही सूचित करती है, किन्तु कुछ तपविधियाँ ऐसी हैं, जो दोनों ही परम्पराओं में अलग-अलग है, जैसे-आचारदिनकर के अनुसार समवसरणतप की आराधना के लिए श्रावण कृष्णपक्ष या भाद्रपद कृष्णपक्ष एकम को तप का प्रारम्भ करके अपनी शक्ति के अनुसार सोलह दिन तक बियासना^{८०१} या एकासना^{८०२} किया जाता है। इस प्रकार यह तप चार वर्ष तक किया जाता है,^{८०३} जबकि दिगम्बर-परम्परा में समवसरणतप की आराधना हेतु शुक्ल एवं कृष्ण-दोनों पक्षों की चतुर्दशियों के चौबीस उपवास शीलव्रतसहित किए जाते हैं।^{८०४} दिगम्बर-परम्परानुसार यह तप मात्र एक वर्ष में ही पूरा हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा की तप-विधि में कहीं आंशिक भेद दिखाई देता है, तो कहीं अत्यधिक वैविध्य भी दृष्टिगत होता है, किन्तु कुछ में समानता भी है।

^{७६६} क्रियाकोष, अनु.- पं. पन्नालाल जैन, पृ.- २१, मनुभाई मोदी, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बोरिया, प्रथम संस्करण : १९८५.

^{८००} क्रियाकोष, अनु.- पं. पन्नालाल जैन, पृ.- २८०, मनुभाई मोदी, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बोरिया, प्रथम संस्करण : १९८५.

^{८०१} बियासना अर्थात् दिन में मात्र दो बार एक आसन में बैठकर आहार करना।

^{८०२} एकासना अर्थात् दिन में मात्र एक बार एक आसन में बैठकर आहार करना।

^{८०३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-उनचालीसवाँ, पृ.- ३३५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{८०४} क्रियाकोष, अनु.- पं. पन्नालाल जैन, पृ.- २५५, मनुभाई मोदी, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बोरिया, प्रथम संस्करण : १९८५.

उपसंहार-

आत्मा के परिणामों को निर्मल करने हेतु तप अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि तप के द्वारा ही व्यक्ति अपने कर्मों का क्षय करता है। तप मात्र कर्मों की निर्जरा का ही हेतु नहीं है, वरन् संवर का भी हेतु है। जैसाकि तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि “तपसानिर्जरा च,” अर्थात् तप से निर्जरा भी होती है,^{८०५} अर्थात् तप से संवर और निर्जरा दोनों होते हैं। कर्मों की निर्जरा एवं संवर किए बिना जीव अनन्तचतुष्टय को प्राप्त नहीं कर सकता है, इसलिए ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति करने के लिए तप की आराधना करना आवश्यक है। तप से सभी अर्थों की सिद्धि होती है तथा आत्मा स्वर्ण के समान चमकने लगती है। राजवार्तिक^{८०६} में भी कहा गया है कि

“तपः सर्वार्थ साधनम्। तत एव ऋद्धयः संजायन्ते। तपस्विभिरध्युषितान्येव क्षेत्राणि लोके तीर्थतामुपगतानि। तद्यस्य न विद्यते स तृणाल्लघुर्लक्ष्यते। मुंचन्ति तं सर्वे गुणाः। नासौ मुंचति संसारम्,”

अर्थात् तप से सभी अर्थों की सिद्धि होती है, इससे ऋद्धियों की प्राप्ति होती है। तपस्वियों की चरणरज से पवित्रस्थान ही तीर्थ बने हैं। जो तप का आचरण नहीं करता है, वह तिनके से भी लघु है। उसे सब गुण छोड़ देते हैं तथा वह संसार से मुक्त नहीं होता है। इस प्रकार संसार से मुक्त होने के लिए तप एक माध्यम है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी तप का जीवन में अनूठा स्थान है। टाइफाइड के विषम ज्वर के समय मानव को लंघन कराया जाता है, यह एक प्रकार का तप जैसा ही है। वह जबरन कराया जाता है, किन्तु जब उसका परिणाम सामने आता है, तो वह हमें कल्याणकारी लगने लगता है। इस प्रकार तप पारलौकिक दृष्टि से ही नहीं, वरन् ऐहिक दृष्टि से भी उपयोगी है।

पदारोपण विधि

पदारोपण-विधि का स्वरूप -

यहाँ पद शब्द का तात्पर्य है- सम्मानजनक स्थान, पदवी आदि। जिस विधि के द्वारा किसी व्यक्ति को कोई पदवी या कोई सम्मानजनक स्थान प्रदान

^{८०५} स्वतंत्रता के सूत्र, आचार्यकनकनदी, सूत्र सं.- ६/३, धर्मदर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन, निकट, दिगम्बर जैन, अतिथि भवन, बड़ौत (मेरठ), प्रथम संस्करण : १९६२.

^{८०६} जैनेन्द्र शब्दकोश (भाग-१), जिनेन्द्रवर्णी, पृ.- ३६२, भारतीय ज्ञानपीठ, छठवाँ संस्करण: १९६७.

किया जाता है, उसे पदारोपण-विधि कहते हैं। पद का एक अर्थ प्राप्त करना भी है। इस अर्थ में यदि इस शब्द की व्याख्या की जाए, तो पदारोपण-विधि एक ऐसी प्रक्रिया है, जिससे व्यक्ति उस पद से सम्बन्धित अधिकारों को प्राप्त करता है। वर्धमानसूरि ने इस प्रकरण में न केवल साधुओं की पदारोपण-विधि का ही उल्लेख किया है, वरन् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, महाशूद्र, कारु एवं पशुओं की पदारोपण-विधि का भी उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में हमें साधुओं के आचार्य पदारोपण विधि का उल्लेख मिलता है, जिसकी तुलना हमने आचार्यपदस्थापन-विधि से की है। गच्छनायक आदि की पदारोपणविधि का हमें वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक-परम्परा में भी हमें संन्यासियों के मठाधीश, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर आदि के पदारोपण की विधि का प्रचलन तो मिलता है, किन्तु हमें तत्सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए। ब्राह्मण आदि वर्णों में से कुछ वर्णों की पदारोपण-विधि का उल्लेख वर्धमानसूरि ने अवश्य किया है, जिसकी हम यथा-स्थान चर्चा करेंगे। पदारोपण-विधि के अतिरिक्त इसी विधि में वर्धमानसूरि ने मुद्रा-विधि एवं नामकरण-विधि का भी उल्लेख किया है। पदारोपण-विधि का मुख्य प्रयोजन विभिन्न पदों पर योग्य व्यक्तियों को स्थापित करना है। किसी संघ या समाज की सुदृढ़ व्यवस्था के लिए एक मुख्य व्यक्ति का होना आवश्यक है, क्योंकि स्वामी के अभाव में संघ का संचालन सुचारु रूप से नहीं हो सकता है, किन्तु वह स्वामी कैसा हो, किन गुणों से युक्त हो, यह जानना भी आवश्यक है, क्योंकि योग्य स्वामी ही सभी का योगक्षेम कर सकता है।^{८०७} इस विधि का प्रयोजन योग्य स्वामी का चयन करके उसे पद पर अभिसिक्त करना है।

गच्छाधिपति आदि की पदारोपण-विधि कब और किसकी की जानी चाहिए, इसके सम्बन्ध में आचारदिनकर में कहा गया है कि जो विशुद्ध कुल, जाति एवं चारित्र वाला हो, विधिपूर्वक जिसने चारित्र को ग्रहण किया हो, योगों का उद्वहन किया हो, आचार्य के छत्तीस गुणों से युक्त हो तथा विधिक्रम से जिसने आचार्य पद को प्राप्त किया हो-ऐसे आचार्य को^{८०८} आचार्य-पदोचित लग्न के आने पर^{८०९} गच्छनायक पद पर आरोपित करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य पदों के सम्बन्ध में भी वर्धमानसूरि ने उन पदों के योग्य गुणों एवं मुहूर्त का उल्लेख किया है। वैदिक-परम्परा में भी राज्याभिषेक आदि पदों हेतु शुभमुहूर्त आदि देखने

^{८०७} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ.- ३६३, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{८०८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चालीसवाँ, पृ.- ३७४, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{८०९} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चालीसवाँ, पृ.- ३७४-३७५, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु किन्हीं विशेष परिस्थितियों में शुभमुहूर्त देखे बिना भी राज्याभिषेक करने के निर्देश भी मिलते हैं। विष्णुधर्मोत्तर^{८१०} में कहा गया है कि राजा के मर जाने पर उत्तराधिकारी के राज्याभिषेक के लिए किसी शुभ घड़ी की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए, किन्तु दूसरी ओर राजनीतिप्रकाश के अनुसार राजा के मर जाने पर उत्तराधिकारी को मुकुट एक वर्ष के बाद पहनाना चाहिए।

संस्कार का कर्ता-

आचारदिनकर के अनुसार गच्छनायक पदारोपण की विधि स्वगुरु अथवा वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध गीतार्थ के द्वारा,^{८११} जैन ब्राह्मण आचार्य-पद आदि की विधियाँ, यति आचार्य अथवा आचार्य-पद को प्राप्त ब्राह्मण द्वारा करवाई जाती है। वैदिक-परम्परा में आचार्य-पदारोपण की विधि आचार्यादि द्वारा तथा राज्याभिषेक आदि पदारोपण की विधि राजपुरोहित आदि द्वारा करवाई जाती है।

वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में इसकी निम्न विधि प्रस्तुत की है-

पदारोपण की विधि-

इस विधि में सर्वप्रथम गच्छनायक के पदारोपण की विधि का उल्लेख करते हुए वर्धमानसूरि ने गच्छनायक-पद के योग्य मुनि के लक्षणों का निरूपण किया है। तदनन्तर गच्छनायक पदारोपण की विधि से पूर्व क्या करें? इसका उल्लेख करते हुए गच्छनायक-पद विधि का वर्णन किया है। आचार्य-पदोचित लग्न के आने पर स्वगुरु अथवा अन्य वयोवृद्धाचार्य वासचूर्ण को अभिमंत्रित करके उस आचार्य के सिर पर डालते हैं तथा गणधर विद्या से तिलक करते हैं। चतुर्विधसंघ भी परमेष्ठीमंत्रपूर्वक चन्दन द्वारा तिलक, अथवा वासक्षेप करते हैं। तत्पश्चात् गुरु द्वारा आशीर्वाद प्रदान करने पर सभी उस आचार्य पर अभिमंत्रित वासचूर्ण एवं अक्षत निक्षेपित करते हैं। तदनन्तर वन्दन-विधि करते हैं। इसके अतिरिक्त उपाध्याय, साधु आदि को गणानुज्ञा देते समय गणानुज्ञा सम्बन्धी जो कथन है, वह वाचनानुज्ञा अधिकार में दृष्टव्य है। पदारोपाधिकार में यति-पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

तदनन्तर विप्रों की पदारोपण-विधि बताई गई है। विप्रों में आचार्य, उपाध्याय, स्थानपति एवं कर्माधिकारी-ये चार प्रकार के पद होते हैं। विप्राचार्य की

^{८१०} देखे- धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-द्वितीय), डॉ. पंडुरंग वामन कर्णे, अध्याय-३, पृ.- ६११, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७३.

^{८११} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चालीसवाँ, पृ.- ३७६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

विधि का उल्लेख करते हुए सर्वप्रथम उसके लक्षणों का निरूपण किया है। तदनन्तर सूरिपद के लिए उचित लग्न के आने पर यतिगुरु अथवा गृहस्थाचार्य पूर्वोक्त गुणों से युक्त, ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले उस गृहस्थ विप्र को, जिसका भद्रकरण-संस्कार किया जा चुका हो और मात्र शिखाधारी हो एवं उत्तरासंग से युक्त उस उत्तम गुण वाले ब्राह्मण को पौष्टिककर्म पूर्वक जैन ब्राह्मण आचार्य-पद की विधि कराए। इसके लिए सर्वप्रथम उस विप्र को समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दिलवाकर, देववन्दन, श्रुतदेवता आदि के कायोत्सर्ग एवं स्तुति करवाकर सम्यक्त्वदण्डक एवं द्वादशव्रतों का उच्चारण कराए। तदनन्तर लग्नवेला के आने पर गुरु किस प्रकार से गौतममंत्र सहित षोडशाक्षरी परमेष्ठी महाविद्या प्रदान कर, वासक्षेप करे, आदि का भी मूलग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। जैन ब्राह्मण आचार्य की यह विधि पूर्ण होने के बाद गुरु किस प्रकार से उसे अनुज्ञा दे तथा शिष्य गुरु का किन वस्तुओं से सम्मान करे? इसका भी वर्धमानसूरि ने उल्लेख किया है। इसी प्रकार इस प्रकरण में जैन ब्राह्मण की उपाध्यायपद विधि, स्थानपतिपद विधि, कर्माधिकारीपद विधि, क्षत्रियों की राजपद विधि, सामन्तपदविधि, मण्डलेश्वरपदविधि, देशमण्डलाधिपतिविधि, ग्रामाधिपतिपदविधि, मंत्रीपद विधि, सेनापतिपदविधि, कर्माधिकारीपदविधि, वैश्यों एवं शूद्रों की श्रेष्ठिपदविधि, सार्धवाह पदविधि, गृहपतिपदविधि, महाशूद्र एवं कारूओं की पदारोपण-विधि, पशुओं के पदारोपण की विधि, संघपति-पदारोपणविधि आदि का भी मूलग्रन्थ में विस्तार से उल्लेख हुआ है। स्थानाभाव के कारण हम उनकी चर्चा यहाँ नहीं कर रहे हैं।

मुद्रा-विधि-

तदनन्तर प्रतिष्ठा आदि कृत्यों में उपयोगी ४२ प्रकार की मुद्रा-विधि का उल्लेख हुआ है। इन ४२ मुद्राओं के अतिरिक्त कुछ अन्य मुद्राओं की विधि का उल्लेख भी मूलग्रन्थ में हुआ है।

यहाँ मूलग्रन्थ में जिन मुद्रा-विधियों का उल्लेख हुआ है, उनके नामोल्लेख इस प्रकार हैं- परमेष्ठीमुद्रा, मुद्गरमुद्रा, वज्रमुद्रा, गरुडमुद्रा, जिनमुद्रा, मुक्ताशुक्तिमुद्रा, अंजलिमुद्रा, सुरभिमुद्रा, पद्ममुद्रा, चक्रमुद्रा, सौभाग्यमुद्रा, यथाजातमुद्रा, आरात्रिकमुद्रा, वीरमुद्रा, विनीतमुद्रा, प्रार्थनामुद्रा, परशुमुद्रा, छत्रमुद्रा, प्रियंकरीमुद्रा, गणधरमुद्रा, योगमुद्रा, कच्छपमुद्रा, धनुःसंधानमुद्रा, योनिमुद्रा, दण्डमुद्रा, सिंहमुद्रा, शक्तिमुद्रा, शंखमुद्रा, पाशमुद्रा, खड्गमुद्रा, कुन्तमुद्रा, वृक्षमुद्रा, शात्मकीमुद्रा, कन्दुकमुद्रा, नागफणमुद्रा, मालामुद्रा, पताकामुद्रा, घण्टमुद्रा, यथाजातमुद्रा, मोक्षकल्पलतामुद्रा, कल्पवृक्षमुद्रा आदि।

नामकरण विधि-

तदनन्तर वर्धमानसूरि ने नामकरण-विधि का वर्णन किया है। नाम की क्या उपयोगिता है, शास्त्र में कितने प्रकार के नाम बताए गए हैं, कौनसे नाम प्रशस्त हैं तथा प्राचीनकाल में जैन साधुसंस्था में नाम की क्या व्यवस्था थी? इसका उल्लेख भी इस प्रकरण में प्रसंगवश हुआ है। इसके साथ ही मूलग्रन्थ में योनि-वैर, नक्षत्रों के गण, वैराष्टक का उल्लेख करते हुए-(१) योनि (२) वर्ग (३) लभ्यालभ्य (४) गण (५) राशि भेद के अनुसार नाम रखने के लिए कहा गया है। तदनन्तर साधुओं के नाम के पूर्व के पदों यथा- देव, गुण, शुभ, आगम, जिन, कीर्ति आदि तथा उत्तरपदों यथा- शशांक, कुम्भ, शैल, अब्धि, कुमार आदि का उल्लेख हुआ है। साध्वियों के नाम के पूर्वपद यतियों के समान ही होते हैं, तथा उत्तरपद मति, चूला, प्रभा, देवी, लब्धि, सिद्धि, वती होते हैं। प्रवर्तिनी एवं महत्तरा के नाम, विद्वान विप्रों के नाम, क्षत्रियों के नाम के पूर्वपद एवं उत्तर पद तथा वैश्य, शूद्र, कारुओं के नाम एवं पशुओं के नाम कैसे हों? इसका भी मूलग्रन्थ में विचार किया गया है।

इस विधि की विस्तृत जानकारी हेतु मेरे द्वारा अनुवादित आचारदिनकर ग्रन्थ को देखा जा सकता है।

तुलनात्मक विवेचन-

आचारदिनकर के इस प्रकरण में वर्णित पदारोपण की विधियों में से हमें दो विधियों, यथा-आचार्यपदाभिषेक, राज्याभिषेक इन दो विधियों का उल्लेख मिला है, जिनकी तुलना हम यहाँ करेंगे। अन्य पदारोपण की विधियों, यथा-गच्छनायकपदविधि, जैन ब्राह्मण उपाध्यायपदविधि, स्थानपति-पदारोपण आदि विधियों के उल्लेख हमें, उपलब्ध वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिले। धर्मशास्त्र के इतिहास में मंत्री,^{८१२} सेनापति^{८१३} आदि के गुणों का उल्लेख तो अवश्य मिलता है, किन्तु उनमें पदारोपण की विधि नहीं दी गई है।

आचारदिनकर में विप्रों की आचार्यपदविधि का उल्लेख करते हुए वर्धमानसूरि ने सर्वप्रथम जैन ब्राह्मण के आचार्य-पद के योग्य लक्षणों का निरूपण किया है।

^{८१२} धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-द्वितीय), डॉ. पांडुरंग वामनकाणे, अध्याय-४, पृ.- ६२५, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७३.

^{८१३} धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-द्वितीय), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-४, पृ.- ६३५, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७३.

वर्धमानसूरि के अनुसार^{८१४} जैन ब्राह्मणों का आचार्य पवित्र कुलवाला, द्वादशव्रत का धारक, अन्य देवों तथा अन्य लिंगों को प्रणाम न करने वाला, उनके साथ संभाषण न करने वाला, उनकी पंशसा न करने वाला, सावध व्यापार का त्यागी, दुष्प्रतिग्रह से रहित, नित्य नवकारसी आदि प्रत्याख्यान करने वाला, आदि गुणों से युक्त होता है। वैदिक-परम्परा के अग्निपुराण^{८१५} आदि ग्रन्थों की आचार्यपदाभिषेक विधियों में हमें विप्राचार्य के गुणों (लक्षणों) का वर्णन नहीं मिलता है, क्योंकि वहाँ आचार्यपद वंशपरम्परागत चलता है, इसलिए सम्भव है कि वहाँ इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा न की गई हो।

आचारदिनकर के अनुसार^{८१६} पूर्वोक्त गुणों से युक्त, ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले उस विप्र को, जिसका भद्राकरण-संस्कार किया जा चुका हो और जो मात्र शिखाधारी एवं उत्तरासंग से युक्त हो, ऐसे उत्तम गुण वाले ब्राह्मण को मुहूर्त के आने पर पौष्टिककर्म पूर्वक चैत्य, उपाश्रय, गृह, उद्यान अथवा तीर्थ में वामपार्श्व में स्थापित करके समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करवानी चाहिए। तत्पश्चात् किस प्रकार से देववन्दन करें, किन-किन देवताओं का कायोत्सर्ग एवं स्तुति करें तथा लग्न समय के आने पर शिष्य किस प्रकार से षोडशाक्षरी परमेष्ठी महाविद्या का ग्रहण करें? इसका भी आचारदिनकर में उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् शिष्य गुरु एवं समवसरण की प्रदक्षिणा लगाकर शक्रस्तव का पाठ करें तथा यतिगुरु हो, तो द्वादशावर्तवन्दन अथवा गृहस्थ गुरु को दण्डवत् प्रणाम करे। आचार्य शिष्य को किस प्रकार से वासक्षेप दे, किस प्रकार से वेदमंत्र का उच्चारण करें, एवं पौष्टिकदण्डक बोले - इसका भी मूलग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। इस विधि के अन्त में गुरु किस प्रकार से शिष्य को विविध विधि-विधान करने या करवाने की अनुज्ञा दे, इसका भी उल्लेख किया गया है। अग्निपुराण में हमें आचार्याभिषेक की इतनी लम्बी प्रक्रिया का उल्लेख नहीं मिलता है। अग्निपुराण के अनुसार^{८१७} मिट्टी के कलशों को जो कि सुन्दर रत्नों से समन्वित हो, मध्य और पूर्व आदि में न्यस्त करना चाहिए। ये कुम्भ सहस्र अथवा शतवर्ती होने चाहिए। मण्डप में जो मण्डल है, उसमें भगवान् विष्णु को पीठ पर प्राची तथा ऐशानी

^{८१४} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चालीसवाँ, पृ.- ३७६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{८१५} अग्निपुराण, सं.-पं. श्रीराम शर्मा, अध्याय-१३५, पृ.- १८३, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली, संशोधित संस्करण : १९८७.

^{८१६} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चालीसवाँ, पृ.- ३७६, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{८१७} अग्निपुराण, सं.-पं. श्रीराम शर्मा, अध्याय-१३५, पृ.- १८३, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली, संशोधित संस्करण : १९८७.

दिशाओं में निवेशित करें एवं साधिकारि पुत्र को संकलित करके गीतगानपूर्वक अभिषेक-अभ्यर्चन करें तथा योगपीठ आदि प्रदान करें। वैदिक-परम्परा में आचार्याभिषेक की हमें इतनी ही विधि मिलती है।

राज्याभिषेक की विधि का उल्लेख करते हुए वर्धमानसूरि ने सर्वप्रथम नृपति के योग्य लक्षणों की विस्तार से चर्चा की है। वर्धमानसूरि के अनुसार^{१९८} विशुद्ध क्षत्रिय कुल में जन्मा हुआ, क्रम से राज्य का अधिकार रखने वाला, सम्पूर्ण अंगोपांग वाला, क्षमावान् दाता, धैर्यवान्, बुद्धिशाली, शूरवीर, कृतज्ञ, अठारह प्रकार की विद्याओं में प्रवीण, आदि गुणों से युक्त क्षत्रिय नृपति पद के योग्य होता है। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में भी राजपद के योग्य क्षत्रिय के गुणों की विस्तृत चर्चा हुई है। याज्ञवल्क्यस्मृति^{१९९} के अनुसार राजा को शक्तिमान्, दयालु, दूसरों के अतीत कर्मों का जानकार, तप, ज्ञान एवं अनुभव वालों पर आश्रित, अनुशासित मन वाला, अच्छे-बुरे भाग्य में समान स्वभाव रखने वाला, आदि गुणों से युक्त होना चाहिए। कौटिलि ने^{२००} राजा के गुणों की सूची कई दृष्टिकोणों से उपस्थित की है। उसमें सबसे पहले ऐसे गुणों का वर्णन है, जिसके द्वारा राजा लोगों के हृदय को जीत सके, यथा-कुलीनता, धर्मपरायणता, आदि। तत्पश्चात् राजा के बुद्धि-विषयक गुण, उत्साह आदि की चर्चा की गई है।

क्षत्रिय के राज्याभिषेक से पूर्व सर्वप्रथम शान्तिक-पौष्टिककर्म करना चाहिए।^{२०१} राज्याभिषेक किस मुहूर्त में करना चाहिए? इसका भी उल्लेख आचारदिनकर में मिलता है। शुभ मुहूर्त में पूर्वोक्त गुणों से युक्त राजपुत्र को बृहत्स्नानविधि के स्नानजल एवं सर्वौषधि से युक्त जल से महोत्सवपूर्वक स्नान करवाकर श्वेतवस्त्र, उत्तरासंग, आभरण आदि धारण करवाएं। तत्पश्चात् सधवा एवं पुत्रवान् स्त्रियों द्वारा लाए गए, रत्नजटित सुन्दर आसन पर उसे पर्यकासन में बैठाएं और विविध वाद्यों की ध्वनियाँ करें तथा लग्न-समय के आने पर गृहस्थ गुरु समस्त तीर्थों के जल से वेदमंत्रों के द्वारा एवं यतिगुरु सूरिमंत्र, वलयमंत्र आदि द्वारा उसे अभिसिंचित करें। यति गुरु एवं गृहस्थ गुरु किन मंत्रों से नृपति को तिलक करें, मुकुट के नीचे भाल पर किस प्रकार से तीन रेखाओं से युक्त

^{१९८} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चालीसवाँ, पृ.- ३७७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{१९९} देखें- धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-द्वितीय), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२, पृ.- ५६७, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७३.

^{२००} देखें- धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-द्वितीय), डॉ. पांडुरंगवामनकाणे, अध्याय-२, पृ.- ५६७, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७३.

^{२०१} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चालीसवाँ, पृ.- ३७७, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

रत्नजटित सुवर्णपट्ट को बांधे, अन्य राजा, सामन्त आदि किस क्रम से तिलक करें तथा उपहार में क्या वस्तुएँ प्रदान करें, यतिगुरु अथवा गृहस्थ गुरु किस प्रकार से पौष्टिकदण्डक का पाठ बोले, राजचिह्नों की किन मंत्रों से पूजा करके उन से किस प्रकार राजा को सुशोभित करें? इसका भी उल्लेख आचारदिनकर में किया गया है। तत्पश्चात् यति गुरु अथवा गृहस्थ गुरु राजा को शिक्षा प्रदान करने से पूर्व कुछ नियम देते हैं, यथा- देव, गुरु, द्विज, कुल, ज्येष्ठ एवं साधु-संन्यासी को छोड़कर तुम अन्य किसी को नमस्कार मत करना, किसी के हाथों से छुआ हुआ आहार मत खाना, अन्य किसी के साथ भोजन भी मत करना इत्यादि। ये नियम देने के बाद गुरु किस प्रकार से नृपति को नीति-शिक्षा दें इसका उल्लेख करते हुए प्रसंगवश यहाँ पर राजचिह्नों का भी उल्लेख किया गया है। वैदिक-परम्परा के अग्निपुराण नामक ग्रन्थ में भी हमें उक्त क्रियाओं में से कुछ क्रियाओं का उल्लेख मिलता है, जैसे-^{८२२} राजा को स्नान कराना, भद्रासन पर बैठाना, शान्तिकर्म करना, राज्याभिषेक के समय गान एवं वाद्ययन्त्रों को बजाना, राजा के समक्ष पंखे एवं चामर पकड़कर खड़े रहना, राजा के भाल पर पट्ट बाँधना, एवं उस पर मुकुट रखना आदि, किन्तु इन सब प्रक्रियाओं में प्रयुक्त मंत्रों एवं क्रियाओं में आंशिक अन्तर है, जैसे- आचारदिनकर में राजा को जिनस्नानजल एवं सर्वौषधियों से युक्त जल से स्नान कराने के लिए कहा गया है,^{८२३} जबकि अग्निपुराण में यह स्नान तिल एवं सरसों से युक्त जल से करने का उल्लेख मिलता है।^{८२४} इस प्रकार दोनों परम्पराओं की इस विधि में कहीं-कहीं आंशिक भिन्नता दिखाई देती है।

इसके अतिरिक्त आचारदिनकर में अन्य पदारोपण की विधियों का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में हमें ये विधियाँ उपलब्ध नहीं होने से हम यहाँ उन विधियों का तुलनात्मक अध्ययन करने में असमर्थ हैं।

उपसंहार-

किसी भी कार्य को सुचारु रूप से संचालन करने के लिए उस कार्य से सम्बन्धित अधिकारों को किसी व्यक्ति के हाथ में सौंपना आवश्यक है, क्योंकि जब तक उसे समुचित अधिकार प्रदान नहीं किए जाते हैं, तब तक वह अधिकारों

^{८२२} देखे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-द्वितीय), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२, पृ.- ६११, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७३.

^{८२३} आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चालीसवाँ, पृ.- ३७८, निर्णयसागर मुद्रालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण : १९२२.

^{८२४} देखे- धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-द्वितीय), डॉ. पांडुरंग वामन काणे, अध्याय-२, पृ.- ६११, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण : १९७३.

के अभाव में मात्र उन क्रियाओं को करने या न करने का निर्देश तो दे सकता है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति उसके निर्देशानुसार कार्य नहीं करता है तो वह उसे दण्डित नहीं कर सकता है। दूसरे, स्वामी के पास अधिकार होने से उनके निर्देश में कार्य करने वालों को भी थोड़ा भय रहता है कि यदि हम समुचित कार्य नहीं करेंगे, तो स्वामी हमें दण्डित करेगा या हमें पद से च्युत कर देगा। इस भय से भी वे उचित ढंग से कार्य करते हैं।

एक मालिक के अभाव में कार्य में समरूपता भी नहीं होती है, क्योंकि कोई कुछ निर्देश देता है और कोई कुछ अन्य। इससे कर्मचारी वर्ग असमंजस की स्थिति में पड़ जाता है कि क्या करे और क्या न करे? जिसका परिणाम यह होता है कि न तो कार्य ठीक ढंग से ही हो पाता है और न ही व्यक्ति अपने निश्चित लक्ष्य की पूर्ति ही कर पाता है। अतः इन समस्याओं के समाधान के लिए भी पदारोपण-विधि आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त प्रजा की रक्षा हेतु, शत्रुराज्य के आक्रमण से रक्षा हेतु, आदि स्थितियों में निर्णय लेने हेतु राजा, सामन्त, मंत्री, सेनापति आदि पदों पर पदारोपण का होना आवश्यक है, जो ऐसे समय पर तुरन्त निर्णय ले सकें।

नामकरण-विधि एवं मुद्राविधि भी अपने-आप में महत्वपूर्ण है, क्योंकि व्यक्ति के नाम एवं विविध मुद्राओं का भी बहुत प्रभाव पड़ता है तथा सर्वकार्यों में जो शुभमुहूर्त देखा जाता है, वह उस कार्य में सफलता को प्राप्त करने हेतु किया जाता है। इस प्रकार समुचित मुहूर्त में योग्य व्यक्तियों को जनसाधारण की उपस्थिति में विधि-विधान पूर्वक पदारोपण करना समाज एवं राष्ट्रहित में आवश्यक है।



अध्याय-७

उपसंहार

विविध संस्कारों की मूल्यवत्ता और वर्तमान समय में उनकी प्रासंगिकता-

जीवन में संस्कारों का अत्यन्त महत्व है। संस्कारों के अभाव में मनुष्य पशुवत् होता है। जैसे पशु यह नहीं जानते हैं कि उनकी क्या मर्यादाएँ हैं, उन्हें कैसे रहना चाहिए, कैसे जीवन-यापन करना चाहिए, ठीक उसी प्रकार संस्कार विहीनमनुष्य भी इन सबसे अनभिज्ञ रहता है। उसकी समस्त क्रियाएँ, प्रवृत्तियाँ पशुओं जैसी ही होती हैं। फिर भी जहाँ पशु का जीवन अपनी प्रकृति से निर्धारित होता है, वही संस्कारहीन मानव तो मानवीय प्रकृति का उल्लंघन कर पशु से भी निम्न स्थिति में जीता है।

संस्कार एक ऐसा माध्यम है, जो व्यक्ति के अन्दर बीजरूप में रहे हुए गुणों को वृक्ष के समान पल्लवित कर देता है। बीज को जब उचित वातावरण, खाद्य, जल आदि का संयोग मिलता है, तो वह बीज वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। ठीक उसी प्रकार संस्कारों का संयोग मिलने पर व्यक्ति के अन्दर रही हुई योग्यताएँ भी प्रकट हो जाती हैं। जैसे विभिन्न प्रकार की मिट्टी को विधानानुसार संस्कारों द्वारा शोधकर उससे लोहा, ताँबा, सोना आदि बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त की जाती हैं, जिस प्रकार आयुर्वेदिक रसायन बनाने वाले औषधियों को कई प्रकार के रसों में मिश्रित कर उन्हें गजपुट, अग्निपुट विधियों द्वारा कई-कई बार तपाकर संस्कारित कर उनसे मकरध्वज एवं अन्यान्य चमत्कारी औषधियों का निर्माण करते हैं, ठीक उसी प्रकार मनुष्य के लिए भी समय-समय पर विभिन्न धार्मिक उपचारों, संस्कारों का विधान करके उन्हें सुसंस्कारित बनाया जाता है, जिससे कि वह अपने में निहित सद्गुणों या मानवीय गुणों को प्राप्त कर सके।

इस प्रकार मानव-शिशु के उज्ज्वल भविष्य के लिए उसका सुसंस्कारी होना अत्यन्त अनिवार्य है। संस्कारों के अभाव में उसका जीवन मुरझाए हुए पौधे के समान होता है, जो उचित वातावरण के अभाव में यथाशीघ्र ही अपने अस्तित्व को समाप्त कर देता है।

विविध संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति में सदाचार, विनय, क्षमा, दया, सत्य, अहिंसा आदि गुणों का विकास होता है, जो परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में शान्ति स्थापित करने में सहयोगी होते हैं। आज हम देखते हैं कि व्यक्ति छोटी-छोटी बातों को लेकर कोर्ट-कचहरी तक पहुँच जाते हैं, एक-दूसरे की हत्या तक कर देते हैं- यह सब कुसंस्कारों का ही प्रभाव है। व्यक्ति जब तक स्वयं के क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ पाएगा, तब तक वह समाज, राष्ट्र एवं विश्व कल्याण के महान कार्यों को कैसे कर पाएगा। व्यक्ति समाज की ही एक इकाई है। व्यक्तियों से मिलकर ही समाज का निर्माण होता है। समाज का चहुँमुखी विकास तभी सम्भव है, जब व्यक्ति का चहुँमुखी विकास हो और व्यक्ति के चहुँमुखी विकास के लिए उसका सुसंस्कारी होना अत्यन्त अनिवार्य है। आचारदिनकर में वर्णित चालीस संस्कार न केवल व्यक्ति के वैयक्तिक, पारिवारिक जीवन हेतु ही आवश्यक हैं, वरन् उसके धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन हेतु भी उपयोगी हैं। आचारदिनकर में वर्णित विविध संस्कारों की क्या उपयोगिता है एवं वर्तमान समय में उनकी क्या प्रासंगिकता है, इसकी चर्चा हम निम्न बिन्दुओं के माध्यम से करेंगे-

गर्भाधान-संस्कार-

गर्भ को स्वलन से बचाने एवं उसका संरक्षण करने हेतु यह संस्कार उपयोगी है। पाँचवें माह में किया जाने वाला यह संस्कार गर्भवती तथा उसके स्वजनों को यह सूचित करता था कि वह गर्भवती है, ताकि स्वजन गर्भवती स्त्री की एवं गर्भ की सम्यक् प्रकार से सुरक्षा कर सकें, क्योंकि उनकी थोड़ी-सी भी असावधानी गर्भस्थ बालक पर कुप्रभाव डाल सकती है। कल्पसूत्र की टीका में भी हमें इस सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। जब त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में महावीर स्वामी का जीव था, तब वह उस गर्भ का पालन किस प्रकार से करती थी, उसे बताते हुए कहा गया है कि उसने अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त तीक्ष्ण, अत्यन्त कटुक, अत्यन्त कसैले, अत्यन्त खट्टे, अत्यन्त मीठे, अत्यन्त स्निग्ध, अत्यन्त रूक्ष भोजन का त्याग कर दिया। वह ऋतुओं के अनुकूल सुखकारी भोजन करती तथा वस्त्र, गन्ध और मालाओं को धारण करती हुई रोग, शोक, मोह, भय और त्रास रहित होकर रहने लगी, इत्यादि। इससे फलित होता है कि गर्भवती को न केवल खाने-पीने का ही ध्यान रखना चाहिए, वरन् उठने-बैठने में भी बहुत सावधानी रखनी चाहिए, किन्तु वर्तमान में गर्भवती स्त्रियाँ इन बातों की तरफ कोई ध्यान नहीं देती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है तथा रोगोपचार के लिए उन्हें औषधियों का सेवन करना पड़ता है, जो बालक पर बहुत बुरा प्रभाव डालती हैं। पथ्यों का सेवन करने से इन दुष्परिणामों

से बचा जा सकता है। इस प्रकार पथ्यों के सेवन में यह संस्कार भी सहायभूत है। गभार्धान संस्कार परिवार एवं समाज में नए सदस्य के शुभागमन का सूचक होता है। वह किसी नवागत सदस्य के स्वागत हेतु तत्पर रहने की सूचना देता है।

पुंसवन-संस्कार-

शिशु-शरीर में पूर्णाभावरूपी प्रमोदजन्य स्तनों में दूध की उत्पत्ति के सूचकार्थ किया जाने वाला यह संस्कार भी वर्तमान जीवन में अत्यन्त उपयोगी है। शिशु का जीवन जन्म के बाद छः मास तक माता के दुग्ध पर ही आधारित रहता है और उसी से उसका पोषण होता है, किन्तु यदि माता के स्तनों में दूध की उत्पत्ति समुचित न हो, तो शिशु को पर्याप्त आहार नहीं मिल सकता है और पर्याप्त आहार के अभाव में शिशु का स्वास्थ्य भी बिगड़ सकता है। इस संस्कार के माध्यम से गर्भवती स्त्री के मन में शिशु के प्रति वात्सल्य एवं प्रीति की भावना को विकसित किया जाता था, जिसके परिणामस्वरूप माता के स्तनों में स्वतः ही दूध की उत्पत्ति हो जाती थी, किन्तु वर्तमान में हम देखते हैं कि कितनी ही स्त्रियों की यह शिकायत रहती है कि उनके स्तनों में दूध उतरता ही नहीं है- इसका कारण क्या है? इसका कारण है माताओं में सन्तान के प्रति वात्सल्य का अभाव। यह कटु सत्य है, जिसे हमें स्वीकार करना पड़ेगा। आज हम देखते हैं कि कितनी ही गर्भवती स्त्रियाँ अपने गर्भ को भाररूप समझती हैं, तथा कभी-कभी तो अपनी इच्छानुसार सन्तान के न होने पर स्त्रियाँ गर्भपात जैसे दुष्कृत्य कर बैठती हैं। यह सब प्रक्रियाएँ मातृत्व एवं वात्सल्यभाव को क्षीण कर देती हैं, जिसका परिणाम उसके शरीर पर भी पड़ता है, अतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सन्तान के प्रति वात्सल्य एवं मातृत्वभाव को विकसित करने हेतु यह संस्कार उपयोगी है। वात्सल्यभाव ही एक ऐसा तत्त्व है, जो माता और सन्तान में सम्यक् सम्बन्ध को सूचित करता है।

जन्म-संस्कार-

जातकर्म-संस्कार का मूलभूत हेतु प्रसव-वेदना को सह्य बनाना था तथा इसके साथ ही गर्भिणी स्त्री को प्रसव के बाद स्नान आदि द्वारा शुद्धि कराना था। वर्तमान में भी हम देखते हैं कि कितनी ही स्त्रियों को प्रसव की वेदना सहन नहीं होती है, जिसके कारण अनेक प्रकार के उपकरणों द्वारा स्त्री का प्रसव करवाया जाता है। उसका परिणाम कभी-कभी तो इतना भयंकर होता है कि स्त्री अपने जीवन से ही हाथ धो बैठती है। इस संस्कार के माध्यम से उसे सुख-समाधिपूर्वक प्रसव कराया जाता है, जिससे न तो शिशु के स्वास्थ्य पर कोई असर पड़ता है और न ही गर्भवती स्त्री, इसलिए वर्तमान समय में इस संस्कार का अपना ही

महत्व है। प्रसवस्थल एवं प्रसव के समय माता एवं शिशु के शरीर की संक्रामक रोगों से मुक्ति के लिए भी यह संस्कार किया जाता है और इस संस्कार के माध्यम से प्रसूता, प्रसव एवं प्रसवस्थल की शुद्धि की जाती है।

सूर्य-चन्द्र-दर्शन-संस्कार-

बालक के अन्दर सद्गुणों का विकास करने हेतु यह संस्कार भी अत्यन्त उपयोगी है। सूर्य-चन्द्र के दर्शन से बालक में तेजस्विता, गतिशीलता, परोपकारता, सौम्यता, शीतलता आदि गुणों का अविर्भाव होता है, क्योंकि सूर्य-चन्द्र स्वयं इन गुणों के प्रतीक हैं। वर्तमान जीवन में हम बालकों में इन गुणों का अभाव प्रायः देखते हैं, जैसे- हम यदि बालक को उसके किसी गलत कृत्य पर डाँट देते हैं, तो वह तुरन्त क्रोधित हो जाता है, क्योंकि उसमें सौम्यता के गुणों का अभाव होता है, जिसके कारण वह अपनी प्रतिक्रिया क्रोध के रूप में अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार परोपकार आदि गुणों का भी विकास होना वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त आवश्यक है। यह संस्कार न केवल सद्गुणों के विकास के लिए किया जाता है, अपितु बालक को बाह्यजगत् और परिवेश से परिचित कराने के हेतु भी किया जाता है, क्योंकि उसे आगे इसी परिवार में जीना है।

क्षीराशन-संस्कार-

शिशु के शरीर का समुचित विकास करने हेतु यह संस्कार अत्यन्त उपयोगी है। इस संस्कार में शिशु को माता का दुग्धपान कराया जाता है, जो उसके स्वास्थ्य हेतु पथ्यरूप होता है तथा उसके शारीरिक विकास का आधार होता है। आधुनिक युग में चिकित्सक भी इस मत का समर्थन करते हैं कि शिशु को यदि उसकी प्रारम्भिक वय में माता का ही दूध न देकर गाय-भैंस आदि का दूध दिया जाए तो वह शिशु के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डाल सकता है तथा उसे उल्टी, दस्त अपच आदि की शिकायत हो सकती है, अतः शिशु के स्वास्थ्य हेतु यह संस्कार अत्यन्त आवश्यक है।

षष्ठी-संस्कार-

इस संस्कार में षष्ठीमाता अर्थात् मातृकादेवी की पूजा-उपासना की जाती है। भारतीय-परम्परा में माता की उपासना का बहुत महत्व माना गया है। यह संस्कार मात्र भारतीय मातृसंस्कृति की उपासना का प्रतीक ही नहीं है, वरन् माता के प्रति व्यक्तियों के कर्तव्यों का बोध भी कराता है, किन्तु वर्तमान में हम देखते हैं कि लोग ऐसी प्रक्रियाओं को अंधविश्वास मानकर इनसे दूर होते जा रहे हैं, जिसका परिणाम हमारे समक्ष आज उपस्थित है। लोग अपनी मातृमूलक संस्कृति

की तरफ दौड़ रहे हैं, उनमें पुनः मातृमूलक को छोड़कर पाश्चात्य संस्कृति भारतीय संस्कृति के प्रति अहोभाव उत्पन्न करने हेतु इस प्रकार के संस्कार आवश्यक हैं। यह संस्कार बालक के जीवन में माता के मूल्य एवं महत्व को स्पष्ट करता है।

शुचिकर्म संस्कार:-

गर्भिणी स्त्री के प्रसव के बारहवें दिन पवित्रीकरण हेतु किया जाने वाला यह संस्कार भी भारतीय-संस्कृति की शौचमूलक प्रकृति का ही प्रतीक है। भारतीय-संस्कृति में जननाशौच एवं मरणाशौच- इन दो प्रकारों के शौच की शुद्धि को आवश्यक माना गया है। गर्भिणी स्त्री के प्रसव से लेकर जब तक यह शुद्धिरूपी संस्कार न किया जाए, तब तक उस घर में सूतक माना जाता है तथा गर्भिणी स्त्री को एक कमरे में ही रखा जाता है, क्योंकि प्रसव के बाद भी स्त्री के शरीर में सतत दूषित रक्त का प्रवाह चालू ही रहता है, जो वातावरण पर गलत असर करता है। पूर्व में भी प्रसूता को एक निश्चित समय तक एक स्थान पर ही रखा जाता था, जिससे की आस-पास का वातावरण दूषित न हो, साथ ही बाह्य-संक्रामक अशुचियों एवं स्थितियों का प्रभाव माता और शिशु पर न हो। निश्चित काल के पूर्ण होने पर ही उसे इस संस्कार से संस्कारित करके शुद्ध किया जाता था। वर्तमान में कतिपय लोग इन संस्कारों को रूढ़िवादिता का नाम देकर सभ्यता के नाम पर इन संस्कारों को छोड़ रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में वातावरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है, अतः वातावरण को शुद्ध रखने हेतु भी यह संस्कार आवश्यक है।

नामकरण-संस्कार-

यह संस्कार भी शिशु के जीवन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, जिसे किसी भी स्तर पर नकारा नहीं जा सकता है। नाम व्यक्ति के जीवन पर बहुत प्रभाव डालता है, अतः शिशु को गुणों से युक्त नाम से सम्बोधित किया जाना आवश्यक है। ज्योतिषशास्त्र भी इस बात को स्वीकार करता है कि व्यक्ति की सफलता का कुछ अंश नाम पर भी आधारित होता है, किन्तु वर्तमान में माता-पिता के मनःमस्तिष्क पर पाश्चात्य-संस्कृति का इतना गहरा प्रभाव पड़ रहा है, कि वह इन सब बातों को गौण करके ऐसे-ऐसे नाम रखते हैं, जिसका व्यक्ति के जीवन से कहीं से कहीं तक कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अतः व्यक्ति का नाम ऐसा होना चाहिए, जो उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में न केवल सफलता ही प्रदान करे, वरन् उसके गुणों को भी प्रकट करे।

नाम व्यक्ति का परिचायक होता है। नाम का प्रभाव व्यक्ति और समाज-दोनों पर होता है। गुणसूचक नाम से जहाँ व्यक्ति में उस गुण को जीवन्त बनाने की भावना होती है, वही वह उससे समाज में आदर भी प्राप्त करता है।

अन्नप्राशन-संस्कार-

बालक के परिपूर्ण विकास हेतु यह संस्कार भी उपयोगी है। जन्म के कुछ मास बाद जैसे-जैसे बालक के अंगों का विकास होता है, वैसे-वैसे उसकी आहार सम्बन्धी आवश्यकता भी बढ़ने लगती है, अतः उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह संस्कार किया जाना आवश्यक है। शिशु का आहार कैसा हो? यह जानना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि बालक को तेज मिर्च-मसाले वाला या भारी आहार दिया जाए, तो उससे उसका स्वास्थ्य बिगड़ सकता है, अतः उसके स्वास्थ्य के हिसाब से सात्त्विक आहार प्रदान किया जाना आवश्यक है। सात्त्विक आहार न केवल शिशु को स्वस्थता ही प्रदान करता है, वरन् उसमें सात्त्विक गुणों का भी आविर्भाव करता है। कहा भी गया है- *“जैसा खाए अन्न, वैसा होए मन, जैसा पिए पानी, वैसी होए वाणी।”* अतः इस आधुनिक परिवेश में आहार विवेक एवं मानवीय गुणों को विकसित करने हेतु भी यह संस्कार उपयोगी है।

कर्णविध-संस्कार-

कर्णविध-संस्कार मात्र कर्ण में आभूषण पहनने के उद्देश्य से नहीं किया जाता है, वरन् रोगों की रोकथाम के लिए भी यह संस्कार किया जाता है, क्योंकि एक्यूंपंकचर आदि चिकित्सक भी यह मानते हैं कि कान में छेद कराने से व्यक्ति अनेक सम्भावित रोगों से बच सकता है। उस स्थान पर कर्ण आभूषण पहनने से वह स्थान सतत दबता रहता है, जो शरीर के अन्दर रोगों की सम्भावनाओं को पैदा ही नहीं होने देता है। इस संस्कार से न केवल सम्भावित रोगों की रोकथाम ही होती है, बल्कि व्यक्ति यदि किसी रोग से पीड़ित होता है, तो वह भी शान्त हो जाती है। जैसे कान के अमुक भाग में छेद कराने से व्यक्ति को मिरगी के दौरे आना बंद हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बालक को निरोगी बनाने हेतु यह संस्कार आवश्यक है।

चूड़ाकरण-संस्कार-

जन्म के पश्चात् प्रथम बार इस संस्कार के माध्यम से बालक के केशों का अपनयन किया जाता है। पुरातनकाल से ही ऋषियों की यह मान्यता है, कि मनुष्य न जाने कितनी योनियों में भटकता हुआ पाशविक-संस्कार धारण करता हुआ मानव योनि को प्राप्त होता है। केशों को संसाररूपी वृक्ष की जड़ कहा गया

है। केशों के उपनयन से पूर्व जन्म के संस्कारों का उन्मूलन होता है, अतः पूर्वजन्म के अनुपयुक्त एवं अवांछनीय संस्कारों के निष्कासन एवं बालक को सही मानसिक विकास हेतु यह संस्कार अनिवार्य है। इस संस्कार से व्यक्ति सुन्दरता, पवित्रता आदि को भी प्राप्त करता है। इस प्रकार यह संस्कार भी अपने आप में उपयोगी है।

उपनयन-

उपनयन-संस्कार भी बालक को सुसंस्कारी बनाने का एक विलक्षण उपाय है। इस संस्कार से संस्कारित बालक को गुरुकुल में वास करना होता था तथा उसे अपने सारे कार्य गुरु की आज्ञानुसार ही करने होते थे। गुरु भी शिष्य को पुत्र के समान मानकर उसे शिक्षित करते थे, किन्तु वर्तमान की शिक्षा प्रणाली इतनी दूषित हो चुकी है, कि न तो शिष्य अपने गुरु को सम्मान की दृष्टि से ही देखता है और न गुरु ही उसे सही ढंग से अध्यापन करवाते हैं। गुरु अपनी स्वार्थवृत्ति का पोषण करने के लिए शिष्यों को विद्यालय में सही ढंग से पढ़ाते नहीं है, ताकि उनको ट्यूशन के माध्यम से एक अच्छी खासी रकम मिल सके। वर्तमान की इस दूषित प्रणाली के सुधार हेतु यह संस्कार बहुत ही आवश्यक है, जिससे कि शिष्य का गुरु के प्रति एवं गुरु का शिष्य के प्रति कर्तव्य बुद्धि का विकास हो।

विद्यारम्भ-संस्कार-

शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश दिलाने हेतु किया जाने वाला यह संस्कार बालक के भावी जीवन हेतु अत्यन्त उपयोगी है, किन्तु यह संस्कार निर्दिष्ट अवधि के दौरान किया जाए, तो उसका बालक के जीवन पर बहुत अच्छा असर पड़ सकता है। सामान्यतया शिशु को पाँच वर्ष के बाद इस संस्कार से संस्कारित किया जाता था, जिससे की बालक की बुद्धि समुचित प्रकार से ज्ञान को ग्रहण कर सके, किन्तु वर्तमान में हम देखते हैं कि माता-पिता बालक को दो-ढाई साल का होते ही उसे नर्सरी स्कूलों में डाल देते हैं। जो काल उनकी बालसुलभ चेष्टाओं का होता है, उस समय वह इन सब प्रपंचों से जुड़ जाता है और जो ज्ञान उसे सहज रूप में अपने आस-पास के परिवेश एवं स्वजनों से मिलना होता है, उससे वह वंचित रह जाता है। इस प्रकार वर्तमान समय में इस अंधाधुंधी से बचने के लिए यह संस्कार आवश्यक है।

विवाह-संस्कार-

वर्तमान में गृहस्थों में शीलधर्म को मर्यादित, सुरक्षित और संतान-परम्परा को निर्दोष बनाए रखने के लिए तथा पाशविक काम-सेवन की दूषित मनोवृत्ति से मानव-समाज को संरक्षण प्रदान करने हेतु यह संस्कार आवश्यक है। आज हम देखते हैं कि व्यक्ति मात्र अपने काम-वासनाओं की पूर्ति के लिए इधर से उधर भटकता रहता है। इस संस्कार के माध्यम से उसकी इस पाशविक-वृत्ति को संयमित करने का प्रयत्न किया जाता है तथा उसके दायरे को सीमित किया जाता है। मानव-जीवन में यह संस्कार नहीं होता, तो शायद वर्तमान समय में हमें जो भाई-बहन, माता-पिता आदि सम्बन्ध दिखाई दे रहे हैं, वे सम्बन्ध शायद देखने को भी नहीं मिलते। इस प्रकार वर्तमान समय में इसकी प्रासंगिकता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है।

व्रतारोपण-संस्कार-

गर्भाधान से लेकर विवाहपर्यन्त के सभी संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति अपनी दैहिक आवश्यकताओं एवं सामाजिक-दायित्व की पूर्ति करता है, लेकिन इन सामाजिक-दायित्वों के साथ ही व्यक्ति अपने नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक-दायित्वों से वंचित न हो, इसलिए व्रतारोपण-संस्कार किया जाना आवश्यक है। नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक-दायित्वों को पूर्ण करने में सहायक इन संस्कारों का यदि जीवन में आचरण नहीं होता, तो यह संसार अब तक शायद विनाश की कगार पर जा खड़ा होता। व्रतारोपण-संस्कार में निर्दिष्ट व्रतों का आचरण व्यक्ति को अहिंसक, सत्यवादी, ईमानदार आदि गुणों से युक्त करता है। वर्तमान समय में जो लोग अपने नैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक-दायित्वों से वंचित हो रहे हैं, उनके लिए यह संस्कार कारगर सिद्ध हो सकता है।

अन्त्य-संस्कार-

इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति से जीवन के अन्तिम छोर पर संसार के प्रति विरक्तता के भाव को पैदा करके आत्मसाधना करवाई जाती है। इस भौतिकवादी युग में जीव इतना ज्यादा पौद्गलिक विषयों में आसक्त बन जाता है कि वह वास्तव में अपने मूल अस्तित्व को भी भूल जाता है और पर में स्व का आरोपण करने लगता है। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ और मुझे कहाँ जाना है?— ये सब बातें सोचने का उसको अवकाश ही नहीं मिलता है। ऐसी स्थिति में जीव को अन्तिम समय में संसार से विरक्त करके आत्म-चिन्तन में लगाने हेतु

यह संस्कार, अर्थात् संलेखनाव्रत का ग्रहण आवश्यक है, जिससे कि वह अपना आत्मकल्याण कर सके। इस प्रकार वर्तमान के इस भौतिकवादी युग में अध्यात्म की किरणों को प्रस्फुटित करने वाला यह संस्कार अत्यन्त उपयोगी है।

ब्रह्मचर्यव्रतग्रहण-विधि:-

इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति में पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो आकर्षण भाव है, उसे समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। कहा गया है कि इन्द्रियों में रसना, कर्म्मों में मोहनीय, व्रतों में कामवासना एवं गुप्तियों में मनोगुप्ति- ये चार बड़े कष्ट से विजीत होते हैं, अतः व्रतों में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मचर्यव्रत को इस संस्कार के माध्यम से सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। इस व्रत के अभाव में जीव लौकिक और अलौकिक- सभी गुणों को नष्ट कर देता है। इस प्रकार यह व्रत व्यक्ति के गुणों को अक्षुण्ण रखने में भी सहायक है।

क्षुल्लक-विधि-

इस विधि में साधक को एक अवधि विशेष हेतु पंचमहाव्रत एवं छठवें रात्रिभोजन-त्यागव्रत का दो करण एवं तीन योग से ग्रहण करवाया जाता है। मुनिजीवन की पूर्व भूमिका के रूप में किया जाने वाला यह संस्कार अत्यन्त उपयोगी है। इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति इन व्रतों का पालन करते हुए परिपक्वता को प्राप्त करता है, जो उसे अग्रिम संस्कारों हेतु प्रस्तुत करता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह संस्कार अत्यन्त उपयोगी है। आज हम देखते हैं कि साधकों को पूर्व प्रशिक्षण के बिना उन्हें महाव्रतों के पालनी की प्रतिज्ञा करा दी जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि या तो वे उन व्रतों का सम्यक् प्रकार से निर्वाह नहीं कर पाते हैं, या फिर गृहीत व्रत का त्याग कर देते हैं, जिससे जैन-शासन की बहुत ही आलोचना होती है। अतः प्रव्रज्या-विधि से पूर्व किया जाने वाला यह संस्कार वर्तमान जीवन में बहुत ही उपयोगी है।

प्रव्रज्या-विधि-

इस विधि के माध्यम से व्यक्ति को समता की साधना करवाई जाती है। समता व्यक्ति की स्वभावदशा है और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आत्मा की विभावदशा है, किन्तु अनादिकाल के संस्कारों के कारण व्यक्ति अपनी स्वभावदशा को भूल चुका है। और क्रोधादि विभावदशा को ही अपना मान बैठा है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति को स्वभावदशा का अनुभव करना बहुत ही जरूरी है। इसके अभाव में व्यक्ति राग-द्वेष की गाँठें बाँधता रहता है, जिससे उसका एवं समाज का जीवन तनावग्रस्त रहता है। वर्तमान में भी हम देखते हैं कि थोड़ा सा किसी

ने कुछ कह दिया या अपने कहे अनुसार कोई कार्य न करे, तो हमें तुरन्त गुस्सा आ जाता है और हम वैमनस्य की गाँठ बाँध लेते हैं। यह गाँठ व्यक्ति को समतारूपी स्वभावदशा का बोध कराने में बाधक है। इस गाँठ को समता की साधना से ही गलाया जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान परिप्रेक्ष में समता की साधनारूप यह संस्कार भी उपयोगी है।

उपस्थापना-विधि-

इस संस्कार का प्रयोजन साधक को पंचमहाव्रत एवं छठवें रात्रिभोजन-विरमणव्रत का ग्रहण करवाना है। क्षुल्लकविधि में ये व्रत दो करण तीन योग से धारण करवाए जाते हैं, किन्तु इस विधि में साधक को तीन करण एवं तीन योग से इन व्रतों का उच्चारण करवाया जाता है। वर्तमान में मुनि जीवन को ग्रहण करने के पश्चात् इस संस्कार का होना बहुत ही जरूरी है, क्योंकि इस विधि के माध्यम से न केवल साधक को महाव्रतों का आरोपण ही करवाया जाता है, वरन् उसे मुनिजीवन की चर्याओं की आवश्यक जानकारी देने वाले मूलभूत ग्रन्थों, यथा- दशवैकालिक, आवश्यकसूत्र आदि का भी अध्ययन करवाया जाता है। वर्तमान के इस भौतिकवादी युग में भी साधक अपनी चर्या का पालन भली प्रकार से कर सके तथा उसके आचार में कोई शिथिलता न आए, उसके लिए यह संस्कार भी उपयोगी है।

योगोद्धहन-विधि-

योगोद्धहन-संस्कार साधक के मन-वचन एवं काया की प्रवृत्तियों के ऊर्ध्वीकरण हेतु किया जाता है। जब तक साधक का मन भोगवृत्ति से ऊपर नहीं उठता है, तब तक वह सही अर्थों में आत्मचिन्तन की तरफ उत्प्रेरित नहीं हो सकता है। यद्यपि इस संस्कार का मूल प्रयोजन मन, वचन एवं काया की समाधिपूर्ण स्थिति में तप-साधनापूर्वक आगम सिद्धांतों का अध्ययन करवाना है, किन्तु जब हम गहराई में जाते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि यह तो एक आलम्बन मात्र है, किन्तु वास्तव में तो इसका मूल प्रयोजन मन-वचन एवं कायारूपी तीनों योगों को संयमित करके साधक को आत्मोन्मुख करना है। आधुनिक युग में जहाँ साधक अपने यश एवं कीर्ति के लिए प्रयत्नशील है, वहीं साधकों को आत्मसम्मुख बनाने हेतु यह संस्कार संजीवनी औषधि के समान है।

वाचनाग्रहण-विधि-

वाचना प्राप्त करने हेतु, अर्थात् शास्त्र के अध्ययन हेतु गुरु एवं शिष्य को क्या करना चाहिए, इसकी विधि का इसमें उल्लेख किया गया है। वस्तुतः यह

विधि शिष्य में विनयगुण का प्रादुर्भाव करती है, अर्थात् शिष्य को वाचना लेने के पूर्व वाचनादाता गुरु के प्रति आदर प्रकट करना चाहिए एवं अन्य को वाचना देने के पूर्व उनकी अनुज्ञा प्राप्त करना चाहिए। वर्तमान में हम देखते हैं कि इन विधियों के अभाव में शिष्य गुरु का समुचित आदर नहीं कर पाता है। गुरु वाचना देने के लिए बैठे कि शिष्य शीघ्रता से आकर यूँ ही बैठ जाते हैं, न तो उनकी सुखशातापृच्छा ही करते हैं और न ही उनके प्रति विनयभाव प्रकट करते हैं। विनय के बिना विद्या की प्राप्ति नहीं होती है, अतः सम्यक् प्रकार से विद्या का ग्रहण हो, इसलिए भी यह संस्कार किया जाना आवश्यक है। विनय प्रकट करने से गुरु में ज्ञान प्रदान करने की भावना होती है और विषय का सुगमता से ग्रहण होता है।

वाचनानुज्ञा-विधि-

मुनि जीवन में वाचना अर्थात् आगमों के अध्ययन-अध्यापन का बहुत अधिक महत्व है। इस संस्कार के माध्यम से वाचना प्रदान करने के योग्य मुनि को वाचनाचार्य-पद प्रदान किया जाता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य को देखते हुए यह संस्कार बहुत ही महत्वपूर्ण है। आजकल के साधक (मुनि) बहुत ही तर्क-वितर्कवादी होते हैं, अतः उन्हें समझना बहुत ही टेढ़ी खीर है। उन्हें वही मुनि सम्यक् प्रकार से समझा सकता है, जिसे आगम का ज्ञान हो, जो समझाने में कुशल हो, आदि। इन गुणों से हीन वाचनाचार्य न तो स्व का कल्याण कर सकता है, न पर का ही; अतः जिनशासन की प्रभावना हेतु तथा मुनिजनों को सम्यक् ज्ञान प्रदान करने हेतु यह संस्कार भी उपयोगी है, जिससे कि योग्य मुनि को आगम-अध्यापन की अनुमति दी जा सके अर्थात् उसे वाचनाचार्य बनाया जा सके।

उपाध्यायपदस्थापन-विधि-

इस विधि के माध्यम से योग्य मुनि को उपाध्यायपद पर अभिसिक्त किया जाता है। उपाध्याय का मुख्य उत्तरदायित्व अध्ययन कराने का है, किन्तु इसके साथ ही शिष्यों के अध्ययन सम्बन्धी सभी व्यवस्थाओं की देख-रेख करना तथा उन्हें अनुशासित रखना भी उपाध्याय का ही दायित्व है। यह कार्य वही कर सकता है, जो स्वयं गीतार्थ हो, समयज्ञ हो, अनुशासित हो। जो स्वयं आगमों का ज्ञाता या अनुशासनप्रिय नहीं है, वह किस प्रकार से अपने अधीन शिष्यों को द्वादशांगी का ज्ञान प्रदान कर सकता है? संघ में ऐसे योग्य उपाध्याय का होना नितान्त आवश्यक है। किन्तु सामान्यतः वर्तमान में हम देखते हैं कि एक अवधि विशेष के बाद कुछ व्रत, उपवास आदि करवाकर मुनि को यह पद प्रदान कर दिया जाता है, उसमें उपाध्यायपद के योग्य गुण हैं या नहीं, इसका सम्यक् आंकलन भी नहीं

किया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मात्र वह पदधारी हो जाता है। द्वादशांगी की वाचना वगैरह देने से, अर्थात् आगमों का अध्यापन कराने से उसका कोई वास्ता नहीं होता है। इससे श्रमणसंघ में आगमों का ज्ञान क्षीण होता चला जा रहा है। अतःश्रमणों को आगम आदि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो, इसके लिए किसी योग्य मुनि को उपाध्यायपद पर स्थापित करना आवश्यक है।

आचार्यपदस्थापन-विधि-

जिस गच्छ में अनेक साधु-साध्वी हों, जिनके अनेक संघाटक अलग-अलग विचरते हो, उनमें अनेक पदवीधरों का होना आवश्यक है, किन्तु कम से कम आचार्य एवं उपाध्याय- इन दो पदवीधरों का होना तो नितान्त आवश्यक है। इस संस्कार का प्रयोजन संघ का संचालन करने में निपुण मुनि को आचार्य पद पर स्थापित करना है, क्योंकि योग्य आचार्य ही उस गच्छ या समुदाय के सभी मुनियों को अपने साथ लेकर चल सकता है। वर्तमान में विभिन्न गच्छों में तो क्या, एक ही गच्छ में हम अनेक परम्पराएँ या भेद देखते हैं। उसका मूल कारण आचार्य में संघ को एकजुट रखने की क्षमता का अभाव है, क्योंकि उसका सामर्थ्य इतना नहीं होता कि वह सबको साथ लेकर चल सके। इसका परिणाम यह होता है कि संघ टुकड़ों में बँट जाता है तथा कोई उनकी सुनने के लिए तैयार नहीं होता है। सब अपनी इच्छानुसार आचरण करने लगते हैं। अतः संघ को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए तथा संघ में अनुशासन स्थापित करने के लिए योग्य मुनि को सर्वानुमति से आचार्य-पद पर स्थापित करना आवश्यक है।

मुनि की बारह प्रतिमाओं की उद्भवहन-विधि-

इस विधि के माध्यम से मन-वचन एवं काया के योग, अर्थात् प्रवृत्तियों की सिद्धि की जाती है, अर्थात् उन प्रवृत्तियों को अनुशासित किया जाता है। जब तक मन-वचन-काया के व्यापार अनुशासित नहीं होते हैं, तब तक व्यक्ति परमसुख को प्राप्त नहीं कर सकता है। सामान्यतः यह साधना साधक अपने मन-वचन-काया के संयमन हेतु करता है, जो संघ में परस्पर वैमनस्य की भावनाओं को पैदा ही नहीं होने देती है। आज सामान्यतः जो विवाद होते हैं, वे किसी असंयमित व्यवहार या वचनों के कारण से होते हैं। मुनिजीवन में भी कभी-कभी ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं, जो आपस में मनमुटाव करा देते हैं। उन सबके निराकरण हेतु तथा मन-वचन एवं काया के संयमन हेतु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह संस्कार अत्यन्त उपयोगी है।

साध्वी को दीक्षा प्रदान करने की विधि-

स्त्री को साध्वी-दीक्षा प्रदान करने हेतु यह विधि अत्यन्त उपयोगी है। इसी विधि के माध्यम से उसकी योग्यता का परीक्षण किया जाता है तथा उसके स्वजनों की अनुज्ञा प्राप्त की जाती है। वर्तमान में इस विधि का होना आवश्यक है, क्योंकि यदि दीक्षा हेतु उत्सुक स्त्री का पूर्व परीक्षण न किया जाए और स्वजनों की अनुज्ञा प्राप्त न की जाए, तो साधु-साध्वी एवं मुमुक्षु के परिजनों के बीच अशान्ति का वातावरण बन सकता है। आज हम देखते हैं कि कितने ही साधु-साध्वी चोरी छिपे दीक्षार्थी के माता-पिता या परिजनों की आज्ञा के बिना एवं दीक्षार्थी की योग्यता के परीक्षण के बिना ही लड़कियों को दीक्षा प्रदान कर देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप जैनशासन की निन्दा होती है, अतः उस दुष्परिणाम से बचने के लिए यह संस्कार बहुत ही उपयोगी है। पुनः यह संस्कार सम्पन्न होने 'पर यह साध्वी बन गई है'- ऐसा विदित हो जाता है।

प्रवर्तिनीपदस्थापना-विधि-

साध्वी समुदाय में प्रवर्तिनी का पद एक महत्वपूर्ण पद है। इस महत्वपूर्ण पद पर किसी योग्य साध्वी को स्थापित करने के उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है। श्रमणसंघ में जो स्थान उपाध्याय का होता है, वही स्थान साध्वीसंघ में प्रवर्तिनी का होता है। प्राचीन काल से ही अध्ययन-अध्यापन पर बहुत जोर दिया गया है। इसका साध्वियों के लिए भी उतना ही महत्व है, जितना की साधु-समुदाय के लिए। सामान्यतः साध्वियों को वाचना देने का कार्य प्रवर्तिनी को ही सौंपा जाता है, किन्तु वर्तमान समय में यह पद मात्र औपचारिकता बन कर रह गया है, क्योंकि प्रवर्तिनी बनने के बाद लोगों का आना-जाना तथा पत्र व्यवहार इतना बढ़ जाता है कि वह वाचना देने के लिए तो समय ही नहीं दे पाती है। इस प्रकार वह दिन-प्रतिदिन इस पद के मूल उद्देश्य से दूर होती चली जाती है। ऐसे समय में विधानपूर्वक किया जाने वाला यह संस्कार उपयोगी है, जो उसे इस कर्तव्य का बोध कराता है।

महत्तरापदस्थापन-विधि-

इस संस्कार के माध्यम से योग्य साध्वी को महत्तरापद पर स्थापित किया जाता है। महत्तरा का कार्य साध्वीसंघ का संचालन करना है। महत्तरा का कार्यक्षेत्र प्रवर्तिनी की अपेक्षा अधिक व्यापक है, अतः इसके लिए इस पद पर ऐसी साध्वी की नियुक्ति आवश्यक है, जो साध्वीसंघ का व्यवस्थित संचालन कर सके। वर्तमान समय में श्रमणी-संघ छिन्न-भिन्न हो रहा है, ऐसी परिस्थिति में योग्य

साध्वी को इस पद पर आरूढ करना अत्यन्त आवश्यक है, जो अपने अधीनस्थ साध्वी को नियंत्रित करके उन्हें एकता के सूत्र में पिरो सके। इस प्रकार वर्तमान समय में श्रमणीसंघ की दशा को देखते हुए यह संस्कार नितांत अनिवार्य है।

अहोरात्रिचर्या-विधि-

इस विधि में मुनिजीवन की दिवस-रात्रि की क्रियाओं का उल्लेख हुआ है। शास्त्र में कहे गए आचार का पालन तभी सम्भव है, जब व्यक्ति को उसका ज्ञान हो, क्योंकि जानकारियों के अभाव में वह अपनी क्रियाओं से परे हटता जाता है। साधु-जीवन यतना, अर्थात् सजगताप्रधान है। साधु की दिवस-रात्रि की जो चर्या है, वे अधिकांशतः आचार-नियमों के सजगतापूर्वक परिपालन हेतु ही है। वर्तमान समय में हम देखते हैं कि जानकारियों या सजगता के अभाव में साधक कभी-कभी छोटी-छोटी गलतियाँ कर बैठता है। यद्यपि उसका उद्देश्य उस प्रकार का नहीं होता है, किन्तु गलती तो गलती ही होती है, चाहे वह जानबूझकर की जाए या असावधानी की दशा में। इससे साधक कर्मबंधन से नहीं बच सकता है, अतः मुनिजीवन में कम से कम दोष लगे, इस हेतु यह विधि अत्यन्त उपयोगी है।

ऋतुचर्या-विधि-

विभिन्न ऋतुओं में साधु का क्या आचार है, इस विषय का इसमें उल्लेख किया गया है। मुनिजीवन में प्रवेश करने के बाद इस विधि का ज्ञान होना एकदम जरूरी है, क्योंकि यह विधि मुनिजीवन में लगने वाले दोषों का न केवल ज्ञान ही करवाती है, वरन् उसके दुष्परिणामों से भी साधक को बचाती है; जैसे-विहारचर्या के अनुसार मुनि को आर्यदेशों में ही विचरण करना चाहिए, निश्चित, वार, तिथि, मुहूर्त आदि देखकर विहार करना चाहिए, इत्यादि। इसका कारण स्पष्ट है कि यदि मुनि अनार्यदेश में विचरण करेगा, तो उसके मन में सदा यह भय व्याप्त रहेगा कि कोई उसे हानि नहीं पहुँचा दे। इस भय के कारण न तो वह अपनी क्रियाओं को सम्यक् प्रकार से कर पाएगा और न ही आत्मसाधना कर पाएगा, अतः मुनिजीवन में विहार चर्या, कल्पतर्पण की विधि, व्याख्यान-विधि आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। इस प्रकार इस विधि की उपयोगिता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। पुनः, इससे यह बोध होगा कि किस ऋतु में कैसी चर्या करना चाहिए।

अंतिमसंलेखना-विधि:-

इस विधि के माध्यम से मुनि को अन्तिम क्षण की आराधना करवाई जाती है। यद्यपि मुनि का जीवन त्यागमय होता है, किन्तु मन इतना चंचल है कि

उसका कितना भी निषेध करो, तो भी वह इधर-उधर दौड़ ही जाता है। संलेखना में उस मन को आराधना में लगाकर स्थिर किया जाता है, ताकि अन्तिम समय में मुनि का मन सांसारिक भोगों में, राग-द्वेष या कषाय में भटक न जाए, क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो व्यक्ति जीवनभर उत्कृष्ट साधना करता है, उसका मन भी अन्तिम समय में पौद्गलिक वस्तुओं में, राग-द्वेष की वृत्ति या कषायों में भटक जाता है, जो उसके भवभ्रमण का कारण बनता है। इस प्रकार भवभ्रमण के निरोध हेतु किया जाने वाला यह संस्कार वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी उपयोगी ही नहीं, वरन् आवश्यक भी है। यह समभावपूर्वक अनासक्तवृत्ति से उपस्थित मृत्यु का स्वागत करता है। यह संस्कार व्यक्ति को समभावपूर्वक मरण की कला सिखाता है।

प्रतिष्ठा-विधि-

अचेतन प्रतिमा में मंत्रादि द्वारा देवतत्त्व का प्रवेश करवाने के लिए प्रतिष्ठा-विधि निष्पन्न की जाती है। जैसे सूर्य अपनी किरणों के प्रकाश से अपने-अपने व्यवहार को सम्पादन करने वाले प्राणियों का पथ-प्रदर्शक है तथा निद्रा से जगाने वाला है, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् भी अपने उपदेश से संसार के प्राणियों की मोहनिद्रा का नाश करने वाले हैं, उद्बोध को देने वाले हैं, हितमार्ग के दर्शक हैं; किन्तु वर्तमान समय में तो उनके प्रत्यक्ष दर्शन सम्भव नहीं है, तो फिर जीव किसको आदर्श के रूप में अपने समक्ष रखकर अपनी आत्मसाधना करे- इसका विचार करके ही विद्वज्जनों ने जिनचैत्यों में जिन-प्रतिमाओं की स्थापना कर व्यक्ति को अपनी आत्मसाधना के लिए एक सम्बल प्रस्तुत किया। विधिपूर्वक की गई प्रतिष्ठा ही साधक को सुख-शान्ति प्रदान करती है तथा जिनचैत्य के वातावरण को सुरम्य बनाती है। वर्तमान समय में तो जिनचैत्यों एवं जिन-प्रतिमाओं का निर्माण-कार्य बहुत प्रगति से चल रहा है। साधक को जितनी शान्ति का अनुभव वहाँ होना चाहिए, उतनी शान्ति का आभास एवं प्रतिमा के प्रति आकर्षणभाव उत्पन्न नहीं हो पाता है। इसका कारण कहीं न कहीं कुछ कमी है, जो इस प्रकार के भावों को उत्पन्न नहीं होने देती है। प्रतिष्ठा-विधि के माध्यम से उन कमियों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है तथा मंत्रोच्चार से प्रतिमा के प्रभाव में वृद्धि की जाती है। इस प्रकार जिनचैत्यों एवं जिन-प्रतिमाओं के प्रभाव को बढ़ाने के लिए एवं साधकों के भक्ति-भाव को जगाने हेतु प्रतिष्ठा-विधि एक माध्यम है, जिससे जुड़कर हजारों-लाखों लोग भक्तिभावपूर्वक उच्च आत्मदशा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

शान्तिकर्म-विधि-

निर्विघ्न फल की प्राप्ति एवं क्षुद्र उपद्रवों तथा अशुभ वातावरण को दूर करने के लिए यह विधि की जाती है। शान्तिक विधान करने से व्यक्ति के संकटों का ही निवारण नहीं होता है, वरन् उसमें ऐसी आस्था उत्पन्न होती है कि विघ्न-बाधाएँ दूर हो गई हैं, उससे उसे सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है। व्यक्ति के जीवन में शान्ति होगी, तो समाज में शान्ति होगी और समाज में शान्ति होगी, तो देश एवं राष्ट्र में शान्ति रहेगी। शान्ति के मनोभावों को सजग करने हेतु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी यह संस्कार अत्यन्त उपयोगी है। आज समाज में चारों तरफ अशान्ति का वातावरण है राष्ट्र, राज्य, समाज एवं व्यक्ति एक-दूसरे से कट रहे हैं, उनके बीच दरारें पड़ रही हैं। ऐसी स्थिति में शान्ति स्थापित करने का संदेश देने हेतु यह संस्कार उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

पौष्टिककर्म-विधि-

आरम्भ किया गया कार्य पुष्टि को प्राप्त करे, अर्थात् सिद्धि को प्राप्त करे, इस उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है। व्यक्ति कोई भी कार्य करता है, तो उसके मन में यह संशय रहता है कि यह कार्य पूर्ण हो पाएगा या नहीं। वर्तमान के प्रतिस्पर्धी माहौल में तो यह भय और अधिक बना रहता है और इस भय के कारण व्यक्ति किसी भी कार्य को शुरू करने से घबराता है। यह कर्म एक तरह से उसे कार्य की सिद्धि के प्रति आश्वस्त करता है। यद्यपि पुरुषार्थ तो व्यक्ति स्वयं ही करता है, किन्तु उस कार्य के प्रति साहस का संबल यह कर्म ही प्रदान करता है। इस प्रकार व्यक्ति के लक्ष्य की सफलता के लिए यह संस्कार भी उपयोगी है।

बलिविधान-

यह विधान देवताओं को नैवेद्य अर्पित करके उन्हें संतुष्ट करने हेतु किया जाता है, किन्तु वास्तव में देखा जाए, तो यह विधान व्यक्ति में त्याग की वृत्ति का सर्जन करता है। भोगवृत्ति में आकण्ठ डूबे हुए मानवों के लिए वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह संस्कार अत्यन्त उपयोगी है। वर्तमान समय में व्यक्ति इतना स्वार्थपरक होता जा रहा है कि उसमें उसके नैतिक गुणों का स्तर कम होता जा रहा है। त्याग करने के स्थान पर मात्र संग्रह करने की प्रवृत्ति ही चारों तरफ दिखाई देती है। ऐसे समय में त्याग के मानवीय एवं नैतिक गुणों का विकास करने में यह संस्कार उपयोगी है। बलिविधान में देवता को नैवेद्य समर्पण तो एक माध्यम

है, वस्तुतः उससे दूसरे प्राणियों की क्षुधा-वेदना शांत होती है और उनकी अन्तरात्मा से निकले शुभाषीश उसके मंगल में साधक होते हैं।

प्रायश्चित्त-विधि-

इस विधि का मुख्य प्रयोजन प्रमादवश किए गए पापों की शुद्धि करना है। व्यक्ति के जीवन में प्रायश्चित्त का बहुत ही महत्व है। प्रायश्चित्त करने से व्यक्ति के परिणाम निर्मल बनते हैं तथा पुनः उस दुष्कृत्य करने की वृत्ति समाप्त होती है। वर्तमान में हम देश में जो अपराध की वृत्तियाँ देख रहे हैं, वह इस विधि के सम्यक् आचरण न होने के कारण ही हैं, क्योंकि व्यक्ति जब तक अपराध का प्रायश्चित्त नहीं करता है, तब तक उसके मन में उस दुष्कृत्य के प्रति घृणा का भाव नहीं आता है और व्यक्ति के मन में जब तक दुष्कृत्य के प्रति घृणा का भाव नहीं आए, तब तक उन वृत्तियों से छुटकारा पाना असंभव है, अतः व्यक्ति के मन में दुष्कृत्यों के परिहार की वृत्ति का सर्जन करने हेतु यह विधि उपयोगी ही नहीं, वरन् सर्वश्रेष्ठ भी है। प्रायश्चित्त की भावना स्वतः प्रेरित होने से अपराधों की रोकथाम में अति उपयोगी है।

आवश्यक-विधि-

इस विधि में साधु एवं श्रावकों के लिए करणीय षडावश्यकों का निरूपण करते हुए उनकी विधि प्रज्ञप्त की गई है। इन षडावश्यकों, अर्थात् (१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वन्दन (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग एवं (६) प्रत्याख्यान-का आचरण मनुष्य-जीवन में अत्यन्त आवश्यक है। सामायिक-विधि से जहाँ व्यक्ति समता की साधना करता है, वहीं चतुर्विंशतिस्तव से गुणीजनों का अनुरागी होता है। वन्दन से वह अपने आराध्य के प्रति अहोभाव तथा गुरुजनों के प्रति विनय को प्रकट करता है। प्रतिक्रमण से अपने दुष्कृत्यों की आलोचना, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान-विधि के माध्यम से व्यक्ति देह एवं पौद्गलिक वस्तुओं के प्रति ममत्ववृत्ति का त्याग करता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण क्रिया-कलाप व्यक्ति को साधनापरक बनाते हैं, किन्तु आज हम देखते हैं कि व्यक्ति के पास इन सब चीजों के लिए समय ही नहीं है। इस सबको वे व्यर्थ समय नष्ट करना मानते हैं। ऐसी मानसिकता के कारण लोग दिन-प्रतिदिन इन प्रवृत्तियों से दूर होते जा रहे हैं तथा इनके आध्यात्मिक लाभों से वंचित होते जा रहे हैं। इसका दुष्प्रभाव आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं, वह यह कि व्यक्ति समता के अभाव में राग-द्वेष की गाँठ बाँध लेते हैं। उनके मन में न तो अपने आदर्श के प्रति अहोभाव है और न विनय। ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति को गुणानुरागी बनाने, समता आदि गुणों से आप्लावित करने हेतु यह संस्कार स्वयंसिद्ध मंत्र के समान है।

तप-विधि-

तपश्चर्या शरीर एवं इन्द्रियों को वश में रखने, पापों का क्षय करने एवं वासनाओं से विमुक्ति के लिए आवश्यक है। इस प्रकार तप केवल शरीर को कष्ट देने की प्रक्रिया ही नहीं है, बल्कि आत्मशुद्धि की भी प्रक्रिया है और यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने प्रायश्चित्त के दस प्रकारों में भी तप का प्रावधान किया है, किन्तु वर्तमान के इस भौतिकवादी युग में इन तपों का कोई महत्व नहीं रह गया है। लोग मात्र अपनी इन्द्रियों का पोषण करने में ही लगे हुए हैं तथा यह मानते हैं कि जिन्हें खाने को नहीं मिलता है, वे लोग ही तपस्या करते हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं है, जिन्हें खाने को मिलता है, वे भी तपस्या करते हैं। क्योंकि वे सही अर्थों में तपस्या के अर्थ को समझते हैं। तपस्या से आत्मशुद्धि के साथ-साथ शरीरशुद्धि भी होती है। जैनदर्शन के अनुसार तप आत्म विशुद्धि या चित्तविशुद्धि का अनुपम हेतु है। साथ ही तप शरीरशुद्धि का भी माध्यम है। मुख्यतया शारीरिक क्रियाओं के लिए या शारीरिक ऊष्मा के लिए ईंधन खाद्य पदार्थों के कार्बोहाइड्रेट एवं चर्बी से प्राप्त होता है। उपवास के दरम्यान भोजन रूपी ईंधन नहीं मिलने से शरीर में संगृहीत चर्बी जलने लगती है तथा अनावश्यक रूप से जमा हुआ शरीर का कूड़ा-कचरा भी जलता है। चिकित्सकों ने भी अपने अनुभवों के आधार पर माना है कि कई बीमारियों में दवाई के बजाय उपवास अधिक लाभदायक है। ज्वर, एक्जिमा, रक्तचाप, चेचक, दमा, बवासीर आदि में उपवास रामबाण औषधि है। इस प्रकार स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह विधि उपयोगी है।

पदारोपण-विधि-

इस विधि के माध्यम से सामाजिक एवं राजनीतिक मुख्य पदों पर योग्य व्यक्तियों को अभिसिक्त किया जाता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह संस्कार अत्यन्त उपयोगी है। इसके अभाव में संघ एवं समाज में अराजकता की स्थिति बन जाती है, क्योंकि योग्य अधिकारी के अभाव में समाज एवं राज्य की व्यवस्था का संचालन सही ढंग से नहीं हो पाता है। अयोग्य पदाधिकारी स्वयं ही भ्रष्टाचार के रंग में रंगे हुए होने के कारण दूसरों के हिताहित का विचार नहीं कर पाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में योग्य व्यक्तियों का चयन कर उन्हें योग्य पद पर स्थापित करने की यह प्रक्रिया नितांत आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विविध संस्कारों का अपना-अपना महत्व है और उनके उस महत्व के कारण ही वर्तमान में भी उनकी उपयोगिता सिद्ध होती है। उपर्युक्त विवेचन से इन संस्कारों की उपयोगिता वर्तमान में भी स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। दूसरे, ये संस्कार व्यक्ति की जीवन-शैली को बहुत प्रभावित करते हैं

तथा उसे इस योग्य बनाते हैं कि वह अपने सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक दायित्वों को पूरा कर सके।



सहायक ग्रन्थ सूची

| ग्रन्थ का नाम | लेखक | प्रकाशक | वर्ष |
|-------------------------------|---|---|------|
| अग्निपुराण (१-२) | सं.-पं. श्रीराम शर्मा | संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली (उ.प्र.) | १९८७ |
| अन्तकृतदशांग | सं.-मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) | १९६० |
| अभिधानराजेन्द्रकोश (भाग-५) | श्रीमद्राजेन्द्रसूरि | श्री अभिधानराजेन्द्रकोश प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद | १९८६ |
| आचारदिनकर (१-२) | श्रीवर्धमानसूरि | निर्णयसागर मुद्रालय, बोम्बे | १९२२ |
| आचारांगसूत्र (१) | सं.-मुनि श्रीसमदर्शीजी | आचार्य श्री आत्मारामजी जैनागम प्रकाशन समिति, जैनस्थानक, लुधियाना | १९६३ |
| आदिपुराण (भाग-२) | जिनसेनाचार्य, अनु. - डॉ. पन्नालाल जैन | भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १८-इन्स्टीट्यूशनल, एरिया, लोदी रोड़, नई दिल्ली | २००० |
| आदिपुराण परिशीलन | सं.-डॉ. फूलचन्द्र जैन | आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज.) | २००१ |
| आदिपुराण में भारत | नेमिचंद्र शास्त्री | गणेशवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी | १९६८ |
| आराधनासार | अनु.-आर्थिका सुपाशर्वमतिजी | श्री दिगम्बर जैन मध्यलोक, शोध संस्थान, सम्मेतशिखरजी | २००२ |
| आवश्यकसूत्र | सं.-मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) | १९६४ |
| उत्तराध्ययनसूत्र | सं.-मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, | १९६१ |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक | प्रकाशक | वर्ष |
|-----------------------------|---------------------------------|--|-----------------|
| | | ब्यावर (राजस्थान) | |
| उपधानविधि | सं.-पंन्यास श्रीकान्तिविजयजी | श्री सिहोर जैन संघ, ज्ञानखाता | वि.सं. -२५०२ |
| उपासकदशांगसूत्र | सं.-मधुकर मुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) | १९८६ |
| ओघनिर्युक्ति | सं.-विजयजिनेन्द्र सूरीश्वर | श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखावाबल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र) | - |
| औपपातिकसूत्र | सं.-मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) | १९६२ |
| कल्पसूत्र | सं.-विनयसागरजी | प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर | १९८४ |
| कल्याणकलिका (भाग-१) | श्री कल्याणविजयजी | श्री कल्याणविजयजी शास्त्रसंग्रह समिति, जालोर (राज.) | १९८७ |
| कल्याणकलिका (भाग-२) | श्री कल्याणविजयजी | श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर, चिकपेट, बैंगलोर | वि.सं.- २०५१ |
| क्रियाकोष | अनु.-पं. पन्नालाल जैन | श्री मद्राजचंद्र आश्रम, स्टेशन- आगास, बाया- आणंद, पोस्ट-बोरीया (गुजरात) | १९८५ |
| खरतरगच्छ का बृहद् इतिहास | विनयसागरजी | प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर | २००४ |
| छेदपिण्ड | - | माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, हीराबाग, मुंबई | १९७८ |
| छेदशास्त्र | इन्द्रनन्दियोगीन्द्र | माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, हीराबाग, मुंबई | १९७८ |
| जिनरत्नकोश (भाग-१) | हरिदामोदर बेलकर | भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट, पूना | १९४६ |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक | प्रकाशक | वर्ष |
|--|-------------------------------------|---|-----------------|
| जीतकल्पसूत्र | - | भाई श्री बबलचंद्र केशवलाल मोदी, हाजा पटेल की पोल, अहमदाबाद | - |
| जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ | डॉ. अरूण प्रतापसिंह | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई.टी.आई. रोड़, करौंदी, वाराणसी | १९८६ |
| जैनधर्म में यापनीय सम्प्रदाय | डॉ. सागरमल जैन | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई.टी.आई. रोड़, करौंदी, वाराणसी | १९९६ |
| जैन संस्कार विधि | पं. नाथूलाल जैन शास्त्री | श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, गोम्मटगिरि, इन्दौर | २००० |
| जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-५) | पं. अंबालाल प्रे. शाह | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम, हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी | १९९३ |
| जैनेन्द्र सिद्धांतकोश (१-४) | जिनेन्द्रवर्णी | भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १८-इन्स्टीट्यूशनल, एरिया, लोदी रोड़, नई दिल्ली | - |
| ज्ञाताधर्मकथा | सं.-मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) | १९८१ |
| डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ | प्र.सं.- डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई.टी.आई. रोड़, करौंदी, वाराणसी | १९९८ |
| तत्त्वार्थसूत्र | अनु.- पं. खूबचन्द्रजी | शेठ मणीलाल रेवाशंकर जगजीवन जवेरी, बॉम्बे | वि.सं.- १९८९ |
| तपोरत्न महोदधि | सं.- जिनेन्द्रविजयजी | श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखावाबल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र) | १९५४ |
| दशवैकालिकसूत्र | सं.-नथमलमुनि | जैन विश्वभारती, लाड़नू | १९७४ |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक | प्रकाशक | वर्ष |
|--------------------------------|--|---|-----------------|
| दशाश्रुतस्कन्ध | सं. मधुकरमुनि | आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर | १९६२ |
| दीक्षायोग विधि | सं.-शान्तिविमलगणि | श्री अमृत-हिम्मल-शान्ति विमलजी जैन ग्रन्थ मालावती, श्री जसवंतलाल, गिरधरलालशाह, कुबेर नगर, अहमदाबाद | वि.सं.- २०१८ |
| धर्मशास्त्र का इतिहास (१-४) | डॉ. पांडुरंग वामन काणे | उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ | - |
| धर्मामृत अणगार | अनु.- पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री | भारतीय ज्ञानपीठ, बी/४५-४७, कर्नॉट प्लेस, नई दिल्ली | १९७७ |
| निर्वाणकलिका | पादलिप्ताचार्य | मोहनलाल भगवानदास जवेरी, निर्णयसागर, मुद्रालय, बॉम्बे | - |
| निशीथसूत्र | सं.-मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) | १९६१ |
| परमात्मप्रकाश | अनु.-रावजीभाई देसाई एवं श्री पंडित गुणभद्र जैन | मनुभाई भ. मोदी, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन-आगास, बाया- आणंद, पोस्ट-बोरीया | १९६२ |
| पंचवस्तुक ग्रन्थ | अनु.- राजशेखर सूरीश्वरजी | अरिहंत आराधक ट्रस्ट, हिन्दुस्तान मिल्स स्टोर्स, ४८१ गनी अपार्टमेन्ट, मुंबई, आगरा रोड़, भिवंडी | - |
| पंचाशक प्रकरण | अनु.-डॉ. दीनानाथ शर्मा | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई.टी.आई. | १९६७ |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक | प्रकाशक | वर्ष |
|---|-----------------------------------|---|-----------------|
| | | रोड़, करौंदी, वाराणसी | |
| प्रतिष्ठाकल्प | सकलचन्द्रगणिकृत | शेठ नेमचंद मेलापचंद झवेरी, जैनवाड़ी, उपाश्रय ट्रस्ट, गोपीपुरा, सुरत | वि.सं.- २०४२ |
| प्रतिष्ठापाठ | जयसेनाचार्य | शेठ हीरालाल, नेमचंद दोशी, मंगलवार पेठ, शोलापुर | वि.सं.- २४५२ |
| प्रतिष्ठामयूख | सं.-डॉ. महेशचन्द्र जोशी | कृष्णदास अकादमी, पो. बा.नं.-१११८, के. ३७/११८, गोपाल मंदिर लेन, वाराणसी | १९६६ |
| प्रतिष्ठामहोदधि | पं. श्रीवायुनंदन मिश्र | चौखम्भा अमर भारती प्रकाशन, पो.बा.नं.-१३८, के. ३७/११८, गोपाल मंदिर लेन, वाराणसी | २००५ |
| प्रतिष्ठासारोद्धार | पं. आशाधरजी | पं. मनोहरलाल शास्त्री, श्री जैन ग्रंथ उद्धारक कार्यालय, बॉम्बे | १९७४ |
| प्रवचनसारोद्धार (१-२) | अनु.-हेमप्रभाश्रीजी | प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर | १९६६ |
| प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्व | डॉ. बाबूराम त्रिपाठी | महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा | - |
| बृहत्कल्पसूत्र | सं.-मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) | १९६२ |
| बृहदारण्यकोपनिषद् | भाष्यकार भगवान् शंकर | गोविन्द भवन, कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर | वि.सं.- २०५२ |
| भगवती आराधना | अनु.- पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री | बाल ब्र. श्री हीरालाल खुशालचन्द्र दोशी, | १९६० |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक | प्रकाशक | वर्ष |
|----------------------------------|---|--|------|
| | | फलटण, (बाखरीकर) | |
| भिक्षुआगम विषयकोश (भाग-9) | प्र.सं.- आचार्य महाप्रज्ञ | जैन विश्व भारती, लाङ्गू | १९६६ |
| मनुस्मृति | सं.-पं. श्रीराम शर्मा | संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली (उ.प्र.) | |
| मूलाचार | सं.-डॉ. फूलचन्द्र जैन, डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन | भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद | १९६६ |
| मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन | डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई.टी.आई. रोड़, करौंदी, वाराणसी-५ | १९८७ |
| यतिसामाचारी (यतिदिनचर्या) | सं. -विजयजिनेन्द्रसूरि | श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखावाबल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र) | १९६७ |
| याज्ञवल्क्यस्मृति | सं.-पं.श्रीराम शर्मा | संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली (उ.प्र.) | |
| योगशास्त्र | अनु.-विजयकेशर सूरीश्वर | मुक्तिचंद श्रमण आराधना, गिरिविहार, पालीताणा | |
| रत्नकरण्ड-श्रावकाचार | अनु.- पं. सदासुखदास जी कासलीवाल | पं. सदासुख ग्रन्थमाला, श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, वीतराग विज्ञान भवन, पुरानी मण्डी, अजमेर (राज.) | |
| राजप्रश्नीयसूत्र | सं.-मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) | १९६१ |
| वास्तुसार प्रकरण | अनु.-पं. | राज-राजेन्द्र प्रकाशन | १९८६ |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक | प्रकाशक | वर्ष |
|------------------------------|--------------------------------|---|----------------------|
| | भगवानदास जैन | ट्रस्ट, राज-राजेन्द्र हाथीखाना, अहमदाबाद | |
| विधिमार्गप्रपा | जिनप्रभसूरिकृत | प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर | २००० |
| विधिसंग्रह | सं.-प्रमोदसागरसूरि | आगमोद्धारक ज्ञानशाला, एम.एम. जैन, सोसायटी, वरसोड़ानी चाल, साबरमती, अहमदाबाद | - |
| विपाकसूत्र | सं.-मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) | १९६२ |
| विंशतिविंशिका | सं.-धर्मरक्षित विजयजी | ६८७/१, छीपापोल, कालूपुर, अहमदाबाद | - |
| विशेषावश्यकभाष्य | अनु.-शाह चुनीलाल हकमचन्द | भद्रकर प्रकाशन, ४६/१ महालक्ष्मी सोसायटी, सुजाता फ्लेट के पास, शाहीबाग, अहमदाबाद | विसं.- २०५३ |
| व्यवहारसूत्र | सं.-मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) | १९६२ |
| श्रमण (पत्रिका) | डॉ. विजयकुमार झा | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई.टी.आई. रोड़, करौंदी, वाराणसी | २००३ (अंक १-३) |
| श्राद्धसंस्कार कुमुदेन्दु | अनु.- साध्वी श्रीसुज्ञानश्रीजी | श्रीमान् बसंतीलालजी कोचर, हींगणघाट (महाराष्ट्र) | १९५४ |
| श्रावकाचार संग्रह (१-५) | सं.-पं. हीरालाल जैन शास्त्री | जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर | १९८८ |
| श्रावकधर्म विधि प्रकरण | अनु.- डॉ. सुरेन्द्र बोथरा | प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर | २००१ |
| श्रीप्रभुविद्या प्रतिष्ठान्व | पं. दौलतराम गौड़ | सावित्री ठाकुर प्रकाशन, रथयात्रा, वाराणसी | २००४ |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक | प्रकाशक | वर्ष |
|-----------------------------------|-----------------------------|---|-----------------|
| श्री बृहद्योग विधि | सं.-आचार्य देवेन्द्र सागर | श्री उमेदखान्ति जैन ज्ञान मंदिर, झीझुवाड़ा | १९८४ |
| श्रीसप्तोपधान विधि | सं.-मुनिमंगलसागर | श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, सूरत | वि.सं.- २००६ |
| षोडशसंस्कार विवेचन | पं. श्रीराम शर्मा | अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा | १९६५ |
| संवेगरंगशाला | जिनचन्द्रसूरि | पण्डित बाबुभाई सवचंद, ६५५/अ, मनसुखभाई पोल, कालूपुर, अहमदाबाद | |
| संस्कृत-हिन्दी कोश | वामन शिवराम आँप्टे | भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी | १९६६ |
| सागारधर्मामृत | अनु.- आर्या. सुपाश्र्वमतिजी | भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद | १९६५ |
| सामाचारी | तिलकाचार्यविरचित | शेठ डाह्याभाई मोकमचंद, पांजरा पोल, अहमदाबाद | १९६० |
| सुबोधसामाचारी | चन्द्रसूरिकृत | श्रेष्ठी देवचंदलालभाई जैन पुस्तकोद्धार बॉम्बे | वि.सं.- १९८० |
| स्थानांगसूत्र | सं.-जम्बुविजयजी | श्री महावीर जैन विद्यालय, बॉम्बे | १९८५ |
| स्वतंत्रता के सूत्र | समी.- आचार्य कनकनंदी | धर्मदर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन निकट दिगम्बर जैन अतिथि भवन, बड़ौत | १९६२ |
| हरिवंशपुराण | अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन | भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १८-इन्स्टीट्यूशनल, एरिया, लोदी रोड़, नई दिल्ली | १९६६ |
| हरिवंशपुराण: एक सांस्कृतिक अध्ययन | डॉ. राममूर्ति चौधरी | सुलभ प्रकाशन, १७ अशोक मार्ग, लखनऊ | १९८६ |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक | प्रकाशक | वर्ष |
|---|----------------------|--|------|
| हिन्दूधर्मकोश | डॉ. राजबली पाण्डेय | उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ | १९७८ |
| हिन्दू संस्कार | डॉ. राजबली पाण्डेय | चौखम्भा विद्या भवन, पो.बा.नं.- १०६६, वाराणसी | १९६५ |
| हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह (प्रथम खण्ड) | श्रीसंतकुमार खण्डाका | खण्डाका जैन ज्वेलर्स, हल्दियों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर | |



प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 में संचालित प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर आगरा-मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित है। इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म आदि के लगभग 10,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्त लिखित पाण्डुलिपियाँ हैं। यहाँ 40 पत्र-पत्रिकाएँ भी नियमित आती हैं।

इस परिसर में साधु-साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

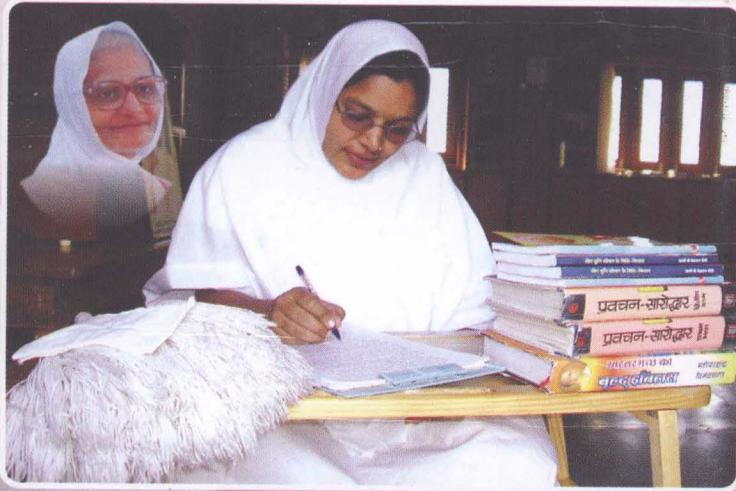
शोधकार्यों के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।

प्रकाशन सूची

1. जैन दर्शन के नव तत्त्व-डॉ. धर्मशीलाजी
2. Peace and Religious Harmony-Dr. Sagarmal Jain
3. अहिंसा की प्रासंगिकता-डॉ. सागरमल जैन
4. जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा-डॉ. सागरमल जैन
5. जैन गृहस्थ के षोडश संस्कार-अनु. साध्वी मोक्षरत्ना श्री
6. जैन मुनि जीवन के विधि-विधान-अनु. साध्वी मोक्षरत्ना श्री
7. अनुभूति एवं दर्शन-साध्वी रुचिदर्शनाश्री
8. जैन विधि-विधानों के साहित्य का बृहद इतिहास-साध्वी सौम्यगुणाश्री
9. प्रतिष्ठा, शान्तिकर्म, पीष्टिक कर्म एवं बलि विधान-अनु. साध्वी मोक्षरत्नाश्री
10. प्रायश्चित्त, आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि-अनु. मोक्षरत्नाश्री
11. धर्म का मर्म-डॉ. सागरमल जैन
12. जैन धर्म में आराधना का स्वरूप-साध्वी प्रियदिव्यांजनाश्री
13. जैन संस्कार एवं विधि विधान-साध्वी मोक्षरत्नाश्री

लेखिका एक परिचय....



साध्वी श्री मोक्षरत्नाश्रीजी का जन्म राजस्थान के गुलाबी नगर जयपुर में सन् 1975 को एक सुसंस्कारित धार्मिक परिवार में हुआ। पिता श्री छगनलालजी जुनीवाल एवं माता श्रीमती कान्ताबाई के धार्मिक संस्कारों का आपके बाल मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि व्यवहारिक अध्ययन के साथ-साथ ही आप धार्मिक अध्ययन पर विशेष ध्यान देने लगी। शनैः-शनैः आपमें वैराग्य-भावना विकसित होती गई और चारित्र्य व्रत अंगीकार करने का निर्णय ले लिया। आपके दृढ़ संकल्प को देखकर परिजनों ने सहर्ष दीक्षा ग्रहण की आज्ञा प्रदान कर दी। अंततः सन् 1998 में जयपुर में ही पू. चंद्रकला श्रीजी म.सा. की पावन निश्रा में प.पू. हर्षयशा श्री जी म.सा. की शिष्या के रूप में दीक्षित हो गयी। आपका नाम साध्वी मोक्षरत्ना श्री रखा गया। धार्मिक अध्ययन के साथ-साथ आपने गुजरात यूनिवर्सिटी से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। आपने डॉ. सागरमलजी के निर्देशन में "आचारदिनकर में वर्णित संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन" पर शोध प्रबन्ध लिखकर जैन विश्व भारती लाड़नू से "डाक्टरेक्ट" की पदवी प्राप्त की हैं।